PĀLI GRANTHAMĀLĀ—1

Anuruddhācariya's

ABHIDHAMMATTHASAṄGAHO

[Vol. I]

Along with

Hindi Translation

&

ABHIDHARMA-PRAKĀŚINĪ *Commentary*

General Editor

BALADEVA UPADHYAYA

Director : Research Institute

Critically Edited, Translated & Commented

by

BHADANT REWATADHAMMA (Burma)

AND

RAM SHANKAR TRIPATHI

Varanaseya Sanskrit Vishwavidyalaya

VARANASI.

B. E. 2510 S. E. 1888

पालिग्रन्थमाला—१

आचार्य-अनुरुद्ध-प्रणीत

अभिधम्मत्थसङ्गहो

[प्रथम भाग]

हिन्दी अनुवाद और अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या से
विभूषित

सम्पादक, अनुवादक तथा व्याख्याकार

भदन्त रेवतधम्म (ब्रह्मदेश)

रामशंकर त्रिपाठी

वारणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

बुद्धाब्द २५१० शकाब्द १८८८ खीष्टाब्द १९६७

वक्तव्य

'अभिधर्म' पालि-त्रिपिटकों में अपनी दार्शनिक स्थापनाओं तथा मनोविज्ञान के विस्तृत विवरण के कारण नितान्त महत्त्वशाली स्थान रखता है। पालि के इतर दोनों त्रिपिटकों का साक्षात् सम्बन्ध बुद्ध-धर्म की व्यावहारिक शिक्षा तथा भिक्षुओं के दैनन्दिन आचार-सदाचार के साथ मुख्यरूपेण विद्यमान है। 'सूत्रपिटक' बौद्धधर्म के नैतिक शिक्षण का भाण्डागार है, तो 'विनयपिटक' बुद्धधर्मानुयायी गृहस्थों तथा भिक्षुओं के आचार-व्यवहार का विश्वकोश है। इसके विपरीत अभिधर्मपिटक बौद्धधर्म—स्थविरवादी सम्प्रदाय—के दार्शनिक सिद्धान्तों का विशाल निकेतन है। 'अभिधम्म' (सं० अभिधर्म) में 'अभि' शब्द 'अतिरेक' या 'विशेष' अर्थ का बोधक है। 'धर्म' से अतिरिक्त अथवा विशिष्ट होने के कारण ही 'अभिधर्म' का यह नामकरण सार्थक है। 'धर्म' से तात्पर्य सूत्रपिटक से है। फलतः सूत्रपिटक से अधिक गम्भीर और विशिष्ट धर्म होने के कारण ही यह तृतीय पिटक तन्नाम्ना अभिहित होता है। 'अभिधर्म' के विशिष्ट अनुशीलन किये बिना तथागत के शिक्षण तथा उपदेश का मर्म समझना नितान्त कठिन है, परन्तु 'अभिधर्म' का अनुशीलन एक दुष्कर व्यापार है। अभिधर्म वर्ण्य विषयों का इतना विस्तार तथा व्यूहन करता है कि उसके भीतर प्रविष्ट होकर तत्त्वों का ज्ञान करना साधारण वैदुष्य का काम नहीं है।

इस काठिन्य तथा दुरूहता को दूर करने के लिए ही आचार्य अनुरुद्ध ने प्रकृत ग्रन्थ 'अभिधम्मत्थसंगहो' (अभिधर्मार्थसंग्रहः) की रचना की। नव परिच्छेदों में विभक्त यह ग्रन्थ अभिधर्म के लिए एक कमनीय हस्तामलक है, अथवा यों कहना चाहिए कि अभिधर्म के स्वरूप-दर्शन के लिए यह उज्ज्वल दर्पण है। इसकी विपुल ख्याति का परिचय इसके ऊपर निर्मित विशाल व्याख्या-सम्पत्ति से भी आपाततः लगाया जा सकता है। अभिधर्म के दुरूह तत्त्वों के जिज्ञासु जनों के लिए 'अभिधम्मत्थसंगहो' का अनुशीलन अनिवार्य है। इस ग्रन्थ के महनीय रचयिता आचार्य अनुरुद्ध पालि-अट्ठकथाओं के निर्माता आचार्य बुद्धघोष के समकालीन तथा समवयस्क माने जाते हैं। फलतः इनका आविर्भाव काल चतुर्थ शती का अन्तिम भाग और पञ्चम शती का पूर्व भाग है। लगभग ३७५–४३० ई० इनका समय मानने में विशेष विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस ग्रन्थ का अध्ययन ब्रह्मदेश (बरमा) में विशेषरूप से होता चला आ रहा है। उस देश में इस ग्रन्थ के साम्प्रदायिक अध्यापन की एक सुदीर्घ परम्परा है, जो आज भी वहाँ जागरूक है। इसके ऊपर पालि में लगभग १९ टीकाओं के लिखे जाने का संकेत मिलता है, जिनमें से अनेक आज भी उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित हो गई हैं। **अभिधर्म-प्रकाशिनी व्याख्या**, जिसे यहाँ प्रकाशित करते हुए हमें विशेष हर्ष हो रहा है, इस व्याख्याशृंखला की अन्तिम कड़ी है।

इस टीका का विपुल वैशिष्ट्य अवधान-योग्य है। यह हिन्दी भाषा में निबद्ध की गई है। इसे टीका की संज्ञा देना शब्द का दुरुपयोग है; यह टीका न होकर विपुलकाय भाष्य है, जिसमें प्रत्येक शब्द की व्याख्या तथा मीमांसा पालि तथा संस्कृत के आधारभूत मौलिक ग्रन्थों का आश्रय लेकर प्रमाणपुरःसर की गई है। 'अभिधम्मत्थसंगहो' मूल त्रिपिटक के समान ही मनोविज्ञान की दार्शनिक भित्ति पर अवस्थित है। फलतः मनोविज्ञान के शतशः साधारण तथा विशिष्ट शब्दों का पूर्ण विवरण देने में यह व्याख्या नितरां समर्थ है – यह कथन व्याख्या के आपाततः अध्येता की भी दृष्टि से परोक्ष नहीं है। 'अभिधर्मप्रकाशिनी' की रचना का आधार प्राचीन विभावनी टीका, परमत्थदीपनी टीका तथा बर्मी भाषाटीका मुख्यतः हैं, परन्तु अनेक स्थलों पर

नवीन तथ्यों का विवरण लेखकों के गम्भीर अध्ययन तथा व्यापक पाण्डित्य का परिचायक है। बरमा तो अभिधर्म के शिक्षण का आज शताब्दियों से मूलपीठ बना हुआ है, परन्तु वहाँ की किसी भी टीका में न तो इतनी तुलनात्मक सामग्री है, और न मूल का इतना पुङ्खानुपुङ्ख अनुशीलन है। मेरी दृष्टि में इस कोटि का ग्रन्थ किसी भी भाषा में नहीं है–चाहे वह यूरोप की हो, भारत की हो अथवा बरमा की हो। टीका की प्रामाणिकता पृष्ठे पृष्ठे नहीं, अपि तु पदे पदे, अभिव्यक्त होती है। ऐसे ग्रन्थरत्न को प्रकाशित कर संस्कृत विश्वविद्यालय ने दार्शनिक तत्त्वों के जिज्ञासु जनों का जो उपकार किया है, वह असाधारण है, अनुपमेय है तथा आदरणीय है।

इस टीका की रचना का श्रेय पण्डित रामशंकर त्रिपाठी तथा भदन्त रेवतधर्म को है। ये दोनों विद्वान् वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के साथ सम्बद्ध हैं। पण्डित रामशंकर त्रिपाठी संस्कृत विश्वविद्यालय में बौद्धदर्शन के प्राध्यापक हैं। इन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का विधिवत् शास्त्रीय पद्धति से अध्ययन किया है। ये एक नवयुवक विद्वान् हैं। इन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन के अध्ययन में अपना जीवनदान किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से स्थविरवादी बौद्धधर्म को राष्ट्रभाषा में लाने का जो सत्प्रयास किया गया है, उसका इनको श्रेय है। ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। इनसे बौद्धज्ञान के जिज्ञासुओं को भविष्य में बड़ी आशायें हैं। रेवतधर्म जी बर्मा के निवासी हैं और वहाँ के विद्यापीठ में उन्होंने अभिधर्म का अध्ययन प्रख्यात बौद्ध पण्डितों से विधिवत् सम्प्रदायानुकूल पद्धति पर किया है। फलत: वे अभिधर्म के साम्प्रदायिक व्याख्यानों से पूर्ण परिचित हैं। इस समय ये हमारे अनुसन्धान संस्थान में पातञ्जल-योग तथा बौद्धयोग का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं और हमारे छात्र हैं। इन दोनों पण्डितों का अनेक वर्षों का गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन इस टीका की रचना में पदे-पदे प्रतिफलित होता है।

आरम्भ की प्रस्तावना में व्याख्याकारों ने अपने दृष्टिकोण को भलीभाँति समझाया है तथा अभिधर्म-विषयक उपादेय तथ्यों को अभिव्यक्त किया है। मेरी दृष्टि में तुलनात्मक टिप्पणियों से परिपुष्ट इस अनुवाद की पालिग्रन्थों के उन छिछले अनुवादों से तुलना ही नहीं की जा सकती, जो इधर हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं।

ऐसे प्रामाणिक अथच सुबोध ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के कारण यह अनुसन्धान संस्थान उचित गर्व का अनुभव कर रहा है। मेरा पूरा विश्वास है कि इस संस्करण की सहायता से कोई भी जिज्ञासु थेरवाद के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकता है। मैं इस ग्रन्थ के रचयिता विद्वान् लेखकों को भी आशीर्वाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि इतर जटिल पालिग्रन्थों की व्याख्या लिख कर वे अपनी प्रतिभा को प्रकाशित करेंगे तथा बौद्धधर्म और दर्शन के तत्त्वानुसंधित्सु विद्वज्जनों के सत्कार तथा आभार के भाजन बनेंगे।

वाराणसी
आग्रहायणकृष्ण एकादशी
संवत् २०२३
८-१२-१९६६

श्री बलदेव उपाध्याय
अनुसन्धान संचालक
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,

भूमिका

जगत् के उत्तम शास्ता परम कारुणिक भगवान् बुद्ध ने देवताओं सहित इस लोक के अनन्त हित और सुख के लिये धर्म एवं विनय की देशना की। बौद्ध धर्म त्रिधा विभक्त है, यथा,—परियत्ति, प्रतिपत्ति (पटिपत्ति) और प्रतिवेध (पटिवेध)। इनमें से भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म 'परियत्ति' नामक सद्धर्म है[1]। यही बुद्धशासन की आधारशिला है। इस (परियत्ति धर्म) के होने पर ही अन्य (प्रतिपत्ति और प्रतिवेध) धर्म भी स्थित रह सकते हैं, न होने पर नहीं। इसीलिये अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा में भी कहा गया है—

"सुत्तन्तेसु असन्तेसु पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोको सुरिये अत्थङ्गते यथा॥
सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो योगक्खेमा न धंसति॥"[2]

अर्थात् सूत्रान्तों के न होने पर और विनय के विनष्ट हो जाने पर यह लोक उसी प्रकार अन्धकारपूर्ण हो जायगा, जिस प्रकार सूर्य के अस्तङ्गत हो जाने पर होता है। सूत्रान्तों के सुरक्षित रहने पर पटिपत्ति (ध्यानभावना आदि) भी सुरक्षित रहती है और पटिपत्ति में स्थित धीर पुरुष योग-क्षेम से परिभ्रष्ट नहीं होता।

इसी कारण सद्धर्म की चिरस्थिति की कामना से महाकाश्यप आदि महास्थविरों ने 'परियत्ति' (त्रिपिटक) नामक बुद्धवचनों का सङ्गायन कर बुद्धशासन की रक्षा की। सद्धर्म की अभिवृद्धि चाहनेवाले तत्कालीन राजाओं और सामान्य जनों ने भी सङ्गीति करनेवाले उन महास्थविरों की भरपूर सहायता की।

सङ्गीतियाँ

प्रथम सङ्गीति—बुद्ध के अनुपधिशेष निर्वाणधातु में प्रवेश के बाद उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का संरक्षण भिक्षुसंघ के सम्मुख एक महान् कार्य था; क्योंकि भगवान् बुद्ध को परिनिर्वृत्त हुए अभी एक सप्ताह भी न बीता था कि पावा और कुसीनारा के मध्य ५०० भिक्षुओं के साथ चारिका करते हुए महाकाश्यप ने सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित को यह कहते हुए सुना—"बस, आयुष्मानों! मत शोक करो, मत विलाप करो, हम उस महाश्रमण (बुद्ध) से अच्छीतरह मुक्त हो गये। हम उसके द्वारा सदा यह कहकर पीड़ित किये जाते थे—'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है।'

---

१. "परियत्तीति तीणि पिटकानि, पटिवेधो ति सच्चपटिवेधो, पटिपत्तीति पटिपदा" —विभ० अ०, पृ० ४३५।

२. अ० नि० अ०, प्र० भा०, पृ० ७२।

अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो नहीं चाहेंगे वह नहीं करेंगे[1] ।" सुभद्र के ये वचन सुनकर महाकाश्यप जैसे भिक्षु का चिन्तित होना स्वाभाविक था । उन्होंने सोचा, अधर्म और अविनय प्रकट हो रहे हैं, अतः आवश्यक है कि धर्म और विनय का सङ्गायन किया जाय[2] ।

सङ्गीति के लिये महाकाश्यप ने पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं को चुना । महाकाश्यप इस सङ्गीति के अध्यक्ष थे । उन्होंने धर्मसम्बन्धी प्रश्न आनन्द से तथा विनयसम्बन्धी प्रश्न उपालि से पूछे । अन्त में भिक्षुओं ने उनका सङ्गायन किया । यह सङ्गीति भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनन्तर चतुर्थ मास में राजगृह की सप्तपर्णी गुहा में आयोजित की गई थी । मगधशासक अजातशत्रु इसमें सहायक थे । यह सभा बौद्ध जगत् में 'पञ्चशतिका' नाम से विख्यात है ।

द्वितीय सङ्गीति–भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बीतने पर आयुष्मान् यश ने वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को विनयविपरीत दश वस्तुओं का आचरण करते हुये देखा, जिनमें सोने-चांदी का ग्रहण भी एक था[3] । अनेक भिक्षुओं की दृष्टि में उनका यह आचरण निन्दित था । इसका निर्णय करने के लिये वैशाली में एक सभा बुलाई गई। इसमें ७०० अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुए । यह सभा आठ मास तक चलती रही । महास्थविर रेवत इसके सभापति थे । सभा ने वैशाली के भिक्षुओं के दश वस्तु सम्बन्धी आचरण विनय से विपरीत निश्चित किये । तदनन्तर भिक्षुओं ने धर्म और विनय का सङ्गायन किया । इस समय के राजा कालाशोक इस सङ्गीति के सहायक थे । बौद्धों में यह सङ्गीति 'सप्तशतिका' नाम से विख्यात है ।

वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने इस द्वितीय सङ्गीति के महास्थविरों का निर्णय अमान्य कर दिया और उन्होंने कौशाम्बी में एक पृथक् सङ्गीति आयोजित की । इसमें १०,००० भिक्षु एकत्र हुए थे । उन्होंने इस सङ्गीति में अपने मत के अनुकूल निर्णय किये । यह सभा 'महासंघ' या 'महासङ्गीति' कहलायी और इस सभा के निर्णयों को माननेवाले 'महासांघिक' कहलाये । 'दीपवंस' के अनुसार "महासङ्गीति के भिक्षुओं ने बुद्धशासन को बिलकुल विपरीत कर डाला । मूलसंघ में भेदकर उन्होंने एक नया संघ खड़ा कर लिया । मूल 'धर्म' को नष्ट कर उन्होंने सूत्रों का नवीन संग्रह किया ।

---

१. "अलं, आवुसो ! मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ । सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन । उपद्दुता च होम – 'इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पती' ति । इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम, यं न इच्छिस्साम न तं करिस्सामा ति ।" – दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० १२५ ।

२. "हन्द, मयं आवुसो ! धम्मं च विनयं च सङ्गायाम । पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहिय्यति । अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहिय्यति ।" – चुल्ल० (विनयपिटक), पृ० ४०६ ।

३. द्र० – "कप्पति सिङ्गिलोणकप्पो, कप्पति द्वङ्गुलकप्पो, कप्पति गामन्तरकप्पो, कप्पति आवासकप्पो, कप्पति अनुमतिकप्पो, कप्पति आचिण्णकप्पो, कप्पति अमथितकप्पो, कप्पति जळोगिं पातुं, कप्पति अदसकं निसीदनं, कप्पति जातरूपरजतं ति ।" – चुल्ल० (विनयपिटक), पृ० ४१६ ।

उन्होंने विनय और पांच निकायों में सूत्रों के क्रम और अर्थ बदल दिये तथा कुछ स्व-रचित सन्दर्भ जोड़ दिये[1] ।"

अष्टादश बौद्ध निकाय—इस प्रकार स्थविरवादी और महासांघिक – ये दो निकाय हो गये। यहीं से बौद्ध संघ में भेद का सूत्रपात होता है। यह भेद प्रक्रिया यहीं नहीं रुकी; अपितु २०० वर्ष बीतते बीतते संघ १८ प्रमुख निकायों में विभक्त हो गया। महासांघिक कालान्तर में दो भागों में विभक्त हो गये, यथा – एकव्यावहारिक और गोकुलिक। गोकुलिक से पुनः दो शाखायें निकलीं – १. प्रज्ञप्तिवादी और २. बाहुलिक (=बाहुश्रुतिक)। बाहुलिक से चैत्यवादी नामक एक और शाखा प्रकट हुई। इस प्रकार महासांघिक से ५ निकाय विकसित हुये, जो महासांघिक के साथ कुल ६ निकाय होते हैं। दूसरी ओर स्थविरवादी भी पहले दो भागों में विभक्त हुये, यथा – वज्जिपुत्तक (वात्सीपुत्रीय) और महीशासक। वज्जिपुत्तक पुनः ४ भागों में विभक्त हुये, यथा – १. धर्मोत्तरीय, २. भद्रयाणिक, ३. छन्नागारिक (षाण्णागरिक) और ४. सम्मितीय। महीशासक भी दो शाखाओं में विभक्त हो गये, यथा – धर्मगुप्तिक और सर्वास्तिवादी। सर्वास्तिवादियों से क्रमशः काश्यपीय, काश्यपीय से साङ्क्रान्तिक और साङ्क्रान्तिक से सूत्रवादी (सौत्रान्तिक) निकाय विकसित हुये। इस प्रकार सर्वास्तिवादी निकाय से ११ निकाय विकसित हुये, जो सर्वास्तिवादी निकाय के साथ कुल १२ होते हैं। दोनों प्रकार के निकायभेद मिलकर कुल १८ निकाय हो जाते हैं।

'दीपवंश' के अनुसार निकाय भेद
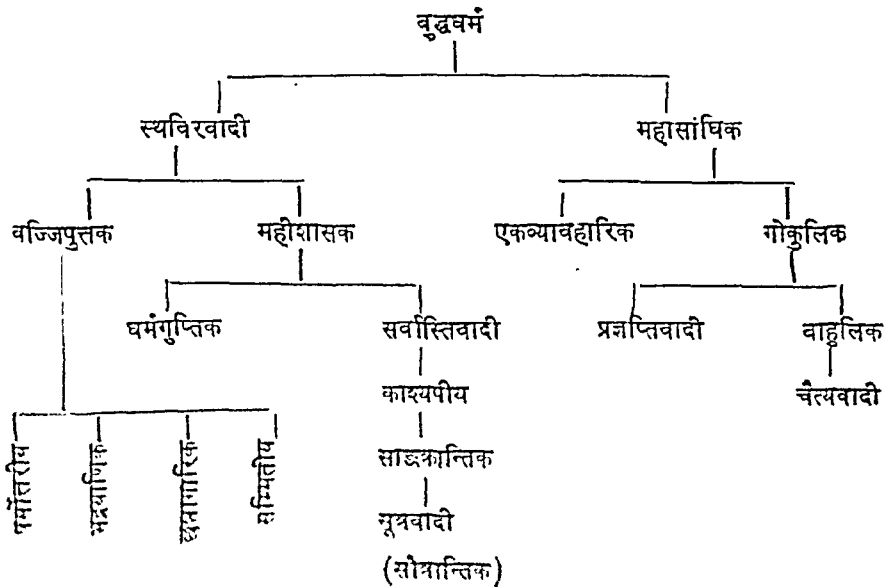
---

1. "महासङ्गीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं।
भिन्दित्वा मूलसङ्घं अञ्ञं अकंसु सङ्घं॥
अञ्ञथा सङ्गहितं सुत्तं अञ्ञथा अकरिंसु ते।
अत्थं धम्मं च भिन्दिंसु ये निकायेसु पञ्चसु॥" – दीप०, पृ० ३६।

इन १८ नामों के अतिरिक्त कथावत्थु की अट्ठकथा में अन्य निकायों के नाम भी उपलब्ध होते हैं, यथा – राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, हेमवत, वजिरिय, उत्तरापथक, हेतुवादी एवं वेतुल्लक । इनमें पहले छह नाम 'महावंस' में भी उल्लिखित हैं । शारिपुत्रपरिपृच्छा और भव्य के अनुसार इन अष्टादश निकायों की २ सूचियाँ और उपलब्ध होती हैं । इनमें वर्णित क्रम उपर्युक्त प्रारूप में वर्णित क्रम से भिन्न है ।

तृतीय सङ्गीति––सम्राट् अशोक बुद्ध धर्म में प्रविष्ट होने के बाद प्रतिदिन बुद्धपूजा, धर्मपूजा, संघपूजा, आचार्यपूजा और चारों द्वारों में भैषज्य के लिये भिक्षुओं को प्रभूत धन दान करता था, जबकि अन्य तैर्थिक साधारण भोजन और वस्त्र के लिये भी दान नहीं पाते थे; फलतः वे लाभ और सत्कार के लिये भिक्षुसंघ में प्रविष्ट हो गये । प्रविष्ट होकर उन्होंने नाना प्रकार के मतवादों और आचरणों द्वारा संघ को दूषित करना प्रारम्भ कर दिया । स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि पाटलिपुत्र के अशोकाराम में ७ वर्षों तक उपोसथ भी न हो सका । इस परिस्थिति के निराकरण के लिये सम्राट् अशोक ने भिक्षुओं को एकत्र कर मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) स्थविर के साथ परामर्श किया और लुके-छुपे प्रविष्ट ६० सहस्र तैर्थिकों को श्वेत वस्त्र पहना संघ से निष्कासित कर दिया । तदनन्तर शुद्ध भिक्षुओं द्वारा तृतीय सङ्गीति का अयोजन किया ।

बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद सम्राट् अशोक के काल में पाटलिपुत्र में तृतीय सङ्गीति हुई । इसमें एक सहस्र अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुये थे । इसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) महास्थविर थे । यह सङ्गीति ९ मास तक चलती रही। पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप से बुद्धवचनों के स्वरूप का निश्चय किया गया । इसी सभा में मोग्गलिपुत्त तिस्स महास्थविर ने मिथ्यावादी १७ बौद्धनिकायों का निराकरण करते हुये 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म पिटक' में स्थान मिला । सम्पूर्ण 'अभिधम्म पिटक' के स्वरूप का अन्तिम निर्णय इस सङ्गीति तक हो गया था । इस सभा का सबसे महत्त्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजना था । इसी निश्चय के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों, सीमान्तों तथा यवन, कम्बोज, गान्धार, सुवर्णभूमि (वर्मा) एवं सिहलद्वीप आदि विदेशों में धर्मोपदेशक भेजे ।

चतुर्थ सङ्गीति–सम्यक्सम्बुद्ध के परिनिर्वाण से ४५० वें वर्ष में लङ्काद्वीप में राजा वट्टगामणि अभय के शासनकाल (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) में चतुर्थ सङ्गीति हुई । यह सिहलद्वीप के मातुल जनपद की 'आलोक' नामक गुहा में आयोजित की गई थी । इसमें ५०० अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुये थे । इसके अध्यक्ष महास्थविर धर्मरक्षित थे । भगवान् बुद्ध के समय से लेकर अब तक उनके उपदेशों का अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप से ही चल रहा था । इस सङ्गीति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समस्त बुद्धवचनों को प्रथम बार लेखबद्ध किया गया । यह सङ्गीति लोक में 'पुस्तकारोपण-सङ्गीति' के नाम से प्रसिद्ध है ।

पञ्चम सङ्गीति–२४१५ वें बुद्धाब्द में ब्रह्मदेश (वर्मा) के धार्मिक राजा 'मितुं' के शासन काल में उनकी सहायता से पञ्चम सङ्गीति हुई । यह वर्मा के 'माण्डले'

नाम से प्रसिद्ध रत्नपुञ्ज नामक नगर में आयोजित की गई थी। इसमें २४०० स्थविर भिक्षु सम्मिलित हुये थे। इसके अध्यक्ष दक्षिणारामवासी त्रिपिटकधर भदन्त जागर महास्थविर थे। इस सङ्गीति में समस्त बुद्धवचनों को शिलापट्ट पर अङ्कित किया गया था, अतः यह सङ्गीति लोक में 'शिलाक्षरारोपण-सङ्गीति' के नाम से विख्यात है।

षष्ठ सङ्गीति—इस समय तक देश-विदेश में प्रचलित त्रिपिटक के पाठ में प्रमादवश अनेक परिवर्तन हो चुके थे, अतः ब्रह्मदेश के वृद्ध महास्थविर भिक्षुओं ने सोचा—'यदि इस समय त्रिपिटक का संशोधन न किया गया तो कालान्तर में वे अत्यधिक मलिन हो जायेंगे। नयी पीढ़ी के भिक्षु उन्हें शुद्ध करने में असमर्थ रहेंगे; फलतः पालि (त्रिपिटक) का अर्थ दुर्बोध हो जायगा और इस प्रकार सद्धर्म के लोप का भय है।' जैसे अङ्गुत्तरनिकाय में भी कहा गया है—

"द्वे मे भिक्खवे! धम्मा, सद्धम्मस्स सम्मोसाय अन्तरधानाय संवत्तन्ति। कतमे द्वे? दुन्निक्खित्तं च पदब्यञ्जनं अत्थो च दुन्नीतो। दुन्निक्खित्तस्स भिक्खवे! पदब्यञ्जनस्स अत्थो पि दुन्नयो होति। इमे खो भिक्खवे! द्वे धम्मा, सद्धम्मस्स सम्मोसाय अन्तरधानाय संवत्तन्तीति।"[1]

अर्थात् भिक्षुओं! ये दो धर्म सद्धर्म के सम्प्रमोष और अन्तर्धान के कारण होते हैं। कौन दो?—१. उचित स्थान पर स्थापित न किये गये पद और व्यञ्जन तथा २. भलीभांति न समझा गया अर्थ। भिक्षुओं! उचित स्थान पर स्थापित न किये गये पद और व्यञ्जनों का अर्थ भी भलीभांति ज्ञात नहीं हो पाता। भिक्षुओं! ये दो धर्म सद्धर्म के सम्प्रमोष और अन्तर्धान के कारण होते हैं।

भिक्षुओं के उपर्युक्त भय को ध्यान में रखकर बर्मा के तत्कालीन धार्मिक प्रधानमन्त्री 'ऊ नु' द्वारा संस्थापित बुद्धशासनसमिति ने देश-विदेश (प्रमुखतः स्थविरवादी बौद्ध देशों) के गणमान्य विद्वान् भिक्षुओं और पण्डितों को इस विषय पर विचार करने के लिये आमन्त्रित किया। उन भिक्षुओं और पण्डितों ने सद्धर्म की चिरस्थिति और बहुजन के हित एवं सुख के लिये षष्ठ सङ्गायन का निश्चय किया।

तदनुसार भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २५०० वें वर्ष बर्मा की राजधानी रंगून में 'श्रीमङ्गल' नामक स्थान पर लोकशम (कम्भाए) नामक चैत्य के समीप इसी कार्य के लिये नवनिर्मित महापाषाण शैलगुहा में षष्ठ सङ्गीति आयोजित की गई। भदन्त रेवत महास्थविर इस सङ्गीति के अध्यक्ष थे। इसमें सम्मिलित देश-विदेश के २५०० भिक्षुओं ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का संशोधन कर सङ्गायन किया।

बुद्धवचन

बुद्धगया में बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ४५ वर्षों तक लगातार मध्यमण्डल में चारिका करते हुये भगवान् बुद्ध ने स्थान-स्थान पर जो उपदेश किये, उनके शिष्यों ने उन्हें कण्ठस्थ कर लिया, वे ही 'बुद्धवचन' कहलाते हैं। यह एक अत्यन्त विशाल भाण्डार है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके महास्थविर शिष्यों ने बुद्धवचनों की सुरक्षा की दृष्टि से उपर्युक्त सङ्गीतियों में उन (बुद्धवचनों) का सङ्गायन किया और उनका विभिन्न भागों में वर्गीकरण किया। प्रथम सङ्गीति के वर्णनप्रसङ्ग में यद्यपि

---

१. अं० नि०, प्र० भा०, पृ० ५६।

'धम्मं च विनयं च सङ्गायाम' (चुल्ल०) के अनुसार धर्म और विनय के ही सङ्गायन की वात कही गयी है, वहां अभिधर्म के सङ्गायन की वात उल्लिखित नहीं है, अतः कुछ इतिहासवेत्ता यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि 'अभिधर्म पिटक' की रचना प्रथम सङ्गीति से परवर्तीकाल की है; तथापि यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम सङ्गीति के अवसर पर ही अभिधर्म के सङ्गायन का भी स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] ह्वेनसांग भी इससे सहमत है। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि राजगृह की सङ्गीति में बुद्धवचनों का जो स्वरूप निश्चित हुआ था, वही वर्तमान त्रिपिटक का आधार है। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार प्रथम सङ्गीति के अवसर पर ही महास्थविरों ने समस्त बुद्धवचनों का तीन पिटक, पांच निकाय, नौ अङ्ग और ८४००० धर्मस्कन्धों में स्पष्टतः विभाजन किया। हमें जो त्रिपिटक साहित्य आज उपलब्ध है, यह वही त्रिपिटक है, जिसका तृतीय सङ्गीति में सङ्गायन हुआ था और जिसे कुछ ही काल वाद भिक्षु महेन्द्र (सम्राट् अशोक के पुत्र) धर्मप्रचार के निमित्त लङ्का ले गये थे।

१. त्रिपिटक

बुद्धवचनों का एक विभाग (वर्गीकरण) त्रिपिटक है। पिटक तीन हैं, यथा– विनय पिटक, सूत्र(सुत्त)पिटक और अभिधर्म पिटक। पिटक 'पिटारी' को कहते हैं। पिटारी की भांति होने से एक प्रकार के संग्रह को एक 'पिटक' कहते हैं।

विनय पिटक–विनय 'अनुशासन' को कहते हैं। जिसमें भगवान् बुद्ध द्वारा भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार-सम्वन्धी नियम (कर्त्तव्य) प्रज्ञप्त हैं, उसे (उस संग्रह को) 'विनय पिटक' कहते हैं। इसे भिक्षुसंघ का 'संविधान' कह सकते हैं। धार्मिक दृष्टि से इसका वड़ा महत्त्व है। विनय सम्वन्धी नियमों को लेकर ही अष्टादश निकाय-भेद हो गये। बौद्ध संघ में विनय पिटक के प्रति सदा से अत्यधिक आदर रहा है। उन्होंने इसे सूत्र पिटक से भी ऊँचा स्थान दिया है। यह बुद्धशासन की आयु है। उनका विश्वास है कि जव तक विनय पिटक विशुद्ध रहेगा तव तक बुद्धशासन भी अक्षुण्ण रहेगा।

विनयपिटक के विषय तीन भागों में विभक्त हैं, यथा-सुत्तविभङ्ग, खन्धक (स्कन्धक) और परिवार। सुत्तविभङ्ग के दो विभाग हैं–पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खन्धक भी दो भागों में विभक्त है–महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस तरह विनयपिटक के पांच भाग हो जाते हैं, यथा–पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग, और परिवार। पाराजिक-पाचित्तिय ही भिक्षु-विभङ्ग और भिक्षुणी-विभङ्ग कहलाते हैं और इन्हीं का सार भिक्षु-प्रातिमोक्ष और भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष है।

---

१. "धम्मसङ्गणि-विभङ्गञ्च कथावत्थुञ्च पुग्गलं।
धातु-यमकपट्ठानं अभिधम्मा ति वुच्चती' ति ॥
एवं संवण्णितं सुखुमञाणगोचरं तन्तिं सङ्गायित्वा इदं अभिधम्मपिटकं नामा ति वत्वा पञ्च अरहन्तसतानि सज्झायमकंसु।"–सीलक्खन्धवग्गट्ठकथा, पृ० १५।

सूत्रपिटक—इसमें विनय से भिन्न सामान्य बुद्धवचनों का सङ्ग्रह है। यह पाँच निकायों में विभक्त है, यथा—दीघ (दीर्घ)-निकाय, मज्झिम (मध्यम)-निकाय, संयुत्त (संयुक्त)-निकाय, अङ्गुत्तर (अङ्कोत्तर)-निकाय और खुद्दक (क्षुद्रक)-निकाय।

सर्वास्तिवादी सूत्रपिटक भी उपर्युक्त पाँच विभागों में विभक्त है। उसमें केवल निकाय के स्थान पर 'आगम' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रारम्भ में उन (सर्वास्तिवादियों) का त्रिपिटक संस्कृत में था; किन्तु आज वह अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। उसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है। उसका अध्ययन हुआ है और पालित्रिपिटक से उसकी तुलना की गई है। सर्वास्तिवादी-त्रिपिटक और पालित्रिपिटक के सूत्रपिटक और विनयपिटक में मूलभूत समानतायें पायी गयी हैं, केवल विषय-विन्यास में ही थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। यही बात अभिधर्मपिटक के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। दोनों परम्पराओं में अभिधर्मपिटक की ग्रन्थ-संख्या समान होने पर भी विषय-वस्तु में कोई समता नहीं है।

क. **दीघनिकाय**—यह दीर्घ आकार के सूत्रों का संग्रह है। आकार की दृष्टि से जो सूत्र (बुद्धोपदेश) लम्बे हैं, वे इस निकाय में सङ्गृहीत हैं। दीघनिकाय में कुल ३४ सूत्र हैं, जो तीन वर्गों में विभक्त हैं, यथा—१. सीलक्खन्धवग्ग—इसमें १–१३ सूत्र हैं। २. महावग्ग—इसमें १० सूत्र (१४–२३) हैं तथा ३. पाथेय्यवग्ग—इसमें ११ सूत्र (२४–३४) हैं।

ख. **मज्झिम निकाय**—इसमें मध्यम आकार के सूत्रों का संग्रह है। यह तीन भागों में विभक्त है, यथा—मूल पण्णास, मज्झिम पण्णास और उपरिपण्णास। इसमें कुल १५ वर्ग हैं, जिनमें १५२ सूत्र संगृहीत हैं।

ग. **संयुत्त निकाय**—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसमें छोटे, बड़े सभी आकार के सूत्रों का संग्रह है। अधिकतर छोटे आकार के सूत्र ही अधिक हैं। बुद्धघोष के अनुसार इसमें ७७६२ सूत्र हैं, जो ५ वर्ग और ५६ संयुत्तों में संगृहीत हैं, यथा—सगाथवग्ग में ११ संयुत्त, निदानवग्ग में १० (१२–२१) संयुत्त, खन्धवग्ग में १३ (२२–३४) संयुत्त, सलायतनवग्ग में १० (३५–४४) संयुत्त तथा महावग्ग में १२ (४५–५६) संयुत्त हैं।

घ. **अङ्गुत्तर निकाय**—यह सूत्रपिटक का सबसे बड़ा भाग है। इसका विषय पूर्व के तीन निकायों से भिन्न नहीं है; किन्तु शैली इसकी सबसे विलक्षण है। संख्यावद्ध शैली इसकी विशेषता है। सम्पूर्ण निकाय एक-निपात, दुक-निपात आदि ११ निपातों में विभक्त है। एक एक निपात अनेक वर्गों में विभक्त है तथा एक एक वर्ग में अनेक छोटे आकार के सूत्र हैं। बुद्धघोष के अनुसार इसमें ९५५७ सूत्र हैं, जो ११ निपात और १६९ वर्गों में संगृहीत हैं।

ङ. **खुद्दक निकाय**—यह सूत्रपिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है। पहले के चार निकायों की भाँति इसमें सूत्र नहीं हैं; अपितु यह छोटे-छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नहीं हैं, कुछ तो जातक-आदि काफी बड़े ग्रन्थ हैं। इसमें १५ ग्रन्थ सङ्गृहीत हैं; किन्तु ग्रन्थसंख्या के बारे में पर्याप्त मतभेद भी है। बुद्धघोष के अनुसार

१५ ग्रन्थ इस प्रकार हैं – १. खुद्दक पाठ, २. धम्मपद, ३. उदान, ४. इतिवुत्तक, ५. सुत्तनिपात, ६. विमानवत्थु, ७. पेतवत्थु, ८. थेरगाथा, ९. थेरीगाथा, १०. जातक, ११. निद्देस, १२. पटिसम्भिदामग्ग, १३. अपदान, १४. बुद्धवंस तथा १५. चरियापिटक।

सिंहलदेशीय परम्परा निद्देस के चूळनिद्देस और महानिद्देस इन दो भागों को दो स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर खुद्दकनिकाय में १६ ग्रन्थों को मानती है। ब्रह्मदेशीय परम्परा पूर्वोक्त १५ ग्रन्थों के अतिरिक्त इन चार ग्रन्थों को भी खुद्दकनिकाय में सम्मिलित करती है, यथा – मिलिन्दपञ्ह, सुत्तसङ्गह, पेटकोपदेस और नेत्ति-पकरण।

अभिधम्मपिटक – यह त्रिपिटक का तीसरा मुख्य भाग है। इसमें भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दार्शनिक मन्तव्यों का संग्रह है। यह सात प्रकरणों में विभक्त है, यथा – धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। यद्यपि इन ग्रन्थों में अनेक गम्भीर और दुर्बोध दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है; तथापि संक्षेपतः चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण – ये चार परमार्थ धर्म ही इन सभी प्रकरणों के सामान्य अभिधेय हैं। इन चार परमार्थ धर्मों का ही स्पष्ट और अभ्रान्त ज्ञान कराने के लिये उपर्युक्त सात प्रकरणों में इनका विभिन्न प्रकार से संयोग और विभाग करके प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार शैली के भेद से इस पिटक का सात प्रकरणों में विभाजन किया गया है।

'अभिधर्म' में 'अभि' शब्द 'अतिरेक' या 'विशेष' अर्थ का वाचक है[1]। 'धर्म' शब्द 'परियत्ति धर्म' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसीलिये 'धर्म' शब्द द्वारा सूत्रों का भी ग्रहण होता है, यथा – "यो वो आनन्द! मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो[2]" आदि कहा गया है। अतः सूत्रपिटक-पालि से अधिक गम्भीर और विशिष्ट धर्म 'अभिधर्म' है। अभिधर्मपिटक में धर्मों का कुशल-अकुशल-अव्याकृत आदि नाना नयों से विभाजन करके प्रतिपादन किया गया है। यही सूत्रपिटक से इसकी अतिशयता या विशिष्टता है। आचार्य वसुबन्धु ने अपने 'अभिधर्मकोश' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में सपरिवार अमला प्रज्ञा को परमार्थतः अभिधर्म कहा है तथा उस अमला प्रज्ञा को प्राप्त करानेवाली सामान्य प्रज्ञा और उसका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों को भी व्यवहारतः अभिधर्म कहा है[3]। महायानी आचार्य असङ्ग ने 'अभिधर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए 'अभि' शब्द को चार अर्थों में प्रयुक्त किया है, यथा – निर्वाण के अभिमुख होने के कारण, धर्म का विविध वर्गीकरण करने के कारण, विरोधी मतों का अभिभव करने के कारण तथा सूत्रों के सिद्धान्त का अनुगमन करने के कारण। इस प्रकार उन्होंने चार अर्थों में 'अभिधर्म शब्द' की सार्थकता दिखलाई है[4]।

---

१. "तत्थ अभिधम्मो ति केनट्ठेन अभिधम्मो? धम्मातिरेक-धम्मविसेसट्ठेन। अतिरेक-विसेसत्थदीपको हि एत्थ 'अभि'-सद्दो।" – अट्ठ०, पृ० २।

२. दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० ११८।

३. "प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मस्तत्प्राप्तये याऽपि च यच्च शास्त्रम्।" – अभि० को० १ : २, पृ० ५।

४. "अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च।" – महा० सू०, ११ : ३।

देवानं तावतिंसानं अभिधम्मकथं कथेसि – 'कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा' ति[1]" – यह अभिधर्म का निदान है।

अपि च – सूत्रों का तो एक ही निदान होता है; अभिधर्म में दो निदान हैं, यथा – अधिगम निदान और देशना निदान। इनमें से दीपङ्कर दशबल से लेकर महाबोधिपर्यङ्क पर्यन्त 'अधिगम निदान' तथा धर्मचक्रप्रवर्तन से लेकर 'देशना निदान' है।

इन दोनों निदानों के सम्यग् ज्ञान के लिये आचार्य बुद्धघोष ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं और अन्त में उनका समाधान दिया है[2], यथा – यह अभिधर्म किससे प्रभावित है? कहाँ परिपक्व हुआ है? कहाँ अधिगत (प्राप्त) हुआ है? कब अधिगत हुआ है? किसने अधिगत किया? कहाँ विचित (अन्वेषित) हुआ है? कब विचित (अन्वेषित) हुआ है? किसने अन्वेषण (विचार) किया है? कहाँ देशित हुआ है? किस पुद्गल के लिये देशना की गई है? किस लाभ के लिये देशना की गयी? किसने इसका प्रतिग्रहण किया है? कौन इसे सीखते हैं? कौन शिक्षित हैं? कौन धारण करते हैं? यह किसका वचन है? तथा यह किसके द्वारा लाया गया है?

समाधान – बोधि के प्रति अभिनीहार करनेवाली श्रद्धा से प्रभावित है। ५५० जातकों में परिपक्व हुआ है। बोधिवृक्ष के मूल में अधिगत हुआ है। वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि में अधिगत हुआ है। सर्वज्ञ बुद्ध ने प्राप्त किया है। बोधिमण्ड में अन्वेषण (विचार) किया है। रत्नगृह सप्ताह में अन्वेषित हुआ है। सर्वज्ञ बुद्ध ने अन्वेषण किया है। त्रायस्त्रिंश देवभूमि में देशना की। देवताओं के लिये देशना की गयी। चतुर्विध ओघ से निस्तरण (निर्याण) के लिये देवताओं ने ग्रहण किया। शैक्ष और कल्याण पृथग्जन शिक्षा ग्रहण करते हैं। क्षीणास्रव अर्हत् शिक्षित हैं। जिनमें योग्यता है, वे धारण करते हैं। अर्हत् भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध का वचन है। आचार्य परम्परा द्वारा लाया गया है।

आभिधर्मिकों की वह आचार्य परम्परा इस प्रकार है—सारिपुत्त, भद्दजि, सोभित, पियजाली, पियपाल, पियदस्सी, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, सुदत्त, धम्मिय, दासक, सोणक और रेवत। इस आचार्य परम्परा ने जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) में बुद्ध के उपदेश काल से लेकर तृतीय सङ्गीति पर्यन्त अभिधर्म को पहुँचाया। तदनन्तर उनके शिष्यों और अनुशिष्यों ने इस क्रम को आगे भी जारी रखा। इसके बाद महिन्द, इट्टिय, उत्तिय, सम्बल, पण्डित, भद्दनाम आदि आचार्य इसे (अभिधर्म को) सिंहल द्वीप ले गये। तदनन्तर इन आचार्यों के शिष्यों और अनुशिष्यों की परम्परा ने इसे आज तक पहुंचाया है।

कथावत्थु का बुद्धवचनत्व – आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) स्थविर ने (जो तृतीय सङ्गीति के अध्यक्ष थे) तृतीय सङ्गीति के अवसर पर स्थविरवाद से भिन्न मतावलम्बी १७ बौद्धनिकायों के मतों का निराकरण करते हुये कथावत्थु की रचना

---

१. अट्ठ०, पृ० २६।

२. अट्ठ०, पृ० २५।

ग्रन्थ	आचार्य
१. ज्ञानप्रस्थान शास्त्र	आर्य कात्यायन
२. प्रकरणपाद	स्थविर वसुमित्र
३. विज्ञानकायपाद	स्थविर देवशर्मा
४. धर्मस्कन्धपाद	आर्य शारिपुत्र
५. प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद	आर्य मौद्गल्यायन
६. धातुकायपाद	पूर्ण (या वसुमित्र)
७. संगीतिपर्यायपाद	महाकौष्ठिल्ल

पालि अभिधर्मपिटक के साथ इनकी तुलना करने से नामों में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है, यथा –

पालि अभिधर्मपिटक	सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक
१. धम्मसंगणि	४. धर्मस्कन्धपाद
२. विभङ्ग	३. विज्ञानकायपाद
३. पुग्गलपञ्ञत्ति	५. प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	६. धातुकायपाद
५. पट्ठान	१. ज्ञानप्रस्थान
६. यमक	७. सङ्गीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुप्पकरण	२. प्रकरणपाद

नामों में पर्याप्त समानता होने पर भी विषयगत साम्य बिलकुल नहीं है। दोनों सम्प्रदायों के अभिधर्मपिटक अपने अपने सूत्रपिटक के ऊपर अवलम्बित हैं और दोनों के सूत्रपिटकों में अधिक वैषम्य नहीं है, अतः सामान्यतः कुछ साम्य तो अवश्य है; किन्तु एक सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ की दूसरे सम्प्रदाय के जिस ग्रन्थ से नाम में समानता है, उन ग्रन्थों के विषय अवश्य समान नहीं हैं।

पालि अभिधम्मपिटक का संक्षिप्त परिचय

धम्मसङ्गणि – यह अभिधर्मपिटक का मूलग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें समस्त धर्मों को कुशल, अकुशल और अव्याकृत में विभाजित करके उनकी व्याख्या की गई है। इसे बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या कह सकते हैं। इसमें सम्पूर्ण धर्मों का १२२ मातिकाओं में विभाजन किया गया है। इनमें २२ त्रिक मातृका तथा १०० द्विक मातिकायें हैं। समस्त ग्रन्थ ४ भागों में विभक्त है, यथा – चित्तकाण्ड, रूपकाण्ड, निक्खेपकाण्ड और अत्थुद्धारकाण्ड।

चित्तकाण्ड में चित्त का कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर – इन चार भागों में विभाग किया गया है। कामावचर चित्त कुशल, अकुशल, विपाक और क्रिया – इन चार भागों में विभक्त है। इनमें कुशल चित्त ८, अकुशल १२, कुशल विपाक १६, अकुशल विपाक ७ तथा क्रियाचित्त ११ हैं। रूपावचर चित्तों में कुशल ५, विपाक ५ तथा क्रियाचित्त ५ हैं। अरूपावचर चित्तों में कुशल ४, विपाक

को लक्ष्य करके अशोक ने तृतीय सङ्गीति का आयोजन किया था। स्थविरों ने स्थविरवाद को ही बुद्ध के मन्तव्यों का असली व्याख्याता ठहराया। सङ्गीति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने परवादियों के २१६ दार्शनिक सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका स्थविरवादी दृष्टिकोण से निराकरण किया। इस ग्रन्थ में कुल एक सहस्र सूत्र हैं, जिनमें ५०० सूत्र अपने मत को तथा ५०० सूत्र परमत को प्रदर्शित करते हैं।

यमक – यह एक विशाल ग्रन्थ है। यमक का अर्थ 'युगल' (जुड़वाँ) है। इसमें प्रश्न जोड़े के रूप में रखे गये हैं। इसी शैली का आदि से अन्त तक निर्वाह किया गया है। समस्त ग्रन्थ १० यमकों में विभक्त है, यथा – मूलयमक, स्कन्धयमक, आयतनयमक, धातुयमक, सत्ययमक, संस्कारयमक, अनुशययमक, चित्तयमक, धर्मयमक और इन्द्रिययमक।

पट्ठान – इसे 'महाप्रकरण' भी कहते हैं। यह आकार में अत्यधिक विशाल तथा समझने में अत्यन्त दुरूह ग्रन्थ है। इसमें २४ प्रत्ययों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, यथा – हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, अधिपति-प्रत्यय, अनन्तर-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, सहजात-प्रत्यय, अन्योन्य-प्रत्यय, निःश्रय-प्रत्यय, उपनिःश्रय-प्रत्यय, पूर्वजात-प्रत्यय, पश्चाज्जात-प्रत्यय, आसेवन-प्रत्यय, कर्म-प्रत्यय, विपाक-प्रत्यय, आहार-प्रत्यय, इन्द्रिय-प्रत्यय, ध्यान-प्रत्यय, मार्ग-प्रत्यय, सम्प्रयुक्त-प्रत्यय, विप्रयुक्त-प्रत्यय, अस्ति-प्रत्यय, नास्ति-प्रत्यय, विगत-प्रत्यय और अविगत-प्रत्यय।

इस ग्रन्थ में प्रधानतः २२ त्रिक और १०० द्विक मातृकायें हैं। सूत्रपिटकानुसारी ४२ मातृकायें और भी हैं। यह ग्रन्थ ४ प्रकार के पट्ठानों में विभक्त है, यथा – अनुलोम-पट्ठान, पच्चनियपट्ठान, अनुलोम-पच्चनिय-पट्ठान तथा पच्चनिय-अनुलोम-पट्ठान।

अनुलोम-पट्ठान में ६ प्रकार के पट्ठान हैं, यथा – (१) त्रिक मातृकाओं के आधार पर 'त्रिक-पट्ठान', (२) द्विक मातृकाओं के आधार पर 'द्विक-पट्ठान', (३) २२ त्रिकों को १०० द्विकों में मिलाकर 'त्रिक-द्विक पट्ठान', (४) १०० द्विकों को २२ त्रिकों में मिलाकर 'द्विक-त्रिक पट्ठान', (५) त्रिकों को त्रिकों में मिला कर 'त्रिक-त्रिक पट्ठान', तथा (६) द्विकों को द्विकों में मिलाकर 'द्विक-द्विक' पट्ठान।

इसी प्रकार पच्चनिय, अनुलोम-पच्चनिय और पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान में भी भी ६–६ पट्ठान वर्णित हैं। इस प्रकार इसमें २४ पट्ठान हैं।

पिटक तीन ही

भगवान् बुद्ध की देशनायें त्रिविध हैं, उनका शासन त्रिविध है, कथायें तीन प्रकार की हैं, शिक्षा तीन हैं, प्रहाण भी तीन हैं तथा एक-एक पिटक में ४–४ गम्भीर भाव हैं, अतः तीन ही पिटक होते हैं।

त्रिविध देशना – भगवान् की देशनायें तीन हैं, अतः पिटक भी तीन ही होते हैं, यथा – 'आणा' देशना 'वोहार' देशना और 'परमत्थ' देशना।

आज्ञा देने योग्य भगवान् द्वारा उपदिष्ट विनयपिटक आज्ञाबहुल होने से 'आणा' (आज्ञा) देशना है।

व्यवहार कुशल भगवान् द्वारा बहुलतया व्यवहार-कौशल्य के लिये उपदिष्ट सूत्रपिटक 'वोहार' (व्यवहार) देशना है।

में दुश्चरित आदि क्लेशों का प्रहाण है तथा अन्य अवशिष्ट दो पिटकों में तृष्णा, दृष्टि आदि क्लेशों का प्रहाण है ।

चतुर्विध गाम्भीर्य – उपर्युक्त तीन पिटकों में से प्रत्येक में चार प्रकार के गम्भीर भावों को जानना चाहिये, यथा – धर्म, अर्थ, देशना और प्रतिवेध ।

उनमें से बुद्धवचन (पालि) 'धर्म' है । उनका अर्थ ही 'अर्थ' है । उनकी देशना 'देशना' है तथा उन बुद्धवचनों का यथार्थ अवबोध 'प्रतिवेध' है ।

अथवा—धर्म 'हेतु' है । अर्थ हेतुओं का 'फल' है । देशना 'प्रज्ञप्ति' है, अर्थात् धर्मों का अनुलोम, प्रतिलोम, संक्षेप, विस्तार आदि से कथन । प्रतिवेध 'अभिसमय' है, अर्थात् उन कहे हुये धर्मों का स्वलक्षण नामक अविपरीत स्वभाव ।

इन तीनों पिटकों में जो धर्म और अर्थ कहे गये हैं, उन धर्मों और अर्थों का श्रोताओं को यथार्थ अवबोध कराने के लिये जो देशना की गयी है तथा जो धर्मों का अविपरीत अवबोध नामक प्रतिवेध है – ये सब जिनके कुशलसम्भार उपचित नहीं है – ऐसे दुष्प्रज्ञ पुद्गलों के लिये दुर्ज्ञेय हैं, अतः इन्हें गम्भीर कहा गया है ।

"देशना-सासन-कथाभेदं तेसु यथारहं ।
सिक्खा-पहान-गम्भीरभावं च परिदीपये ।।"[1]

त्रिपिटक

- विनयपिटक
  - पाराजिक
  - पाचित्तिय
  - चुल्लवग्ग
  - महावग्ग
  - परिवार
- सूत्रपिटक
  - दीघनिकाय
  - मज्झिमनिकाय
  - संयुत्तनिकाय
  - अङ्गुत्तरनिकाय
  - खुद्दकनिकाय
    - खुद्दकपाठ
    - धम्मपद
    - उदान
    - इतिवुत्तक
    - सुत्तनिपात
    - विमानवत्थु
    - पेतवत्थु
    - थेरगाथा
    - थेरीगाथा
    - जातक
    - निद्देस
    - पटिसम्भिदामग्ग
    - अपदान
    - बुद्धवंस
    - चरियापिटक
- अभिधर्मपिटक
  - धम्मसंगणि
  - विभङ्ग
  - धातुकथा
  - पुग्गलपञ्ञत्ति
  - कथावत्थु
  - यमक
  - पट्ठान
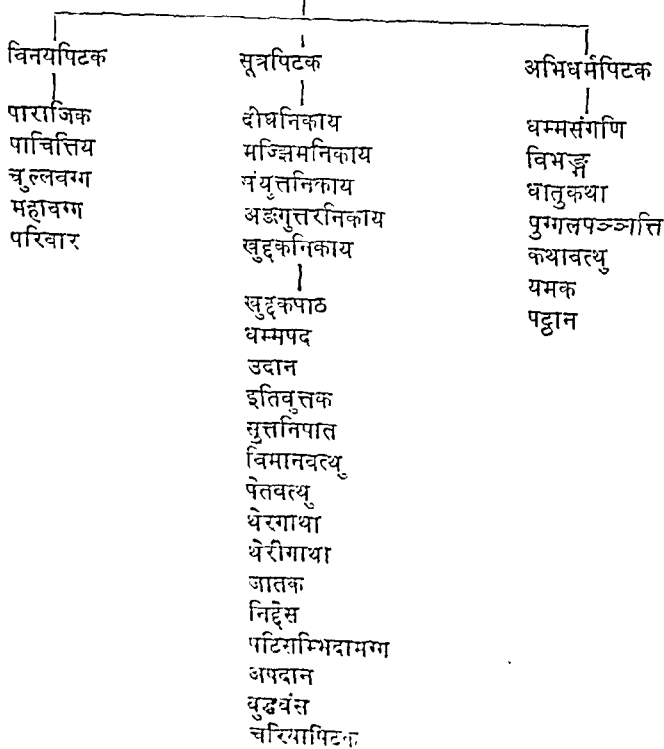
यह प्रथम बुद्धवचन है; किन्तु धम्मपदभाणक स्थविर इसे प्रथम बुद्धवचन नहीं मानते। उनके अनुसार –

"अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥
गहकारक, दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खतं।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ति[1] ॥"

यह प्रथम बुद्धवचन है। महापरिनिर्वाण के समय कुशीनगर में दो शालवृक्षों के मध्य में लेटे हुये भगवान् बुद्ध का भिक्षुओं के प्रति निम्न उपदेश –

"हन्द दानि भिक्खवे, आमन्तयामि वो; वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथा ति[2]।"

यह अन्तिम बुद्धवचन है। इन दोनों कालों के मध्य में पुष्पमाला गूंथने के समान, रत्नावलि गूंथने के समान कथित अमृतत्त्व का प्रकाशक सम्पूर्ण सद्धर्म मध्यम बुद्धवचन है।

इस प्रकार सङ्गीतिकारक महास्थविरों द्वारा सङ्गृहीत समस्त बुद्धवचन पिटक की दृष्टि से तीन पिटक, निकाय की दृष्टि से पाँच निकाय, अङ्ग की दृष्टि से नौ अङ्ग तथा धर्मस्कन्धों की दृष्टि से ८४,००० धर्मस्कन्धों में विभक्त हैं।

उनमें से अभिधर्मपरक बुद्धवचन पिटक की दृष्टि से अभिधर्म पिटक, निकाय की दृष्टि से खुद्दकनिकाय, अंग की दृष्टि से वेय्याकरण, धर्मस्कन्ध की दृष्टि से कुछ सहस्र धर्मस्कन्ध हैं।

अभिधम्मत्थसङ्गहो

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य अनुरुद्ध द्वारा पालिभाषा में लिखित एक लघुकाय ग्रन्थ है। इसमें अभिधर्मपिटक के सारे विषय साररूप से सरल भाषा में उपनिबद्ध हैं। इसका इतना अधिक महत्त्व है कि समस्त बौद्ध देशों में अभिधर्मपिटक के अध्ययन से पूर्व इसका अनिवार्यरूप से अध्ययन किया जाता है। इसके ऊपर अनेक पालि टीकायें तो हैं ही; तत्तद् देशों की अपनी-अपनी भाषाओं में भी इस पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है।

ब्रह्मदेश आजकल केवल बौद्ध धर्म का ही नहीं; अपितु अभिधर्म साहित्य के विशेष अध्ययन का भी प्रधान केन्द्र माना जाता है। अभिधर्म के अध्ययन की बर्मी परम्परा शताब्दियों पुरानी है। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस पर अनेक बार अनेक बाधायें आईं, किन्तु किसी न किसी तरह यह आज तक अक्षुण्णरूप से विद्यमान है। शासन की ओर से भी अभिधर्म के अध्ययन के लिये पर्याप्त प्रोत्साहन

१. खु० नि०, प्र० भा० (धम्म०), पृ० ३२।
२. दी० नि० द्वि० भा०, पृ० ११९।

एक अनुसन्धिवाला सूत्र एक धर्मस्कन्ध होता है । जिसमें अनेक अनुसन्धियाँ होती हैं, वहाँ अनुसन्धियों के अनुसार धर्मस्कन्धों की गणना की जाती है । गाथाबद्ध बुद्धवचनों में 'प्रश्न' एक धर्मस्कन्ध होता है और उसका 'उत्तर' एक दूसरा धर्मस्कन्ध होता है । अभिधर्म में तिकपट्ठान, दुकपट्ठान आदि पृथक् पृथक् धर्मस्कन्ध होते हैं । विनयपिटक में वत्थु (वस्तु), मातिका, पदभाजनिय, आपत्ति, अनापत्ति, अन्तरापत्ति आदि होते हैं । ये सब विभाग पृथक् पृथक् एक-एक धर्मस्कन्ध होते हैं । इस प्रकार ८४,००० धर्म स्कन्ध होते हैं । इनमें ८२,००० धर्मस्कन्ध बुद्ध द्वारा उक्त हैं तथा २००० धर्मस्कन्ध शारिपुत्र-आदि भिक्षुओं के वचन हैं । यथा –

"द्वासीतिं बुद्धतो गण्हिं द्वे सहस्सानि भिक्खुतो ।
चतुरासीति सहस्सानि ये मे धम्मा पवत्तिनो ति[1] ॥"

सर्वास्तिवाद आदि अन्य निकायों में बुद्धवचनों का ८०,००० धर्मस्कन्धों में विभाजन उपलब्ध होता है । जैसा कि अभिधर्मकोश में उल्लिखित है –

"धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनिः[2] ।"

बुद्धवचनों का उपर्युक्त पिटक, निकाय, अङ्ग और धर्मस्कन्ध – इन चारों प्रकारों में वर्गीकरण अत्यन्त प्राचीन है । इसकी पुष्टि स्वयं त्रिपिटक, अशोक के शिलालेख और मिलिन्दप्रश्न, दीपवंस, महावंस, गन्धवंस, अट्ठकथा आदि ग्रन्थों से होती है । आचार्य बुद्धघोष के अनुसार ये चारों विभाजन प्रथमसंगीति के समय ही कर दिये गये थे । उनका कहना है कि महाकाश्यपप्रमुख भिक्षुसंघ ने प्रथम संगीति के काल में ही "यह प्रथम बुद्ध वचन है, यह मध्यम बुद्ध वचन है, यह अन्तिम बुद्ध वचन है; यह विनयपिटक है, यह सूत्रपिटक है, यह अभिधर्मपिटक है, यह दीघनिकाय है, ... यह खुद्दकनिकाय है, ये 'सुत्त' आदि नौ अङ्ग हैं, ये ८४,००० धर्मस्कन्ध हैं" – इस प्रकार विभाजन करके बुद्ध वचनों को व्यवस्थापित कर दिया था[3] ।

बुद्धत्व प्राप्ति के अनन्तर बोधिवृक्ष के नीचे सात दिन तक एक आसन से बैठे हुये भगवान् बुद्ध द्वारा कथित निम्न उदान –

"यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा यतो पजानाति सहेतुधम्मं ॥
यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा यतो खयं पच्चयानं अवेदि ॥
यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
विधूपयं तिट्ठति मारसेनं सूरो व ओभासयमन्तलिक्खं' ति[4] ॥"

---

१. अट्ठ०, पृ० २३ ।
२. अभि० को० १ : २५, पृ० ३१ ।
३. "एवमेतं सब्बं पि बुद्धवचनं पञ्चसतिकसङ्गीतिकाले सङ्गायन्तेन महाकस्सपपमुखेन वसीगणेन इदं पठमबुद्धवचनं, इदं मज्झिमबुद्धवचनं, इदं पच्छिमबुद्धवचनं; इदं विनयपिटकं, इदं सुत्तन्तपिटकं, इदं अभिधम्मपिटकं, अयं दीघनिकायो, ... पे० ... अयं खुद्दकनिकायो, इमानि सुत्तादीनि नवङ्गानि, इमानि चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानीति इम पभेदं ववत्थपेत्वा व सङ्गीतं ।" – अट्ठ०, पृ० २३ ।
४. म० व० (वि० पि०), पृ० ३–४ ।

यथा—कामावचर चित्त, रूपावचर चित्त, अरूपावचर चित्त और लोकोत्तर चित्त। जो चित्त प्रायः कामतृष्णा की आलम्बनभूत कामभूमि में पाये जाते हैं, उन्हें 'कामावचर चित्त' कहते हैं। रूपतृष्णा की आलम्बनभूत रूपभूमि में पाये जानेवाले चित्तों को 'रूपावचर चित्त' तथा अरूपतृष्णा की आलम्बनभूत अरूपभूमि में पाये जानेवाले चित्तों को 'अरूपावचर चित्त' कहते हैं। ये तीन भूमियाँ लौकिक हैं। इनसे ऊर्ध्व अलौकिक भूमि होती है, जिसे 'लोकोत्तर भूमि' कहते हैं। इसमें 'भूमि' शब्द का व्यवहार औपचारिक ही है; क्योंकि नीचे की तीन भूमियों की भांति यह कोई दैशिक भूमि (स्थान-विशेष) नहीं है; अपितु लौकिक बन्धनों (क्लेशों) से ऊर्ध्व यह चित्त की एक अवस्था-मात्र है। इस भूमि (अवस्था) में पाये जानेवाले चित्तों को 'लोकोत्तर चित्त' कहते हैं।

जातिभेद से भी चित्तों का विभाजन किया जाता है। चित्तों की तीन जातियाँ हैं, यथा—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। उनमें कुशल और अकुशल—ये कर्म हैं। अव्याकृत में विपाक और क्रिया—ये दो प्रकार के चित्त होते हैं। कुशल और अकुशल कर्मों के फल को 'विपाक' कहते हैं। जो कर्म फल नहीं देते, उन्हें 'क्रिया' कहते हैं। वे क्रियाचित्त चाहे शोभन हों या अशोभन तथा सहेतुक हों या अहेतुक, प्रायः अर्हत् की सन्तान में ही होते हैं।

कामावचर चित्त भी तीन प्रकार के होते हैं, यथा—अकुशल, अहेतुक और कामावचर शोभन। लोभ, द्वेष और मोह नामक अकुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त चित्त 'अकुशल' कहलाते हैं। ये चित्त १२ प्रकार के होते हैं, यथा—८ लोभमूल, २ द्वेषमूल तथा २ मोहमूल। जो चित्त कुशल या अकुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त नहीं होते, वे 'अहेतुक' कहलाते हैं। ये चित्त १८ प्रकार के होते हैं, यथा—७ अकुशल विपाक, ८ कुशलविपाक तथा ३ क्रियाचित्त। अलोभ, अद्वेष और अमोह नामक कुशल हेतुओं से सम्प्रयुक्त चित्त 'कामावचर शोभन' कहलाते हैं। ये २४ प्रकार के होते हैं। इनका तीन भागों में संग्रह किया गया है, यथा—८ कुशल चित्त (इन्हें 'महाकुशल' भी कहते हैं), ८ विपाक चित्त (इन्हें 'महाविपाक' भी कहते हैं) तथा ८ क्रिया चित्त (इन्हें 'महाक्रिया' भी कहते हैं)। इस प्रकार 'कामावचर चित्त' संख्या में ५४ प्रकार के होते हैं। इनमें से अकुशल और अहेतुक चित्त 'अशोभन' तथा शेष चित्त 'शोभन कहलाते हैं। इन कामावचर चित्तों का सौमनस्य, दौर्मनस्य, सुख, दुःख और उपेक्षा—इन ५ वेदनाओं के भेद से; दृष्टिगतसम्प्रयुक्त, दृष्टिगतविप्रयुक्त, ज्ञानसम्प्रयुक्त, ज्ञानविप्रयुक्त—आदि सम्प्रयोग के भेद से तथा संस्कारिक और असंस्कारिक—आदि संस्कार के भेद से अनेकधा भेद होते हैं।

जातिभेद से कामावचर ५४ चित्तों की स्थिति इस प्रकार है—८ कुशल, १२ अकुशल, २३ विपाक तथा ११ क्रियाचित्त।

सम्प्रयोगभेद से २० सम्प्रयुक्त, १६ विप्रयुक्त तथा १८ न सम्प्रयुक्त और न विप्रयुक्त चित्त होते हैं।

संस्कारभेद से १७ संस्कारिक, १७ असंस्कारिक तथा २० न संस्कारिक और न असंस्कारिक चित्त होते हैं।

दिया जाता है। जिस प्रकार भारत में गीता और रामायण की शलाका-आदि अनेकविध परीक्षायें होती हैं, उसी प्रकार बर्मा में भी इसकी अनेक प्रकार की परीक्षायें आयोजित की जाती हैं, जिसमें सभी स्तर के स्त्री, पुरुष सम्मिलित होते हैं। प्रस्तुत 'अभिधम्मत्थसंगहो' का वहाँ अत्यधिक प्रचार है। वहाँ के अनेक मनीषियों ने इस पर अनेक गम्भीर टीकायें की हैं।

अपनी अनेकविध विशेषताओं के कारण 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' अभिधर्मपिटक की 'कनिष्ठ अट्ठकथा' कहा जाता है। अभिधर्मकान्तार में प्रवेश के लिये यह 'द्वार' की भांति है। इसके अध्ययन के बिना अभिधर्मपिटक में प्रवेश दुःशक है। इसमें विषयों का क्रम और उनका निरूपण इतनी वैज्ञानिक रीति से किया गया है कि अभिधर्मपिटक में यत्र तत्र बिखरे हुये सारे अभिधेय संक्षिप्त और सुसम्बद्धरूप में हमें एक जगह उपलब्ध हो जाते हैं। अतः यह अभिधर्मरूपी समुद्र से मथकर निकाले हुये अमृत की भांति माना जाता है। यही कारण है कि बुद्धघोष, बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि आचार्यों की अभिधर्मपिटक पर अनेक अट्ठकथायें विद्यमान होने पर भी बौद्ध देशों में इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है।

भगवान् बुद्ध के तात्त्विक अभिप्राय के परिज्ञान के लिये अभिधर्मपिटक का अध्ययन नितान्त अपेक्षित होता है। अभिधर्मपिटक के निगूढ अर्थों के सुस्पष्ट अवबोध के लिये इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यही विद्वानों की मान्यता है।

ग्रन्थ की संक्षिप्त विषयवस्तु

चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण – ये चार परमार्थ धर्म ही समस्त अभिधर्म के सामान्य अभिधेय हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य अनुरुद्ध ने भी ग्रन्थारम्भ में इन्हीं चार धर्मों के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चारों परमार्थ धर्मों का निरूपण यद्यपि षष्ठ परिच्छेद तक ही पूर्ण हो जाता है, अतः ग्रन्थ को यहीं समाप्त कर देना चाहिये था; किन्तु परमार्थ के सम्यग्ज्ञान के लिये प्रज्ञप्ति (अपरमार्थ = संवृति) का ज्ञान भी अपेक्षित होने से तथा निर्वाण के निरूपण के अनन्तर उसकी प्राप्ति का उपाय प्रदर्शित करना भी न्यायप्राप्त होने से आचार्य ने षष्ठ परिच्छेद के अन्त में ग्रन्थ समाप्त न कर प्रज्ञप्ति और साधना के निरूपणार्थ ३ अतिरिक्त परिच्छेदों का निर्माण कर ९ परिच्छेदों में ग्रन्थ की समाप्ति की है। अब हम यहाँ प्रत्येक परिच्छेद का सारांश प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रथम परिच्छेद– चित्त ही प्रधानतः इस परिच्छेद का प्रतिपाद्य है। 'आलम्बनं चिन्तेति' (विषय को जानना) – इस विग्रह के अनुसार चित्त यद्यपि एकविध ही होता है; तथापि आचार्य ने उसका भूमि, जाति, सम्प्रयोग, वेदना और संस्कार आदि अनेक भेदों से विभाजन कर सुविशद प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम उसका भूमि द्वारा विभाजन किया गया है। भूमियाँ चार होती हैं, यथा – कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर। फलतः इन भूमियों में पाये जानेवाले चित्त भी चार प्रकार के होते हैं,

होता है तथा नास्तिभावप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर तृतीय आरूप्य विज्ञान का आलम्बन करनेवाला नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक चतुर्थ आरूप्य ध्यान उत्पन्न होता है।

इन अरूपावचर ध्यानों में सर्वदा उपेक्षा और एकाग्रता – ये दो ध्यानाङ्ग ही सम्प्रयुक्त होते हैं। अतः रूपावचर ध्यानों की भाँति यहाँ ध्यानाङ्गों का अतिक्रमण अपेक्षित नहीं होता।

इन रूपावचर (१५) और अरूपावचर (१२) चित्तों का ध्यानों की दृष्टि से भी विभाजन किया जाता है, यथा – प्रथम ध्यान चित्त ३ (कुशल-विपाक-क्रिया), द्वितीय ध्यान चित्त ३, तृतीय ध्यान चित्त ३, चतुर्थ ध्यानचित्त ३ तथा पञ्चम ध्यान चित्त १५। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ध्यानों की दृष्टि से विभाजन करते समय समस्त १२ अरूपावचर चित्त पञ्चम ध्यान में ही संगृहीत होते हैं; क्योंकि जिस प्रकार रूपावचर पञ्चम ध्यान उपेक्षा और एकाग्रता – इन दो ध्यानाङ्गों से युक्त होता है, उसी प्रकार समस्त अरूपावचर ध्यान भी इन्हीं दो ध्यानाङ्गों से सम्प्रयुक्त होते हैं।

ये रूपावचर और अरूपावचर २७ चित्त 'महग्गत चित्त' कहलाते हैं। तथा ५४ कामावचर चित्त और २७ महग्गत चित्त कुल ८१ चित्त 'लौकिक चित्त' कहलाते हैं।

लोक से उत्तीर्ण चित्त 'लोकोत्तर' हैं। ये ४ मार्ग और ४ फल के भेद से ८ प्रकार के होते हैं। ये आर्य पुद्गलों के चित्त होते हैं। पृथग्जन गोत्र का प्रहाण कर जिन्होंने मार्ग या फल की प्राप्ति की है, वे पुद्गल 'आर्य' कहलाते हैं। ये आर्य पुद्गल ८ प्रकार के होते हैं, यथा – ४ मार्गस्थ और ४ फलस्थ। अतः लोकोत्तर चित्त भी ८ प्रकार के होते हैं। इनमें से स्रोतापत्ति मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'स्रोतापत्तिमार्गस्थ' तथा स्रोतापत्ति फल को प्राप्त पुद्गल 'स्रोतापत्तिफलस्थ' कहलाता है। इन दोनों को 'स्रोतापन्न पुद्गल' कहते हैं। वह इस संसार में ७ से अधिक जन्म ग्रहण नहीं करता, इस बीच उसे अवश्य निर्वाण का लाभ हो जाता है। सकृदागामी मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'सकृदागामि-मार्गस्थ' तथा सकृदागामी फल को प्राप्त पुद्गल 'सकृदागामि-फलस्थ' कहलाता है। इन दोनों को 'सकृदागामी पुद्गल' कहते हैं। उसका इस भव (संसार) में अधिक से अधिक एक वार जन्म होता है। अनागामी मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'अनागामिमार्गस्थ' तथा अनागामी फल को प्राप्त पुद्गल 'अनागामि-फलस्थ' कहलाता है। इन दोनों को 'अनागामी पुद्गल' कहते हैं। वह इस संसार में पुनः नहीं आता। यहाँ से च्युत होकर वह ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है और वहीं निर्वाण का लाभ कर लेता है। अर्हत् मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'अर्हत्-मार्गस्थ' तथा अर्हत् फल को प्राप्त पुद्गल 'अर्हत्-फलस्थ' कहलाता है। इन दोनों को 'अर्हत् पुद्गल' कहते हैं। यह वह पुद्गल है, जिसने इसी जन्म में अशेष क्लेशों का प्रहाण कर निर्वाण प्राप्त कर लिया है। इन लोकोत्तर चित्तों की प्राप्ति ध्यानों की प्राप्ति से नहीं होती; अपितु विपश्यना द्वारा होती है। योगी विपश्यना के बल से जब 'नाम-रूपपरिच्छेद' आदि दशविध ज्ञानों को क्रमशः प्राप्त करता है, तो उसे प्रथम मार्ग की प्राप्ति होती है और तदनन्तर प्रथम फल की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुनः पुनः विपश्यनाभावना करने से क्रमशः आगे

वेदनाभेद से १ सुखसहगत, १ दुःखसहगत, १८ सौमनस्यसहगत, २ दौर्मनस्य-सहगत तथा ३२ उपेक्षासहगत चित्त होते हैं।

रूपावचर चित्त १५ होते हैं। इनमें ५ कुशल, ५ विपाक तथा ५ क्रियाचित्त होते हैं। ध्यानाङ्गों के अतिक्रमण से ५ ध्यान होते हैं। ध्यानाङ्ग ५ होते हैं, यथा – वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। प्रथम ध्यान में ये पाँचों ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क को छोड़कर ४ ध्यानाङ्ग, तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार को छोड़कर ३ ध्यानाङ्ग, चतुर्थ ध्यान में वितर्क, विचार और प्रीति को छोड़कर २ ध्यानाङ्ग तथा पञ्चम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति और सुख को छोड़कर (सुख के स्थान में उपेक्षा रखकर) उपेक्षा और एकाग्रता – ये दो ध्यानाङ्ग होते हैं।

वितर्क, विचार-आदि ध्यानाङ्गों का समूह 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान के एक-एक अवयव 'ध्यानाङ्ग' कहलाते हैं। ये ध्यानाङ्ग चित्त को विक्षिप्त करनेवाले नीवरण धर्मों का प्रहाण करते हैं। नीवरण धर्म ५ हैं, यथा – कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा। इनमें से वितर्क ध्यानाङ्ग स्त्यान-मिद्ध नीवरण का प्रहाण करता है। विचार ध्यानाङ्ग विचिकित्सा नीवरण का, प्रीति ध्यानाङ्ग व्यापाद नीवरण का, सुख ध्यानाङ्ग औद्धत्य-कौकृत्य नीवरण का तथा एकाग्रता ध्यानाङ्ग कामच्छन्द नीवरण का प्रहाण करता है।

यहाँ पञ्चकनय और चतुष्कनय – इन दो नयों का ध्यान रखना चाहिये। ध्यानों का उपर्युक्त वर्णन पञ्चकनय के अनुसार किया गया है। चतुष्कनय के अनुसार ध्यान चार ही होते हैं। इनमें प्रथम ध्यान वितर्क, विचार-आदि पाँचों ध्यानाङ्गों से युक्त होता है। द्वितीय ध्यान वितर्क और विचार – इन दोनों ध्यानाङ्गों का अतिक्रमण कर तीन ध्यानाङ्गों से युक्त होता है। तृतीय ध्यान सुख और एकाग्रता – इन दो ध्यानाङ्गों से तथा चतुर्थ ध्यान उपेक्षा और एकाग्रता – इन दो ध्यानाङ्गों से युक्त होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि रूपावचर ध्यानों में ध्यानाङ्गों के अतिक्रमण से ऊपर-ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति होती है। यहाँ अरूपावचर ध्यानों की भाँति ध्यानों के आलम्बन का अतिक्रमण अपेक्षित नहीं होता।

अरूपावचर चित्त १२ होते हैं। इनमें ४ कुशल, ४ विपाक तथा ४ क्रिया चित्त होते हैं। आलम्बन के भेद से यहाँ चार ध्यान होते हैं, यथा – आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। यहाँ नीचे-नीचे के ध्यानों के अतिक्रमण से ऊपर-ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति का नियम है। यथा – रूपावचर पञ्चम ध्यान की आलम्बनभूत कसिणप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाला आकाशानन्त्यायतन ध्यान उत्पन्न होता है। आकाशप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर प्रथम आरूप्यविज्ञान का आलम्बन करनेवाला विज्ञानानन्त्यायतन नामक द्वितीय आरूप्य ध्यान उत्पन्न होता है। विज्ञान आलम्बन का अतिक्रमण कर 'नास्तिभाव-प्रज्ञप्ति' का आलम्बन करनेवाला आकिञ्चन्यायतन नामक तृतीय आरूप्य ध्यान उत्पन्न

१४ अकुशल चैतसिक यथायोग्य अकुशल चित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं, वे अन्यविध चित्तों में कदापि सम्प्रयुक्त नहीं होते। २५ शोभन चैतसिक सर्वथा शोभन चित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं, वे कदापि अकुशल या अहेतुक चित्तों में सम्प्रयुक्त नहीं होते। उपर्युक्त ५२ चैतसिकों में से ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विरतित्रय, करुणा, मुदिता, मान, स्त्यान और मिद्ध—ये ११ चैतसिक 'अनियतयोगी' कहे जाते हैं; क्योंकि ये सर्वदा पृथक् पृथक् तथा कदाचिद् उपलब्ध होते हैं। इनमें स्त्यान और मिद्ध सर्वथा साथ उपलब्ध होते हैं।

सम्प्रयोगनय और संग्रहनय—ये दो नय होते हैं। इनमें से सम्प्रयोगनय द्वारा चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्तों को दिखलाया गया है तथा संग्रहनय द्वारा चित्तों से सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों को दिखलाया गया है।

तृतीय परिच्छेद—पहले दो परिच्छेदों में चित्त और चैतसिक धर्मों का सविस्तर प्रतिपादन किया गया है। उनमें से चित्त यद्यपि भूमि, जाति-आदि भेद से अनेकविध कहे गये हैं; तथापि 'आलम्बनविजानन'—इस लक्षण से वह एकविध ही होता है तथा चैतसिक अपने-अपने पृथक् लक्षणों (स्वलक्षण) को धारण करने से ५२ होते हैं। इस परिच्छेद में इन स्वभावभूत ५३ (चित्त १+चैतसिक ५२=५३) धर्मों का वेदना-आदि भेद से ६ प्रकार का संग्रह दिखलाया गया है, यथा—वेदनासंग्रह, हेतुसंग्रह, कृत्य-संग्रह, द्वारसंग्रह, आलम्बनसंग्रह और वस्तुसंग्रह।

आलम्बनानुभवन—इस नय के अनुसार वेदनायें तीन होती हैं, यथा—सुख, दुःख और उपेक्षा तथा इन्द्रियभेद नय से वे (वेदनायें) पाँच प्रकार की होती हैं, यथा—सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा। जिसमें इन वेदनाओं के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'वेदनासंग्रह' कहते हैं। अर्थात् इस संग्रह में यह दिखलाया गया है कि किस वेदना से कितने चित्त सम्प्रयुक्त होते हैं। यद्यपि इसमें वेदना से सम्प्रयुक्त चित्तमात्र प्रदर्शित किये गये हैं; तथापि चित्त का ज्ञान हो जाने पर वेदना से सम्प्रयुक्त चैतसिकों का ज्ञान भी आसान हो जाता है।

हेतुसंग्रह में ६ प्रकार के हेतु कहे गये हैं, यथा—लोभ, द्वेष और मोह तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह। इनमें लोभ, द्वेष और मोह—ये तीन अकुशल तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह—ये तीन कुशल और अव्याकृत हेतु हैं। हेतु 'मूल' को कहते हैं। ये कुशल, अकुशल आदि चित्तों के मूल हैं। अर्थात् इनकी वजह से कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत चित्त उत्पन्न होते हैं। जिसमें इन हेतुओं के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'हेतुसंग्रह' कहते हैं। अर्थात् इस संग्रह में यह प्रदर्शित किया गया है कि किस हेतु से कितने चित्त प्रवृत्त होते हैं तथा किस चित्त में कितने हेतु सम्प्रयुक्त होते हैं।

कृत्यसंग्रह में चित्तों के १४ कृत्य दिखाये गये हैं, यथा—प्रतिसन्धि, भवङ्ग, दर्शन, श्रवण, घ्राण (गन्धग्रहण), आस्वादन, स्पर्शन, आवर्जन, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, व्यवस्थापन (वोट्ठपन), जवन, तदालम्बन और च्युति।

आगे के मार्गों और फलों की प्राप्ति होती है। मार्ग चित्तों की प्रवृत्ति क्षणमात्र ही होती है, अतः इन लोकोत्तर चित्तों में क्रियाचित्त नहीं होते।

लौकिक चित्त ८१ और लोकोत्तर चित्त ८—इस प्रकार चित्त कुल ८९ होते हैं। इनका भूमि, जाति आदि भेद से विभाजन इस प्रकार है—

भूमिभेद से कामावचर चित्त ५४, रूपावचर १५, अरूपावचर १२ तथा लोकोत्तर चित्त ८ होते हैं।

जातिभेद से अकुशल चित्त १२, कुशल चित्त २१, विपाक चित्त ३६ तथा क्रिया चित्त २० होते हैं।

यद्यपि लोकोत्तर चित्त संक्षेपतः ८ कहे गये हैं; तथापि विस्तार से वे ४० हो जाते हैं। यथा—स्रोतापत्ति मार्ग चित्त एक ही होता है; किन्तु प्रथम, द्वितीय-आदि ध्यानभेद से वह पाँच प्रकार का हो जाता है। इसी तरह सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् मार्गचित्त भी ५-५ प्रकार के होते हैं तथा ४ फलचित्त भी ५-५ प्रकार के होते हैं। इस तरह ८ लोकोत्तर चित्त कुल ४० प्रकार के होते हैं। ऐसी स्थिति में लौकिक चित्त ८१ और लोकोत्तर चित्त ४० मिलकर चित्तों की कुल संख्या १२१ हो जाती है। इस प्रकार आचार्य अनुरुद्ध ने प्रथम परिच्छेद में चित्त के एक होने पर भी भूमि-आदि भेद से १२१ चित्तों का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय परिच्छेद—चैतसिक ही इस परिच्छेद के मुख्य प्रतिपाद्य हैं। 'चेतसि भवं चेतसिकं'—इस परिभाषा के अनुसार चित्त से सम्प्रयुक्त होनेवाले धर्मों को 'चैतसिक' कहते हैं। चित्त और चैतसिक—इन दोनों धर्मों का उत्पाद और निरोध साथ-साथ होता है तथा इन दोनों का आलम्बन और आश्रय भी समान ही होता है। इन द्विविध धर्मों में चित्त प्रधान तथा चैतसिक अप्रधान होते हैं। अप्रधान होने पर भी ये (चैतसिक धर्म) चित्तों को कुशल, अकुशल-आदि नाना स्वरूपों में परिणत करने में समर्थ होते हैं। चैतसिक कुल ५२ प्रकार के होते हैं। आचार्य अनुरुद्ध ने इनका तीन राशियों में वर्गीकरण किया है, यथा—अन्यसमान, अकुशल और शोभन।

जो चैतसिक अन्यविध चैतसिकों के समान होते हैं, वे 'अन्यसमान' कहलाते हैं। यहाँ शोभन की अपेक्षा अशोभन 'अन्य' हैं तथा अशोभन की अपेक्षा शोभन 'अन्य' हैं। जो चैतसिक इन अन्यों (शोभन और अशोभनों) से समान होते हैं, वे 'अन्यसमान' कहे गये हैं। अर्थात् जो चैतसिक केवल अकुशल चित्तों में ही या केवल शोभन चित्तों में ही सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपितु दोनों राशियों में यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते हैं, वे 'अन्यसमान' हैं।

ये अन्यसमान चैतसिक १३ हैं। इनमें से स्पर्श, वेदना-आदि ७ चैतसिक सभी चित्तों से सम्प्रयुक्त होने के कारण 'सर्वचित्तसाधारण चैतसिक' कहलाते हैं तथा वितर्क, विचार-आदि अवशिष्ट ६ चैतसिक यथासम्भव शोभन और अशोभन दोनों प्रकार के [illegible] में यथायोग्य सम्प्रयुक्त होने के कारण 'प्रकीर्णक चैतसिक' कहलाते हैं।

अपूर्ण ही कहा जायगा। जैसे – किस चित्त में कौन वेदना सम्प्रयुक्त होती है, उस चित्त की प्रवृत्ति का हेतु कौन है, उसका कृत्य क्या है, वह किस द्वार से प्रवृत्त होता है, वह किस विषय का आलम्बन करता है तथा किस वस्तु (इन्द्रिय) में आश्रित होकर आलम्बन का परिच्छेद करता है। ये संग्रह परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध हैं। इनके बिना वीथि का ज्ञान कठिन है, अतः आचार्य अनुरुद्ध ने वीथिपरिच्छेद से पूर्व इस परिच्छेद में इनका सम्यक् प्रतिपादन किया है।

चतुर्थ परिच्छेद – इस परिच्छेद में प्रधानतः चित्तवीथियों का दिग्दर्शन कराया गया है। वीथि 'मार्ग' (रास्ते) को कहते हैं। जिस प्रकार लोक में छोटे-बड़े, टेढ़े मेढ़े अनेक रास्ते होते हैं, उसी प्रकार चित्त की गतियाँ भी अनेकविध होती हैं। मार्ग के सदृश होने से इन्हें 'वीथि' कहते हैं। यह परिच्छेद अभिधर्म की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें चित्त की गतियों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, यहाँ तक कि एक क्षण में होनेवाले चित्त का भी अनेक प्रकार से विभाजन किया गया है। इसके अध्ययन से स्थविरवादियों का 'विभज्यवादी' यह नाम अत्यन्त सार्थक प्रतीत होता है।

अभिधर्मशास्त्र में चित्तों की सन्ततियाँ 'चित्तवीथि' तथा रूपधर्मों की सन्ततियाँ 'रूपवीथि' कही जाती हैं। इन वीथियों के सम्यग् ज्ञान के बिना पालि-अट्ठकथाओं का सम्यग् ज्ञान असम्भव है। विपश्यना कम्मट्ठान को आरब्ध करने के अभिलाषी साधकों में अनित्य-अनात्म-दुःख विषयक यथाभूत ज्ञान उत्पन्न होने के लिये इन वीथियों का परिज्ञान परमावश्यक है। एक तरह से ये वीथियाँ बौद्धदर्शन के हृदय की भाँति हैं।

वीथियाँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं, यथा – पञ्चद्वारवीथि और मनोद्वारवीथि। पञ्चद्वारवीथि द्वार और आलम्बन की दृष्टि से अनेक प्रकार की होती है। मनोद्वारवीथि भी कामजवनवार मनोद्वारवीथि और अर्पणाजवनवार मनोद्वारवीथि भेद से दो प्रकार की होती है। पुनः इनके भी स्वप्नवीथि, मरणासन्नवीथि, ध्यानवीथि, अभिज्ञावीथि, निरोधसमापत्तिवीथि, मार्गवीथि, फलवीथि-आदि अनेक प्रकार होते हैं। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध ने प्रस्तुत प्रकरण में कतिपय वीथियों का प्रतिपादन किया है; तथापि विषय के अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर होने तथा प्रतिपादन अत्यन्त संक्षिप्त होने से उससे जिज्ञासुओं को यथेष्ट लाभ नहीं हो पाता। प्राचीनकाल से लेकर आज तक की ब्रह्म-देशीय आचार्यपरम्परा ने इन वीथियों को समझने और समझाने के लिये अनेक प्रकार के वीथिसमुच्चयों का प्रणयन किया है। हमने उसी आचार्यपरम्परा का अनुसरण करते हुये चित्तवीथियों के लिये 'वीथिसमुच्चय' नामक एक पृथक् परिशिष्ट चतुर्थपरिच्छेद के अन्त में उपनिबद्ध किया है। चित्तवीथिविषयक विशेष ज्ञानार्थ उसका अवलोकन करना चाहिये।

चित्तवीथियों के प्रतिपादन के साथ-साथ किस वीथि में कितने और कौन-कौन जवन होते हैं – इसके लिये 'जवननियम' का तथा किस जवन के अनन्तर कौन तदा-लम्बन होता है – इसके लिये 'तदालम्बन नियम' का वीथियों के अन्त में आचार्य ने

जैसे लोक में गमन, आगमन आदि व्यापार 'कृत्य' कहे जाते हैं, उसी तरह एक भव से अपर भव का प्रतिसन्धान (जोड़ना)-आदि करना 'प्रतिसन्धि' आदि १४ कृत्य हैं। ये चित्तों की क्रियायें है। इन कृत्यों के ज्ञान से चित्तों के स्वभाव का सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। इन कृत्यों के मध्य में १० स्थान होते हैं। यहाँ 'स्थान' शब्द किसी देशविशेष का वाचक नहीं; अपितु कालविशेष का वाचक है। जिस क्षणविशिष्ट काल में प्रतिसन्धि-आदि चित्त प्रवृत्त होते है, उस काल को 'स्थान' कहते हैं। अर्थात् वीथिप्रवृत्त चित्तों के तीन वारों (चित्तप्रवृत्तियों) में से पूर्व और पश्चिम वारों के मध्यवर्ती वार से अवच्छिन्न कालविशेष 'स्थान' कहा जाता है। जिसमें इन प्रतिसन्धि, भवङ्ग आदि १४ कृत्यों के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'कृत्यसंग्रह' कहते हैं।

द्वारसंग्रह में ६ द्वारों का वर्णन किया गया है, यथा – चक्षुर्द्वार, श्रोत्रद्वार, घ्राण-द्वार, जिह्वाद्वार, कायद्वार और मनोद्वार। यहाँ चक्षु:प्रसाद ही चक्षुर्द्वार है। इसी प्रकार श्रोत्रप्रसाद श्रोत्रद्वार, घ्राणप्रसाद घ्राणद्वार, जिह्वाप्रसाद जिह्वाद्वार, कायप्रसाद कायद्वार तथा मनस् (भवङ्ग) ही मनोद्वार है। जैसे लोक में मनुष्यों के निर्गम और प्रवेश के स्थान को 'द्वार' कहते हैं, उसी प्रकार यहाँ वीथिचित्तों का प्रवेशस्थान 'द्वार' कहा गया है। जिसमें इन ६ द्वारों के आधार पर चित्तचैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'द्वारसंग्रह' कहते हैं। अर्थात् इस संग्रह में यह दिखाया गया है कि किस द्वार में कितने वीथिचित्त प्रवृत्त होते हैं तथा कितने चित्त 'द्वारविमुक्त' हैं।

आलम्बनसंग्रह में ६ आलम्बन कहे गये हैं, यथा – रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म। उपर्युक्त ६ द्वारों में प्रवृत्त होनेवाले चित्तों के ग्राह्य (विषय) 'आलम्बन' कहे जाते है। आलम्बनों के बिना चित्तों का उत्पाद (प्रवृत्ति) असम्भव है तथा आल-म्बनों के बिना चित्तों का परिज्ञान भी अशक्य है। अतः आलम्बनों का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। जिसमें इन ६ आलम्बनों के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'आलम्बनसंग्रह' कहते हैं। अर्थात् इस संग्रह में यह प्रदर्शित किया गया है कि चक्षुर्द्वारिक आदि वीथिचित्त किन आलम्बनों में प्रवृत्त होते हैं तथा द्वार-विमुक्त चित्त किन आलम्बनों में प्रवृत्त होते हैं। इस संग्रह में चित्त-चैतसिकों के सभी आलम्बन यथायोग्य दिखलाये गये है, अतः इस संग्रह का परिशीलन अपेक्षित है।

वस्तुसंग्रह में ६ वस्तुयें प्रतिपादित हैं, यथा – चक्षुर्वस्तु, श्रोत्रवस्तु, घ्राणवस्तु, जिह्वावस्तु, कायवस्तु और हृदयवस्तु। चित्त-चैतसिकों के आश्रय (उत्पत्तिस्थान) को 'वस्तु' कहते हैं। अर्थात् चित्त इन वस्तुओं में आश्रित होकर विषयों का ग्रहण करते हैं। जिसमें इन षड्विध वस्तुओं के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'वस्तुसंग्रह' कहते हैं। अर्थात् इस संग्रह में यह दिखलाया गया है कि कितने चित्त किस वस्तु का आश्रय करते है तथा कौन वस्तु किस भूमि में होती है।

इन षड्विध संग्रहों का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। इनके ज्ञान से ही चित्त-चैतसिक सम्बन्धी ज्ञान परिपूर्ण होता है। इनके अभाव में चित्त-चैतसिकों का ज्ञान

कृत्यचतुष्क में कृत्य के भेद से ४ कर्म होते हैं, यथा – जनक, उपष्टम्भक, उपपीडक और उपघातक।

पाकदानपर्यायचतुष्क में फल देने की दृष्टि से ४ कर्म होते हैं यथा – गरुक (गुरुक) आसन्न, आचिण्ण (आचीर्ण) और कटत्ताकर्म।

पाककालचतुष्क में फल देने के काल की दृष्टि से कर्मों के ४ विभाग प्रदर्शित हैं, यथा – दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय अपरपर्यायवेदनीय और अहोसिकर्म।

पाकस्थानचतुष्क में फलप्राप्ति के स्थान की दृष्टि से ४ कर्म कहे गये हैं यथा – अकुशल, कामावचरकुशल, रूपावचरकुशल और अरूपावचरकुशल।

इस प्रकार इस कर्मचतुष्क में कुल १६ प्रकार के कर्मों का सम्यग् विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मरणोत्पत्तिचतुष्क में मरण के चार प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं, यथा – आयुःक्षय से मरण, कर्मक्षय से मरण, उभय (आयु और कर्म) क्षय से मरण तथा उपच्छेदक हेतु से मरण। उपर्युक्त चार प्रकारों में से ही किसी एक प्रकार से सभी प्राणियों का मरण होता है। इसी मरणोत्पत्तिचतुष्क में मरण के आसन्नकाल में प्रतिभासित होनेवाले कर्म, कर्मनिमित्त आदि आलम्बन, मरण की प्रक्रिया तथा नवीन भव में होनेवाली प्रतिसन्धि का भी सयुक्ति प्रतिपादन किया गया है।

षष्ठ परिच्छेद – इसमें रूपसमुद्देश, रूपविभाग, रूपसमुत्थान, रूपकलाप तथा रूपप्रवृत्तिक्रम – इस प्रकार ये पाँच विषयविभाग प्रतिपादित हैं। इनके द्वारा विभिन्न दृष्टियों से २८ रूपों का विभाजन करके उनका निरूपण किया गया है। रूपसमुद्देश में २८ प्रकार के रूपों का नामनिर्देशमात्र किया गया है। रूपविभाग में अहेतुक, सप्रत्यय, सास्रव, संस्कृत, लौकिक आदि भेदों से तथा आध्यात्मिक-बाह्य, वस्तुरूप-अवस्तुरूप, द्वाररूप-अद्वाररूप, इन्द्रियरूप-अनिन्द्रियरूप, औदारिकरूप-सूक्ष्मरूप, सप्रतिघरूप-अप्रतिघरूप आदि भेदों से रूपधर्मों का विभाजन करके उनका सविधि प्रतिपादन किया गया है। समुत्थान का अर्थ 'कारण' है। अतः रूपसमुत्थान में २८ प्रकार के रूपों के कर्म, चित्त, ऋतु और आहार नामक चार प्रकार के कारण प्रदर्शित किये गये हैं। अर्थात् इन चार

प्रतिपादन किया है। परिच्छेद के अन्त में कितने प्रकार के पुद्गल होते हैं और उनमें कौन-कौन वीथिचित्त होते हैं—इसके ज्ञान के लिये 'पुद्गल भेद' का तथा किस भूमि में कौन-कौन वीथियाँ होती हैं और उनमें कितने चित्त होते हैं—इसके लिये 'भूमि विभाग' का प्रतिपादन किया गया है।

इस परिच्छेद के अध्ययन से मानवजीवन को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ये वीथियाँ समुद्र में तरङ्ग की भाँति मनुष्य के चित्त में सर्वदा निरन्तर उत्पन्न होती रहती है। न केवल जाग्रत अवस्था में ही; अपितु सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि की अवस्था में भी ये प्रवृत्त होती रहती हैं। यह कहा जा सकता है कि ये चित्तवीथियाँ ही मनुष्यजीवन है। अर्थात् जीवित मनुष्य इन वीथियों का पुञ्ज है। इनके द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियों का परिज्ञान होता है और इस तरह इनका मानवीय व्यवहारों से घनिष्ट सम्बन्ध परिलक्षित होता है। ये चित्तवीथियाँ इस त्रैभूमिक संसार में अनादिकाल से प्रवृत्त होती चली आ रही हैं और तब तक प्रवृत्त (उत्पन्न) होती रहेंगी, जब तक मनुष्य निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेता। बौद्ध लोग शाश्वत आत्मा की सत्ता न मानने पर भी पुनर्जन्म, कर्मफल आदि मानते हैं। क्षणिकवाद में ही ये सब कैसे उपपन्न होते हैं—इसका परिज्ञान इन वीथियों के सम्यक् ज्ञान से भलीभाँति हो जाता है।

पञ्चम परिच्छेद—प्रतिसन्धि, भवङ्ग और च्युति—ये वीथिबाह्य चित्त हैं। इस प्रकरण में इन चित्तों का उत्पादक्रम प्रदर्शित किया गया है, अतः इसे 'वीथिमुक्त-परिच्छेद' कहते हैं। चार भूमि, चतुर्विध प्रतिसन्धि, चार कर्म तथा चतुर्विध मरणोत्पत्ति—ये चार चतुष्क इस परिच्छेद के प्रतिपाद्य हैं।

भूमिचतुष्क में चार भूमियाँ वर्णित हैं, यथा—अपाय भूमि, कामसुगतिभूमि, रूपावचर भूमि और अरूपावचर भूमि।

अपायभूमि चतुर्विध है, यथा—निरय (नरक), तिरश्चीन योनि, पैत्र्य विषय (पितृभूमि) और असुरकाय।

कामसुगतिभूमि सात प्रकार की होती है, यथा—मनुष्यभूमि, चातुर्महाराजिक-भूमि, त्रायस्त्रिंशभूमि, यामभूमि, तुषितभूमि, निर्माणरतिभूमि और परनिर्मितवशवर्तिभूमि।

रूपावचरभूमि सोलह प्रकार की है, यथा—तीन प्रथम ध्यानभूमि, तीन द्वितीय ध्यानभूमि, तीन तृतीय ध्यानभूमि एवं सात चतुर्थ ध्यानभूमि।

भूमियों के प्रतिपादन के अनन्तर प्रतिसन्धिचतुष्क में पुद्गल किस भूमि में किस चित्त द्वारा प्रतिसन्धि ग्रहण करता है—यह प्रदर्शित किया गया है। प्रतिसन्धि चार प्रकार की है, यथा—अपाय प्रतिसन्धि, कामसुगति प्रतिसन्धि, रूपावचर प्रतिसन्धि और अरूपावचर प्रतिसन्धि। इस प्रतिसन्धि चतुष्क में ही भूमियों के अनुसार सत्त्वों का आयुःपरिमाण भी दिखलाया गया है।

कर्मचतुष्क में कर्मों के चार चतुष्क प्रतिपादित हैं, यथा—कृत्यचतुष्क, पाकदान-पर्यायचतुष्क, पाककालचतुष्क और पाकस्थानचतुष्क।

चार आर्यसत्यों को जाननेवाला मार्गज्ञान 'बोधि' कहलाता है। उस मार्गज्ञान के पक्ष में उत्पन्न धर्म 'बोधिपक्षीय' कहलाते हैं। अर्थात् मार्गज्ञान के पक्ष में उत्पन्न होकर मार्गज्ञान के फल को धारण करनेवाले धर्म बोधिपक्षीय हैं। उन बोधिपक्षीय धर्मों के संग्रह को 'बोधिपक्षीयसंग्रह' कहते हैं। बोधिपक्षीयधर्म कुल ३७ होते हैं, यथा—४ स्मृतिप्रस्थान, ४ सम्यक्प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यङ्ग और ८ मार्गाङ्ग। इस संग्रह में इन ३७ धर्मों के द्वारा उपर्युक्त धर्मों का विभाजन किया गया है।

सभी धर्मों अर्थात् चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण—इन चारों प्रकार के परमार्थ धर्मों को संगृहीत करनेवाला संग्रह 'सर्वसंग्रह' कहलाता है। इसमें ५ स्कन्ध, ५ उपादानस्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और ४ आर्यसत्य वर्णित हैं। इनके द्वारा उपर्युक्त सभी ७२ वस्तुसत् धर्म विभक्त किये गये हैं।

अष्टम परिच्छेद—उपर्युक्त स्वभावभूत धर्मों का प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न सम्बन्ध एवं प्रत्ययोत्पन्न (कार्य) धर्मों के उत्पाद में प्रत्यय (कारण) धर्मों का शक्तिविशेष दिखलाने के लिये इस परिच्छेद का आरम्भ किया गया है। इस परिच्छेद में प्रतीत्यसमुत्पाद और पट्ठान—इन दो नयों का पृथक् पृथक् निरूपण किया गया है।

'पच्चयसामग्गिं पटिच्च समं सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्चसमुप्पादो' अर्थात् प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा से प्रत्ययोत्पन्न (चित्त-चैतसिक) धर्मों को सम (न्यूनाधिक नहीं) और सह (युगपत्) उत्पन्न करनेवाले प्रत्ययधर्म 'प्रतीत्यसमुत्पाद' हैं। इस विग्रह के अनुसार अविद्या, संस्कार आदि पूर्व-पूर्व कारणधर्म ही मुख्यरूप से प्रतीत्यसमुत्पाद हैं; किन्तु प्रत्ययधर्म भी प्रत्ययोत्पन्न की विना अपेक्षा के नहीं हो सकते; अतः संस्कार, विज्ञान-आदि प्रत्ययोत्पन्न धर्म भी अविनाभावनियम से प्रतीत्यसमुत्पाद कहे जाते हैं।

इस प्रतीत्यसमुपाद का तीन अध्व, बारह अङ्ग, बीस आकार, तीन सन्धि, चार सङ्क्षेप, तीन वट्ट और दो मूलों में विभाजन कर उसका स्थविरवादी दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया गया है।

पट्ठान शब्द में 'प' (प्र) उपसर्ग 'प्रकार' अर्थ में तथा ठान (स्थान) शब्द 'कारण' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रत्ययशक्ति और प्रत्ययशक्तिवाले धर्म 'कारण' कहे गये हैं। 'नानप्पकारानि ठानानि एत्था ति पट्ठानं' अर्थात् जिसमें नाना प्रकार की प्रत्ययशक्तियाँ और प्रत्ययशक्तिमान् धर्म प्रतिपादित होते हैं, उसे 'पट्ठाननय' कहते हैं। इसमें २४ प्रत्ययों का निरूपण किया गया है। इनमें नामधर्म नामधर्मों का ६ प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से; नामधर्म नाम-रूप धर्मों का ५ प्रकार की प्रत्ययशक्तियों से; रूपधर्म रूपधर्मों का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से; रूपधर्म नामधर्मों का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से; प्रज्ञप्ति, नाम और रूप धर्म नामधर्मों का २ प्रकार की प्रत्ययशक्ति से तथा नाम और रूपधर्म नाम और रूप धर्मों का ९ प्रकार की प्रत्ययशक्ति से उपकार करते हैं—यह स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है। यदि २४ प्रत्ययों का सङ्क्षेप किया जाय तो वे आलम्बन, उपनिश्रय, कर्म और अस्ति—इन चार प्रत्ययों में भी समाविष्ट हो सकते हैं।

आकाशधातु और चार लक्षणरूप – ये ५ रूपधर्म कलाप में परिगणित नहीं होते; क्योंकि ये क्रमशः कलापों के परिच्छेद तथा लक्षणमात्र होते हैं । अतः इन्हें 'कलापाङ्ग' नहीं कहते। रूपप्रवृत्तिक्रम मे पुद्गल और भूमि की दृष्टि से रूपधर्मों के उत्पाद एवं निरोध का क्रम प्रदर्शित किया गया है ।

यह हमने पहले कहा है कि वीथियाँ दो प्रकार की होती हैं, यथा – चित्तवीथि और रूपवीथि । रूपवीथियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। अभिधर्मशास्त्र के सम्यक् परिज्ञान के लिये रूपवीथियों का ज्ञान भी अत्यन्त अपेक्षित है । ग्रन्थ में उनका वर्णन नहीं के बराबर है। एतदर्थ हमने ग्रन्थ के अन्त में 'वीथिसमुच्चय' (रूपवीथि) नामक एक पृथक् परिशिष्ट उपनिबद्ध किया है। जिज्ञासु पाठक विशेष ज्ञान के लिये उसका अवश्य अवलोकन करें।

आचार्य ने परिच्छेद के अन्त मे संक्षेप से निर्वाण का भी निरूपण किया है। 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत धर्म 'निर्वाण' कहा जाता है। वह (निर्वाण) लोकोत्तर मार्गज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य होता है तथा मार्ग और फल चित्तों का आलम्बन भी होता है। कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार द्वारा संस्कृत न होने से निर्वाण असंस्कृत एवं लोकोत्तर पद कहा जाता है। एक होने पर भी वह सोपधिशेष और निरुपधिशेष भेद से दो प्रकार का होता है तथा शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित आकारों के भेद से तीन प्रकार का भी होता है।

इस तरह उपर्युक्त ६ परिच्छेदों में आचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण – इन चार परमार्थ धर्मो का स्पष्ट निरूपण कर दिया।

सप्तम परिच्छेद – 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा' – अपनी इस पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्य ने उपर्युक्त ६ परिच्छेदों में चारों परमार्थ धर्मों का सविधि प्रतिपादन कर दिया है। वे चाहते तो यहाँ ग्रन्थ समाप्त किया जा सकता था; किन्तु परमार्थ धर्मो का स्वभावानुसार समुच्चय दिखलाने के लिये उन्होंने 'समुच्चयसंग्रह' नामक सप्तम परिच्छेद का उपक्रम किया है । इस परिच्छेद में चित्त १, चैतसिक ५२, निष्पन्न-रूप १८ और निर्वाण १=७२ वस्तुसत् धर्मो के विभिन्न दृष्टियों से चार प्रकार के संग्रह दिखलाये गये हैं, यथा – अकुशलसंग्रह, मिश्रकसंग्रह, बोधिपक्षीयसंग्रह और सर्वसंग्रह ।

अकुशल धर्मो को संगृहीत करनेवाला संग्रह 'अकुशलसंग्रह' कहलाता है। इसमें आस्रव ४, ओघ ४, योग ४, ग्रन्थ ४, उपादान ४, नीवरण ६, अनुशय ७, संयोजन १० और क्लेश १० आदि द्वारा उपर्युक्त धर्मो का विभाजन किया गया है ।

कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत मिश्रित धर्मो के सग्रह को 'मिश्रकसंग्रह' कहते है। इसमें अकुशलसंग्रह की भाँति केवल अकुशलधर्म, बोधिपक्षीयसंग्रह की भाँति केवल मार्गज्ञान से सम्बद्ध धर्म या सर्वसंग्रह की भाँति सभी धर्म संगृहीत नहीं होते; अपितु कुछ कुशल, कुछ अकुशल एवं कुछ अव्याकृत धर्म मिश्रितरूप से संगृहीत होते हैं। इस संग्रह में ६ हेतु, ७ ध्यानाङ्ग, १२ मार्गाङ्ग, २२ इन्द्रियाँ, ९ बल, ४ अधिपति, ४ आहार आदि धर्मो द्वारा उपर्युक्त वस्तुसत् ७२ धर्मों का विभाजन किया गया है।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या – इधर बौद्ध साहित्य के अध्ययन की ओर भारतीय शिक्षित समाज की रुचि जागृत हुई है; किन्तु अध्ययन-सामग्री का अत्यधिक अभाव है। पालि अभिधर्म के अध्ययन के लिये सर्वप्रथम अभिधम्मत्थसङ्गहो का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है; किन्तु यह ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त है। टीका-टिप्पणियों के विना इसका मर्म समझना अतिदुरूह है। इस पर अनेक प्राचीन पालिटीकायें हैं; फिर भी भारत में इस समय वे सर्वथा दुष्प्राप्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ प्रायः सभी भारतीय शिक्षासंस्थानों में पालि-विषयक पाठ्यग्रन्थ के रूप में निर्धारित है; किन्तु टीकाओं के अभाव में छात्रों और अध्यापकों के सम्मुख इसके सम्यग् अध्ययन-अध्यापन की बड़ी समस्या रही है। विद्वानों को इसकी एक ऐसी विस्तृत व्याख्या की वहुत दिनों से कमी महसूस हो रही थी, जिसमें इसकी समस्त पालि-टीकाओं का सार उपनिवद्ध हो, साथ ही जिसकी रचना में पालि और संस्कृत में उपलब्ध समस्त सम्बद्ध वौद्ध वाङमय का उपयोग किया गया हो।

अभिधम्मत्थसङ्गहो के अध्ययन-अध्यापन के प्रसङ्ग में हमें भी यह कमी प्रतीत हुई। फलतः हमने इस कार्य को सम्पन्न करने का शुभ सङ्कल्प किया। तदनुसार सन् १९५८ ई० में कार्य (व्याख्या लिखना) प्रारम्भ कर दिया गया। भारत में इस विषय से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रायः अभाव है। हमारे सामने ग्रन्थों को जुटाने की बड़ी समस्या थी। हमने इसके लिये अत्यधिक परिश्रम किया। सौभाग्य से हम अपने प्रयत्न में सफल हुये और हमें इस ग्रन्थ की प्रायः सभी पालि-टीकायें, साथ ही कुछ बर्मी टीकायें भी उपलब्ध हो गईं। इधर भारत में नालन्दा से नागरी त्रिपिटिक का प्रकाशन हो चुका था तथा उधर वर्मा में वुद्धशासन-समिति द्वारा कुछ ही वर्ष पूर्व समस्त अट्ठकथा और टीका साहित्य प्रकाशित हो गया था। हम इन ग्रन्थों को भी जुटाने में सफल हुये। सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी आदि इतर वौद्ध निकायों के अभिधर्मदीप, अभिधर्मामृत, अभिधर्मकोश, अभिधर्मसमुच्चय आदि अभिधर्मसम्वन्धी संस्कृतग्रन्थ भारत में पहले ही प्रकाशित हो चुके थे, ये भी सौभाग्य से हमें उपलब्ध हो गये। उपर्युक्त इन सब सामग्रियों का इस व्याख्या के निर्माण में हमने उपयोग करने का प्रयास किया है। उपलब्ध सामग्री का वहुत वड़ा सङग्रह हमारे पास एकत्र हो गया था, किन्तु अत्यधिक विस्तारभय से उसे यत्र-तत्र संक्षिप्त करना पड़ा; फिर भी हमने अधिक सङ्कोच नहीं किया; क्योंकि इस व्याख्या के निर्माण के पीछे हमारा यह उद्देश्य रहा है कि अभिधर्म-सम्वन्धी समग्र सामग्री अध्येताओं को एक जगह उपलब्ध हो जाय। व्याख्या के अवसर पर हमने भाषा की अपेक्षा विषय पर अधिक ध्यान रखा है, जिससे पाठकों को विषय का अभ्रान्त ज्ञान हो सके।

टिप्पणी – विषय का प्रतिपादन करते समय प्रमाण के लिये व्याख्या में पचास से अधिक ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं। जहाँ जिन ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं, वहाँ उन ग्रन्थों की पृष्ठसंख्या पादटिप्पणी में दे दी गई है। जिन ग्रन्थों के आधार पर विषय का निरूपण किया गया है, उन ग्रन्थों का नामनिर्देश तथा यथासम्भव सम्बद्ध स्थल की पंक्तियाँ पादटिप्पणी में उद्धृत कर दी गई हैं। विषय के विस्तृत ज्ञान के लिये तथा

धर्मों का प्रत्ययधर्मों द्वारा किसी प्रकार का उपकार नहीं किया जाता, वे धर्म पट्ठानशास्त्र में 'प्रत्यनीक' कहे जाते हैं। इन तीनों प्रकार के धर्मों का ज्ञान होने पर ही किसी प्रत्यय का सम्यक् ज्ञान हो पाता है। सम्पूर्ण अभिधर्मपिटक में पट्ठानशास्त्र सर्वाधिक गम्भीर है। तीक्ष्णबुद्धि अध्येताओं को भी इसके अध्ययन में कठिनाई का अनुभव होता है। बर्मा आजकल अभिधर्म के अध्ययन के लिये, विशेषतः पट्ठान के अध्ययन के लिये केन्द्र माना जाता है। वहाँ के मनीषियों ने पट्ठान को सरलता से समझाने के लिये अनेक प्रकार के छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनका पट्ठान के अध्ययन से पूर्व अध्ययन कराया जाता है। हमने उन्हीं के आधार पर 'पट्ठानसमुच्चय' नामक परिशिष्ट का ग्रन्थ के अन्त में निरूपण किया है। हमें आशा है कि इसके पुनः पुनः मनन से प्रत्ययसम्बन्धी ज्ञान के अर्जन में जिज्ञासुओं को अवश्य कुछ लाभ होगा।

सूत्रपिटक और विनयपिटक पर तो भारतवर्ष में कुछ कार्य हुआ भी है; किन्तु अभिधर्मपिटक का तो अभीतक सविधि अध्ययन ही प्रारम्भ नहीं हो सका है। इस व्याख्या के अध्ययन से यदि अभिधर्म के प्रति रुचि जागृत हो सके और भारत में अभिधर्म के अध्ययन की परम्परा कायम हो सके तो हम अपने को कृतार्थ समझेंगे।

अभिधम्मत्थसङ्गहो की विभावनीटीका, परमत्थदीपनी टीका और बर्मी भाषाटीका – ये तीन टीकाग्रन्थ प्रस्तुत अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या के प्रमुख आधारस्तम्भ हैं। वैसे छिटपुट सामग्री अनेक ग्रन्थों से सङ्कलित की गयी है। विषय का क्रम पूर्णतः बर्मी भाषाटीका पर आधृत है। परमत्थदीपनीकार प्रायः विभावनी का खण्डन करते हैं। व्याख्या में हमने जगह जगह पर दोनों ग्रन्थों के मतभेद प्रदर्शित किये हैं; किन्तु उनमें हमारा अपना मत प्रायः परमत्थदीपनी के साथ है, अतः विभावनी के मत को हमने जगह जगह पर विचारणीय लिखा है। बर्मी भाषाटीकाकार ने अनेक स्थलों पर अपना स्वतन्त्र मत स्थापित किया है तथा कुछ स्थलों पर कुछ नवीन समस्यायें उठाकर उन्हें विद्वानों के समक्ष समाधान के लिये रखा है। ऐसे स्थलों का हमने पादटिप्पणी में निर्देश कर दिया है। व्याख्या की अधिकतर सामग्री प्रायः किसी न किसी ग्रन्थ से ली गयी है। यदि कहीं असङ्गति या त्रुटि प्रतीत हो तो सहृदय विद्वज्जन उसे हमारी गलती समझकर हमें क्षमा करने की कृपा करें।

तुलना के लिये भी सम्बद्ध ग्रन्थों के स्थल पृष्ठाङ्क के साथ पादटिप्पणी में निर्दिष्ट कर दिये गये हैं। जिन ग्रन्थों का भारत में नागरी लिपि में प्रकाशन हुआ है, अपने कार्य में हमने उन्हीं का उपयोग किया है। नागरी संस्करण अनुपलब्ध होने पर ही अन्य लिपि के संस्करणों का उपयोग किया गया है। अभिधर्मकोश की स्फुटार्था व्याख्या का कुछ अंश यद्यपि कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है; किन्तु सम्पूर्ण व्याख्या नागरी लिपि में अनुपलब्ध होने से हमने जापान से प्रकाशित रोमन संस्करण का ही उपयोग किया है। अभिधर्मकोश के तृतीय कोशस्थान तक की पृष्ठसंख्या हमने आचार्य नरेन्द्रदेव जी के अभिधर्मकोश से दी है तथा इससे आगे की पृष्ठसंख्या महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अभिधर्मकोश से दी है।

परिशिष्ट – पूरे ग्रन्थ में तीन परिशिष्ट दिये गये हैं, यथा – १. चित्तवीथि परिशिष्ट, २. रूपवीथि परिशिष्ट तथा ३. पट्ठान-समुच्चय परिशिष्ट।

यह ज्ञातव्य है कि स्थविरवादी बौद्धधर्म में वीथियों का अत्यधिक महत्त्व है। अन्य प्रकार के बौद्धों में इनका अभाव है। वीथियाँ दो प्रकार की होती हैं, यथा – चित्तवीथि तथा रूपवीथि। चित्तों की प्रवृत्ति को 'चित्तवीथि' तथा रूपों की प्रवृत्ति को 'रूपवीथि' कहते हैं। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध ने मूलग्रन्थ के चतुर्थ परिच्छेद में चित्तवीथियों का तथा षष्ठ परिच्छेद में रूपवीथियों का वर्णन किया है; किन्तु वह (वर्णन) अत्यन्त संक्षिप्त एवं अपूर्ण है। इससे जिज्ञासुओं को वीथिसम्बन्धी यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। यदि इनका सम्यक् परिज्ञान न होगा तो उन्हें अट्ठकथाओं का भी यथार्थ अवबोध न हो सकेगा। एतदर्थ बर्मी की आचार्य परम्परा ने वीथियों के अनायास परिज्ञान के लिये अनेक प्रकार के वीथिसमुच्चयों का प्रणयन किया है। हमने उन्हीं के आधार पर चित्तवीथियों के लिये चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में तथा रूपवीथियों के लिये ग्रन्थ के अन्त में वीथिसमुच्चय के नाम से दो परिशिष्ट उपनिबद्ध किये हैं। इनमें ऐसी वीथियाँ भी प्रदर्शित की गयी हैं, जिनका मूलग्रन्थ में सर्वथा अभाव है। साथ ही प्रारूपों और टीका-टिप्पणियों द्वारा उन्हें समझने योग्य बनाने का प्रयास किया है। इनका बार बार अभ्यास करना चाहिये। हमारा विश्वास है कि इनके अभ्यास से उभयविध वीथियों का परिज्ञान होने में पाठकों को सहायता मिलेगी।

इसी तरह ग्रन्थ के अन्त में 'पट्ठानसमुच्चय' नामक तीसरा परिशिष्ट भी दिया गया है। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध ने ग्रन्थ के अष्टम परिच्छेद में पट्ठाननय का प्रतिपादन किया है; किन्तु वहाँ केवल २४ प्रत्ययों का नाममात्र उल्लिखित है। उससे इन प्रत्ययों का यथार्थ स्वरूपाववोध नहीं हो पाता। क्षणिकवादी बौद्धों का कार्य-कारणभाव समझने के लिये इन प्रत्ययों का स्वरूपज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। इसके लिये प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न और प्रत्यनीक – ये तीन तत्त्व अवश्य ज्ञातव्य होते हैं। ये ही पट्ठानशास्त्र के सामान्यतः अभिधेय हैं। कारणधर्मों की उस शक्ति को 'प्रत्यय' कहते हैं, जिससे कार्य धर्म उत्पन्न होते हैं। इस प्रत्ययशक्ति से युक्त होने के कारण कारणधर्म भी 'प्रत्यय' कहलाते हैं। इन प्रत्ययों से उत्पन्न होनेवाले कार्यधर्म 'प्रत्ययोत्पन्न' कहलाते हैं। जिन

सहायक ग्रन्थ-अनुक्रमणिका

और

संकेत-विवरण

अ० नि० ; अं० नि० – अङ्गुत्तर निकाय, नालन्दा संस्करण

अ० नि० अ०; अं० नि० अ० – अङ्गुत्तरनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति बर्मा

अ० नि० अ० टी० – अङ्गुत्तरनिकाय-अट्ठकथा-टीका

अट्ठ० – अट्ठसालिनी (धम्मसङ्गणि – अट्ठकथा), भण्डारकर ओरियन्टल सीरीज, पूना, १९४२ ई०

अभि० स० – अभिधम्मत्थसङ्गहो (प्रस्तुत ग्रन्थ)

अभि० प० – अभिधानप्पदीपिका, बर्मी संस्करण

अभि० प० सू० – अभिधानप्पदीपिकासूची, बर्मी संस्करण

अभि० स० टी० – अभिधम्मत्थसङ्गहटीका (पोराणटीका), बर्मी संस्करण

अभि० को० (आ० न० दे०) – अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा अनूदित, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद १९५८ ई०

अभि० को० (रा० सा०) – अभिधर्मकोश, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९८८ वि०

अभि० को० भाष्य – अभिधर्मकोशभाष्य (वसुबन्धुकृत)

अभि० दी० – अभिधर्मदीप, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, १९५९ ई०

अभि० मृ० – अभिधर्मामृत, विश्वभारती शान्तिनिकेतन

अभि० व० – अभिधर्मावतार, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

अभि० समु० – अभिधर्मसमुच्चय, विश्वभारती शान्तिनिकेतन, १९५० ई०

अ० को० अ० वि० – अमरकोश की महेश्वरकृत अमरविवेक टीका

इति० अ० – इतिवुत्तक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

उदान० अ० – उदान-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति, बर्मा

क० न्या० – कच्चायन न्यास, सिंहली संस्करण

क० व० – कच्चायनवण्णना, औरियन्टल पब्लिसर्स, वाराणसी

क० सू० – कच्चायनसूत्र, कच्चायनव्याकरण, तारापब्लिकेशन, वाराणसी

कथा० – कथावत्थु, नालन्दा संस्करण

कथा० अ० – कथावत्थु-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

कथा० अनु० – कथावत्थु-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

कथा० मू० टी० – कथावत्थु-मूल टीका, बुद्धशासनसमिति, बर्मा

का० – कारिका

खु० नि० – खुद्दकनिकाय, नालन्दा संस्करण

खु० नि० अ० – खुद्दकनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति, बर्मा

प्रोत्साहित किया है तथा व्याख्या का नामकरण और मङ्गलाचरण देकर हम पर असीम कृपा की है।

परमादरणीय पण्डित श्री जगन्नाथ उपाध्याय (अध्यक्ष–बौद्धदर्शन विभाग, वा. सं. वि. विद्यालय, वाराणसी) हमारे गुरु हैं। यह ग्रन्थ उनके आशीर्वाद और प्रेरणा का फल है। हम उनके प्रति श्रद्धावनत हैं।

भूतपूर्व अनुसन्धानसञ्चालक पण्डित श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, वर्तमान अनुसन्धान-सञ्चालक आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय तथा पण्डित श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदी (प्रकाशन–अधिकारी वा. सं. वि. वि. वाराणसी) के प्रति हम आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने हमें सर्वदा हार्दिक सहयोग प्रदान किया है तथा हमारी सारी समस्याओं को सुलझाने में पूर्ण सहायता की है।

हमारे मित्र पण्डित श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी (अध्यापक–पालिविभाग, वा. सं. वि. वि., वाराणसी) का उपकार हम कभी भूल नहीं सकते, जिन्होंने समय समय पर अमूल्य सुझाव देकर तथा अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय के उपयोग की पूर्ण सुविधा प्रदान करके हमें निश्छल सहायता प्रदान की है।

स्वामी द्वारिकादास शास्त्री और पण्डित श्री परमेश्वर पाण्डेय को हम हृदय से धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने न केवल प्रेसकापी तैयार करने और प्रूफसंशोधन में ही हमारी सहायता की है; अपितु यथावसर सत्परामर्श और प्रोत्साहन देकर हमारी बहुमूल्य सहायता की है।

पण्डित श्री श्यामदेव द्विवेदी (पुस्तकालयाध्यक्ष-विधानसभा-पुस्तकालय, पटना, बिहार) के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने अपना पालि-त्रिपिटक उपयोग के लिये देकर हमारा उपकार किया है।

अपने छात्र श्री रमापद चक्रवर्ती को हम धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने परीक्षा के समय अतिशीघ्रता के साथ इतनी लम्बी शब्दानुक्रमणिका और उद्धृत-ग्रन्थ-अनुक्रमणिका लिखकर हमारी सहायता की है।

अन्त में हम विद्यामन्दिर प्रेस के व्यवस्थापक श्रीकृष्ण चन्द्र बेरी और प्रेस के कर्मचारियों को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते, जिनके सद्व्यवहार और कार्य-कुशलता ने हमें आकृष्ट किया है। पालि जैसी अपरिचित भाषा के मुद्रण में अनेकविध कठिनाइयों के होने पर भी जिस तत्परता और सौजन्य से इन्होंने सुन्दर प्रकाशन किया है, वह सराहनीय है।

भवतु सर्वमङ्गलम्

बुद्धजयन्तीदिवस
दिनाङ्क १५.५.६६

भदन्त रेवतधर्म
और
रामशंकर त्रिपाठी

–:★:–

नेत्ति० – नेत्तिप्पकरण, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पञ्च० निपा० – अङ्गुत्तरनिकाय का पञ्चक निपात,
प० – पट्ठान, नालन्दा संस्करण
पट्ठान अ० – पट्ठान-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पट्ठान अनु० – पट्ठान-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पट्ठान मू० टी० – पट्ठानमूलटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पटि० म० – पटिसम्भिदामग्ग, नालन्दा संस्करण
पटि० म० अ० – पटिसम्भिदामग्ग-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पटिसम्भिदामगटीका, बर्मी संस्करण
प० दी० – परमत्थदीपनी, बर्मी संस्करण,
परम० वि० – परमत्थविनिच्छय, स्यामी संस्करण
परमत्थसरूपभेदनी, (अभिधर्मटीका), बर्मी संस्करण
परि० – परिच्छेद
पाचि० – पाचित्तिय, नालन्दा संस्करण
पारा० – पाराजिक, नालन्दा संस्करण
पारा० अ० – पाराजिक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पा० टे० सो० डि० – पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन
पु० प० – पुग्गलपञ्ञत्ति, नालन्दा संस्करण
पु० प० अ० – पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पृ० – पृष्ठ
प्र० भा० – प्रथम भाग
प्र० वा० – प्रमाणवार्तिक, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, १९३७
प्रसन्न; प्रस० – प्रसन्नपदा (आचार्य चन्द्रकीर्ति विरचित माध्यमिक कारिका टीका), पूसें द्वारा सम्पादित, विब्लिओथिका बुद्धिका, सेन्टपीटर्सवर्ग
बोधि० – बोधिचर्यावतार, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा
बोधि० प० – बोधिचर्यावतारपञ्जिका, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा
ब्रह्म० सु० – ब्रह्मजालसुत्त
ब० भा० टी० – बर्मीभाषाटीका (अभिधम्मत्थसंगहो की बर्मी भाषा में लिखित टीका)
भ० ना० – भरतनाट्यशास्त्र
म० नि० – मज्झिमनिकाय, नालन्दा संस्करण
म० नि० अ० – मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
म० प० – मज्झिमपण्णासक
मणि० – मणिसारमञ्जूसा (विभावनी की टीका), बर्मी संस्करण
मधुटीका – (अभिधर्मपिटक की टीका), बर्मी संस्करण
म० – अभिधम्मत्थसङ्गहो का बर्मी (मरम्म) संस्करण
मनु० – मनुस्मृति

खु० पा० — खुद्दकपाठ, नालन्दा संस्करण
खु० पा० अ० — खुद्दकपाठ-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
खुद्दकसिक्खा, बर्मी संस्करण
चतु० भा० — चतुर्थ भाग
च० पि० अ० — चरियापिटक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
चुल्ल० — चुल्लवग्ग (विनयपिटक), नालन्दा संस्करण
जा० — जातक, नालन्दा संस्करण
जा० अ०; जातक अ० — जातक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
जिना० — जिनालङ्कार, के. डी. जे. गुणतुङ्ग द्वारा प्रकाशित, श्रीलङ्का १९१३
जिना० व० — जिनालङ्कारवण्णना, के. डी. जे. गुणतुङ्ग द्वारा प्रकाशित, अलुतगम, वेन्तोटा, श्रीलङ्का १९१३ ई०
टि० — टिप्पणी
तत्त्व० — तत्त्वसङ्ग्रह, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा
तत्त्व० प० — तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा
त्रिं० — त्रिंशिका, सिल्वां लेवी द्वारा प्रकाशित, पेरिस १९२५ ई०
त्रिं० भा० — त्रिंशिकाभाष्य, सिल्वां लेवी द्वारा प्रकाशित, पेरिस १९२५ ई०
तु० — तुलनीय
तृ० भा० — तृतीय भाग
थेरी० अप० — थेरी-अपदान, नालन्दा संस्करण
दिव्या० — दिव्यावदान, मिथिला रिसर्च इन्स्टीच्यूट, दरभंगा
दी० नि० — दीघनिकाय, नालन्दा संस्करण
दी० नि० अ० — दीघनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
दीप० — दीपवंस, (रोमन संस्करण) ओल्डेनबर्ग द्वारा सम्पादित
द्र० — द्रष्टव्य
द्वि० भा० — द्वितीय भाग
धम्म० — धम्मपद, नालन्दा संस्करण
ध० प० अ०; धम्म० अ० — धम्मपद-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
ध० स० — धम्मसङ्गणि, नालन्दा संस्करण
ध० स० अनु० — धम्मसङ्गणि-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
ध० स० मू० टी० — धम्मसङ्गणि-मूलटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
धातु० — धातुकथा, नालन्दा संस्करण
धा० म० — धातुमञ्जूसा (कच्चायनसम्प्रदाय)
नव० टी० — नवनीतटीका (आचार्य धर्मानन्द कोशाम्बी विरचित अभिधम्मत्थसंगहो की पालि-टीका) महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ, वाराणसी १९४१ ई०
ना० — अभिधम्मत्थसङ्गहो का नागरी संस्करण, महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ, १९४१
नाम० परि०, नाम० प० — नामरूपपरिच्छेद, पालिटेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन

महा० सू० – महायानसूत्रालंकार, सिल्वां लेवी द्वारा प्रकाशित १९०७
म० व० – महावग्ग, नालन्दा संस्करण
महा० व्यु० – महाव्युत्पत्ति, बिब्लिओथिका बुद्धिका, सेन्टपीटर्सवर्ग १९१०
माध्य० – माध्यमिक कारिका (नागार्जुन कृत), पूसें द्वारा सम्पादित, बिब्लिओथिका बुद्धिका, सेन्टपीटर्सवर्ग
मिलि० – मिलिन्दपञ्हो, बम्बई, यूनिवर्सिटी, १९४०
यमक – नालन्दा संस्करण
यमक अ० – यमक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
यमक अनु० – यमक-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
यमक मू० टी० – यमक-मूलटीका, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
यो० सू० – योगसूत्र
रो० – अभिधम्मत्थसंगहो का रोमनसंस्करण, जर्नल आफ पालिटेक्स्ट-सोसाइटी, १८८४
वि० पि० – विनय पिटक, नालन्दा संस्करण
वि० पि० अ० – विनयपिटक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
विभ० – विभङ्ग, नालन्दा संस्करण
विभ० अ० – विभङ्ग-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
विभ० अनु० – विभङ्ग-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
विभ० मू० टी० – विभङ्गमूलटीका, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
विभा० – विभावनी (अभिधम्मत्थसङ्गहो की टीका), वर्मी संस्करण,
वि० प्र० वृ० – विभाषाप्रभावृत्ति (अभिधर्मदीप की टीका), काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, १९५९ ई०
वि० वि० टी० – विमतिविनोदनी टीका (विनयपिटक टीका), बुद्धशासन-समिति, वर्मा
विसु० महा० – विसुद्धिमग्ग-महाटीका, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
व्या० भा० – व्यासभाष्य (योगसूत्रभाष्य), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
सं० नि० – संयुत्तनिकाय, नालन्दा संस्करण
सं० नि० अ० – संयुत्तनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति वर्मा
सङ्खेप० – सङ्खेपटीका (अभिधम्मत्थसङ्गहो की टीका) वर्मी संस्करण
सङ्गीतिसुत्तटीका, वर्मी संस्करण
सच्च० – सच्चसङ्खेप, पालिटेक्स्ट सोसाइटी, लंदन
स० भे० चि० – सद्दत्थभेदचिन्ता, वर्मी संस्करण
स० नी० – सद्दनीति (पालिव्याकरण), वर्मी संस्करण
समन्त० – समन्तपासादिका, बुद्धशासन-समिति, वर्मा
स्फु० – स्फुटार्था (अभिधर्मकोशभाष्य की यशोमित्रकृतटीका) रोमन-संस्करण, टोकियो, जापान
स्या० – अभिधम्मत्थसङ्गहो का स्यामी संस्करण, महामकुट राजविद्यालय द्वारा प्रकाशित
सारत्थदीपिनी टीका – (विनयपिटकटीका), बुद्धशासनसमिति, वर्मा

अभिधम्मत्थसङ्गहो

विषयानुक्रमणिका

प्रथम भाग

विषय		पृष्ठांक
वक्तव्य	..	क–ख
भूमिका		१–४२
सहायक ग्रन्थ-अनुक्रमणिका और सङ्केत-विवरण	...	४३–४७
शुद्धिपत्र	...	४८
विषयानुक्रमणिका	...	४९–६२

प्रथम परिच्छेद

मङ्गलगाथा	...	...	३
अनुसन्धि	...	...	३
त्रिविध ग्रन्थारम्भ	...	...	४
चतुर्विध परमार्थ	...	...	८
हीनधर्म एवं परमार्थ	...	...	११
चित्त	...	...	१२
लक्षणादिचतुष्क	...	...	१
चैतसिक	...	...	१५
चित्त को स्पार्शिक आदि नहीं कहा जा सकता	...	...	१५
रूप	...	...	१७
विकार	...	...	१८
अविपरीत एवं रुप्पण	...	...	१९
रूपभूमि का रूप	...	...	२०
निर्वाण	...	...	२०
निर्वाण के लक्षणादिचतुष्क	...	...	२१
चित्तसंग्रहविभाग	...	...	२३
कामावचर	...	...	२३
रूपावचर	...	...	२३
अरूपावचर	...	...	२३
लोकोत्तर	...	...	२३
अकुशलचित्त	...	...	२५
लोभमूलचित्त	..	...	२६
सौमनस्यसहगत	..	...	२६
दृष्टिगतसम्प्रयुक्त	.	.	२७

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२३	पाहातव्वं	पहातव्वं
५	३४	सयम्भञ्ञाणस्स	सयम्भूञ्ञाणस्स
७	२१	उपदेशोऽद्भुता	उपदेशोऽद्भुता
७	२४	शाश्वतत्वशभत्वाभ्यां	शाश्वतत्वशुभत्वाभ्यां
७	२५	निर्वाणमच्यते	निर्वाणमुच्यते
८	२२	प्राप्तय	प्राप्तये
१८	६	विभत	विभूत
२१	१	चतसिकों	चैतसिकों
२३	१५	ोते	होते
,,	२६	ठानपचारतो	ठानूपचारतो
३१	१४	सौमस्य	सौमनस्य
३१	१६	आम्वन	आलम्वन
३२	७	तर्थिक	तैर्थिक
३४	१५	पुगल्	पुद्गल
३५	१७	अकुल	अकुशल
३५	२६	लोभमल	लोभमूल
४८	११	दुःखहगत	दुःखसहगत
७१	७	पन्नसर	पन्नरस
११६	२८	९७	९६
१३५	९	मात्सय	मात्सय
१५२	२१	द्वप	द्वेष
१६२	११	चतसिकसमूह	चैतसिकसमूह
२०३	८	असम्पयवत	असम्प्रयुवत
२२१	५	हतुसंग्रह	हेतुसङ्ग्रह
२४८	६	चतसिक	चैतसिक
२५२	२५	स्थानभत	स्थानभूत
२७२	२१	अध्यात्मिक	आध्यात्मिक

—:०:—

सन्तीरण ४६
चक्षुर्विज्ञानादि चार विज्ञान ४७
कायविज्ञान ४७
सम्पटिच्छनद्वय ४८
कुशलविपाक ४८
अहेतुकक्रियाचित्त ४९
पञ्चद्वारावर्जन ४९
मनोद्वारावर्जन ४९
हसितोत्पाद ५०
सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त ५१
असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक ५१
शोभनचित्त ५३
कामावचर कुशलचित्त ५४
ज्ञानसम्प्रयुक्त ५४
ज्ञानसम्प्रयुक्त की उत्पत्ति के कारण ५५
आठ कामावचर महाकुशल चित्तों का उत्पत्तिक्रम ५५
सहेतुक कामावचर विपाकचित्त ५७
सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त ५८
सहेतुकत्वविचार ६०
रूपावचर कुशल चित्त ६२
ध्यान-ध्यानाङ्ग-ध्यानचित्त ६३
प्रथमध्यान कुशलचित्त ६३
वितर्क आदि ध्यानाङ्ग क्यों हैं ? ६४
संस्कारविनिश्चय ६७
परमत्थदीपनीवाद ६७
विभावनीवाद ६८
प्रथम वाद ६९
द्वितीय वाद ६९
रूपावचर विपाकचित्त ७०
रूपावचर क्रियाचित्त ७१
अरूपावचर कुशलचित्त ७२
आकाशानन्त्यायतन कुशलचित्त ७२
विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त ७३
आकिञ्चन्यायतन कुशलचित्त ७३
नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशलचित्त ७४
अरूपावचर विपाकचित्त ७५

दृष्टिगतविप्रयुक्त २७
संस्कार २७
असंस्कारिक २७
ससंस्कारिक २८
विभावनीवाद २८
उपेक्षासहगत २९
सप्रीतिक आदि नहीं कहा जा सकता ३०
सौमनस्य की उत्पत्ति के कारण ३१
उपेक्षा की उत्पत्ति के कारण ३१
दृष्टि के कारण ३२
असंस्कारिक के कारण ३२
ससंस्कारिक के कारण ३३
कुछ आचार्यों का मत ३४
सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त ३४
असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक ३४
लोभमूल से विशेषित करना ३५
लोभमूल चित्तों का उत्पत्तिक्रम ३५
द्वेषमूलचित्त ३७
दौर्मनस्यसहगत ३७
प्रतिघसम्प्रयुक्त ३७
दौर्मनस्य एवं प्रतिघ ३७
दौर्मनस्य की उत्पत्ति के कारण ३८
द्वेषमूल चित्तों का उत्पत्तिक्रम ३९
मोहमूलचित्त ३९
उपेक्षासहगत ३९
औद्धत्यसम्प्रयुक्त ४०
अहेतुक चित्त ४३
अकुशलविपाक ४३
चक्षुर्विज्ञान ४३
दुःखसहगत कायविज्ञान ४४
सम्पटिच्छन ४४
सन्तीरण ४४
कर्मजरूप विपाक नहीं ४५
परमत्थदीपनीवाद ४५
अहेतुक कुशलविपाक ४६
सुखसहगत कायविज्ञान ४६

वितर्क और विचार में भेद ११५
अधिमोक्ष ११६
वीर्य ११७
प्रीति ११९
प्रीति के पांच प्रकार १२०
छन्द १२०
छन्द के दो प्रकार १२१
अकुशल चैतसिक १२३
मोह १२३
आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य १२५
औद्धत्य १२६
लोभ १२७
छन्द एवं लोभ में भेद १२८
दृष्टि १२९
ज्ञान एवं दृष्टि १२९
मान १३०
त्रिविध मान १३०
द्वेष १३२
ईर्ष्या १३४
मात्सर्य १३४
मात्सर्य के दो भेद १३५
मात्सर्य के पाँच प्रकार १३६
ईर्ष्या एवं मात्सर्य १३६
कौकृत्य १३७
कौकृत्य के तीन प्रकार १३९
स्त्यान १४०
मिद्ध १४१
विचिकित्सा १४३
विचिकित्सा के दो प्रकार १४४
शोभन चैतसिक १४५
श्रद्धा १४५
स्मृति १४७
ह्री एवं अपत्राप्य १४९
अलोभ १५१
अद्वेष १५२
तत्रमध्यस्थता १५३
समवाहितत्व एवं उपेक्षा १५४

अरूपावचर क्रियाचित्त ७६
ध्यान के दो भेद ७७
लोकोत्तर कुशलचित्त ७८
स्रोतापत्ति मार्गचित्त ७८
सकृदागामी मार्गचित्त ८०
अनागामी मार्गचित्त ८०
अर्हत्-मार्गचित्त ८१
लोकोत्तर विपाकचित्त ८२
स्रोतापत्ति फलचित्त ८२
विपाकचित्तों की असमानता ८२
लोकोत्तर में क्रिया का अभाव ८३
प्रथमध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त ८७
लोकोत्तर चित्तों में प्रथमध्यान-आदि भेद ८६
पादकध्यानवाद ६१
सम्मर्शितध्यानवाद ६१
पुद्गलाध्याशयवाद ६२
पुद्गलाध्याशयवाद की विशेषता ६२

द्वितीय परिच्छेद

अनुसन्धि ६५
चैतसिकों के चार लक्षण ६६
चारों लक्षणों का अभिप्राय ६७
अन्यसमान राशि ६६
सर्वचित्तसाधारण चैतसिक ६६
स्पर्श १००
वेदना १०१
संज्ञा १०३
चेतना १०४
एकाग्रता १०६
जीवितेन्द्रिय १०७
मनसिकार १०६
प्रकीर्णक चैतसिक १११
वितर्क १११
अवितर्क धर्मों द्वारा आलम्बन का ग्रहण ११२
चेतना, मनसिकार एवं वितर्क में विशेष . .. ११३
विचार . .. ११४

तृतीय परिच्छेद

प्रकीर्णकसंग्रहविभाग २१३
प्रकीर्णक शब्दार्थ २१३
वेदनासंग्रह २१४
वेदनाभेद २१५
आलम्बनानुभवननय २१६
इन्द्रियभेदनय २१७
गृहीतग्रहणनय २१६
अगृहीतग्रहणनय २१६
एक वेदना से सम्प्रयुक्त चैतसिक २१६
वेदनाद्वय से सम्प्रयुक्त चैतसिक २१६
वेदनात्रय से सम्प्रयुक्त चैतसिक ... २१६
वेदनापञ्चक से सम्प्रयुक्त चैतसिक ... २१६
असम्प्रयुक्त चैतसिक ... २२०
हेतुसंग्रह ... २२०
एकहेतुसम्प्रयुक्त चैतसिक ... २२३
हेतुद्वयसम्प्रयुक्त चैतसिक २२३
हेतुत्रयसम्प्रयुक्त चैतसिक २२३
हेतुपञ्चकसम्प्रयुक्त चैतसिक २२३
हेतुषट्कसम्प्रयुक्त चैतसिक २२४
कृत्यसंग्रह २२४
प्रतिसन्धिकृत्य २२५
भवङ्गकृत्य २२५
आवर्जनकृत्य २२६
दर्शन-आदि पाँच कृत्य २२६
सम्पटिच्छनकृत्य २२६
सन्तीरणकृत्य २२७
वोट्ठपनकृत्य २२७
जवनकृत्य २२८
तदालम्बनकृत्य २२८
च्युतिकृत्य २२८
दस स्थान २२६
कृत्य एवं स्थान में भेद २२६
विभावनीवाद २३०
परमत्थदीपनीवाद २३०
स्थानभेद २३१

कायप्रश्रब्धि एवं चित्तप्रश्रब्धि १५५
कायलघुता एवं चित्तलघुता १५७
कायमृदुता एवं चित्तमृदुता १५८
कायकर्मण्यता एवं चित्तकर्मण्यता १५९
कायप्रागुण्य एवं चित्तप्रागुण्य १६१
कायऋजुकता एवं चित्तऋजुकता १६२
विरति चैतसिक १६४
सम्यग् वाक् १६५
सम्यक् कर्मान्त १६६
सम्यग् आजीव १६७
विरति के तीन भेद १६८
समीक्षा १६९
अप्पमञ्ञा (अप्रमाण) चैतसिक १७१
करुणा १७१
मुदिता १७२
प्रज्ञेन्द्रिय १७४
सम्प्रयोग नय १७७
अन्यसमान चैतसिक सम्प्रयोग नय १७८
सर्वचित्तसाधारण सम्प्रयोग नय १७८
अकुशल चैतसिक सम्प्रयोग नय १८२
शोभन चैतसिक सम्प्रयोग नय १८५
नियतानियतभेद १९१
नियतयोगी, अनियतयोगी १९१
नाना एवं कदाचित् १९१
संग्रहनय १९३
शोभनचित्त संग्रहनय १९४
लोकोत्तरचित्त संग्रहनय १९४
महग्गतचित्त संग्रहनय १९६
कामावचर शोभनचित्त संग्रहनय १९९
अकुशलचित्त संग्रहनय २०४
अहेतुकचित्त संग्रहनय २०७
निगमन २०८
तदुभयमिश्रकनय २१०
अन्यसमानराशि २१०
अकुशलराशि २११
शोभनराशि २१२

... ... २९४
पञ्चद्वारवीथि २९५,२९७
'आपात' शब्द पर विचार २९८
पञ्च आलम्बन एवं पञ्च प्रसाद २९९
प्रसाद एक है या अनेक ३००
चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च–इस पालि का अभिप्राय ३०१
विभावनीवाद ३०१
अनेकविध आलम्बन होने पर भी एक का ही प्रादुर्भाव ... ३०२
चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में आलम्बन और द्वार से अतिरिक्त अन्य कारण ... ३०४
तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बन-वीथि ... ३०५
भवङ्गचलनसम्बन्धी विचार ३०७
विभावनीवाद ३०८
भवङ्गचलन एवं भवङ्गोपच्छेद ३०९
वोट्ठपन शब्द पर विचार ३०९
जवन की प्रवृत्ति ३१०
योनिशोमनसिकार का कारणत्व ३१०
योनिशोमनसिकार के हेतु ३११
तदालम्बन की प्रवृत्ति ३१३
भवङ्गपात ३१३
चित्त का प्रादुर्भाव ३१४
वीथिसन्तति की आम्रोपमता ३१५
पाँच चित्तधर्मतायें ३१७
तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बन वीथि का स्वरूप ... ३१८
जवनवार चक्षुर्द्वारिक महद्-आलम्बनवीथि ३१९
तदालम्बनाभाव ३२०
आलम्बन-नानात्व अनभीष्ट ३२३
वोट्ठपनवार चक्षुर्द्वारिक परीत्त-आलम्बनवीथि ३२५
मोघवार अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि ३२७
वोट्ठपन के अनुत्पाद से आवर्जन आदि का भी अनुत्पाद ... ३२८
मोघवार का आलम्बन ३२९
छः पट्कों का सम्बन्ध ३३०
गर्भस्थ शिशु की वीथि ३३२
मनोद्वार वीथि ३३२
विभूतालम्बन-अविभूतालम्बन वीथि ३३२
मनोद्वार ३३३
विभूत-अविभूत ... ...
विभावनीमत ... ...

परमत्थदीपनीवाद २३४
अगृहीतग्रहणनय २३७
द्वारसंग्रह २३८
चक्षुरादि पञ्च द्वार २४०
मनोद्वार २४०
मनोद्वार के भेद २४१
अगृहीतग्रहणनय २४६
आलम्बनसंग्रह २४७
रूप-आदि पाँच आलम्बन २४८
धर्मालम्बन का षड्विध संग्रह ... २४८
प्रत्युत्पन्न आदि भेद २५०
कालविमुक्त आलम्बन २५०
कर्म-कर्मनिमित्त-गतिनिमित्त आलम्बन २५३
आलम्बन के चार भेद २५८
कामालम्बन २५८
महग्गतालम्बन २५६
लोकोत्तरालम्बन २५६
प्रज्ञप्ति-आलम्बन २५६
एकान्तालम्बन चित्त २६७
अनेकान्तालम्बन चित्त २६७
कामादि चतुर्विध आलम्बनों के एकान्तालम्बन एवं अनेकान्तालम्बन चित्त २६८
चैतसिक गणना २७२
वस्तु (वत्थु) संग्रह २७३
चैतसिक विभाग २८१
धातुत्रय में विशेष २८१
मनोधातु २८१
पञ्चविज्ञानधातु २८२
मनोविज्ञानधातु २८२

चतुर्थ परिच्छेद

वीथिसंग्रहविभाग २८३
अनुसन्धि २८३
छह षट्क २८६
षड्विध विषयप्रवृत्ति २८६
चित्त की आयु २६०
रूप की आयु २६१

स्वभाव एवं परिकल्प द्वारा विभाजन ३५८
विपाक नियत एवं जवन अनियत ३५८
इष्ट-अनिष्ट-मिश्रित आलम्बन का ग्रहण ३५९
विपाक भी नियत एवं जवन भी नियत ३६०
परमत्थदीपनीवाद ३६०
परमत्थसरूपभेदनी का स्पष्टीकरण ३६१
मूलटीकावाद ३६२
अनुटीका, महाटीका एवं परमत्थसरूपभेदनी का वाद ... ३६३
तदालम्बनपात न होनेवाले चित्तवार ३६६
उपेक्षासहगत सन्तीरण का भवङ्गकृत्य ३६७
आगन्तुकभवङ्ग ३६७
परमत्थदीपनी का वाद ३६९
आवर्जन के बिना आलम्बन का ग्रहण ३६९
बीज न होने पर भी कुछ विपाकों की उत्पत्ति ३७२
जवन-नियम ३७५
जवन की पाँच वार प्रवृत्ति की अवस्था ३७५
यमकप्रातिहार्य ३७७
अग्नि एवं जल की युग्म उत्पत्ति ३७८
आदिकर्मिक पुद्गल ३७९
अभिज्ञाजवन भी एक वार ही ३७९
निरोधसमापत्ति में दो वार जवन ३८१
पुद्गलभेद ३८४
द्वादशविध पुद्गल ३८४
द्विहेतुक पुद्गल ३८५
अहेतुक पुद्गल ३८५
ध्यान आदि के पाँच अन्तराय ३८५
कर्म एवं क्लेश अन्तराय ३८६
विपाक अन्तराय ३८६
अरियूपवाद अन्तराय ३८७
आणावीतिक्कम अन्तराय ३८७
त्रिहेतुक पुद्गल ३८८
अर्हत् पुद्गल ३८९
शैक्ष्य पुद्गल ३८९
पृथग्जन पुद्गल ३९०
भूमिविभाग ३९३
कामभूमि ३९४
रूपावचरभूमि ३९४

अव्याकृतवार स्वप्नवीथि ४२२
चित्तस्वरूप ४२३
आलम्बन ४२३
वस्तु ४२३
भूमि एवं पुद्गल ... ४२३
तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि ४२४
श्रोत्रद्वारिक तदनुवर्तकवीथि ४२७
कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि ४२६
वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि ४३०
चित्तस्वरूप ४३०
अर्पणाजवनवार मनोद्वारवीथि ४३१
ध्यानवीथि ४३१
समापत्तिवीथि ४३२
प्रत्यवेक्षणवीथि ४३२
ध्यानवीथि के प्रभेद ४३२
प्रत्यवेक्षणवीथियों के प्रभेद ४३२
चित्तस्वरूप, आलम्बन एवं वस्तु ४३३
भूमि एवं पुद्गल ४३३
ऊपर ऊपर की आदिकर्मिकवीथियाँ ४३३
समीक्षा ४३४
आधुनिक आचार्यों का मत ४३५
समापत्तिवीथि ४३६
प्रत्यवेक्षणवीथि के चित्तस्वरूप आदि . ४३६
मार्गवीथि ४३७
मार्गवीथि के प्रभेद ४३८
प्रत्यवेक्षणवीथि के प्रभेद ४३८
स्रोतापत्तिमार्ग वीथि के चित्तस्वरूप आदि ४३६
ऊपर ऊपर की ध्यानमार्ग वीथियाँ ४३६
फलसमापत्तिवीथि ४४०
फलसमापत्तिवीथि के प्रभेद ४४१
अनुलोम नामकरण ४४१
अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नहीं करते ४४१
मार्गवीथियाँ ४४२
फलसमापत्ति से उठना ४४२
अभिज्ञावीथि ४४२
पादकध्यान का लाभ ४४३
अभिज्ञा के आलम्बन ४४५

अरूपावचरभूमि ३९५
असंज्ञी सत्त्व में चित्ताभाव ३९६
पुद्गल, भूमि एवं चित्त ३९८
रूपावचर पुद्गल में प्राप्य चित्त ३९९
अरूपावचर पुद्गल में प्राप्य चित्त ३९९

—:०:—

परिशिष्ट—१

वीथिसमुच्चय

(चित्तवीथि)

वीथिसमुच्चय ४०३
पञ्चद्वारवीथि ४०४
पञ्चद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि ४०४
तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि ४०५
जवनवार अतिमहद्-आलम्बनवीथि ४०६
महद्-आलम्बनवीथि ४०७
आगन्तुकभवङ्गपात अतिमहद् एवं महद् आलम्बनवीथि में विशेष ... ४०८
परीत्त आलम्बनवीथि ४०९
अतिपरीत्त आलम्बनवीथि ४१०
शेष अतिपरीत्त आलम्बनवीथियाँ ४१०
पञ्चद्वारवीथि की संख्या ४११
चित्तस्वरूप ४११
आलम्बन ४११
वस्तु ४१२
भूमि ४१२
पुद्गल ४१३
भवङ्ग ४१३
मन्दायुक आदि विचार ४१३
कामजवनवार मनोद्वारवीथि ४१८
शुद्ध एवं तदनुवर्तक ४१८
तदालम्बनवार ४१८
द्वितीय तदालम्बनवीथि आदि ४१९
जवनवार प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपालम्बन ४२०
प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपों से अवशिष्ट आलम्बन ४२१

इद्धिविध (ऋद्धिविध) ४४५
दिब्बसोत (दिव्यश्रोत्र) ४४६
परचित्तविजानन ४४६
पुब्बेनिवास ४४६
दिब्बचक्खु (दिव्यचक्षु) ४४७
यथाकम्मूपगा ४४७
अनागतंस-अभिज्ञा ४४७
निरोधसमापत्तिवीथि ४४९
नानावद्ध-अविकोपन ५४९
संघपटिमानन ४५०
सत्थुपक्कोसन ४५०
अद्धानपरिच्छेद ४५०
कारण एवं फल ४५१
ध्यान दो वार ४५१
अनागामी एवं अर्हत् ४५१
उद्देश्य ४५२
कामभूमि में ७ दिन ४५२
संस्कृत आदि नहीं किन्तु निष्पन्न ४५२
मरणासन्नवीथि ४५३
पञ्चद्वार मरणासन्नवीथि ४५३
चित्तस्वरूप-आदि ४५५
भूमि एवं पुद्गल ४५७
मनोद्वार मरणासन्नवीथि ४५७
भवङ्ग मीमांसा ४५९
परिनिर्वाणवीथि ४६०
ध्यानसमनन्तरवीथि ४६१
प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि ४६२
अभिज्ञासमनन्तरवीथि ४६२
जीवितसमसीसीवीथि ४६३
निगमन ४६४

—:०:—

अभिधम्मत्थसङ्गहो

पठमो परिच्छेदो

मङ्गलगाथा

१. सम्मासम्बुद्धमतुलं ससद्धम्मगणुत्तमं ।
अभिवादिय भासिस्सं अभिधम्मत्थसङ्गहं ॥

मैं (अनुरुद्धाचार्य) सद्धर्म (प्रशस्तधर्म अथवा परियत्तिधर्म, पटिपत्तिधर्म एवं पटिवेधधर्म[1]) और उत्तम गण[2] (आर्यसङ्घ) के सहित अप्रतिम सम्यक्-सम्बुद्ध का अभिवादन कर के 'अभिधम्मत्थसङ्गह' नामक ग्रन्थ को कहूंगा।

अभिधर्मप्रकाशिनी

परम्पराय धम्मस्स, वन्दित्वा रतनत्तयं ।
टीकं नाम लिखिस्सामि, अभिधम्मप्पकासिनिं ॥
अत्थसङ्गहमूलेन, भारतरट्ठभासया ।
सब्बेसं सुखबोधाय, लोकस्स खेमवुद्धिया ॥

१. अनुसन्धि—नाना प्रकार के अन्तरायों से परिपूर्ण इस संसार में उन अन्तरायों से बच कर अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये आचार्य अनुरुद्ध 'सम्मासम्बुद्ध-मतुलं' आदि के द्वारा मङ्गल स्तुतिवचन कहते हैं। अथवा ग्रन्थों का प्रणयन

---

१. बुद्ध-वचन परियत्ति, तदनुसार आचरण एवं ध्यानभावना पटिपत्ति, तथा विपश्यनाभावना के द्वारा सत्य का ज्ञान पटिवेध धर्म हैं; यथा—"परियत्तीति तीणि पिटकानि, पटिवेधो ति सच्चपटिवेधो, पटिपत्तीति पटिपदा।" —विभ० अ०, पृ० ४३५ ।

२. चार मार्गस्थ एवं चार फलस्थ—इस प्रकार आठ पुद्गलों को आर्यपुद्गल कहते हैं। इनका सङ्घ 'आर्यसङ्घ' कहलाता है। —तु० "यानिमानि युगळवसेन चत्तारि पुरिसयुगानि, पाटियेक्कतो अट्ठ पुरिसपुग्गला—एस भगवतो सावक-सङ्घो।"—विसु०, पृ० १४८ ।
"नवानामशैक्ष्याणामष्टादशानाञ्च शैक्ष्याणां शिष्याणां सन्ताने यो मार्गः स पारमार्थिकः सङ्घ इत्युच्यते । संवृत्या तु पृथग्जनकल्याणकभिक्षुसङ्घ इत्यप-दिश्यते ।"—वि० प्र० वृ०, पृ० १२६ ।

'नमामि'-आदि लिख कर या कह कर प्रणाम करना 'वाक्प्रणाम' है। मन के द्वारा अपने इष्ट का ध्यान करना 'मनःप्रणाम' है। इन तीनों प्रकार के प्रणामों में 'वाक्प्रणाम' महाफल देनेवाला होता है; क्योंकि कायप्रणाम एवं मनःप्रणाम केवल अपने (कर्ता के) ही पुण्य के लिये होते हैं, परन्तु वाक्प्रणाम से अपने (कर्ता के) के साथ साथ अध्येताओं को भी पुण्य-लाभ होता है। इसलिये ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में वाक्प्रणाम किया है।

यह वाक्प्रणाम भी द्विविध होता है[1]: १. केवलप्रणाम—यह 'वुद्धं वन्देमि,' 'धम्मं वन्देमि'-इत्यादि प्रकार से रत्नत्रय का निर्विशेष (विशेषणरहित) प्रणाम है। २. स्तोमप्रणाम – यह रत्नत्रय के 'अतुल' – आदि गुणों का कथन करके किया जानेवाला प्रणाम है। इनमें 'स्तोमप्रणाम' श्रद्धा, स्मृति – आदि गुणों को बढ़ानेवाला होने से उत्तम माना गया है।

सम्मासम्बुद्धं—सम्मा+सं+बुद्धं। इसमें सम्मा=अविपरीत, सं=स्वयम्, बुद्ध= जिसने जान लिया, है; क्योंकि 'बुद्ध' शब्द में 'बुध्' धातु का अर्थ है अवगमन[2] (जानना)। इसलिये सम्पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ – अविपरीत ज्ञान को जिसने स्वयं विना किसी की सहायता से जान लिया है। यहाँ पर 'बुध' धातु का कोई विशिष्ट कर्म निर्दिष्ट नहीं है, अतः 'सब को जान सकता है' – यह अर्थ होता है। जैसे – 'दीक्खितो न ददाति' इसमें 'ददाति' का कोई कर्म निर्दिष्ट न होने से 'कुछ भी नहीं देता' – ऐसा अर्थ होता है। अतः यहाँ 'सम्मा सामञ्च सब्बधम्मे बुज्झतीति सम्मासम्बुद्धो' – ऐसा विग्रह करना चाहिये।[3]

---

१. सङ्खेप०, पृ० २१५। २. धा० म०, १०८ का०।

३. "सम्मा सामञ्च सब्बधम्मानं बुद्धत्ता पन सम्मासम्बुद्धो। तथा हि एस सब्ब-धम्मे सम्मा सामञ्च बुद्धो, अभिञ्ञेय्ये धम्मे अभिञ्ञेय्यतो बुद्धो, परिञ्ञेय्ये धम्मे परिञ्ञेय्यतो, पहातब्बे धम्मे पहातब्बतो, सच्छिकातब्बे धम्मे सच्छिक-तब्बतो, भावेतब्बे धम्मे भावेतब्बतो। तेनेव चाह—

'अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं, भावेतब्बञ्च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणा' ति॥" ...

– विसु०, पृ० १३६; "सम्मा ति अविपरीतं, सामं ति सयमेव, सम्बुद्धो ति हि एत्थ 'सं' सद्दो सयं ति एतस्स अत्थस्स बोधको दट्ठब्बो। – विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० २२८; "सम्मदेव सयमेव सकलस्स अभिबुज्झितब्बस्स बुद्धत्ता सम्मासम्बुद्धो। सङ्खतासङ्खतसम्मुतिप्पभेदस्स सब्बस्स पि ञेय्यस्स सब्बाकारतो अविपरीतं सयमेव अनाचरियप्पटिवेधेन सयं विचितोपचितपार-मितापभावितेन सयम्भूञाणेन अभिसम्बुद्धत्ता त्यत्थो।"... अभि० स० टी०, पृ० २८३; "सम्मा सामञ्च सब्बधम्मे बुज्झतीति सम्मासम्बुद्धो भगवा, सो हि सङ्खतासङ्खतभेदं सकलम्पि धम्मजातं याथावसरसलक्खणप्पटिवेधवसेन सम्मा सयं विचितोपचितपारमितासम्भूतेन सामं बुज्झि अञ्ञासि।" – विभा०, पृ० ५४; "सम्मासद्देन सब्बञ्ञुतञाणस्स गहितत्ता पच्चेकबुद्धं निवत्तेति, 'सं' सद्देन अरहत्तमग्गभूतस्स सयम्भुञाणस्स गहितत्ता सावकादयो निवत्तेति। तस्मा 'सम्मासम्बुद्धं' ति इमिना भगवा येव विञ्ञायते।" – सङ्खेप०, पृ० २१६; "एत्थ च सम्मासद्दो अविपरीतत्थे निपातो, सो बुज्झितब्बेसु ञेय्य-

प्रज्ञापारमिता[1] के लिए एक बहुमूल्य एवं महत्वपूर्ण कार्य है, अतः उस कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ग्रन्थकार प्रीति एवं सौमनस्य से युक्त होकर मङ्गलवचन कहते हैं। भगवान् बुद्ध के श्रावकों के लिए बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ से सम्बद्ध विषयों को लिखना अथवा उनका उच्चारण करना "पूजा च पूजनीयानं एतं मङ्गलमुत्तमं"[2] – इस उक्ति के अनुसार अत्यन्त मङ्गलप्रद होता है। अतः ग्रन्थारम्भ में मङ्गलकृत्य करनेवाले आचार्य अनुरुद्ध 'सम्मासम्बुद्धमतुलं'-आदि वचन को प्रीति एवं सौमनस्य से युक्त होकर कहते हैं।

त्रिविध ग्रन्थारम्भ—ग्रन्थों का आरम्भ तीन प्रकार से किया जाता है[3] : १. वस्तुपूर्वक, २. आशिषपूर्वक एवं ३. प्रणामपूर्वक। 'विसुद्धिमग्ग' के आदि में "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो"[4] – इस गाथा से देवता के द्वारा प्रस्तुत वस्तु (विषय) को पूर्व में रख कर ग्रन्थारम्भ किया गया है। वस्तु को पूर्व में रखने से यह 'वस्तुपूर्वक' ग्रन्थारम्भ है। अथवा "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो" – यह गाथा सम्पूर्ण 'विसुद्धिमग्ग' ग्रन्थ की आधारवस्तु है, इसी गाथा का विस्तार सम्पूर्ण ग्रन्थ है। इस आधारवस्तुरूप सङ्क्षेपवचन को पूर्व में रखने से यह ग्रन्थारम्भ 'वस्तुपूर्वक' है।

'सुबोधालङ्कार' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में "मुनिन्दवदनम्बोज....[5]" आदि गाथा के द्वारा 'वाग्देवी मेरे मन को प्रसन्न करे' – ऐसी प्रार्थना की गई है। आशीर्वाद अभीष्ट होने से यह ग्रन्थारम्भ 'आशिषपूर्वक' है।

प्रस्तुत (अभिधम्मत्थसङ्गहो) ग्रन्थ में 'अभिवादिय भासिस्सं' के द्वारा त्रिरत्न की वन्दना कर के ग्रन्थारम्भ किया गया है। इसी प्रकार 'अट्ठसालिनी' नामक ग्रन्थ में भी "तस्स पादे नमस्सित्वा[6]...." के द्वारा बुद्ध की पादवन्दना कर के ग्रन्थारम्भ किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थारम्भ 'प्रणामपूर्वक' ग्रन्थारम्भ कहे जाते हैं।

प्रणाम तीन प्रकार के होते हैं[7]—१. कायप्रणाम, २. वाक्प्रणाम एवं ३. मनःप्रणाम। हाथ जोड़ना, मस्तक झुकाना-आदि 'कायप्रणाम' हैं। 'अभिवादिय', 'वन्दामि',

---

१. "दानं सीलञ्च नेक्खम्मं पञ्ञावीरियपञ्चमं। खन्तिसच्चमधिट्ठानं मेत्तुपेक्खा तिमा दसा ति।" – अभि० स० टी०, पृ० २८६; च० पि० अ०, पृ० २७०। बोधिसत्त्व को बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये इन दान-सील-आदि दस पारमिताओं को पूर्ण करना होता है, उनमें चतुर्थ प्रज्ञापारमिता है। अध्ययन-अध्यापन एवं ग्रन्थ-प्रणयन-आदि प्रज्ञापारमिता की पूर्ति के अङ्ग हैं। विस्तारज्ञान के लिये द्र० – जा० अ० की निदानकथा।

२. खु० नि०, प्र० भा०, मङ्गलसुत्त, पृ० ५; ३०७।

३. "आचरियानं गन्थारम्भो तिविधो – आसिसपुब्बको, वत्थुपुब्बको, पणामपुब्बको ति।" – सङ्खेप०, पृ० २१४।

४. विसु०, पृ० १। ५. सुबो०, पृ० १। ६. अट्ठ०, पृ० १।

७. "पणामो तिविधो—कायपणामो, वचीपणामो, मनोपणामो ति। तत्थ ननु कायपणामेन वा मनोपणामेन वा अन्तरायविसोसनं सिया, कस्मा गन्थगरुकरो वचीपणामो विहितो ति? सिया; तेहि पन अन्तरायविसोसनप्पयोजनमेव होति, न परहितभूतं परम्परापयोजनं; वचीपणामेन पन तदुभयं होति। तस्मा सातिसयो वचीपणामो विहितो ति।" – सङ्खेप०, पृ० २१४, २१५।

"पणामो तिविधो कायवाचाचित्तवसा भवे।
तेसु वचीपणामो व, सातिसयो ति दीपितो।" – मणि०, पृ० ४६।

अथवा[1]—'सन्तो धम्मो सद्धम्मो' प्रशंसित धर्म ही सद्धर्म है। भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रज्ञापित धर्म, जिस प्रकार उन्होंने उपदेश (वर्णन) किया है, ठीक उसी प्रकार के हैं। आचरण करने पर भी वे उपदेश के अनुसार ही फल देते हैं। अतः बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्म प्रशंसित हैं। सङ्क्षेप से परियत्ति, पटिपत्ति एवं पटिवेध को सद्धर्म कहते हैं[2]।

'उत्तमो गणो गणुत्तमो' उत्तम गण अर्थात् आर्य (श्रेष्ठ) सङ्घ को 'गणुत्तम' कहा गया है। 'सद्धम्मो च गणुत्तमो च सद्धम्मगणुत्तमो, सह सद्धम्मगणुत्तमेहि यो (सम्मासम्बुद्धो) वट्टतीति ससद्धम्मगणुत्तमो' अर्थात् सद्धर्म और उत्तम गण के साथ वर्तमान भगवान् बुद्ध। यह 'सम्मासम्बुद्धं' का विशेषण है[3]। इससे धर्म एवं सङ्घ की भी वन्दना होती है[4]।

अभिवादिय—अभि=विशेष रूप से; वादिय=वन्दना कर के। विशेष रूप से अर्थात् श्रद्धा, प्रज्ञा, स्मृति, वीर्य एवं चेतना पूर्वक वन्दना कर के। भयवन्दना, लाभ-वन्दना, कुलाचारवन्दना, आचार्यवन्दना तथा श्रद्धावन्दना--इन पञ्चविध वन्दनाओं में यहाँ यह भगवान् बुद्ध के गुणों के प्रति श्रद्धावन्दना है[5]।

अभिधम्मत्थसङ्गहं—'अतिरेको धम्मो अभिधम्मो, अभिधम्मस्स अत्था अभि-धम्मत्था', अथवा[6] 'अभिधम्मे वुत्ता अत्था अभिधम्मत्था; सङ्खिपित्वा गय्हन्ति एत्थ एताय वा ति सङ्गहो, अभिधम्मत्थानं सङ्गहो अभिधम्मत्थसङ्गहो। अतिरेक या विशिष्ट

नवविधो, पाळिधम्मेन सद्धिं दसविधो वा।"...अभि० स० टी०, पृ० २८४।

"सद्धर्मो द्विविधः शास्तुरागमाधिगमात्मकः। – अभि० को० ८ : ३९।

तत्र आगमः – सूत्रम्, विनयः, अभिधर्मश्च। स एव—

'सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तिकं निदानं वैपुल्यञ्च सजातकम्॥
उपदेशोऽद्भुता धर्मा द्वादशाङ्गमिदं वचः॥' (अभिसमयालङ्कारालोके)

अधिगमः—बोधिपाक्षिका धर्माः (६ : ६७) यानत्रयाः (बुद्ध-प्रत्येकबुद्ध-श्रावक) यैरभ्यस्ताः।" – रा० सा० ८ : ३९, पृ० २३५।

"शाश्वतत्वशभत्वाभ्यां, सर्वानर्थनिवृत्तितः।
मुख्यकल्पनया तद्धर्मो निर्वाणमच्यते॥ – अभि० दी०, १६२ का०।

'नित्याविकृतस्वलक्षणधारणात्तत्प्राप्तानां चात्यन्तधारणे निर्वाणं पारमार्थिको धर्मः। गुणकल्पनया तु प्रत्येकबुद्धबोधिसत्त्वसन्तानिको मार्गः। त्रीणि च पिटकानि धर्मो निर्वाणप्रापकत्वात्'।"—वि० प्र० वृ०, पृ० १२६।

१. तु० – विभा०, पृ० ५६।
२. व० भा० टी०; प० दी०, पृ० ९।
३. तु० – विभा०, पृ० ५६; प० दी०, पृ० ८-९-१०।
४. "एतेन धम्मसङ्घानं पि वन्दना कता होति।" – प० दी०, पृ० ८।
५. तु० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ८५।
६. प० दी०, पृ० १२।

अतुलं—'नत्थि तुलो यस्सा ति अतुलो' अर्थात् जिसकी किसी से तुलना (समता) नहीं है। भगवान् बुद्ध के जो श्रेष्ठ गुण हैं उनकी किसी अन्य व्यक्ति के गुणों से तुलना नहीं की जा सकती। यद्यपि पूर्णकाश्यप आदि तैर्थिक भगवान् बुद्ध के साथ गुणों में स्पर्द्धा करते हैं; फिर भी शील, समाधि, प्रज्ञा-आदि गुणों में वे उनके बराबर कथमपि नहीं हैं। इसीलिये ग्रन्थकार भगवान् बुद्ध को 'अतुल' कहते हैं।

अथवा 'तुला' शब्द का अर्थ तराजू होता है। 'तुला विया ति तुला' – इस प्रकार विग्रह कर के तुला के सदृश ज्ञान को भी 'तुला' कहा गया है। 'तुलाय सम्मितो तुल्यो', प्रज्ञा के द्वारा तुलित (मापित) पुद्गल तुल्य है। 'तुल्यो येव तुलो', तुल्य ही 'तुल' है। 'न तुलो अतुलो', जो तुल नहीं है वह 'अतुल' है। अर्थात् तराजू की तरह प्रज्ञा के द्वारा जिस का माप नहीं किया जा सकता वह 'अतुल' है। प्रज्ञा के द्वारा 'इनमें इतना शील, इतनी समाधि या इतनी प्रज्ञा है' – ऐसा माप नहीं किया जा सकता। अतएव 'अतुल' – ऐसा विशेषण दिया गया है[1]।

ससद्धम्मगणुत्तमं—'सन्तो धम्मो सद्धम्मो' सत् (परमार्थ) धर्म ही सद्धर्म है। तैर्थिकों के द्वारा प्रकल्पित आत्मा-आदि पदार्थ परमार्थ रूप से विद्यमान नहीं होते। भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद-आदि धर्म प्रकल्पित न होकर 'सत्' रूप से विद्यमान हैं, अतएव इन्हें ही 'सद्धर्म[2]' कहा जाता है।

धम्मेसु बुज्झनक्रियाय असेसव्यापिभावं दीपेति।" – प० दी०, पृ० ४। "अत्र बुद्धशब्दस्य प्रसिद्धिः बुधेरकर्मकत्वविवक्षायां कर्तरि क्तो भवति। सर्वे वा ज्ञानार्था गत्यर्था इति कर्मकर्तरि क्तविधानम्। अभिधानलक्षणत्वाच्च कृत्तद्धित-समासानामचोदयम्। दृष्टञ्चेद 'बुद्ध' इत्यभिधानं कर्तरि लोके प्रयुज्यमानम्। तद्यथा – निद्राविगमे पदार्थानुबोधेऽविद्यानिरासे च 'विबुद्धः प्रबुद्धो देवदत्त' इति। एवं भगवानप्यविद्यानिद्राविगमात् सर्वार्थावबोधाच्च बुद्धो विबुद्धः प्रबुद्ध इत्युच्यते। यथा वा परिपाकविशेषात् स्वयमेव बुद्धं पद्ममेवं भगवानपि प्रज्ञादिगुणप्रकर्षपरिपाकात् बुद्धो विबुद्धः प्रबुद्ध इति।" – अभि० दी०, पृ० ३। तु० – क० न्या० ३; क० व० ४; स० नी०, द्वि० भा०, पृ० ४८१-८२।

१. द्र० – विभा०, पृ० ५५; प० दी०, पृ० ६; तु० – "न तुलो तुलयितुं असक्कुणेय्यो ति अतुलो अप्पमेय्यो।"...अभि० स० टी०, पृ० २८३।

२. विभावनी, परमत्थदीपनी-आदि में 'सद्धम्म' शब्द का अर्थ नव लोकोत्तरधर्म एवं परियत्तिधर्म किया गया है; अर्थात् आठ लोकोत्तरचित्त, निर्वाण एवं परियत्तिधर्म। "अत्तानं धारेन्ते चतूसु अपायेसु वट्टदुक्खेसु च अपतमाने कत्वा धारेतीति धम्मो। चतुमग्गफलनिब्बानवसेन नवविधो, परियत्तिया सह दसविधो वा धम्मो।" – विभा०, पृ० ५६; अत्तानं धारेन्ते अपायेसु च वट्टदुक्खेसु च अपतमाने धारेतीति धम्मो। सतं सप्पुरिसानं बुद्धादीनं धम्मो, सन्तो संविज्जमानो वा सुन्दरो पसत्थो वा धम्मो स्वाक्खाततादिभावतो ति सद्धम्मो। सो चतुन्नं अरियमग्गानं चतुन्नं च अरियफलानं निब्बानस्स च वसेन

प्रज्ञप्त्यर्थ है, उसे ज्ञान से देखने पर हमें केश, लोम-आदि ३२ अवयव (कोट्ठास[1]) ही मिलेंगे। वे अवयव भी प्रज्ञप्त्यर्थ ही हैं। उन अवयवों का भी सूक्ष्म निरीक्षण करने पर केवल 'अष्ट-कलाप[2]' ही दृष्टिगोचर होंगे, पुद्गल कहीं उपलब्ध नहीं होगा। अतः कलाप ही परमार्थ है और एकत्वविधया जो पुद्गल का भान होता है, वह प्रज्ञप्ति है। पुद्गल इस द्रव्य में आलम्बन को जाननेवाले, स्पर्श करनेवाले, अनुभव करनेवाले, चित्त-स्पर्श-वेदना-आदि नाम-परमार्थ भी हैं। इस प्रकार पुद्गल नामक सत्वप्रज्ञप्ति से 'रूप एवं नाम परमार्थ' को निकाला जा सकता है। अथवा – 'पुद्गल' द्रव्य में योनिशः मनसिकार करने पर नाम (चित्त, चैतसिक) एवं रूप के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। अतः नाम एवं रूप ही परमार्थ है, जो 'पुद्गल' इस प्रज्ञप्ति से निकलते हैं। इसी प्रकार सजीव, निर्जीव-आदि प्रज्ञप्त्यर्थ से परमार्थ को निकाला जा सकता है। इसी अर्थ का प्रतिपादन 'विभावनी' की टीका 'मणिमञ्जूसा' में "'निब्बत्तितपरमत्थवसेना' ति पञ्ञत्तितो विसुं उद्धटपरमत्थभावेनेव[3]" – इस व्याख्या के द्वारा किया गया है। प्रज्ञप्तिधर्म आपाततः देखने पर अस्तिवत् प्रतीत होते हैं; किन्तु वे वस्तुतः व्यावहारिक संज्ञामात्र ही होते हैं। ये सजीव एवं निर्जीव – उभयविध सृष्टि में प्राप्त होते हैं। सजीव में – मनुष्य, पशु, देव, ब्रह्मा-आदि प्रज्ञप्तिधर्म हैं। निर्जीव में – वन, पर्वत, नदी-आदि प्रज्ञप्तिधर्म हैं। परमार्थधर्म वह है जिसका 'योनिशः मनसिकार' करने पर भी अपलाप नहीं होता, जो अविपरीत, यथार्थ एवं वस्तुसत् होता है[4]।

प्रज्ञप्तिज्ञान एवं परमार्थज्ञान – साधारण पृथग्जन तत्त्व (परमार्थ) को नहीं देख पाते; क्योंकि परमार्थधर्म द्रव्य-संस्थान-आदि प्रज्ञप्ति से आवृत रहते हैं। हम केवल प्रज्ञप्त्यर्थ को ही देख पाते हैं। ज्ञानवान् पृथग्जन एवं अर्हत्-आदि न केवल प्रज्ञप्त्यर्थ को ही, अपितु परमार्थ (चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण) को भी देखते हैं। जैसे – 'मनुष्य जाता है', यहाँ वस्तुतः न मनुष्य जाता है और न तो जानेवाला कोई मनुष्य ही है। जब जाने की इच्छा (छन्दचैतसिक) होती है तब वायुप्रधान चित्तज-रूप[5] उत्पन्न होते हैं; इनमें विज्ञप्ति-(विञ्ञत्ति) रूप[6] सारथि की तरह सन्तुलन बनाये रखने का काम करते हैं। वायुधातु

---

१. बत्तीस कोट्ठास ये हैं—"अत्थि इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा, दन्ता, तचो, मंसं, न्हारु, अट्ठि, अट्ठिमिञ्जं, वक्कं, हदयं, यकनं, किलोमकं, पिहकं, पप्फासं, अन्तं, अन्तगुणं, उदरियं, करीसं, मत्थलुङ्गं, पित्तं, सेम्हं, पुब्बो, लोहितं, सेदो, मेदो, अस्सु, वसा, खेळो, सिङ्घाणिका, लसिका, मुत्तं ति।"—खु० नि०, खु० पा०, पृ० ४।

२. द्र० – अभि० स०, षष्ठ परि०, 'रूपकलापा'।

३. द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ८९।

४. 'परमो उत्तमो अविपरीतो अत्थो परमत्थो', अथवा 'परमस्स उत्तमस्स ञाणस्स अत्थो गोचरो परमत्थो।'—विभा०, पृ० ५७।

५. द्र० – अभि० स० ६ : ४४।

६. द्र० – अभि० स० ६ : १३।

चतुब्बिधा परमत्था

२. तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो ।
चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा ।।

अभिधर्मपिटक में वर्णित अभिधर्मार्थ परमार्थ रूप से सर्वथा चतुर्विध हैं। यथा—चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण।

धर्म अभिधर्म है[1]। सुत्तन्त (सूत्रान्त) पालि से अतिरेक या विशिष्ट धर्म 'अभिधर्म' कहा जाता है[2]। 'अभिधम्मपालि' के अर्थ को 'अभिधम्मत्थ' कहते हैं।

अथवा प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' इसलिये है कि इसमें 'अभिधम्मपिटक' में वर्णित तत्त्वों का सार सङ्क्षिप्त रूप से सङ्गृहीत है[3]।

चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण 'अभिधम्मत्थ' (अभिधर्मार्थ) हैं। इनमें पञ्ञत्ति (प्रज्ञप्ति) का भी ग्रहण करना चाहिये। अभिधम्मपिटक में भी 'पुग्गलपञ्ञत्ति' नामक एक ग्रन्थ सङ्गृहीत है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अष्टम परिच्छेद के अन्त में ग्रन्थकार स्वयं भी पञ्ञत्ति का वर्णन करते हैं। अतः 'अभिधम्मत्थ' शब्द से चित्त, चैतसिक, रूप, निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति का ग्रहण करना चाहिये।

विभावनीकार ने "निब्बत्तितपरमत्थभावेन अभि विसिट्ठा धम्मा एत्था ति[4]"--ऐसा विग्रह कर के अभिधर्मार्थ (अभिधम्मत्थ) में प्रज्ञप्ति का ग्रहण नहीं किया है।

चतुर्विध परमार्थ

२. **परमत्थतो**—परमत्थ=परमार्थ, अर्थात् अविपरीत-स्वभाव धर्म। जैसे तिलों से तैल निकलता है, उसी प्रकार प्रज्ञप्त्यर्थों से परमार्थ सार-रूप से निकलता है। यथा—पुद्गल एक

---

१. "अभि अतिरेको अभि विसेसो च धम्मो अभिधम्मो" – प० दी०, पृ० १२।
२. अट्ठ०, पृ० २-३; प० दी०, पृ० १८;
तु० – "प्रज्ञामला सानुचराभिधर्मस्तत्प्राप्तय यापि च यच्च शास्त्रम्।" – अभि० को०, १ : २, पृ० ५, "अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च।" – महा० सू०, ११ : ३।
"अभिधम्मस्स अत्थो अभिधम्मत्थो, धम्मसङ्गहादिके सत्तपकरणभेदे अभिधम्मपिटके कुसलादिवसेन च नानानयेन च देसिता नानारूपधम्मा त्यत्थो।" ...अभि० स० टी०, पृ० २८४; "अभि अतिरेको धम्मो अभिधम्मो। सुत्तन्त-विनयाधिका पाळीति अत्थो; सत्त पकरणं। अभिधम्मे वुत्ता अत्था अभिधम्मत्था अभिधम्मत्था सङ्गय्हन्ते एतेना ति अभिधम्मो।"—सङ्खेप०, पृ० २१५।
३. विभा०, पृ० ५६।
४. विभा०, पृ० ५६।

नाम एवं रूप धर्मों में से पृथ्वीधातु कक्खळ-(खक्खट[1]—खुरदरा) स्वभाव है। उपर्युक्त धूलि में पृथ्वीधातु के अनेक अणु होते हैं। पृथ्वीधातु के इस अणुगत कक्खळ स्वभाव का आबन्धन-स्वभाव (अब्धातु) में, चित्त के आलम्बन-विजानन स्वभाव का स्पार्शन-आदि स्वभाव में, स्पर्श के स्पार्शन स्वभाव का अनुभवन-आदि स्वभाव में परिवर्तन असम्भव है; और ऐसा परिवर्तन करने में कोई भी सक्षम नहीं है। जब इन साधारण धर्मों की यह अवस्था है तब निर्वाण के उपशम-स्वभाव की अविपरीतता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है! इसी प्रकार लोभ-आदि भी अपने गार्ध्य-स्वभाव से कभी भी च्युत नहीं होते। ये सभी परमार्थधर्म – चाहे कुशल हों चाहे अकुशल, अपने स्वभाव से च्युत न होने के कारण प्रशंसित हैं। इसीलिये 'परमत्थ' का 'परमो (अविपरीतो) अत्थो परमत्थो' – ऐसा विग्रह किया गया है।

विशेष – 'परमो उत्तमो अविपरीतो अत्थो परमत्थो[2] – इस प्रकार 'परमत्थ' शब्द की टीकाकारों ने व्याख्या की है। इसमें 'परम' शब्द का अर्थ प्रधान एवं उत्तम, दोनों होता है। यहाँ 'उत्तम' अर्थ के ही ग्रहण के लिए 'परमो उत्तमो' – ऐसा कहा गया है। 'उत्तम' शब्द भी यहाँ 'प्रणीत[3]' अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, अपितु मूल-स्वभाव से 'अविपरीत-स्वभाव' के अर्थ में है। अतएव 'उत्तमो अविपरीतो' – ऐसा कहा गया है।

अथवा – 'परमो' (पधानो) अत्थो परमत्थो' अर्थात् प्रधान अर्थ परमार्थ है – इस प्रकार का विग्रह अनुटीकाकार ने किया है[4]। इसका अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, अप्, पर्वत, नदी, वन, ब्रह्मा, देव, मनुष्य-आदि नाना प्रकार के प्रज्ञप्त्यर्थों के होने पर भी ज्ञानचक्षु से देखने पर उनमें चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण ही प्रधान होते हैं। इसलिए परम का अर्थ 'प्रधान' किया गया है।

हीनधर्म एवं परमार्थ—एक ओर 'धम्मसङ्गणिपालि' में अकुशल चित्त एवं तत्सम्प्रयुक्त चैतसिकों का हीनधर्म में ग्रहण होता है[5], दूसरी ओर ये चित्त, चैतसिक परमार्थ (उत्तम) धर्म भी कहे जाते हैं। यहाँ प्रश्न होता है कि ये चित्त-चैतसिक धर्म एक साथ हीनधर्म और परमार्थ-(उत्तम) धर्म कैसे होते हैं?

उत्तर—यह सत्य है कि अकुशल धर्म वस्तुतः स्वभाव से हीन होते हैं, तथापि जिन पुद्गलों में ये लोभादि अकुशल धर्म (चित्त-चैतसिक) विद्यमान हैं, उन पुद्गलों में वे लोभादि, चाहे वे पुद्गल, पशु, मनुष्य अथवा ब्रह्मा-आदि देवता ही क्यों न हों, अपने गार्ध्य-आदि स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ते। इसीलिये इनको 'परमार्थ' कहा गया है। यहाँ 'परम' का अर्थ हीन से विपरीत प्रणीत नहीं, अपितु अविपरीत है।

---

१. म० व्यु०, पृ० ३१; अभि० दी०, पृ० १२।

२. विभा०, पृ० ५७।

३. ध० स०, पृ० २३६।

४. "अविपरीतभावतो येव परमो पधानो अत्थो ति परमत्थो।"—कथा० अनु०, पृ० ६०।

५. ध० स०, पृ० २३५; अट्ठ०, पृ० ३८।

और विज्ञप्तिरूप के द्वारा कलापसमूह के ढकेले जाने के कारण कलापसमूह चल रहा है, इसी को 'मनुष्य जाता है' – यह कहा जाता है। यहाँ पर 'कलापसमूह चल रहा है' – यह परमार्थज्ञान है, तथा 'मनुष्य चल रहा है'–यह ज्ञान मनःकल्पित होने के कारण प्रज्ञप्तिज्ञान है[1]।

"चित्तनानत्तमागम्म नानत्तं होति वायुनो।
वायुनानत्ततो नाना होति कायस्स इञ्जना[2]" ॥

चित्त के नानात्व (विकृति) की अपेक्षा कर के वायुनानात्व होता है। तथा वायु के नानात्व से काय की विविध गतियाँ होती हैं।

परमार्थ—इस प्रकार परमार्थ तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानी पुद्गल प्रज्ञप्त्यर्थ का अतिक्रमण तथा परमार्थ तत्त्व का आलम्बन कर उन्हें अपने ज्ञान का गोचर बना सकते हैं। इसलिये 'परमत्थ' शब्द का 'परमस्स (उत्तमञाणस्स) अत्थो (गोचरो) परमत्थो' – यह विग्रह करना चाहिये, अर्थात् उत्तम ज्ञान का गोचर (आलम्बन) परमार्थ है।

अथवा – 'परमो (अविपरीतो) अत्थो परमत्थो', अर्थात् परमार्थ वह है जो अविपरीत-स्वभाव है। देव, मनुष्य-आदि प्रज्ञप्त्यर्थ विपरीत-स्वभाव होते हैं। इनके मूल-स्वभाव में विकार हो जाता है। परमार्थधर्म कभी भी अपने मूल-स्वभाव से विपरीत (विकृत) नहीं होते। पुद्गलनामक स्कन्धद्रव्य-प्रज्ञप्ति[3] का विभाजन (विश्लेषण) करके देखने पर वह एक विकार ठहरता है; वहाँ केश, लोम-आदि प्रज्ञप्ति ही अवशिष्ट रहती हैं। किन्तु उन केश, लोम-आदि के जलाने पर उनका भी भस्म के रूप में परिणाम (विकार) हो जाता है। भस्म-प्रज्ञप्ति भी धीरे धीरे धूलि (रजस्) हो जाती है। इस तरह सभी प्रज्ञप्त्यर्थ अपने मूल-स्वभाव से विकृत हो कर परिवर्तित (विपरीत-स्वभाव) हो जाने के कारण 'परमार्थ' नहीं कहे जा सकते।

---

१. तु० – "बुद्ध्या यस्येक्ष्यते चिह्नं, तत्संज्ञेयं चतुर्विधम्।
परमार्थेन संवृत्या, द्वयेनापेक्षयापि च" ॥ – अभि० दी०, पृ० २६२।
"भेदे यदि न तद्बुद्धिरन्यापोहे धियापि च।
घटाम्बुवत् संवृतिसत्, तदन्यत् परमार्थसत् ॥"
—अभि० को० ६ : ४, पृ० १६१।
"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यञ्च, सत्यञ्च परमार्थतः ॥" – माध्य० २४ : ८।
"समन्ताद् वरणं संवृत्तिः। अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते...परमश्चासावर्थश्चेति परमार्थः। तदेव सत्यं परमार्थसत्यम्।"
—प्रसन्न०, पृ० ४९२-४९४।
"संवृतिः परमार्थश्च, सत्यद्वयमिदं मतम्।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं, बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥"—बोधि० ९:२, पृ० १७०।
द्र० – त्रि० २० – २१ का०।

२. सु० नि० अ०, पृ० २३७।

३. स्कन्ध पाँच होते हैं, यथा—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान – इन्हें द्रव्यतः ग्रहण करना स्कन्धद्रव्यप्रज्ञप्ति है।

से युक्त पुद्गलों के मतवाद को निरस्त करने के लिये ही पर्याय से प्रयुक्त होते हैं। परमार्थ-स्वभाव को यथार्थ रूप से न जाननेवाले कुछ पृथग्जन 'उन उन कर्मों को करनेवाला कारक एवं उन उन फलों का अनुभव करनेवाला वेदक आत्मा स्कन्धद्रव्य में है तथा आलम्बन के जानने में 'जानना'-क्रिया चित्त है, और इस 'जानना'-क्रिया का उत्पादक कर्ता आत्मा ही है' – इस प्रकार उपादान (ग्रहण) करते हैं। इस मिथ्याधारणा का प्रहाण करने के लिये चित्त में जाननेवाली कर्तृशक्ति के न होने पर भी, होने की तरह, तद्धर्मोपचार से उसमें 'चिन्तेन्तीति चित्तं' – ऐसे कर्तृसाधन विग्रह का आरोप किया जाता है। अर्थात् 'आलम्बन के जानने में आत्मा जानता है' – ऐसा नहीं; क्योंकि आत्मा सर्वथा है ही नहीं, चित्त ही जानता है। चित्तस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई जाननेवाला कर्ता (ज्ञाता) नहीं है।

कुछ लोग – 'स्पर्श-(फस्स) आदि धर्म आत्मा के कारण ही आलम्बन को जानते हैं, आत्मा ही 'जानना'-क्रिया को सिद्ध करनेवाली साधकतम शक्ति है' – ऐसा उपादान (ग्रहण) करते हैं। इस मिथ्याधारणा का निरास करने के लिये चित्त में क्रियासाधक शक्ति के न होने पर भी, होने की तरह, तद्धर्मोपचार से उसमें 'चिन्तेन्ति एतेना ति चित्तं'–इस प्रकार के करणसाधक विग्रह का आरोप किया गया है। अर्थात् 'स्पर्श-आदि धर्मों के द्वारा आलम्बन के जानने में आत्मा करण है' ऐसा नहीं; क्योंकि आत्मा सर्वथा है ही नहीं, चित्त ही स्पर्श-आदि धर्मों के द्वारा आलम्बन के जानने में करण होता है।

इस प्रकार आत्मवादियों की सत्कायदृष्टि का प्रहाण करने के लिये कर्तृसाधन एवं करणसाधन विग्रहों के करने पर भी चित्त में वस्तुतः कर्तृशक्ति एवं करणशक्ति – दोनों नहीं हैं। ये दोनों विग्रह परमार्थस्वभाव का यथार्थ निरूपण नहीं करते। वस्तुतः चित्त आलम्बन की 'जानना-क्रियामात्र' होने से 'चिन्तनं चित्तं' – यह भावसाधन-विग्रह ही उसके परमार्थ स्वरूप का यथार्थ अवबोधक होता है[1]।

लक्षणादिचतुष्क—ये परमार्थधर्म सत् रूप से विद्यमान हैं, तथापि अतिगम्भीर होने के कारण सामान्य ज्ञान के द्वारा दुर्ज्ञेय होते हैं। 'कम्मट्ठान' (कर्मस्थान) करनेवाले योगिजनों को भी यथार्थरूप से जानने के लिये लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान (पच्चुपट्ठान) एवं पदस्थान (पदट्ठान) के द्वारा उनकी पुनः पुनः भावना करनी पड़ती है। इसलिये यहाँ पर भी लक्षणादिचतुष्टय का प्रतिपादन किया जा रहा है।

"सामञ्ञं वा सभावो वा धम्मानं लक्खणं मतं।
किच्चं वा तस्स सम्पत्ति रसो ति परिदीपये॥
फलं वा पच्चुपट्ठानमुपट्ठानाकारोपि वा।
आसन्नकारणं यं तु पदट्ठानं ति तं मतं[2]"॥

---

१. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १६, १७।

२. व० भा० टी०; मणि०, प्र० भा०, पृ० २३१। तु०—"लक्खणादीनु हि तेसं तेसं धम्मानं सभावो वा सामञ्ञं वा लक्खणं नाम, किच्चं वा सम्पत्ति वा रसो नाम, उपट्ठानाकारो वा फलं वा पच्चुपट्ठानं नाम, आसन्नकारणं पदट्ठानं नाम।"—अट्ठ०, पृ० ५३।

चित्तं—"आरम्मणं चिन्तेतीति चित्तं, विजानातीति अत्थो[1]" जो आलम्बन को जानता है वह चित्त है। यह संज्ञा एवं प्रज्ञा की अपेक्षा विशिष्ट (भिन्न) प्रकार से जानता है, अतः 'विजानाति' – यह कहा गया है। आलम्बन को जानने के तीन प्रकार होते हैं; जैसे – संज्ञा द्वारा जानना, विज्ञान द्वारा जानना तथा प्रज्ञा द्वारा जानना[2]। चाहे मिथ्या हो, चाहे सत्य, सञ्जाननमात्र संज्ञा के द्वारा जानना है। मिथ्या न होकर सत्य को ही प्रतिवेध-(यथाभूत) ज्ञान से जानना, प्रज्ञा के द्वारा जानना है। किसी एक आलम्बन का ग्रहण करना, विज्ञान के द्वारा जानना है। 'चिन्तेति' – इस शब्द की 'विजानाति' – इस व्याख्या में विज्ञान द्वारा जानना संज्ञा एवं प्रज्ञा से अधिक जानना नहीं है, अपितु विशिष्ट (भिन्न) प्रकार से जानना है[3]। इसी अभिप्राय से 'विजानातीति अत्थो' – ऐसा कहा गया है।

अथवा – 'चिन्तेन्ति एतेना ति चित्तं' जिस धर्म के द्वारा सम्प्रयुक्त धर्म आलम्बन को जानते हैं वह धर्म चित्त है। स्पर्श-(फस्स) आदि चैतसिक चित्त का आश्रय ले कर आलम्बन को जान सकते हैं, अतः चित्त, स्पर्श-आदि चैतसिकों के द्वारा आलम्बन के जानने में करणभूत होता है।

अथवा – 'चिन्तनं चित्तं' आलम्बन को जाननामात्र चित्त है[4]।

इस प्रकार परमार्थधर्मों के द्योतक शब्दों में कर्तृसाधन, करणसाधन एवं भाव-साधन – इस तरह त्रिविध विग्रह किये जा सकते हैं। इनमें से कर्तृसाधन एवं करण-साधन विग्रह परमार्थस्वभाव को ठीक ठीक अभिलक्षित नहीं करते। ये केवल सत्कायदृष्टि[5]

---

१. अट्ठ०, पृ० ५३; "विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः।"—अभि० को० १ : १६ का०; "विषयं विषयं प्रति उपलब्धिरेव विज्ञानस्कन्धः"—रा० सा०, पृ० ७।
"जो सञ्चय करता है (चिनोति) वह चित्त है। यही मनस् है; क्योंकि यह मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है; क्योंकि यह अपने आलम्बन को जानता है (आलम्बनं विजानाति)।"—आ० न० दे०, अभि० को० २ : ३४ का०, पृ० १३६।
"वस्तूपलब्धिमात्रं हि चित्तं"...अभि० दी०, वि० प्र० वृ०, पृ० ७८।
"विजाननलक्षणं विज्ञानम्"—अभि० समु०, पृ० ३।
"तदालम्बं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम्।"—त्रि०, ५ का०।
"तत्रार्थदृष्टिर्विज्ञानम्" –प्रस०, पृ० ६५।

२. विसु०, पृ० ३०४–५।

३. "विजानातीति सञ्ञापञ्ञाकिच्चविसिट्ठं विसयग्गहणं।"–ध० स० मू०, पृ० ६५।

४. विस्तार के लिये द्र० – विभा०, पृ० ५७; प० दी०, पृ० १६।

५. "सक्कायदिट्ठीति विज्जमानट्ठेन सति खन्धपञ्चकसङ्खाते काये, सयं वा सती तस्मिं काये दिट्ठीति 'सक्कायदिट्ठि'।"—अट्ठ०, पृ० २७८।
"दिट्ठिया गहितो अत्ता न विज्जति, येसु पन विपल्लट्ठगाहो ते उपादानक्खन्धा व विज्जन्ति। तस्मा यस्मिं अविज्जमाननिच्चादिविपरियासाकारगहणं अत्थि, सो व उपादानक्खन्धपञ्चकसङ्खातो कायो। तत्थ निच्चादि-आकारस्स अविज्जमानता-दस्सनत्थं रुप्पनादिसभावस्सेव च विज्जमानतादस्सनत्थं अविज्जमानो कायो ति विसेसेत्वा वुत्तो। लोकुत्तरा पन न कदाचि अविज्जमानाकारेन गय्हन्तीति न इदं विसेसनं अरहन्ति। सक्कायदिट्ठि – सति वा काये दिट्ठि सक्कायदिट्ठि। अत्तना गहीता-कारस्स अविज्जमानताय सयमेव सती, न ताय गहीतो अत्ता अत्तनीयं वा ति अत्थो।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १६१।

चित्त के लक्षणादिचतुष्क—

"विजाननलक्खणं चित्तं पुब्बङ्गमरसं तथा ।
सन्धानपच्चुपट्ठानं　　　　नामरूपपदट्ठानं[1]" ॥

चित्त विजाननलक्षण है। सम्प्रयुक्त चैतसिकों का पूर्वंगामी होना, उसका रस है। पूर्वंगामी भी द्विविध होता है—पुरेचारिकपूर्वंगामी तथा प्रधानपूर्वंगामी[2]। यहाँ सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्मों के द्वारा आलम्बन के ग्रहण में प्रधान होने के कारण चित्त प्रधानपूर्वंगामी है[3]। चित्तसन्तति को विच्छिन्न न होने देने के लिये अर्थात् उसकी निरन्तर प्रवृत्ति के लिये अनन्तर[4], समनन्तर[4]-आदि शक्तियों के द्वारा पश्चिम पश्चिम चित्तों का पूर्व पूर्व चित्तों से सन्धान करनेवाला यह धर्म हैं – ऐसा योगिज्ञान में अवभासित होता है। नाम एवं रूपों के न होने पर चित्तोत्पाद भी नहीं हो सकता, अतः नाम (सम्प्रयुक्त चैतसिक) एवं रूप धर्म चित्तोत्पत्ति के आसन्नकारण हैं।

[अरूपभूमि में रूपधर्मों के न होने से वहाँ चित्तोत्पाद के आसन्नकारण (पदस्थान) केवल नाम (चैतसिक) ही होते हैं, अतः आसन्नकारण में रूप का ग्रहण यद्भूयसिक (प्रायिक) है।]

चेतसिकं—'चेतसि भवं तदायत्तवुत्तिताया ति चेतसिकं[5]' चित्तायत्तवृत्तिता के कारण, अर्थात् चित्त से सम्बद्ध हो कर उत्पन्न होने के कारण, चित्त में होनेवाले धर्मों को 'चैतसिक' कहते हैं। 'चेतसि भवं चेतसिकं'—यह प्रधान विग्रहवाक्य है तथा 'तदायत्तवुत्तिताय'-यह वचन 'चित्त-चैतसिक धर्मों में परस्पर आधार-आधेयभाव है'—इस धारणा को उत्पन्न न होने देने के लिये प्रयुक्त है; क्योंकि 'चेतसि भवं' (चित्त में उत्पन्न होनेवाला धर्म चैतसिक है) मात्र इतना विग्रह करने पर 'चित्त आधार है और चैतसिक उस आधार में होनेवाले आधेय हैं'—ऐसी मिथ्या धारणा की सम्भावना हो सकती है। वस्तुतः उस प्रकार चैतसिक चित्त में आहित नहीं हैं। स्पर्श, वेदना-आदि चैतसिक धर्मों के द्वारा आलम्बन के स्पर्श एवं अनुभवन-आदि कृत्य प्रधान-पूर्वंगामी चित्त के न होने पर सम्पन्न नहीं हो सकते। चित्त से सम्बद्ध होने पर ही वे सम्भव हैं। इसीलिये 'चेतसि भवं चेतसिकं' कहा गया है। ("चेतसि नियुत्तं चेतसिकं[6]" चित्त में सम्प्रयुक्त धर्म चैतसिक है—ऐसा विग्रह भी किया गया है।)

चित्त को स्पार्शिक (फस्सिक) आदि नहीं कहा जा सकता—यदि चित्त से सम्बद्ध होने के कारण स्पर्श, वेदना-आदि धर्मों को चैतसिक कहा जाता है तो प्रश्न यह होता है कि चित्त भी तो अकेले उत्पन्न नहीं होता? वह भी स्पर्श, वेदना-आदि

---

१. व० भा० टी०। तु०–अट्ठ०, पृ० ९२; विसु०, पृ० ३१५।
२. धम्मपद में भी मनस् की पूर्वंगामिता वर्णित है—
"मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।"–खु० नि०, प्र० भा०, धम्म०, पृ० १७।
३. तुलना कीजिये—"चित्तं प्रधानमेतेषां...." अभि० दी०, पृ० ७८।
४. द्र०–प्पट्ठ० परि०, 'पट्ठाननयो'।
५. विभा०, पृ० ५७; प० दी०, पृ० १७। तु०–"तस्य धर्माः सम्प्रयोगिणश्चैतसिका इति।"—अभि० दी०, पृ० ७९।　　६. विभा०, पृ० ५७।

लक्खणं--'सामञ्ञं वा सभावो वा धम्मानं लक्खणं मतं' परमार्थधर्मों के सर्व-साधारण सङ्केत को 'सामान्यलक्षण' तथा केवल अपने से सम्बन्ध रखनेवाले स्वभावसङ्केत को 'स्वभावलक्षण' कहते हैं। जैसे--प्रत्येक पुरुष में सभी लोगों के जानने के लिये श्वैत्य-काष्र्ण्य तथा कार्श्य-स्थौल्य-आदि नाना प्रकार के परिचायक सङ्केत होते हैं, उसी प्रकार परमार्थधर्मों में भी योगियों के ज्ञान के लिये भिन्न भिन्न सङ्केत होते हैं। उन सङ्केतों को 'लक्षण' कहते हैं।

सम्पूर्ण धर्ममात्र से सम्बन्ध रखनेवाला लक्षण 'सामान्यलक्षण' है तथा केवल स्व (अपने) से सम्बन्ध रखनेवाला लक्षण 'स्वभावलक्षण' है। इन दोनों (सामान्य एवं स्वभाव) लक्षणों में से अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता – सभी नाम, रूप एवं संस्कार धर्मो से सम्बद्ध हैं; अतः ये उनके सामान्यलक्षण हैं। 'रुप्पन' (विकार) लक्षण का सभी रूपधर्मों से तथा 'नमन'[1] (प्रवृत्ति या प्रवर्त्तन) लक्षण का सभी नामधर्मों से सम्बन्ध होने के कारण ये 'रुप्पन' एवं 'नमन' लक्षण, रूप एवं नाम धर्मो के 'सामान्य-लक्षण' हैं। इस प्रकार सर्वसाधारण सङ्केत को 'सामान्यलक्षण' कहते हैं। तथा 'आलम्बन-विजानन' लक्षण का केवल चित्त से ही, 'फुसन' (स्पार्शन) लक्षण का केवल स्पर्श से ही तथा 'अनुभवन' लक्षण का केवल वेदना से ही सम्बन्ध होने के कारण ये 'आलम्बन-विजानन'-आदि लक्षण उन उन धर्मो के 'स्वभावलक्षण' होते हैं। इस प्रकार अपने असाधारण स्वभाव या सङ्केत को 'स्वभावलक्षण' कहते हैं।

रसो—'किच्चं वा तस्स सम्पत्ति रसो ति' परमार्थधर्मो के 'कृत्य' एवं 'सम्पत्ति' (कारणसामग्री से उत्पत्ति) को रस कहते हैं। वह रस भी – परमार्थधर्मों के कार्यनामक 'कृत्यरस' एवं कारणसामग्री की सम्पन्नता से उत्पत्तिनामक 'सम्पत्तिरस' – इस प्रकार द्विविध होता है। इनमें भी कुछ धर्मो में कृत्यरस स्पष्ट होता है तथा कुछ धर्मों में सम्पत्तिरस स्पष्ट होता है।

पच्चुपट्ठानं--'फलं वा पच्चुपट्ठानमुपट्ठानाकारोपि वा' फल अथवा योगी के ज्ञान में अवभासित आकार को पच्चुपट्ठान (प्रत्युपस्थान) कहते हैं। पच्चुपट्ठान भी – 'फलपच्चु-पट्ठान' एवं 'उपट्ठानाकारपच्चुपट्ठान' (उपस्थानाकार-प्रत्युपस्थान) – इस प्रकार द्विविध होता है। उनमें से 'फलपच्चुपट्ठान' कृत्यरस के कारण प्राप्त फल है। जैसे – किसी कृत्य को करने पर उसका कोई एक फल प्राप्त होता है। उपट्ठानाकार-पच्चुपट्ठान आवर्जन करते समय योगिज्ञान में अवभासित आकार है। जैसे – किसी व्यक्ति को देखने पर उसके चित्तस्वभाव का अवभास हो जाता है।

पदट्ठानं—'आसन्नकारणं यं तु पदट्ठानं ति तं मतं' आसन्नकारण को 'पदट्ठान' (पदस्थान) कहते हैं। कारण दो प्रकार के होते हैं—आसन्नकारण एवं दूरकारण। इनमें से आसन्नकारण को 'पदट्ठान' कहते हैं।

---

१. "नामकरणट्ठेन च नमनट्ठेन च नामनट्ठेन च नामं। तत्थ चत्तारो ताव खन्धा नामकरणट्ठेन नामं।...'नमनट्ठेना' पि चेत्थ चत्तारो खन्धा नामं। तेहि आरम्मणाभिमुखा नमन्ति। 'नामनट्ठेन' सब्बं पि नामं। चत्तारो खन्धा आरम्मणे अञ्ञमञ्ञं नामेन्ति। निब्बाणं आरम्मणाधिपतिपच्चयताय अत्तनि अनवज्जधम्मे नामेति।" — अट्ठ०, पृ० ३११।

उत्तर—यह प्रश्न हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह मूल से ही गलत है। जिस प्रकार फुसन (स्पार्शन) लक्षण के द्वारा स्पर्श एक ही होता है तथा अनुभवनलक्षण के द्वारा वेदना एक ही होती है; उसी प्रकार आलम्बनविजाननलक्षण के द्वारा चित्त भी एक ही होता है। कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत भेद से चित्त १२१ प्रकार का नहीं होता; अपितु सम्प्रयुक्त चैतसिकों के नानाविध भेद होने के कारण उनसे सम्प्रयुक्त चित्त नानाविध (१२१ प्रकार का) होता है। वस्तुतः चित्त जब अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है तब भी वह विजाननलक्षण है; एवं जब शोभनचैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है तब भी वह विजाननलक्षण ही है। जैसे—अनेक संस्थाओं की अध्यक्षता करनेवाला पुद्गल जब किसी एक संस्था की सभा की अध्यक्षता कर रहा होता है तब वह केवल उसी संस्था का अध्यक्ष होता है, अन्य का नहीं। उस समय दूसरी संस्थाओं में केवल सदस्यमात्र अवशिष्ट रहते हैं, अध्यक्ष नहीं। भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न सभाओं का अध्यक्ष रहने पर भी जैसे पुद्गल एक ही रहता है; उसी तरह चित्त जब श्रद्धा-आदि शोभनचैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है उस समय मोह-आदि अन्य अकुशल चैतसिक चित्त के बिना ही अवशिष्ट रहते हैं, उनमें चित्त नहीं रहता। उपर्युक्त—'जिस प्रकार कुछ चैतसिकों के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार कुछ चित्तों के न होने पर भी तो आलम्बन का ग्रहण हो सकता है?'—यह प्रश्न चित्त नामक परमार्थधर्म के एकत्वस्वभाव (चित्त एक ही है) के न जानने के कारण ही उत्पन्न होता है। अतएव कहा गया है कि यह प्रश्न मूल से गलत है।

रूपं—"सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि रुप्पतीति रूपं[1]" शीत, उष्ण-आदि विरोधी प्रत्ययों से जो विकार को प्राप्त हो जाते हैं उन्हें 'रूप' कहते हैं। अर्थात् शीत, उष्ण-आदि विरोधी कारणों के समागम से विकार को प्राप्त हो जानेवाले धर्म 'रूप' हैं। 'सीतुण्हादि' में 'आदि' शब्द के द्वारा जिघत्सा (बुभुक्षा), पिपासा, दंश, मशक, वातातप, सरीसृप-आदि अन्तरायों का ग्रहण होता है।

"रुप्पतीति खो भिक्खवे, तस्मा रूपं ति वुच्चति। केन रुप्पति? सीतेनापि रुप्पति, उण्हेनापि रुप्पति, जिघच्छायापि रुप्पति, पिपासायापि रुप्पति, डंसमकसवातातप-सरीसपसम्फस्सेनापि रुप्पति[2]"।

---

१. "रुप्पतीति रूपं, सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि विकारमापज्जति आपादीयतीति वा अत्थो।"—विभा०, पृ० ५७।
"रुप्पतीति रूपं, सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि विसमपवत्तीति वसेन विकारं आपज्जति, तेहि वा विकारं आपादीयतीति अत्थो।"—प० दी०, पृ० १८।
"रूपणलक्षणं रूपं"—अभि० समु०, पृ० २।
"'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है... किन्तु रूप कैसे बाधित होता है? विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से"—आ० न० दे०, अभि० को० १ : १३, पृ० २२।
"पाण्यादिसंस्पर्शैर्बाधनालक्षणाद् रूपणात्। इदमिहामुत्रेति देशनिदर्शनरूपणाच्च" अभि० को० १:२४ पर स्फु०, पृ० ५१।
२. सं० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३१२।

सर्वचित्तसाधारण चैतसिक धर्मों से सम्बद्ध हो कर ही उत्पन्न होता है; ऐसी स्थिति में चित्त को भी 'फस्से भवं फस्सिकं', 'वेदनायं भवं वेदनिकं' - आदि विग्रह कर के फस्सिक (स्पार्शिक), वेदनिक-(वैदनिक) आदि कहना चाहिये ?

समाधान – यद्यपि चित्त स्पर्श, वेदना-आदि चैतसिक धर्मों से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होता है, तथापि उनमें चित्त के ही प्रधान होने के कारण उसे 'फस्सिक', 'वेदनिक'-आदि नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त समाधान के अनुसार निष्कर्ष यह हुआ कि चित्त एवं चैतसिकों में चित्त प्रधान एवं चैतसिक अप्रधान होते हैं; क्योंकि कुछ चैतसिकों के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, किन्तु चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण कथमपि नहीं हो सकता। यही चित्त की प्रधानता है[1]।

और एक प्रश्न—'चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण नहीं होता, इसलिये चित्त प्रधान है' – यदि ऐसा कहा जाता है तो स्पर्श, वेदना-आदि सर्वचित्तसाधारण चैतसिकों के भी सभी चित्तों से सर्वदा सम्प्रयुक्त रहने के कारण इनके न होने पर भी तो आलम्बन का ग्रहण नहीं हो सकता – ऐसी स्थिति में इन्हें ही क्यों नहीं प्रधान कहा जाता है ?

उत्तर—यह सत्य है। यद्यपि स्पर्श, वेदना-आदि सर्वचित्तसाधारण चैतसिकों के न होने पर आलम्बन का ग्रहण नहीं हो सकता, तथापि इन्हें प्रधान नहीं कहा जा सकता। जैसे – किसी राजा का आगमन उसके संरक्षक-आदि के विना नहीं होता तो भी वे संरक्षक-आदि प्रधान नहीं होते। इसीलिये 'राजा आगतो'[2] – इसके द्वारा राजा के आगमन का ही प्रधानतया उल्लेख होता है। उसी प्रकार प्रधान चित्त से सम्बद्ध होने के कारण स्पर्श, वेदना-आदि को ही चैतसिक कहा जा सकता है; अप्रधान स्पर्श, वेदना-आदि से सम्बद्ध होने के कारण चित्त को 'फस्सिक', 'वेदनिक'-आदि नहीं कहा जा सकता।

और एक प्रश्न—ऊपर कहा गया है कि 'कुछ चैतसिकों के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, किन्तु चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण कथमपि नहीं हो सकता'; किन्तु चित्त के द्वारा आलम्बन के ग्रहण करने में भी सभी चित्त तो उस (आलम्बन) का एक साथ ग्रहण नहीं करते; जैसे—कुशल चित्तों के द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय वहाँ अकुशल एवं अव्याकृत चित्त नहीं होते, कुशलचित्तों में भी महाकुशल प्रथम चित्त के द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय अन्य कुशलचित्त नहीं होते; अतः आलम्बन के ग्रहण करने में जिस प्रकार कुछ चैतसिकों के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार कुछ चित्तों के न होने पर भी तो आलम्बन का ग्रहण हो ही सकता है ?

---

१. "एवं च सति चित्तं पि तेहि फस्सादीहि सह तथेव आयत्तं पवत्ततीति तं पि फस्सिकं वेदनिकं ति आदिना वत्तब्बं ति चे, न; चित्तस्सेव जेट्ठकत्ता, 'मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया' ति हि वुत्तं।"—प० दी०, पृ० १७।

२. उपमा के लिये तु०—अट्ठ०, पृ० ५६।

आदि में शीत, उष्ण-आदि के समागम से होनेवाले विभूततर विकार को लक्ष्य करके ही 'रूप' कहा गया है[1]।

अविपरीत एवं रुप्पन – परमार्थधर्म की व्याख्या के प्रसङ्ग में कहा गया है कि परमार्थधर्म अविपरीतस्वभाव (अविकारशील) होते हैं[2], फिर यहाँ रूप (परमार्थधर्म) को रुप्पनस्वभाव (विकारशील) कहा गया है; अतः आपके व्याख्यान में पूर्वापरविरोध होता है ?

उत्तर – अपने स्वभाव की अविकृति 'अविपरीतता' है तथा सन्ततिप्रज्ञप्ति का विकार 'रुप्पन' है, अतः पूर्वापरविरोध नहीं होता।

रूपकलापों के निरन्तर उत्पाद को सन्तति कहते हैं। शीतलरूपकलापों के निरन्तर उत्पाद के समय जब तक उनका उष्णरूपसन्तति के रूप में विकार नहीं होता तब तक उनको एक 'शीतलरूपसन्तति' कहते हैं। उष्णरूपकलापों के निरन्तर उत्पाद के समय जब तक उनका शीतलरूपसन्तति के रूप में विकार नहीं होता तब तक उनको एक 'उष्णरूपसन्तति' कहते हैं। इस प्रकार की सन्तति को एक 'सन्ततिप्रज्ञप्ति' कहा जाता है। उस एक सन्ततिप्रज्ञप्ति के अन्य सन्ततिप्रज्ञप्ति के रूप में परिवर्तन को रुप्पन (विकार) कहते हैं। इस प्रकार से सन्ततिप्रज्ञप्ति के परिवर्तित होने पर भी 'रूपधर्म' अपने स्वभाव से कभी विपरीत नहीं होते। पृथ्वीधातु कक्खळस्वभाव (खर-स्वभाव) है। उसका यह अपना कक्खळस्वभाव कभी भी विकृत नहीं होता। शीतल-रूपसन्तति में होनेवाली पृथ्वीधातु भी कक्खळस्वभाव है तथा उष्णरूपसन्तति में होनेवाली पृथ्वीधातु भी कक्खळस्वभाव ही है। जैसे निम्बवृक्ष का, अपनी अङ्कुरसन्तति से लेकर जीर्णसन्ततिपर्यन्त, नाना अवस्थाओं में नानाविधसन्तति के रूप में परिवर्तन होने पर भी उसके मूलस्वभाव (तिक्तरस) में कभी भी परिवर्तन नहीं होता। रूप की यही अविपरीतता है, अतः यह परमार्थ है।

वादान्तर – कुछ लोग कहते हैं कि पूर्वोत्पन्न रूपसन्तति से उपबृंहित (उपचित) होकर उत्पन्न पश्चिम रूपसन्तति में होनेवाले एक प्रकार के उपबृंहण (पुष्टि) को 'रुप्पन' कहते हैं। जैसे–रुग्णताजन्य क्षीणरूपसन्तति से, स्वस्थ होने से उपबृंहित रूपसन्तति का उत्पन्न होना, रुप्पन (विकार) है। दूसरे लोग कहते हैं कि आकुञ्चित रूपसन्तति से प्रसारित रूपसन्तति का उत्पन्न होना; जैसे – उपविष्ट (बैठी हुई) रूपसन्तति से उत्थित (खड़ी हुई) रूपसन्तति का उत्पन्न होना आदि 'रुप्पन' है। उपर्युक्त कथनों के अनित्यतालक्षण के पोषक (परिचायक) होने से ये (कथन) समीचीन नहीं हैं।

'खन्धविभङ्ग-अट्ठकथा' में 'रुप्पन' शब्द का अर्थ "रुप्पतीति कुप्पति, घट्टीयति, पीळियति, भिज्जति[3]" किया गया है। अर्थात् नष्ट होना, घट्टित होना, पीड़ित होना,

---

१. "सीतादिग्गहणसामत्थियतो विभूततरस्सेव रुप्पनस्साधिप्पेतत्ता"...विभा०, प० ५८; तु० – प० दी०, पृ० १९।

२. पीछे, पृ० ८ देखें।

३. विभ० अ०, पृ० ४।

विकार – पूर्व रूपसन्तति से भिन्न हो कर पश्चिम रूपसन्तति के उत्पाद को ही विकार (रुप्पति) कहते हैं[1]। रूप का स्थितिक्षण नाम के स्थितिक्षण से दीर्घ होता है, इसीलिये स्थितिक्षण में रूप का विरोधी प्रत्ययों से समागम हो जाता है। जैसे – उष्ण ऋतु के आधिपत्य-काल में जब उष्णरूपसन्तति प्रवर्तमान होती है, उस समय शीत ऋतु के उत्पन्न हो जाने पर उस शीत ऋतु का उष्णरूपसन्तति के साथ स्थितिक्षण में सर्वप्रथम सन्निपात होता है; किन्तु वह सन्निपात विभत (स्पष्ट) नहीं होता। द्वितीय वार, तृतीय वार भी सन्निपात होता है। इस तरह स्थितिक्षण में जब पुनः पुनः शीत ऋतु से सन्निपात होता है, तब उष्णरूपसन्तति विनष्ट होकर शीतलरूपसन्तति के रूप में विकार को प्राप्त होती है। इसी तरह शीतलरूपसन्तति के विनष्ट होने पर उसके उष्णरूपसन्तति के रूप में होनेवाले विकार को भी जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्व पूर्व रूपसन्तति से विसदृश पश्चिम पश्चिम रूपसन्तति की उत्पत्ति को ही विकार (रुप्पति) कहा गया है; यथा –

"विकारापत्ति च सीतादिसन्निपाते विसदिसुप्पत्ति येव[2]।"

सर्दी (जुकाम), शीत ऋतु में त्वचा का फटना-आदि शीत से होनेवाले रूप के विकार हैं। शरीर का रक्तवर्ण हो जाना आदि उष्ण से होनेवाले रूप के विकार हैं। इसी प्रकार बुभुक्षा एवं पिपासा से भी रूपों के विकार को समझना चाहिये। अकुशल-कर्मों से कुष्ठ-आदि का होना, चित्त से चित्तज रोगों का होना एवं प्रतिकूल आहार से स्तम्भ-(गठिया) आदि रोगों का होना – कर्म, चित्त एवं आहार से होनेवाले रूपों के विकार के निदर्शन हैं।

प्रश्न – यदि पूर्व रूपसन्तति से भिन्न हो कर पश्चिम रूपसन्तति के स्वरूप में उत्पाद (रुप्पन) को 'रूप' कहा जाता है तो नामधर्मों के कुशलसन्तति से भिन्न होकर अकुशलसन्तति के स्वरूप में उत्पाद को 'रूप' क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर – 'रुप्पतीति रूपं' में विभूततर (स्पष्टतर) रुप्पन (विकार) ही अभीष्ट है। अतः नामधर्मों के अविभूत (अस्पष्ट या सूक्ष्म) विकार को रूप नहीं कहा जा सकता। विकार द्विविध होता है – विभूत एवं अविभूत। नामधर्मों का विकार अविभूत होता है। परचित्त-विजानन-कुशल पुद्गल ही उसको जान सकते हैं। रूपधर्मों का विकार इतना स्पष्ट है कि उसे साधारण बालक भी सहज ही जान सकते हैं[3]। पदार्थों का नामकरण भी इस प्रकार किया जाना चाहिये कि जिससे व्यवहार में उनका ज्ञान, साधारण लोगों को भी उन पदार्थों के नाम से ही आसानी से हो जाय। नामधर्मों को यदि रूप कहा जायेगा तो उनके विकार के अत्यन्त अविभूत होने से 'रूप' इस नाम (शब्द) के द्वारा व्यवहार में उनका ज्ञान सर्वसाधारण को आसानी से नहीं हो सकता। पृथ्वी, अप्-आदि के विकारों के अतिविभूत होने से उनका 'रूप' यह नाम व्यवहार में भी अपने नाम के अनुकूल ही होता है। इसलिये 'सीतेनापि रुप्पति', 'उण्हेनापि रुप्पति'–

---

१. द्र० – प० दी०, पृ० १८। २. विभ० मू० टी०, पृ० ५।
३. प० दी०, पृ० १९।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि तृष्णा, लोकोत्तर चित्त एवं चैतसिकों को भी तो आलम्बन नहीं बना सकती, तब फिर लोकोत्तर चित एवं चैतसिकों को निर्वाण क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर – यद्यपि तृष्णा लोकोत्तर चित्त एवं चैतसिकों को आलम्बन नहीं बना सकती, तथापि वह उन (लोकोत्तर चित्त एवं चैतसिकों) के आधारभूत मार्गस्थ एवं फलस्थ आर्यपुद्गल (साधक) को आलम्बन बना सकती है; अतः लोकोत्तर चित्त एवं चैतसिकों को निर्वाण नहीं कहा जा सकता। यद्यपि मार्गस्थ अथवा फलस्थ आर्य-पुद्गलों के चित्त में तृष्णा नहीं होती, तो भी वे (आर्यपुद्गल) किसी कामिनी या कामुक की तृष्णा के आलम्बन हो सकते हैं। अतः 'निर्वाण' शब्द तृष्णा से सदा एवं सर्वथा निर्गत असंस्कृत[1] धातु में रूढ़ होने के कारण, लोकोत्तर चित्त एवं चैतसिक 'निर्वाण' नहीं हो सकते।

निर्वाण के लक्षणादिचतुष्क –

"सन्तिलक्खणमच्चुतरसं निब्बानअमतं।
अनिमित्तउपट्ठानं पदट्ठानं न लब्भति[2]॥"

"नित्यत्वात्कुशलत्वाच्च, निर्वाणं द्रव्यमञ्जसा।
सारद्रव्येन तेनैको, धर्माख्यो द्रव्यवान्मतः॥"
– अभि० दी०, पृ० ३९।

तु०—"स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ, धर्माख्योऽयं महामुनेः॥
– त्रिं० ३० का०।

"किमुपादाय स निरोधः पुनरमृतमित्युच्यते तृष्णात्रयविरहितामुपादाय॥"
– अभि० समु०, पृ० ६४।

"प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ, विभुत्वं लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं, बुद्धानामचले पदे॥"
– महा० सू० ९ : ४५।

"विचारिते विचार्ये तु, विचारस्यास्ति नाश्रयः।
निराश्रितत्वान्नोदेति, तच्च निर्वाणमुच्यते॥"
– बोधि० ९ : १११, पृ० २४९।

१. कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार – इन हेतुप्रत्ययों से उत्पन्न धर्मों को संस्कृत कहते हैं, निर्वाण असंस्कृत धर्म है।
"सङ्खता वा असङ्खता वा ति सङ्गम्म समागम्म पच्चयेहि कता वा अकता वा" – विसु०, पृ० १९८; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २१०।

२. ब० भा० टी०। तु० – "तयिदं सन्तिलक्खणं, अच्चुतिरसं, अस्सासकरणरसं वा, अनिमित्तपच्चुपट्ठानं निप्पपञ्चपच्चुपट्ठानं वा।" – विसु०, पृ० ३५५; "निब्बानं परमं सुखं' – धम्म०, पृ० ३६।

भिन्न होना 'रुप्पन' शब्द के अर्थ हैं; एक रूप से दूसरे रूप में उपबृंहित (पुष्ट) होना नहीं है। 'सीतेनापि रुप्पति, उण्हेनापि रुप्पति' आदि पालि के द्वारा नष्ट करनेवाले विरोधी प्रत्ययों को ही दिखलाया गया है; पुष्ट करनेवाले कारणों को नहीं। अतः उपर्युक्त वाद अमान्य है।

रूपभूमि का रूप – कुछ लोग विचित्रतापूर्वक यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि रूपभूमि में शीत, उष्ण-आदि विरोधी प्रत्यय नहीं होते, ऋतु भी सब अनुकूल ही होती हैं; अतः रूपभूमि में पृथ्वी, अप्-आदि रूपकलापों में विकार के न होने से रूप को 'रुप्पन-लक्षण' नहीं कहा जा सकता?

निराकरण – 'रुप्पन' का अभिप्राय स्वभाव से होनेवाले विकार से नहीं, अपितु विरोधी प्रत्ययों के समागम से होनेवाले विकार से है। रूपभूमि में होनेवाले रूपों का यदि विरोधी प्रत्ययों से समागम होता है तो मुख्य रूप से विकार होगा। वह (रूप) विकारस्वभाव का अतिक्रम नहीं कर सकता; अतः 'रुप्पतीति रूपं' – इस वचनार्थ के अनुसार रूपभूमि के रूप को भी 'रूप' कहा जाता है[1]।

निब्बानं – 'वानतो निक्खन्तं ति निब्बानं' 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत होने के कारण 'निर्वाण' कहा जाता है। लौकिक चित्त, चैतसिकों की तरह जो तृष्णा का आलम्बन नहीं होता, वह निर्वाण है[2]।

---

१. प० दी०, पृ० १९; तु०–विभा०, पृ० ५८।

२. विस्तार के लिये द्र० – अभि० स०, 'निब्बानं' ६:६५।

तु०—"नत्थि एत्थ तण्हासङ्खातं वानं, निग्गतं वा तस्मा वाना ति निब्बानं।" – अट्ठ०, पृ० ३२२।

"भवाभवं विननतो संसिब्बनतो वानसङ्खाताय तण्हाय निक्खन्तं, निब्बाति वा एतेन रागग्गिआदिको ति निब्बानं।"–विभा०, पृ० ५८।

"वानं वुच्चति तण्हा, भवसंसिब्बनतो वानतो निक्खन्तत्ता निब्बानं, भव-निस्सरणं अमतं असङ्खतधातु।" – अभि० स० टी०, पृ० २८७।

"निब्बानं ति एत्थ निब्बायन्ति सब्बे वट्टदुक्खसन्तापा एतस्मिं ति निब्बानं। निब्बायन्तीति ये किलेसा वा खन्धा वा अभावितमग्गस्स आयतिं उप्पज्ज-नारहपक्खे ठिता होन्ति ते येव भावितमग्गस्स अनुप्पज्जनारहपक्खं पापुणन्ती-ति अत्थो। नहि खन्धत्तयं पत्वा निरुद्धा अतीता धम्मा निब्बायन्ति नाम। पच्चुप्पन्नेसु आयतिं अवस्सं उप्पज्जमानेसु च धम्मेसु वत्तब्बमेव नत्थीति।...निब्बायन्ति वा अरियजना एतस्मिं ति निब्बानं।.... निब्बायन्ती ति तं तं किलेसानं वा खन्धानं पुन अप्पटिसन्धिकभावं पापुणन्ती ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २०।

"प्रतिसंख्यानिरोधो यो, विसंयोगः पृथक् पृथक्।
उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो, निरोधोऽप्रतिसंख्यया ॥"

–अभि० को० १ : ६, पृ० १०।

चित्तसङ्गहविभागो

३. तत्थ चित्तं ताव चतुब्बिधं होति—कामावचरं, रूपावचरं, अरूपावचरं, लोकुत्तरञ्चेति ।

उन चतुर्विध अभिधर्मार्थों में सर्वप्रथम निर्दिष्ट चित्त चतुर्विध होता है। यथा—कामावचर चित्त, रूपावचर चित्त, अरूपावचर चित्त एवं लोकोत्तर चित्त ।

चित्तसङ्ग्रहविभाग

३. 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा'—इस उद्देश में कथित चित्तनामक उद्देश के निर्देश को दिखलाने के लिये 'तत्थ चित्तं ताव...' आदि कहा गया है[1]। 'तत्थ चित्तं ताव...' से लेकर चित्तपरिच्छेद के अन्त तक चित्त का निर्देश है ।

कामावचरं—'कामे अवचरतीति कामावचरं[2]' प्रायः कामभूमि में होनेवाले चित्तों को 'कामावचर चित्त' कहते हैं । ये कामावचर चित्त लोभमूल प्रथम-असंस्कारिक, चक्षुर्विज्ञान-आदि नानाविध नामों से कामभूमि में बहुलतया होते हैं । रूपभूमि में घ्राणविज्ञान-आदि नामों से कुछ चित्त नहीं होते । अरूपभूमि में चक्षुर्विज्ञान-आदि नामों से भी नहीं होते—इस प्रकार इन चित्तों के प्रायः कामभूमि में ही होने के कारण इन्हें 'कामावचर चित्त' कहते हैं[3] ।

रूपावचरं—'रूपस्स भवो रूपं, रूपे अवचरतीति रूपावचरं[4]' रूपधर्मों के प्रभवस्थान को 'रूप' कहते हैं । प्रायः रूपावचर भूमि में होनेवाले चित्तों को 'रूपावचर चित्त' कहते हैं । रूपावचरकुशल एवं क्रियाचित्त रूपभूमि के अतिरिक्त कामभूमि में भी होते ह; किन्तु रूपविपाक केवल रूपभूमि में ही होते हैं ।

अरूपावचरं—'अरूपे अवचरतीति अरूपावचरं[5]' प्रायः आरूप्य भूमि में होनेवाले चित्तों को 'अरूपावचर चित्त' कहते हैं ।

लोकुत्तरं—'लुज्जति पलुज्जतीति लोको, उत्तरतीति उत्तरं, अथवा—'उत्तिण्णं ति उत्तरं, लोकतो उत्तरं लोकुत्तरं[6]' जो नष्ट होता है उसे 'लोक' कहते हैं । वह लोक भी तीन प्रकार का होता है; यथा—सत्तलोक (सत्वलोक), सङ्खारलोक (संस्कारलोक) एवं ओकासलोक[7] (अवकाशलोक) । इन तीनों में से यहाँ संस्कारलोक को ही

---

१. विभा०, पृ० ५८ ।
२. अट्ठ०, पृ० ४२, ५२ ।
३. "कामोवचरतीत्येत्थ, कामेवचरतीति वा ।
ठानपचारतो वापि, तं कामावचरं भवे ति" ॥—विभा०, पृ० ५८; तु०—प० दी०, पृ० २० ।
४. अट्ठ०, पृ० ४२; प० दी०, पृ० २१ ।
५. अट्ठ०, पृ० ४२ ।
६. तु०—प० दी०, पृ० २३ ।
७. विसु०, पृ० १२८ ।

जो अमृत निर्वाण है, उसका लक्षण 'शान्ति', एवं रस 'अच्युत' है। उपट्ठान (पच्चुपट्ठान=प्रत्युपस्थान) अनिमित्त (संस्थानरहित) तथा पदट्ठान (पदस्थान) कुछ नहीं है।

निर्वाण नामक अमृतधर्म शान्तिसुखलक्षण है। अपने इस स्वभाव से कभी च्युत न होना, उसका सम्पत्तिरस है। योगियों के ज्ञान में उस के कोई निमित्त-(संस्थान) आदि प्रतिभासित नहीं होते; अतः अनिमित्त उसका पच्चुपट्ठान है। उसका पदट्ठान (आसन्नकारण) उपलब्ध नहीं होता, अर्थात् पदट्ठान नहीं है।

शान्तिलक्षण -- सुख दो प्रकार का होता है; यथा – शान्तिसुख एवं वेदयितसुख। शान्तिसुख वेदयितसुख की तरह अनुभूतियोग्य सुख नहीं है। किसी एक विशेष वस्तु का अनुभव न हो कर वह उपशमसुखमात्र है[१]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – जब चित्त, चैतसिक धर्मों के निमित्त-(संस्थान) आदि भी अविभूत होते हैं तब उनसे भी सूक्ष्म निर्वाणधातु के निमित्त-आदि कैसे होंगे! अतः योगी के ज्ञान में 'यह (निर्वाण) अनिमित्त है' – ऐसा अवभास होता है। निर्वाण के आसन्नकारण नहीं होते। नाम एवं रूप धर्मों के निरोध को ही निर्वाण कहते हैं। निर्वाण की प्राप्ति के दूरकारण तो होते हैं; जैसे – पारमिताकुशल[२], विपश्यनाकुशल[३] तथा मार्ग एवं फल-आदि।

'तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था...' आदि गाथा द्वारा परमार्थधर्मों को सङ्क्षेप से अर्थात् नामसङ्कीर्तनमात्र से कहा गया है; अतः यह उद्देशगाथा है। इस गाथा के द्वारा उद्दिष्ट चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण नामक परमार्थधर्मों का सम्यक् निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में किया जायेगा[४]।

---

१. 'निर्वाण' के उपशमलक्षण-आदि के विशिष्ट ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स० ९:८ 'उपसमानुस्सति' की व्याख्या।

२. दस पारमिताओं को पूर्ण करना 'पारमिताकुशल' है।

३. द्र० – अभि० स० ९ : ४५।
"अनिच्चादिवसेन विविधेन आकारेन पस्सतीति विपस्सना' – अट्ठ०, पृ० ४५।

४. सर्वास्तिवाद एवं सौत्रान्तिकवाद-आदि में परमार्थधर्मों का विभाजन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

"सास्रवा नास्रवा धर्माः, संस्कृता मार्गवर्जिताः।
सास्रवा..... ॥
अनास्रवा मार्गसत्यं, त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम् ॥" – अभि० को० १ : ४-५, पृ० ८,९;
"संस्कृताः पञ्च, त्रयश्चासंस्कृताः। एतावच्चैतत् सर्वं यदुत संस्कृतं चासंस्कृतं चेति।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ४।
तथा स्कन्ध, आयतन, धातु में भी इनका विभाग किया गया है।

अकुसलचित्तानि (१२)

लोभमूलचित्तानि

४. तत्थ कतमं कामावचरं ? सोमनस्ससहगतं दिट्ठिगतसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं दिट्ठिगतसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि लोभसहगतचित्तानि नाम ।

उपर्युक्त चार प्रकार के चित्तों में कामावचर चित्त कौन है ?

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं मिथ्यादृष्टि से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं मिथ्यादृष्टि से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एवं मिथ्यादृष्टि से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एवं मिथ्यादृष्टि से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक —

इस प्रकार ये आठों लोभसहगत चित्त हैं ।

अकुशलचित्त

४. चित्तों का जो सर्वप्रथम चतुर्विध विभाग किया गया है, वह उद्देश है । अब उस उद्देश के अनुसार निर्देश प्रारम्भ किया जाता है ।

अभिधर्मपिटक के 'धम्मसङ्गणि' नामक ग्रन्थ में सबसे पहले कुशलधर्मों का, तदनन्तर अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का निरूपण किया गया है[1]; किन्तु यहाँ (प्रस्तुत ग्रन्थ में) सर्वप्रथम अकुशलधर्मों का निरूपण किया गया है, ऐसा क्यों ?

श्री अनुरुद्धाचार्य ने सम्पूर्ण चित्तों का द्विधा विभाग किया है – शोभनचित्त एवं अशोभनचित्त । उनमें अशोभनचित्त कम हैं; अतः सरलता के लिये पहले अशोभनचित्तों का वर्णन किया गया है । अशोभनचित्त अर्थात् अकुशल एवं अहेतुक चित्तों में पहले अकुशलचित्तों का ग्रहण किया गया है; क्योंकि अहेतुकचित्तों के अव्याकृत होने से वे कुशल एवं अकुशल चित्तों के अनुगामी होते हैं । अकुशलचित्तों में भी लोभसहगतचित्तों का वर्णन पहले किया गया है; क्योंकि प्रतिसन्धिकाल[2] में पुद्गल अपनी भवतृष्णा[3]

---

१. ध० स०, पृ० ३ ।

२. वर्तमान भव का प्रथम क्षण ।

३. तृष्णाएँ तीन होती हैं – कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा; उनमें भव के प्रति आसक्ति 'भवतृष्णा' है ।

'लोक' कहा गया है । यह संस्कारलोक भी 'उपादानस्कन्ध[1]' नामक लौकिक नाम[2] एवं रूप धर्म हैं । इस लोक को जो पार करता है, अथवा पार कर चुका है, वह 'लोकोत्तर' है । 'उत्तरतीति उत्तरं' – इस वर्तमानकालिक विग्रह के द्वारा वर्तमान काल में पार कर रहे मार्गचित्तों का ग्रहण होता है तथा 'उत्तिण्णं ति उत्तरं' – इस अतीतकालिक विग्रह के द्वारा पार कर चुके फलचित्तों का ग्रहण होता है ।

'लुज्जति – पलुज्जति' इस विग्रह में 'लुज्जति' का अर्थ 'उप्पज्जति' अर्थात् उत्पाद तथा 'पलुज्जति' का अर्थ 'विनस्सति' अर्थात् विनाश किया गया है । अथवा 'लुज्जति' का अर्थ क्षणभङ्ग के रूप में नाश, तथा 'पलुज्जति' का अर्थ च्युतिभङ्ग के रूप में नाश किया गया है । इस प्रकार इन शब्दों के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं । इन शब्दों के ये अर्थ 'विसुद्धिमग्गमहाटीका' की "पलुज्जनताया ति व्याधिआदीहि पकारेहि छिज्जनतो विनस्सनतो[3]" – आदि, इस व्याख्या से विरुद्ध होने के कारण चिन्तनीय हैं[4] ।

अथवा – 'लोक' शब्द के द्वारा सत्त्वसमूह नामक सत्त्वलोक, सत्त्वों के आवासस्थान नामक अवकाशलोक एवं नाम-रूपसंस्कार नामक संस्कारलोक – इन तीनों का ग्रहण करना चाहिये । स्रोतापत्तिमार्ग, 'पृथग्जनसमूह' नामक सत्त्वलोक एवं चार अपायभूमि नामक अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । सकृदागामीमार्ग, 'स्रोतापन्नपुद्गलसमूह' नामक सत्त्वलोक एवं कामभूमि के एकदेश नामक अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । (वह कामसुगतिभूमि में पुनः पुनः उत्पन्न न होकर केवल एक बार ही होता है, अतः कामभूमि के एकदेश से उत्तीर्ण कहा जाता है ।) अनागामी मार्ग, 'सकृदागामीपुद्गलसमूह' नामक सत्त्वलोक एवं 'कामधातु' नामक अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । अर्हत्मार्ग, 'अनागामीपुद्गलसमूह' नामक सत्वलोक एवं रूप-अरूपभूमिगत अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । इस तरह सत्त्वलोक एवं अवकाशलोक से उत्तीर्ण होने पर, मार्गधर्म इन लोकों में होनेवाले नामरूपात्मक संस्कारलोक से भी उत्तीर्ण हो जाता है । यदि मार्गधर्म उत्तीर्ण होते हैं तो फलधर्म भी उत्तीर्ण ही होते हैं ।

'तत्थ चित्तं ताव चतुब्बिधं होति' – आदि के द्वारा चार भूमियों में चित्त को सङ्क्षेप से विभक्त करके दिखलाया गया है । इसलिये कामचित्त ५४, रूपचित्त १५ आदि को आगे विस्तारपूर्वक कहा जायेगा ।

---

१. उपादान-धर्मों के आलम्बनभत पञ्चस्कन्ध को उपादान-स्कन्ध कहते हैं । द्र० – अभि० स० ७ : ४०; विशेप ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३३३ ।

२. वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान स्कन्ध नाम-धर्म हैं ।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३९५ ।

४. व० भा० टी० ।

दिट्ठिगतसम्पयुत्तं – दृष्टि का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। 'गत' का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं है। स्वार्थ में ही यहाँ उसका प्रयोग हुआ है। दृष्टि ही दृष्टिगत है। दृष्टि से सम्प्रयुक्त चित्त को 'दृष्टिगतसम्प्रयुक्त' समझना चाहिये[1]।

दिट्ठिगतविप्पयुत्तं – दृष्टि का अर्थ पहले कहा जा चुका है। 'विप्पयुत्त' में 'वि' शब्द प्रतिषेधार्थक है। 'दिट्ठिगतेन विप्पयुत्तं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं' अर्थात् दृष्टि से सम्प्रयुक्त न होनेवाला चित्त 'दृष्टिगतविप्रयुक्त' है[2]।

सङ्खार – 'असङ्खारिकं' एवं 'ससङ्खारिकं' शब्दों में आनेवाले 'सङ्खार' शब्द के अर्थ को पहले समझ लेना चाहिये। 'सङ्खार' शब्द अभिसंस्कृत करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'सङ्खरोतीति सङ्खारो' अभिसंस्कृत करनेवाले धर्म को संस्कार कहते हैं। अट्ठकथाओं में 'संस्कार' शब्द प्रयोग एवं उपाय के अर्थ में व्यवहृत हुआ है[3]। प्रयोग का अर्थ प्रेरणा है। यह चित्तों को प्रेरित करता है। उपाय का अर्थ उन उन चित्तों की उत्पत्ति का कारण है। यहाँ पर काय-प्रयोग, वाक्-प्रयोग (वचीपयोग) एवं मनः-प्रयोग को संस्कार कहा गया है[4]। जैसे – कोई बालक उपोसथ (व्रत) के दिन उपोसथ का ग्रहण नहीं करना चाहता। उस समय उसके आचार्य या माता-पिता-आदि उसे उपोसथग्रहण करने के लिये डाँटते हैं तथा ग्रहण न करने पर आपत्ति (दोष) और ग्रहण करने के फल का निर्देश करके उसे प्रेरित करते हैं। इस प्रकार से प्रेरित करने में काय-प्रयोग एवं वाक्-प्रयोग होते हैं। दूसरों के वे काय-प्रयोग एवं वाक्-प्रयोग उपोसथ-ग्रहण-कृत्य का अभिसंस्कार करते हैं, अतः वे संस्कार कहे जाते हैं। जो बालक अन्य समय में अपने आप यह सोचता है कि यदि मैं उपोसथ-ग्रहण करने नहीं जाऊंगा तो डाँटा जाऊंगा, अथवा मुझे आपत्ति होगी और इस प्रकार सोचकर वह जाता है, तो उसका यह सोचना मनःप्रयोग संस्कार है।

असङ्खारिकं – 'नत्थि सङ्खारो यस्सा ति असङ्खारो', असङ्खारेन उप्पन्नं असङ्खारिकं' जिस आलम्बन-आदि कारणसमूह का संस्कार नहीं होता, वह असंस्कार है। इस असंस्कार से उत्पन्न चित्त असंस्कारिक है।

किसी एक चित्त के उत्पाद में आलम्बन मुख्य कारण होता है। यदि आलम्बन न होगा तो किसी भी चित्त का उत्पाद असम्भव है। आलोक एवं मनसिकार-आदि (कुछ चित्तों से सम्बद्ध) कारण भी होते हैं। उपर्युक्त संस्कार की सहायता के विना आलम्बन, आलोक-आदि सामान्य कारणों से उत्पन्न चित्त असंस्कारिक चित्त है। जैसे – यदि बालक उपोसथ के दिन विना किसी प्रकार की प्रेरणा के अपने आप

---

१. "दिट्ठि येव दिट्ठिगतं, सङ्खारगतं थामगतन्त्यादीसु विय गतसद्दस्स तब्भाववुत्तिता।" – विभा०, पृ० ५६।

२. विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० २७।

३. तु० – अ०. पृ० १२७, २०६; तु० – प० दी०, पृ० २५; विभा०, पृ० ५६।

४. तु० – विभा०, पृ० १७३; विसु०, पृ० ३६६।

५. प० दी०, पृ० २६।

के कारण अभिनन्दित होता है। इस अभिनन्दन-क्रिया में लोभजवन[1] सर्व-प्रधान होता है तथा 'अविद्या' एवं 'तृष्णा' नामक मोह एवं लोभ से सम्प्रयुक्त होने के कारण यह (लोभ) भव का मूल होता है। अतः लोभचित्तों का वर्णन सर्वप्रथम किया गया है। इसके बाद द्वेषमूलचित्तों का वर्णन है; क्योंकि लोभ एवं द्वेष चित्त द्विहेतुक होते हैं। इन (लोभ एवं द्वेष) चित्तों का वर्णन करने के अनन्तर अन्त में एकहेतुक मोमूह (मोह) चित्तों का वर्णन किया गया है[2]।

लोभमूलचित्त

सोमनस्ससहगतं – 'सुन्दरं मनो सुमनो, सुमनस्स भावो सोमनस्सं' सुन्दर मनस् (चित्त) सुमनस् है। सुन्दर चित्त के भाव को सौमनस्य कहते हैं[3]। 'सुन्दर चित्त' में सुन्दर शब्द विद्वानों द्वारा प्रशंसित या अनाकुल अर्थ में नहीं है, अपितु सात[4] (प्रसन्न या सुख) अर्थ में है। यह मानसिक सुखावेदना का नाम है[5]। सम्पूर्ण प्राणिजगत् सौमनस्यवेदना के प्रति आकृष्ट होता है। वह अपनी सन्तान में सौमनस्यवेदना के उत्पाद के लिये उसकी उत्पत्ति के कारणभूत आलम्बनों की गवेषणा में सदा तत्पर रहता है। इसलिये, चाहे कुशल हो चाहे अकुशल, सौमनस्यवेदना को 'सातं सुखं' कहा गया है। सुख 'सात' है; क्योंकि यह अनुग्रह करता है।

'सहगत' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है; किन्तु यहाँ उसका अर्थ संसृष्ट[6] है। जैसे – गङ्गा एवं यमुना का जल परस्पर मिल जाने पर 'यह गङ्गा का जल है, यह यमुना का जल है' – ऐसा नहीं कहा जा सकता; उसी प्रकार सौमनस्यवेदना एवं चित्त के सहगत हो जाने पर भी 'यह चित्त का स्वभाव है, यह सौमनस्यवेदना का स्वभाव है' – ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः 'सहगत' शब्द का यहाँ संसृष्ट अर्थ ग्राह्य है। 'सोमनस्सेन सहगतं सोमनस्ससहगतं' अर्थात् सौमनस्यवेदना से संसृष्ट चित्त को 'सौमनस्यसहगत' कहते हैं।

---

१. 'जवन' के विशेष ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, 'अतिमहन्तारमणवीथि', एवं 'जवनवारनियमो'।

२. द्र० – प० दी०, पृ० २४।

३. प० दी०, पृ० २४; विभा०, पृ० ५६।

४. तु० – "मधुरट्ठेन सातं।" – अट्ठ०, पृ० ११४।

५. सौमनस्य के विषय में 'विभावनी' एवं 'परमत्थदीपनी' में परस्पर मतभेद है, अतः द्र० – विभा०, पृ० ५६; प० दी०, पृ० २४।

६. "अयं पन सहगतसद्दो तब्भावे वोकिण्णे निस्सये आरम्मणे संसट्ठे ति इमेसु अत्थेसु दिस्सति।... सोमनस्ससंसट्ठं हि इध सोमनस्ससहगतं ति वुत्तं"। – अट्ठ०, पृ० ५७-५८।

"तेन सहगतं एकुप्पादादिवसेन संसट्ठं तेन सह एकुप्पादादिभावं गतं ति वा सोमनस्ससहगतं।" – विभा०, पृ० ५६।

के साथ होता है, वह ससंस्कार (ससङ्खार) है (यहाँ पर ससंस्कार शब्द से चित्त का ग्रहण होता है) और ससंस्कार ही ससंस्कारिक है ।

"पुब्बपयोगसम्भूतो विसेसो चित्तसम्भवी ।
सङ्खारो तंवसेनेत्थ होत्यसङ्खारकादिता[1]" ॥

पूर्वप्रयोग से सम्भूत पश्चिम चित्त में होनेवाला शक्तिविशेष संस्कार है । इस चित्त में उस संस्कार के सम्बन्ध से असंस्कारिकता आदि होती है अर्थात् असंस्कारिक आदि नाम होता है । (यह विभावनी का प्रथम नय है ।)

अथवा – 'ससङ्खारिक' में 'स' शब्द को तुल्यार्थक न मानकर, अपितु विद्यमानार्थक मानकर, विभावनीकार ने अपना द्वितीय नय प्रस्तुत किया है[2] । इस नय के अनुसार 'ससङ्खार' (ससंस्कार अर्थात् संस्कार विद्यमान है) में प्रयुक्त 'सङ्खार' (संस्कार), चाहे अपनी सन्तान में हो चाहे अन्य की, उस सङ्खार से उत्पन्न चित्त ससङ्खारिक अर्थात् विद्यमानसंस्कारचित्त (जिस चित्त में संस्कार विद्यमान है, ऐसा चित्त) है । इसमें पूर्वनय की भांति संस्कार शब्द के द्वारा शक्तिविशेष का ग्रहण न होकर पूर्वप्रयोग का ही ग्रहण होता है । इसका विग्रह प्रथम नय की तरह ही है । विभावनीकार के इन वादों के अपने में साभिप्राय होने पर भी 'धम्मसङ्गणिपालि' एवं 'अट्ठसालिनी'-आदि के अनुकूल न होने से आधुनिक आचार्य इनसे सहमत नहीं हैं ।

[विभावनी, परमत्थदीपनी एवं मणिसारमञ्जूसा-आदि टीकाओं में 'संस्कार' शब्द का अतिविस्तृत एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । विस्तारभय से यहाँ सङ्क्षेप में इतना ही लिखकर विराम किया जाता है । जिज्ञासु पाठक उन उन ग्रन्थों का अवलोकन कर सकते हैं[3] ।]

उपेक्खासहगतं – 'उपपत्तितो युत्तितो इक्खति अनुभवतीति उपेक्खा' युक्तिपूर्वक आलम्बन का अनुभव करना उपेक्षावेदना है[4] ।

सुखावेदना एवं दुःखावेदना आलम्बन का तीक्ष्ण भाव से अनुभव करती हैं और उपेक्षावेदना मध्य भाव से, यही युक्तिपूर्वक (न अधिक न कम) अनुभव करना है । अतएव उपेक्षावेदना का अनुभव स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता ।

अथवा – 'सुखदुक्खानं उपेता युत्ता इक्खा अनुभवनं उपेक्खा[5]' अर्थात् सुखा एवं दुःखा वेदनाओं के अनुकूल (अविरोधी भाव से) अनुभव करना 'उपेक्षा' है । सुखा एवं दुःखा वेदनाएं मूलतः परस्पर विरुद्धस्वभाव हैं । सुख के अनन्तर दुःख एवं दुःख के अनन्तर सुख नहीं हो सकता । उपेक्षावेदना इन दोनों से अनुकूल (अविरोधी) होती है । अतएव द्वेषजवन के अनन्तर उपेक्षा-तदालम्बन एवं सौमनस्यजवन के

१. विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० २६ ।
२. विभा०, पृ० ६० ।
३. विभा०, पृ० ५९; प० दी०, पृ० २५; मणि०, प्र० भा०, पृ० ११६ ।
४. प० दी०, पृ० २७; विभा०, पृ० ६० ।
५. विभा०, पृ० ६० ।

धर्म-स्थान में जाकर उपोसथ का ग्रहण करता है तो उसका इस प्रकार का चित्त असंस्कारिक चित्त है।

ससङ्खारिकं – 'सह सङ्खारेन यो वट्टतीति ससङ्खारो[1], ससङ्खारेन उप्पन्नं ससङ्खारिकं' जो आलम्बन-आदि कारणसमूह काय-प्रयोग, वाक्-प्रयोग या मनः-प्रयोग रूपी संस्कार के साथ होता है, वह ससंस्कार है। इस ससंस्कार के द्वारा उत्पन्न चित्त ससंस्कारिक है। अस्वास्थ्य, थीन[2] (स्त्यान), मिद्ध[2] एवं आलस्य नामक कौसीद्य[3] (कोसज्ज)-आदि धर्मों से प्रभावित होने के कारण जब आलम्बन-आदि सामान्य कारण उपोसथ करने के चित्त को उत्पन्न नहीं कर पाते, तब उपर्युक्त संस्कारों में से किसी एक की सहायता से ही उपोसथ करने का चित्त उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार संस्कारों की सहायता से सम्पन्न कारणों से उत्पन्न चित्त 'ससंस्कारिक चित्त' है। उपर्युक्त व्याख्यान 'धम्मसङ्गणिपालि[4]' एवं 'अट्ठसालिनी[5]' के आधार पर किया गया है। यहाँ पर 'असङ्खार' एवं 'ससङ्खार' शब्दों से आलम्बन-आदि कारणसमूह का ही ग्रहण होता है, चित्त का नहीं।

विभावनीवाद – "सङ्खरोति चित्तं तिक्खभावसङ्खातमण्डनविसेसेन सज्जेति, सङ्खरीयति वा तं एतेन यथावुत्तनयेन सज्जीयतीति सङ्खारो[6]"।

जो पूर्वप्रयोग (काय-प्रयोग, वाक्-प्रयोग, मनःप्रयोग) अनुत्साहित चित्त को तीक्ष्णभाव नामक मण्डनविशेष (गुणविशेष) से सज्ज करता है, वह संस्कार है। अथवा जिस पूर्वप्रयोग के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से चित्त को सज्ज किया जाता है, वह 'सङ्खार' है।

पूर्वप्रयोग नामक संस्कार एवं ससंस्कारिक चित्त एक काल में नहीं होते। पहले पूर्वप्रयोग होता है और तदनन्तर ससंस्कारिक चित्त का उत्पाद होता है। 'ससंस्कारिक' इस शब्द में 'स' पद तुल्ययोगार्थक है। अतः 'संस्कार' शब्द से पूर्वप्रयोग नामक संस्कारमात्र का ग्रहण न होकर उस पूर्वप्रयोग से उत्पन्न तीक्ष्ण पश्चिम चित्त की शक्तिविशेष का कारणोपचार से ग्रहण होगा। 'सङ्खारेन सहितं ससङ्खारिकं' इसमें 'स' पद तुल्ययोगार्थक है। (यहाँ 'तुल्ययोग' एवं 'सहित' दोनों समानार्थक हैं)।

अथवा 'सङ्खारेन सहितं' यह मुख्य विग्रह नहीं, अपितु विग्रह करने के लिये लिये निर्देशमात्र है; 'सह सङ्खारेन यं वट्टतीति ससङ्खारं, ससङ्खारमेव ससङ्खारिकं' – ऐसा विग्रह करना चाहिये। अर्थात् जो चित्त पूर्वप्रयोग के कारण उत्पन्न शक्तिविशेष

---

१. प० दी०, पृ० २६; विभा०, पृ० ६०।

२. द्र० – अभि० स० २ : ४।

३. "कोसज्जं थिनमिद्धपधानो अकुसलचित्तुप्पादो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६१।

४. द्र० – ध० स०, पृ० ३६।

५. द्र० – अट्ठ०, पृ० १२७।

६. विभा०, पृ० ५६।

योगी चैतसिक होने के कारण इनका विशेषण के रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिये 'सप्पीतिक'-आदि विशेषण अनुपयुक्त हैं[1]।

सौमनस्य की उत्पत्ति के कारण –

१. स्वभाव-इष्टालम्बन एवं परिकल्पित-इष्टालम्बन, इनमें से कोई एक।

२. सौमनस्यसहगत चित्त के द्वारा प्रतिसन्धि लेना।

३. चित्त के स्वभाव का अगम्भीर होना[2]।

मध्यस्थ पुद्गलों के इष्ट आलम्बन को स्वभाव-इष्टालम्बन कहते हैं। सभी लोगों के द्वारा इष्ट न होने पर भी केवल अपने आप इष्ट समझे जानेवाले अनिष्टालम्बन को परिकल्पित-इष्टालम्बन कहते हैं। जैसे – पूतिगन्ध मांस-आदि के सभी लोगों के द्वारा अनिष्ट समझे जाने पर भी गृध्र, कुत्ते-आदि के लिये वह इष्ट होता है। इसे ही परिकल्पित-इष्टालम्बन कहते हैं। इस प्रकार के स्वभाव-इष्टालम्बन एवं परिकल्पित-इष्टालम्बन के साथ समागम होने पर सौमनस्य का उत्पाद होता है। सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में उनका प्रतिसन्धि-वीज सौमनस्य होने के कारण प्रवृत्तिकाल[3] में उपेक्षा होने योग्य आलम्बन में भी सौमनस्य होता है। जिनके चित्त का स्वभाव गम्भीर नहीं है, ऐसे पुद्गल किसी भी विषय में शीघ्र सन्तुष्ट अथवा शीघ्र क्रुद्ध हो जाते हैं। अतः ऐसे पुद्गलों में सामान्य आलम्बन के मिलने पर ही सौमनस्य का उत्पाद हो जाता है। उपर्युक्त तीन कारण सौमनस्य के उत्पत्ति-कारण कहलाते हैं। इन तीन कारणों के सम्पन्न होने पर ही सौमनस्य का उत्पाद होता है – ऐसा नहीं समझना चाहिये, अपितु इनमें से किसी एक के भी उपस्थित होने पर सौमनस्य का उत्पाद हो सकता है। ये परमार्थस्वभाव की तरह सौमनस्य के मुख्य उत्पादक कारण नहीं हैं, अपितु प्रायिक हैं[4]। (आगे उपेक्षा आदि के कारणों के सम्बन्ध में भी उनकी प्रायिकता को समझना चाहिये।)

उपेक्षा की उत्पत्ति के कारण –

१. इष्ट-मध्यस्थालम्बन, अर्थात् वह आलम्बन जो न अत्यधिक इष्ट है और न तो अनिष्ट ही है।

२. उपेक्षासहगत चित्त के द्वारा प्रतिसन्धि लेना।

३. चित्त के स्वभाव का गम्भीर होना[5]।

ऊपर के दो कारणों (सं० १ एवं २) का विस्तार तो उपर्युक्त सौमनस्य के प्रथम दो कारणों की तरह समझना चाहिये। अन्तिम कारण के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि गम्भीर चित्तवाले पुद्गल सभी विषयों में अत्यधिक विचारशील होते

---

१. प० दी०, पृ० २७।

२. प० दी०, पृ० २८।

३. प्रतिसन्धि से लेकर च्युति के पूर्व तक के काल को 'प्रवृत्तिकाल' कहते हैं।

४. द्र० – प० दी०, पृ० २८।

५. द्र० – प० दी०, पृ० २८।

के अनन्तर भी उपेक्षा-तदालम्बन का पात होता है। इसी तरह उपेक्षासहगत आवर्जन के अनन्तर भी सौमनस्यजवन एवं द्वेषजवन अभिप्रवृत्त होते हैं[1]। 'उपेक्खाय सहगतं उपेक्खासहगतं' जो उपेक्षावेदना से सहगत होता है वह 'उपेक्षासहगत' चित्त है[2]।

विशेषण का आधार – 'सोमनस्ससहगतं', 'दिट्ठिगतविप्पयुत्तं' एवं 'असङ्खारिकं' – ये सब 'एकं' के विशेषण हैं। लोभमूल चित्तों में स्पर्श (फस्स)-आदि २२ चैतसिकों के सम्प्रयुक्त होने पर भी क्यों स्पर्श-आदि चैतसिकों के द्वारा उन्हें विशेषित न करके केवल वेदना-आदि से ही, तथा सम्प्रयुक्त चैतसिकों में भी न आनेवाले 'सङ्खार' (संस्कार) शब्द के द्वारा विशेषित किया गया है?

उत्तर – स्पर्श-आदि चैतसिकों के द्वारा चित्तों का भेद न किया जा सकने के कारण ही वेदना, दृष्टि एवं संस्कार से उन्हें विशेषित किया गया है[3]।

विशेषण सामान्य अर्थ का अन्य (सजातीय आदि धर्मों) से व्यवच्छेद करता है। 'फस्सचेतसिक' के द्वारा यदि चित्त को विशेषित करके उसे 'फस्ससहगतं' कहेंगे तो फस्सचेतसिक के सभी चित्तों से सम्प्रयुक्त होने के कारण उस (चित्त) का अन्य चित्तों से व्यवच्छेद नहीं हो सकेगा। इसी तरह 'सञ्ञासहगतं', 'वितक्कसहगतं', 'मोहसहगतं' इत्यादि कहने पर भी इष्ट चित्त को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इष्ट चित्त की प्राप्ति न होने के कारण चित्त को 'फस्स'-आदि के द्वारा विशेषित नहीं किया जा सकता। वेदना के सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा – ये पाँच भेद होने के कारण, यदि 'सोमनस्ससहगतं' कहते हैं तो दौर्मनस्यसहगत-आदि अन्य चित्तों से उसका भेद हो जाता है। पुनः 'दिट्ठिगतविप्पयुत्तं' कहने से उसका दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्तों से व्यवच्छेद हो जाता है। उसमें भी 'असङ्खारिकं' विशेषण देकर उसका अन्य ससंस्कारिक चित्तों से भेद किया जाता है।

'सप्पीतिकं' आदि भी नहीं कहा जा सकता – उपर्युक्त समाधान के अनुसार जब प्रीति, मान, थीन (स्त्यान) एवं मिद्ध-आदि चैतसिक कुछ ही चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं[4] और कुछ चित्तों में नहीं; तब चित्त के 'सप्पीतिकं', 'निप्पीतिकं', 'मानसम्पयुत्तं', 'मानविप्पयुत्तं'-आदि विशेषण क्यों नहीं किये गये?

उत्तर – प्रीति के कुछ विषयों में सौमनस्य के सदृश होने के कारण यदि 'सप्पीतिकं' कहते हैं तो कुछ युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है; किन्तु 'निप्पीतिकं' – ऐसा कहने पर चतुर्थध्यान-चित्त एवं सुखसहगत-कायविज्ञान-चित्त के ही निष्प्रीतिक होने के कारण 'उपेक्खासहगतं' की तरह यह विशेषण सभी विशेष्यों में अनुगत (व्यापक) नहीं होता। मान, थीन एवं मिद्ध-आदि कभी कभी सम्प्रयुक्त होनेवाले अनियत-

---

१. अभि० स०, चतु० परि०, 'तदारम्मणनियमो' एवं 'जवननियमो'।
२. तु० – विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० २७।
३. विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० २७।
४. द्र० – अभि० स० २:२४।

भोजन की प्राप्ति होती है तो अपने कृत्यों में उत्साह होने से वे कृत्य असंस्कारिक चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ।)

ससंस्कारिक के कारण – असंस्कारिक के जो ६ कारण दिखाये गये हैं, उनसे विपरीत कारण ससंस्कारिक के कारण होते हैं[1] ।

सौमनस्य एवं उपेक्षा की शक्ति में विशेष – कामावचर के विषय में, उपेक्षा-सहगत चित्तों की अपेक्षा सौमनस्यसहगत चित्त अधिक तीक्ष्ण होते हैं । महग्गत[2] एवं लोकोत्तर के विषय में, सौमनस्यसहगत चित्तों की अपेक्षा उपेक्षासहगत चित्त ही अधिक तीक्ष्ण होते हैं ।

कामावचर कृत्यों का सम्पादन करते समय यदि चित्त सौमनस्य से युक्त होगा तो वे कृत्य शीघ्र सिद्ध होंगे । विपाक-दान की दृष्टि से भी वोधिसत्व आदि पुद्गल जब त्रिहेतुक-उत्कृष्ट-कामप्रतिसन्धि[3] ग्रहण करते हैं तब वे महाकुशल सौमनस्यसहगत-ज्ञानसम्प्रयुक्त-असंस्कारिक चित्त के विपाकभूत प्रथम महाविपाक चित्त के द्वारा ही उसे ग्रहण करते हैं ।

"तत्थ सब्बे पि सब्बञ्ञुबोधिसत्ता पच्छिमपटिसन्धिगहणे पठमेन सोमनस्ससहगत-तिहेतुकअसङ्खारिकमहाविपाकचित्तेन पटिसन्धिं गण्हन्ति[4] ।"

इस प्रकार कामावचर के विषय में सौमनस्य की तीक्ष्णता के आधिक्य को समझना चाहिये ।

महग्गत एवं लोकोत्तर के विषय में, समाधि ही प्रधान होती है । सौमनस्य का उत्पन्न होना समाधि को दुर्बल करता है । उपेक्षा, समाधि के प्रति उत्साह होने के लिये बल देनेवाले मित्र की तरह होती है । अतएव नीचे के चार ध्यानों में सुख (सौमनस्य) से सम्प्रयोग होकर ऊपर के पञ्चमध्यान में उपेक्षा से ही सम्प्रयोग होता है । फल देने की दृष्टि से भी सौमनस्य-ध्यानों की अपेक्षा उपेक्षा-ध्यान अधिक फल देनेवाले होते हैं । (इस पञ्चमध्यान के उपचारसमाधि[5]-जवन एवं उपेक्षा-ब्रह्मविहार[6] की भावना – इन दोनों के कामावचर के विषय होने पर भी सौमनस्य की अपेक्षा, उपेक्षा की तीक्ष्णता पर ध्यान दें ।)

इस प्रकार पञ्चमध्यान के उपचारसमाधिजवन एवं उपेक्षाब्रह्मविहार के अतिरिक्त कामावचर के विषय में, सौमनस्य की शक्ति अधिक होती है । महग्गत एवं लोकोत्तर के विषय में उपेक्षा की शक्ति के आधिक्य को निःसङ्कोच जानना चाहिये ।

हैं। अतः उनमें सभी इष्टालम्बनों में शीघ्रतया सौमनस्य उत्पन्न नहीं होता, अपितु उन आलम्बनों के प्रति उपेक्षा करके उनमें उपेक्षा-सहगत चित्त ही उत्पन्न होता है।

दृष्टि के कारण –

१. शाश्वत दृष्टि एवं उच्छेद दृष्टि[1], इन दो दृष्टियों में से किसी एक के आश्रय का होना।

२. मिथ्यादृष्टियुक्त तैर्थिक पुद्गलों का सम्मान करना अथवा उनका सहवास करना[2]।

संसार से विमुक्ति की अभिलाषा न करनेवाले 'वट्टनिस्सित'[3] (वर्तनिश्रित) पुद्गलों का चित्त शाश्वत दृष्टि एवं उच्छेद दृष्टि में से किसी एक का आश्रय होता है। वर्तमान समय में किसी मिथ्यामत का ग्रहण न करने पर भी यदि उसने पूर्व-पूर्व भव में कभी किसी एक मिथ्यामत का ग्रहण किया है तो सभी विषयों में विचार करते समय उसे मिथ्यामत ही सत्य की तरह प्रतिभासित होते हैं। इसलिये कोई न कोई एक मिथ्यावाद वट्टनिस्सित पृथग्जनों का आश्रय अवश्य होता है। इस प्रकार शाश्वत दृष्टि एवं मिथ्या दृष्टि में से किसी एक का आश्रय होना, नाना प्रकार की मिथ्या-दृष्टियों के उत्पाद का कारण होता है।

असंस्कारिक के कारण –

१. असंस्कारिक कर्म के फलस्वरूप असंस्कारिक चित्त के द्वारा प्रतिसन्धि लेना।

२. शरीर का स्वस्थ रहना। (स्वस्थ रहने के समय अनुत्साह न होने से सभी कृत्य असंस्कारिक चित्त के द्वारा सम्पन्न होते हैं।)

३. सर्दी, गर्मी, वर्षा-आदि ऋतुओं में शैत्य औष्ण्य-आदि की परवाह न करना। (चित्त के स्वभाव से ही तीक्ष्ण होने के कारण यदि पुद्गल शैत्य, औष्ण्य की परवाह नहीं करता है तो उसके कर्म असंस्कारिक चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।)

४. अपने वीर्य के फल पर विश्वास करना। (पूर्वकृत कर्म के प्रति निष्ठावान् न होकर, वीर्य के फल के ही ऊपर निष्ठा रखनेवाला पुद्गल किसी कर्म को करते समय उसे असंस्कारिक चित्त के द्वारा ही करता है।)

५. अपने नित्य-कर्मों में अभ्यास का होना। (जब किसी कर्म में अभ्यास रहता है तो उसका वह कर्म असंस्कारिक चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होता है।)

६. ऋतु एवं भोजन का अनुकूल होना[4]। (जब अपने अनुकूल ऋतु एवं

---

१. शाश्वत दृष्टि एवं उच्छेद दृष्टि के कारणों को सप्तम परिच्छेद – 'अकुसल-सङ्गहो' में देखिये।

२. द्र० – प० दी०, पृ० २८।

३. संसार में आसक्त।

४. प० दी०, पृ० २८।

कुछ आचार्यों का मत – सौमनस्य की उत्पत्ति के कारणों में – चित्त के स्वभाव का अगम्भीर होना, तथा उपेक्षा की उत्पत्ति के कारणों में – चित्त के स्वभाव का गम्भीर होना, इन कारणों के होने से कामावचर के विषय में भी अगम्भीर सौमनस्य की अपेक्षा गम्भीर उपेक्षा की शक्ति अधिक होती है । यथा –

"इमेसु अट्ठसु लोभमूलचित्तेसु सोमनस्ससहगततो उपेक्खासहगतं बलवत्तरं[1] ।"

गम्भीर स्वभाववाले पुद्गल उन उन आलम्बनों में शीघ्र सन्तुष्ट न होकर उपेक्षास्वभाव से ही उनका आलम्बन करते हैं । चित्त के स्वभाव के गम्भीर होने के के कारण उनकी उपेक्षा, सौमनस्य से उत्तम होती है । इस प्रकार कुछ आचार्य कामावचर के विषय में भी उपेक्षा की शक्ति को अधिक मानते हैं ।

उपर्युक्त आचार्यों का यह मत समीचीन नहीं हैं; क्योंकि गम्भीर स्वभाववाले पुद्गल (समाधिबलवान् पुद्गल) अपने सन्तुष्ट होने योग्य आलम्बनों को सम्प्राप्त न करने के कारण ही उनमें उपेक्षा कर सकते हैं । जब उनका अत्यन्त इष्ट आलम्बन से समागम होता है तब उन आलम्बनों में उपेक्षामात्र न होकर, इनमें सौमनस्य-जवनरूपी तरङ्गों का उद्गमन भी होता है । कुशल के विषय में भी यदि अतिइष्ट आलम्बन, भगवान् बुद्ध का दर्शन, होता है तो ऐसी अवस्था में समाधिबलवान् पु्गल भी कैसे उपेक्षा कर सकेंगे ? अवश्य ही उनमें प्रीति एवं सौमनस्य का उत्पाद होगा । अतएव उपर्युक्त आचार्यो का मत समीचीन नहीं है ।

[स्वभाव (परमार्थ) धर्मों की शक्तियों की परस्पर तुलना करते समय पुद्गलों की तुलना नहीं करनी चाहिये । एक पुद्गल में भी कभी सौमनस्य एवं कभी उपेक्षा होती है । अतः उस एक पुद्गल के सौमनस्य एवं उपेक्षाओं की शक्ति की ही तुलना करनी चाहिये ।]

सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त—विप्रयुक्त की अपेक्षा सम्प्रयुक्त की शक्ति बलवत्तर होती है । दृष्टिगत सम्प्रयुक्त चित्त, दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्त से बलवान् होता है । इसी तरह ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त, ज्ञानविप्रयुक्त चित्त से बलवान् होता है ।

असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक—ससंस्कारिक चित्त की अपेक्षा असंस्कारिक चित्त तीक्ष्णतर होता है । पुद्गल जब लोभमूल चित्त से परसम्पत्ति को चुराता है तो कभी कभी असंस्कारिक (स्वप्रेरित) चित्त से चुराता है, और कभी कभी चोरी करने का छन्द (इच्छा) न होने पर भी अपने अभिभावक व्यक्तियों द्वारा प्रेरित किये जाने पर ससंस्कारिक चित्त से चुराता है ।

"यहाँ पर यह अवधातव्य है कि दूसरों के द्वारा प्रेरित होने मात्र से चित्त ससंस्कारिक नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः चित्त के स्वभावतः अनुत्साहित होने के समय दूसरों के द्वारा प्रेरित किया जाकर जबरदस्ती कर्म कराते समय वह ससंस्कारिक कहा जाता है । अपने आप 'मैं ऐसा करूँगा' – ऐसा सङ्कल्प होने पर, दूसरों के द्वारा

१. द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० १२५ ।

कुछ आचार्यों का मत – सौमनस्य की उत्पत्ति के कारणों में – चित्त के स्वभाव का अगम्भीर होना, तथा उपेक्षा की उत्पत्ति के कारणों में – चित्त के स्वभाव का गम्भीर होना, इन कारणों के होने से कामावचर के विषय में भी अगम्भीर सौमनस्य की अपेक्षा गम्भीर उपेक्षा की शक्ति अधिक होती है । यथा –

"इमेसु अट्ठसु लोभमूलचित्तेसु सोमनस्ससहगततो उपेक्खासहगतं वलवत्तरं[1] ।"

गम्भीर स्वभाववाले पुद्गल उन उन आलम्बनों में शीघ्र सन्तुष्ट न होकर उपेक्षास्वभाव से ही उनका आलम्बन करते हैं । चित्त के स्वभाव के गम्भीर होने के कारण उनकी उपेक्षा, सौमनस्य से उत्तम होती है । इस प्रकार कुछ आचार्य कामावचर के विषय में भी उपेक्षा की शक्ति को अधिक मानते हैं ।

उपर्युक्त आचार्यों का यह मत समीचीन नहीं हैं; क्योंकि गम्भीर स्वभाववाले पुद्गल (समाधिवलवान् पुद्गल) अपने सन्तुष्ट होने योग्य आलम्बनों को सम्प्राप्त न करने के कारण ही उनमें उपेक्षा कर सकते हैं । जव उनका अत्यन्त इष्ट आलम्बन से समागम होता है तव उन आलम्बनों में उपेक्षामात्र न होकर, इनमें सौमनस्य-जवनरूपी तरङ्गों का उद्गमन भी होता है । कुशल के विषय में भी यदि अतिइष्ट आलम्बन, भगवान् बुद्ध का दर्शन, होता है तो ऐसी अवस्था में समाधिवलवान् पु्गल भी कैसे उपेक्षा कर सकेंगे ? अवश्य ही उनमें प्रीति एवं सौमनस्य का उत्पाद होगा । अतएव उपर्युक्त आचार्यों का मत समीचीन नही है ।

[स्वभाव (परमार्थ) धर्मों की शक्तियों की परस्पर तुलना करते समय पुद्गलों की तुलना नहीं करनी चाहिये । एक पुद्गल में भी कभी सौमनस्य एवं कभी उपेक्षा होती है । अतः उस एक पुद्गल के सौमनस्य एवं उपेक्षाओं की शक्ति की ही तुलना करनी चाहिये ।]

सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त—विप्रयुक्त की अपेक्षा सम्प्रयुक्त की शक्ति बलवत्तर होती है । दृष्टिगत सम्प्रयुक्त चित्त, दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्त से बलवान् होता है । इसी तरह ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त, ज्ञानविप्रयुक्त चित्त से वलवान् होता है ।

असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक— संस्कारिक चित्त की अपेक्षा असंस्कारिक चित्त तीक्ष्णतर होता है । पुद्गल जव लोभमूल चित्त से परसम्पत्ति को चुराता है तो कभी कभी असंस्कारिक (स्वप्रेरित) चित्त से चुराता है, और कभी कभी चोरी करने का छन्द (इच्छा) न होने पर भी अपने अभिभावक व्यक्तियों द्वारा प्रेरित किये जाने पर ससंस्कारिक चित्त से चुराता है ।

"यहाँ पर यह अवधातव्य है कि दूसरों के द्वारा प्रेरित होने मात्र से चित्त ससंस्कारिक नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः चित्त के स्वभावतः अनुत्साहित होने के समय दूसरों के द्वारा प्रेरित किया जाकर जबरदस्ती कर्म कराते समय वह ससंस्कारिक कहा जाता है । अपने आप 'मैं ऐसा करूँगा' – ऐसा सङ्कल्प होने पर, दूसरों के द्वारा

---

१. द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० १२५ ।

दोसमूलचित्तानि

५. दोमनस्ससहगतं पटिघसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि द्वे पि पटिघसम्पयुत्तचित्तानि* नाम ।

दौर्मनस्यवेदनासहगत एवं प्रतिघ से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक – इस प्रकार ये दोनों प्रतिघसम्प्रयुक्त चित्त हैं ।

अनुस्साहितेन चित्तेन तदा पठमं अकुसलं चित्तं उप्पज्जति; यदा पन मन्देन समुस्साहितेन चित्तेन तदा दुतियं; यदा पन मिच्छादिट्ठिं अपुरेक्खित्वा केवलं हट्ठतुट्ठो मेथुनं वा सेवति, परसम्पत्तिं वा अभिज्झायति, परभण्डं वा हरति, सभावतिक्खेनेव अनुस्साहितेन चित्तेन तदा ततियं; यदा पन मन्देन समुस्साहितेन चित्तेन तदा चतुत्थं; यदा पन कामानं वा असम्पत्तिं आगम्म, अञ्ञेसं वा सोमनस्सहेतूनं अभावेन चतूसु पि विकप्पेसु सोमनस्स-रहिता होन्ति तदा सेसानि चत्तारि उपेक्खासहगतानि उप्पज्जन्ती ति[१] ।"

द्वेषमूलचित्त

५. **दोमनस्ससहगतं**—'दुट्ठु मनो दुमनो, दुमनस्स भावो दोमनस्सं[२]' दुष्ट मनस् दुर्मनस् है और उस दुष्ट मनस् के भाव को दौर्मनस्य कहते हैं । इस चित्त में दुःखावेदना रहती है । 'दोमनस्सेन सहगतं दोमनस्ससहगतं' अर्थात् दौर्मनस्यवेदना से सहगत चित्त को दौर्मनस्यसहगत कहते हैं । 'सहगत' शब्द का यहाँ 'संसृष्ट' अर्थ है । अतः दौर्मनस्य-वेदना से संसृष्ट चित्त दौर्मनस्यसहगत कहलाता है[३] ।

पटिघसम्पयुत्तं—'पटिहञ्ञतीति पटिघो[४]' प्रतिघात करनेवाले द्वेष चैतसिक को 'प्रतिघ' कहते हैं । जैसे – दुष्ट व्यक्तियों से सङ्गति करनेवाला पुद्गल उन दुष्ट व्यक्तियों के वश में होकर नाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार द्वेष से सम्प्रयुक्त धर्म नाश को प्राप्त होते हैं । अतएव द्वेष चैतसिक, सम्प्रयुक्त धर्मों का प्रतिघात (नाश) करता है – ऐसा कहा गया है । 'पटिघेन सम्पयुत्तं पटिघसम्पयुत्तं' अर्थात् प्रतिघ से सम्प्रयुक्त चित्त प्रतिघसम्प्रयुक्त कहलाता है[५] ।

दौर्मनस्य एवं प्रतिघ—अनिष्ट आलम्बन का अनुभव करनेवाला चैतसिक दौर्मनस्य है । उसका वेदना-स्कन्ध में ग्रहण होता है । प्रतिघ चण्ड-स्वभाव होता है और यह संस्कारस्कन्ध में गृहीत होता है ।

---

* पटिघचित्तानि – स्या०, ना० ।

१. विभा०, पृ० ६१; तु० – विसु०, पृ० ३१७ ।

२. विभा०, पृ० ६१; तु० – प० दी०, पृ० २६ ।

३. अट्ठ०, पृ० २०७ ।

४. "आरम्मणे पटिहञ्ञतीति पटिघो दोसो ।" – विभा०, पृ० ६१; प० दी० पृ० २६ ।

५. अट्ठ०, पृ० २०७ ।

हो, अथवा अन्य वैसे कर्म करता हो तथा ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण न हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम अकुशलचित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-असंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

२. जब कोई पुद्गल ... अन्य वैसे कर्म करता हो तथा ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त द्वितीय अकुशलचित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-ससंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

३. जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नहीं, अपितु अपनी स्वभावगत तीक्ष्णता से प्रसन्नचित्त हो कर मैथुन का आचरण करता हो, परसम्पत्ति चाहता हो, अथवा परधन का अपहरण-आदि करता हो, और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण न हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त तृतीय अकुशल-चित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-असंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

४. जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नहीं ... और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त चतुर्थ अकुशलचित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-असंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

५. जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण, किन्तु कामभोगों में असम्पत्ति को देखकर सौमनस्यरहित (उपेक्षायुक्त) चित्त से काम भोगता है या दूसरों के धन का अपहरण-आदि करता है और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण नहीं होती तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त पञ्चम अकुशलचित्त (उपेक्षा-सहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-असंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

६. जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण, किन्तु कामभोगों में असम्पत्ति को देखकर सौमनस्यरहित (उपेक्षायुक्त) चित्त से काम भोगता है, अथवा दूसरों के धन का अपहरण-आदि करता है और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण होती है तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त षष्ठ अकुशलचित्त (उपेक्षासहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-ससंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

७. जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नहीं, अपितु अपनी स्व-भावगत तीक्ष्णता से आनन्दरहित होकर मैथुन का आचरण करता हो, परसम्पत्ति को चाहता हो, अथवा परधन का अपहरण-आदि करता हो और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण न होती हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त सप्तम अकुशलचित्त (उपेक्षासहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-असंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

८. जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नहीं ... करता हो और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण होती हो तो इस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त अष्टम अकुशलचित्त (उपेक्षासहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-ससंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

यथा – "'यदा हि नत्थि कामेसु आदीनवो' त्यादिना नयेन मिच्छादिट्ठिं पुरेक्खत्वा हट्ठो कामे वा परिभुञ्जति, दिट्ठमङ्गलादीनि वा सारतो पच्चेति, सभावतिक्खेनेव

मोहमूलचित्तानि

६. उपेक्खासहगतं विचिकिच्छासम्पयुत्तमेकं, उपेक्खासहगतं उद्धच्चसम्पयुत्तमेकं ति इमानि द्वे पि मोमूहचित्तानि नाम ।

उपेक्षासहगत एवं विचिकित्सा से सम्प्रयुक्त एक, तथा उपेक्षासहगत एवं औद्धत्य से सम्प्रयुक्त एक – इस प्रकार ये दोनों मोमूहचित्त हैं ।

द्वेषमूल चित्तों का उत्पत्तिक्रम –

१. जब कोई पुद्गल द्वेषमूल चित्त से प्राणातिपात-(आत्महिंसा या परहिंसा) आदि कर्म करता है और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण नहीं होती तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम द्वेषमूल चित्त (दौर्मनस्यसहगत-प्रतिघसम्प्रयुक्त-असंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

२. जब कोई पुद्गल... कर्म करता है और ऐसा करने में किसी दूसरे की प्रेरणा कारण होती है तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त द्वितीय द्वेषमूल चित्त (दौर्मनस्यसहगत-प्रतिघसम्प्रयुक्त-ससंस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

मोहमूलचित्त

६. उपेक्खासहगतं – यह मोहमूल चित्त, लोभ एवं द्वेष नामक अन्य मूलों से सम्प्रयुक्त नहीं होता, केवल एक मोहमूल से ही सम्प्रयुक्त होता है । इस प्रकार मोहमूल चित्त में सम्प्रयुक्त होनेवाला एकमात्र 'यह मोह (चैतसिक), जैसे लोभमूल चित्त में सम्प्रयुक्त होते समय लोभस्वभाव की ओर अनुगमन करता है, एवं द्वेषमूल चित्त में सम्प्रयुक्त होते समय द्वेषस्वभाव की ओर अनुगमन करता है; वैसे यहाँ किसी अन्य स्वभाव की ओर अनुगमन न करके अपने स्वभाव के अनुसार ही स्वतन्त्रतापूर्वक चित्त को संमूढ करता है । इस मोह से सम्प्रयुक्त होकर संमूढ होनेवाला यह मोहमूल चित्त, इष्टालम्बन को प्राप्त करके भी इष्ट रस की अनुभूति के लिये आलम्बन का अनुभव नहीं कर सकता । अतएव यह (चित्त) सौमनस्यवेदना से सम्प्रयुक्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार अनिष्टालम्बन को प्राप्त करके अनिष्ट रस की अनुभूति के लिये भी आलम्बन का अनुभव नहीं कर सकता; इसलिये यह दौर्मनस्यवेदना से भी सम्प्रयुक्त नहीं हो सकता । अतः यह चित्त न तो इष्टालम्बन के प्रति आसक्त होता है और न अनिष्टालम्बन के प्रति अनासक्त ही होता है; अपितु मध्यम अनुभूति करनेवाली उपेक्षावेदना से ही सम्प्रयुक्त होता है । जैसे – मद्य पीकर नशे में चूर किसी व्यक्ति को मधुर वचन से न तो सुख होता है और न कटुवचन से कोई दुःख ही होता है, इसी प्रकार मोह से संमूढ व्यक्ति सौमनस्य एवं दौर्मनस्य – दोनों से विरक्त होता है ।

अथवा – यह मोहमूल चित्त आलम्बन में संसर्पण (सन्देह) करनेवाली विचिकित्सा एवं अनुपशम-(विक्षेप) लक्षण औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होने के कारण चञ्चल होने से आलम्बन को स्पष्टतया अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये उपेक्षावेदना से ही सम्प्रयुक्त होता है; कहा भी है; यथा –

इन दोनों द्वेषमूलक चित्तों में वेदना-भेद न होने पर भी, दौर्मनस्यवेदना इनका असाधारण धर्म होने के कारण, इन्हें दौर्मनस्यवेदना के द्वारा विशेषित किया गया है। तथा जब दौर्मनस्य होता है तब प्रतिघ नामक द्वेष भी सदा होता है, अर्थात् दौर्मनस्यवेदना के साथ द्वेष चैतसिक नित्य सम्प्रयुक्त होता है। इसी बात को द्योतित करने के लिये 'पटिघसम्पयुत्तं' ऐसा कहा गया है।

"दोमनस्ससहगतस्स वेदनावसेन अभेदे पि असाधारणधम्मवसेन चित्तस्स उपलक्खणत्थं दोमनस्ससहगतं। पटिघसम्पयुत्तभावो पन उभिन्नं एकन्तसहचारितादस्सनत्थं वुत्तो ति दट्ठब्बो[1]।"

विशेष—"यदि दौर्मनस्यवेदना के द्वारा इन चित्तों को विशेषित न किया जायेगा तो इन चित्तों में सौमनस्य एवं उपेक्षा वेदना के होने का सन्देह हो सकता है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये इन्हें 'दोमनस्ससहगतं' कहा गया है। जैसे – कोई न्यायाधीश किसी अपराधी को विधानतः प्राणदण्ड की सजा सुना रहा है और किसी कारणवश मुस्करा रहा है तो प्रेक्षकों को यह भ्रम हो सकता है कि इसका चित्त सौमनस्य से युक्त है। इसी तरह कोई बालक अपने लक्ष्यानुसन्धान के अभ्यास के सिलसिले में किसी पक्षी का प्राण-हरण कर लेता है और अपनी सफलता समझकर पक्षी के मृत होने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है तो यहाँ भी उसका चित्त आपाततः सौमनस्य से युक्त प्रतीत होता है; किन्तु उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में दौर्मनस्यवेदना ही संसृष्ट होती है। सौमनस्य की प्रतीति भ्रममात्र है। इसी तरह प्राणातिपात के समय कभी उपेक्षा का भी भ्रम हो सकता है। वस्तुतः प्राणातिपात कर्म में केवल दौर्मनस्यवेदना ही संसृष्ट होती है।

इसी प्रकार 'प्राणिहिंसा में पाप नहीं होता' अथवा 'याज्ञिकी हिंसा हिंसा नहीं होती'-आदि विचारों से युक्त पुद्गलों में इन द्वेषमूल चित्तों के साथ 'मिथ्यादृष्टि सम्प्रयुक्त है' – ऐसा साधारणतया भ्रम हो सकता है, और इसी भ्रम के निवारणार्थ 'पटिघसम्पयुत्तं' – ऐसा विशेषण दिया गया है; क्योंकि इन चित्तों में कभी भी मिथ्यादृष्टि सम्प्रयुक्त नहीं होती[2]।"

दौर्मनस्य की उत्पत्ति के कारण—दौर्मनस्य एवं प्रतिघ के अविनाभावी होने के कारण उनके उत्पत्ति-कारण भी समान ही होते हैं।

१. द्वेष अध्याशय का होना।

२. चित्तस्वभाव का अगम्भीर होना।

३. अल्पश्रुत होना।

४. अनिष्ट आलम्बन से समागम होना।

इन चार कारणों में अन्तिम कारण दौर्मनस्य एवं प्रतिघ की उत्पत्ति में प्रमुख कारण है[3]।

---

१. विभा०, पृ० ६१।
२. तु० – प० दी०, पृ० २९।
३. प० दी०, पृ० ३०।

इच्चेवं सब्बथा पि द्वादसाकुसलचित्तानि समत्तानि ।

इस तरह सर्वथा बारह अकुशलचित्त समाप्त ।

शक्ति की तुलना की गई है और इन व्याख्याओं (अट्ठकथाओं) के अनुसार असंस्कारिक चित्त, ससंस्कारिक चित्त से बलवान् होते हैं । किन्तु उपर्युक्त मोमूहचित्त के विषय में तो, उस 'धम्मसङ्गणिपालि' में 'इसमें संस्कार है या नहीं' – इस सम्बन्ध में लेशमात्र भी नहीं कहा गया है। आचार्य अनरुद्ध भी 'चैतसिक-परिच्छेद' के 'अकुसलसङ्गहनय' में पूर्व के दस अकुशल चित्तों का 'असङ्खारिकपञ्चकं, ससङ्खारिकपञ्चकं' – इस प्रकार विभाग दिखाते हैं; किन्तु मोमूहचित्त में 'सङ्खार' के विषय में कुछ भी नहीं कहते, केवल 'विचिकिच्छासहगतं, उद्धच्चसहगतं' मात्र उल्लेख करते हैं।

मोमूहचित्त के स्वभाव पर विचार करने से ज्ञात होता है कि चाहे दूसरों के द्वारा प्रेरणा की गई हो अथवा न की गई हो, उसके स्वभाव में तीक्ष्णता या मन्दता-आदि भेद नहीं होते । बुद्ध-आदि के प्रति सन्देह होना, विचिकित्सासम्प्रयुक्त चित्त है । यह सन्देह अन्यमतावलम्बी धर्म-कथकों के द्वारा बुद्ध-आदि के सम्बन्ध में मिथ्या-प्रचार करने से भी उत्पन्न हो सकता है और स्वयं अपने आप जगत्कर्तृत्व-आदि के विषय में मीमांसा करन से भी उत्पन्न हो सकता है; जैसे – जब बुद्ध सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकते तो वे भगवान् कैसे हो सकते हैं? अथवा जब वे जन्ममरणधर्मा हैं तो उन्हें भगवान् कैसे कहा जा सकता है? इत्यादि—इस प्रकार अपने अपने धर्म की मान्यता के अनुसार विचार करने से सन्देह का उत्पाद हो सकता है । उस सन्देह के, दूसरों के द्वारा प्रेरित होने से अथवा अपने आप विचार करने से, उत्पन्न होने पर भी उस (विचिकित्सा) के स्वभाव में तीक्ष्णता या मन्दता का भेद नहीं होता ।

"असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक – यह नामकरण, केवल 'सङ्खार' के होन या न होने मात्र से नहीं किया जाता, अपितु एक ही चित्त में तीक्ष्णता एवं मन्दता – इन दो भेदों के होने से ही होता है; क्योंकि तीक्ष्णता एवं मन्दता, ये भेद, इस विचिकित्सासम्प्रयुक्त चित्त में नहीं होते, अतः यह असंस्कारिक या ससंस्कारिक नहीं होता । इसी प्रकार औद्धत्यसम्प्रयुक्त चित्त में भी संस्कार-भेद को समझना चाहिये[1]।"

विसुद्धिमग्ग-महाटीकाकार ने भी ऐसा ही आशय व्यक्त किया है; यथा –

"आरम्मणे हि संसप्पनवसेन, विक्खिपनवसेन च पवत्तमानस्स चित्तद्वयस्स कोंदिरे किच्चे सभावतिक्खताय उस्साहेतब्बताय वा भवितब्बं, तस्मा न तत्थ सङ्खारभेदो अत्थि[2]।"

अर्थात् आलम्बन में संसर्पणवश (सन्देहवश) अथवा विक्षेपणवश (औद्धत्यवश) प्रवर्तमान मोहमूल दोनों चित्तों को किसी भी प्रकार के कृत्य में स्वभावतीक्ष्णता से अथवा स्वभावमन्दता (उत्साहनीयता) से प्रवृत्त होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः इन (मोहमूल) दोनों चित्तों में संस्कारभेद नहीं होता ।

---

१. प० भा० टी० ।

२. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२१ ।

"मूलन्तरविरहेन चिकिच्छुद्धच्चयोगतो।
सम्मूळ्हं चञ्चलं तेन सोपेक्खं एकहेतुकं[1] ।।"

अपि च –

"मूलत्ता चेव संसप्पविक्खेपा चेकहेतुकं।
सोपेक्खं सब्बदानो च भिन्नं सङ्खारभेदतो[2] ।।"

उद्धच्चसम्पयुत्तं – उद्धच्च (औद्धत्य) चैतसिक के सभी अकुशल चित्तों से सम्प्रयुक्त होने पर भी क्यों केवल अन्तिम अकुशल चित्त को ही 'उद्धच्चसम्पयुत्तं' कहा गया है ?

उत्तर – यद्यपि उद्धच्च सभी अकुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है तथापि पूर्व पूर्व अकुशल चित्तों में उसकी शक्ति विभूत (स्पष्ट) नहीं होती । यह उनमें अप्रधान रूप से ही सम्प्रयुक्त होता है । इस अन्तिम अकुशल चित्त में इसकी शक्ति विभूत होती है और यह इसमें प्रधान रूप से सम्प्रयुक्त होता है । अतएव इस चित्त को 'उद्धच्चसम्पयुत्तं' कहा गया है ।

यद्यपि लोभमूल-आदि चित्तों में भी उद्धच्च सम्प्रयुक्त होता है तथापि, उन चित्तों में होनेवाले लोभ, दृष्टि, मान-आदि विभूततर धर्मों की शक्ति के द्वारा इसके अभिभूत हो जाने के कारण वहाँ इसकी शक्ति अभिभूत ही रहती है । अन्तिम अकुशल चित्त में लोभ, दृष्टि, मान-आदि चैतसिक धर्मों के सम्प्रयुक्त न होने के कारण इसकी शक्ति यहाँ प्रधान होती है । यथा –

"सब्बाकुसलयुत्तं पि उद्धच्चं अन्तमानसे।
बलवं इति तं येव वुत्तमुद्धच्चयोगतो[3] ।।"

संस्कारविनिश्चय – कुछ आचार्य इस मोमूहचित्त को असंस्कारिक तथा कुछ आचार्य इसे ससंस्कारिक कहते हैं । वस्तुतः यह न तो असंस्कारिक ही है और न ससंस्कारिक ही; अपितु उपेक्षासहगत-विचिकित्सासम्प्रयुक्त एवं उपेक्षासहगत-उद्धच्च-सम्प्रयुक्त हैं[4] ।

'धम्मसङ्गणिपालि'[5] में लोभमूल, द्वेषमूल एवं कामशोभन चित्तों में पश्चिम पश्चिम चित्तों को 'ससङ्खारेन' कहा गया है, अतः अट्ठकथाचार्य पूर्व पूर्व चित्तों की 'असंस्कारिक' नाम से, तथा पश्चिम पश्चिम चित्तों की 'ससंस्कारिक' नाम से व्याख्या करते हैं[6] । वहाँ पर लोभमूल एवं द्वेषमूल चित्तों में असंस्कारिक तथा ससंस्कारिक की

१. ब० भा० टी० ।
२. विभा०, पृ० ६२ ।
३. विभा०, पृ० ६२ ।
४. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३१ ।
५. द्र० – ध० स०, पृ० ३६, ९७, १०३ ।
६. द्र० – अट्ठ०, पृ० १२७, २०९ ।

अहेतुकचित्तानि (१८)

अकुसलविपाकानि

८. उपेक्खासहगतं चक्खुविञ्ञाणं, तथा सोतविञ्ञाणं, घानविञ्ञाणं*, जिव्हाविञ्ञाणं, दुक्खसहगतं कायविञ्ञाणं, उपेक्खासहगतं सम्पटिच्छनचित्तं† उपेक्खासहगतं सन्तीरणचित्तञ्चेति† इमानि सत्त पि अकुसलविपाकचित्तानि नाम।

उपेक्षा-सहगत चक्षुर्विज्ञान, उसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, दुःख-सहगत काय-विज्ञान, उपेक्षा-सहगत सम्पटिच्छन (सम्प्रत्येषण) चित्त एवं उपेक्षा-सहगत सन्तीरण चित्त – इस प्रकार ये सात चित्त अकुशल-विपाक चित्त हैं.

अहेतुक चित्त

अकुशलविपाक

८. अहेतुक – अहेतुक चित्त वे हैं जिनके साथ हेतुचैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होते। पालि-अभिधर्म के अनुसार हेतु छः होते हैं, जिनमें तीन अकुशल हेतु एवं तीन कुशल अथवा अव्याकृत हेतु होते हैं। अकुशल हेतु – लोभ, द्वेष एवं मोह। कुशल अथवा अव्याकृत हेतु – अलोभ, अद्वेष एवं अमोह[1]।

ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में तीन अकुशलमूलों के द्वारा अकुशल चित्तों का त्रिविध विभाग करके तथा सम्प्रयोग-आदि के द्वारा बारह प्रकार का विभाग करके वर्णन किया है। अहेतुक चित्तों में अकुशलविपाक, कुशलविपाक एवं क्रिया—इस तरह तीन प्रकार के चित्त होते हैं; क्योंकि चित्तपरिच्छेद में सर्वप्रथम अकुशल चित्तों का वर्णन है, अतएव अहेतुक चित्तों में भी सर्वप्रथम अकुशलविपाक का वर्णन करना न्यायसङ्गत है[2]।

चक्खुविञ्ञाणं – 'चक्खुस्मि निस्सितं विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं[3]' अर्थात् चक्षुः-

---

* घाण० – सी० (सर्वत्र)।

†-† सम्पटिच्छन्नं तथा सन्तीरणञ्चेति – स्या०; सम्पतिच्छन० – म० (क) ('ति' सर्वत्र)।

१. द्र० – अभि० स० ३ : १६।

२. द्र० – विभा०, पृ० ६३; तु० – प० दी०, पृ० ३३।

३. "विजानाती ति विञ्ञाणं। यथाह – 'विजानाति विजानातीति खो भिक्खवे, तस्मा विञ्ञाणं ति वुच्चती' ति। चक्खुं निस्सितं विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं चक्खुना वा पच्चयभूतेन जनितं विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं, कम्मेन वा चक्खुस्स उपनीतं विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं, चक्खतो वा जातं विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं, चक्खुस्स वा इन्द्रियभावेन सामिभूतस्स विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं, चक्खुस्मि वा उपपन्नं विञ्ञाणं चक्खुविञ्ञाणं।" – प० दी०, पृ० ३३-३४; तु० – विभा०, पृ० ६३।

७. अट्ठधा लोभमूलानि दोसमूलानि च द्विधा ।
मोहमूलानि च द्वे ति द्वादसाकुसला सियुं ।।

आठ प्रकार के लोभमूल चित्त, दो प्रकार के द्वेषमूल चित्त तथा दो प्रकार के मोहमूल चित्त – इस प्रकार कुल बारह अकुशल चित्त होते हैं ।

---

७. **अकुसला** – 'न कुसला अकुसला' अर्थात् जो कुशल नहीं है वे 'अकुशल' कहलाते हैं । यहाँ पर 'न' ('नञ्') शब्द सामान्यप्रतिषेधार्थक नहीं है, अपितु यह प्रतिपक्ष अर्थ का द्योतक है । कुशलधर्म प्रहायकधर्म एवं अकुशलधर्म प्रहातव्यधर्म होते हैं । इस तरह ये परस्पर एक दूसरे के प्रतिपक्ष होते हैं । अतः जो धर्म कुशल के प्रतिपक्ष (विरुद्ध) हैं, वे अकुशल कहलाते हैं ।

अकुशल चित्त

अकुशल चित्त समाप्त ।

अकुशलविपाक – अन्योन्यविरुद्ध कुशल एवं अकुशल धर्मों के पाक को विपाक कहते हैं। अथवा[1] परस्पर विशिष्ट कुशल, अकुशल धर्मों के पाक को विपाक कहा जाता है। "पहायक-पहातब्बभावेन विरुद्धानं पाका ति विपाका[2]"। अकुशल चित्तों के विपाक को यहाँ अकुशल विपाक कहा गया है।

कर्मज रूप विपाक नहीं हैं – कुशल, अकुशल धर्मों के पाक को यदि विपाक कहते ह तो इन धर्मों से उत्पन्न कर्मज रूपों को क्यों विपाक नहीं कहा जाता ?

उत्तर – अभिधर्म में प्रयुक्त विपाक शब्द, कारणभूत कुशल-अकुशल धर्मों के समान होनेवाले नामधर्मों, आलम्बन को ग्रहण करनेवाले सालम्बन धर्मों और उसी प्रकार कृष्ण (अकुशल) एवं शुक्ल (कुशल) धर्मों के समान होनेवाले नाम-विपाक धर्मों को ही कहनेवाला शब्द है। अतएव कारणकर्मों (कुशल-अकुशल) अर्थात् अरूपी नामधर्मों से असमान होनेवाले कर्मज रूपों को विपाक नहीं कहा जा सकता; यथा—

"विपाकभावमापन्नानं अरूपधम्मानमेतं अधिवचनं[3]।"

जैसे पृथ्वी में बोये हुए बीज से उससे असदृश अङ्कुर, शाखा, पत्र-आदि के उत्पन्न होने पर भी उन्हें विपक्व नहीं कहा जाता और उसके सदृश फल के उत्पन्न होने पर उसे विपक्व कहा जाता है, उसी तरह कारणभूत कुशल, अकुशल कर्मों से असदृश कर्मज रूपों के उत्पन्न होने पर भी उन्हें विपाक नहीं कहा जाता और उनके सदृश नाम-धर्मों के उनसे उत्पन्न होने पर उन्हें विपाक कहा जाता है[4]। (यहाँ पर बीज, कुशल-अकुशल कर्म हैं, अङ्कुर, पत्र-आदि कर्मज रूप हैं तथा फल, चित्त-चैतसिक विपाक हैं।)

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार का कहना है कि चेतना-समङ्गिता, कम्म-समङ्गिता, उपट्ठान-समङ्गिता एवं विपाक-समङ्गिता – इस प्रकार चार समङ्गितायें होती हैं। (ञाण-विभङ्ग-अट्ठकथा में आयूहन-समङ्गिता के साथ पाँच समङ्गिताओं को कहा गया है[5]।) इनमें से कर्म को आरब्ध करते समय चेतना का क्षण-त्रय से सम्पन्न होना 'चेतना-समङ्गिता' है। उस चेतना के उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्था-क्रम को पूर्ण करके निरुद्ध हो जाने पर भी अनागत में विपाक के रूप में उत्पन्न होने के लिये वह अपने सभी आकारों से परिपूर्ण क्रियाविशेष को चित्त-सन्तति में निक्षिप्त करके ही निरुद्ध होती है। निरुद्ध चेतना का यह क्रिया-विशेष जब तक फल देने का अवकाश प्राप्त नहीं करता, तब तक सहस्रों कल्पों तक उस सन्तान में अनुगत ही होता है। वह एक परमार्थ-धर्म नहीं कहा जा सकता, अपितु अनुशय-धातु की तरह होता है; सन्तान में अनुगत यह क्रिया-विशेष ही 'कम्म-समङ्गिता' है। जब वह (क्रिया-विशेष) अपने अनुरूप उपकार को प्राप्त करता है, तब कर्म, कर्म-निमित्त एवं गति-निमित्त में से किसी एक आलम्बन को प्रतिभासित कराता है। उस प्रतिभासित आलम्बन का

---

१. "अञ्ञमञ्ञं विसिट्ठानं कुसलाकुसलानं पाका ति विपाका" – अट्ठ०, पृ० ३६।
२. अट्ठ०, पृ० ३६; विभा०, पृ० ६४।
३. विभा०, पृ० ६४; प० दी०, पृ० ३६।
४. प० दी०, पृ० ३५।
५. विभ० अ०, पृ० ४४२।

प्रसाद में आश्रित विज्ञान को 'चक्षुर्विज्ञान' कहते हैं। इसी तरह श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान एवं कायविज्ञान को भी जानना चाहिये[१]।

उपेक्खासहगतं – चक्षुर्विज्ञान-आदि चार विज्ञानों के द्वारा रूप-आदि विषयों का केवल आलम्बनमात्र किया जाता है। उनका वेदना के रूप में स्पष्टतया अनुभव नहीं होता। अतः उपर्युक्त चित्त उपेक्षा से ही सम्प्रयुक्त होते हैं[२]।

दुक्खसहगतं कायविञ्ञाणं – दुःख दो प्रकार के होते हैं; यथा – कायिक दुःख एवं चैतसिक दुःख। यहाँ पर केवल कायिक दुःख का ग्रहण करना चाहिये। कायेन्द्रिय से स्पर्श के कारण जो प्रतिकूल अनुभव होता है, वह कायिक दुःख है। अकुशलविपाक के कारण जो काय-विज्ञान उत्पन्न होता है, वह सर्वदा दुःखसहगत ही होता है; अतएव 'दुक्खसहगतं कायविञ्ञाणं' कहा गया है। 'कुच्छितं हुत्वा खनतीति दुक्खं' कुत्सित होकर जो धर्म सुख का उत्खनन करता है, वह दुःख है। 'दुक्ख' शब्द का 'दु' कुत्सित अर्थ मे प्रयुक्त है। अतएव विभावनीकार ने 'दु=कुच्छितं हुत्वा खनति कायिकसुखं' – ऐसी व्याख्या की है[३]। 'परमत्थदीपनी' में 'दुक्खयतीति दुक्खं, सम्पयुत्तधम्मे तंसमङ्गिपुग्गलं वा बाधति हिंसतीति अत्थो, दुट्ठु वा खनति कायिकसुखं ति दुक्खं' – ऐसी व्याख्या की गई है[४]।

सम्पटिच्छनं – चक्षुर्विज्ञान-आदि पाँच विज्ञानों को पञ्चविज्ञान कहा जाता है। इन पाँच विज्ञानों द्वारा गृहीत आलम्बन का जो सम्यग् ग्रहण करता है, वह 'सम्पटिच्छन' (सम्प्रत्येषण) है; यथा – 'पञ्चविञ्ञाणगहितं रूपादिआरम्मणं सम्पटिच्छति तदाकारप्पवत्तिया ति सम्पटिच्छनं[३]'।

सन्तीरणं – सम्पटिच्छन के द्वारा जिस आलम्बन का ग्रहण किया गया है, उस पर मीमांसा करना सन्तीरण है; यथा – "सम्मा तीरेति यथासम्पटिच्छितं रूपादिआरम्मणं वीमंसतीति सन्तीरणं[३]"। विभावनीकार ने 'सन्तीरण' की व्याख्या में 'तीरेति' शब्द की व्याख्या 'वीमंसति' की है; किन्तु 'पोराणटीका' (सङ्गहटीका) में 'निट्ठापेति' की गई है[५], जिसका अर्थ केवल मीमांसा करना नहीं, अपितु निर्णय पर पहुँचना है।

इन अहेतुक चित्तों में कोई मूल सम्प्रयुक्त नहीं होता। ये कुशल या अकुशल के विपाकस्वरूप चित्तसन्तति में अपने आप उत्पन्न होनेवाले धर्म हैं। यथा – प्रतिसन्धि के अनन्तर पञ्चविज्ञान, तदनन्तर सम्पटिच्छन, सन्तीरण-आदि चित्तसन्तति में विपाक के रूप में अपने आप उत्पन्न होते हैं। विपाक होने के कारण इन में लोभ-आदि हेतुओं का होना आवश्यक नहीं, अतएव ये अहेतुक कहे जाते हैं[६]।

---

१. चक्षुः-आदि के वचनार्थ, स्वरूप एवं उत्पत्ति-आदि के व्याख्यान के लिए द्र० – अभि० स० ३ : ३४-३५; ६ : ५।

२. "वत्थालम्बसभावानं, भूतिकानम्हि घट्टनं।
दुब्बलं इति चक्खादि, चतुचित्तमुपेक्खकं।" – विभा०, पृ० ६५।
विस्तार के लिए द्र० – प० दी०, पृ० ३८।

विभा०, पृ० ६४।

४. प० दी०, पृ० ३४।

अभि० स० टी० (पोराणटीका), पृ० २८९।

६. विभा०, पृ० ६५।

एक उपेक्षा-सहगत सन्तीरण ही कहा गया है। कुशल-विपाक में आलम्बन दो प्रकार के होते हैं – इष्ट-आलम्बन एवं इष्ट-मध्यस्थालम्बन। इष्ट-मध्यस्थालम्बन वह होता है, है, जो न अति इष्ट होता है न अनिष्ट ही। जब आलम्बन इष्ट होता है तब सौमनस्य-सहगत सन्तीरण तथा जब आलम्बन इष्ट-मध्यस्थ होता है तो उपेक्षासहगत सन्तीरण का उत्पाद होता है[1]।

पुनश्च – जैसे कुशल-विपाक में दो प्रकार के आलम्बन होते हैं और उनके कारण दो प्रकार के सन्तीरण उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार अकुशल-विपाक में भी अनिष्ट-आलम्बन एवं अनिष्ट-मध्यस्थ आलम्बन, इस प्रकार द्विविध आलम्बन क्यों नहीं होते? और उनके कारण दौर्मनस्यसहगत सन्तीरण एवं उपेक्षासहगत सन्तीरण – इस प्रकार द्विविध सन्तीरण क्यों नहीं होते?

समाधान – यह ठीक है कि आलम्बन के अनिष्ट होने पर दौर्मनस्यसहगत सन्तीरण होना चाहिये, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि दौर्मनस्य विना प्रतिघ के नहीं होता और प्रतिघ-चित्त के सर्वथा अकुशल-स्वभाव होने से भिन्नजातीय होने के कारण इन अव्याकृत-चित्तों (विपाक चित्त एवं क्रियाचित्त) में उसका होना सर्वथा असम्भव है[2]।

चक्षुर्विज्ञानादि चार विज्ञान—चक्षुर्विज्ञान श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान एवं जिह्वा-विज्ञान – ये चारों विज्ञान, चाहे अकुशल-विपाक हों चाहे कुशल-विपाक, सर्वदा उपेक्षा-सहगत ही क्यों होते हैं?

उत्तर – चाहे अकुशल-विपाक में अनिष्ट आलम्बन हो चाहे कुशल-विपाक में इष्टालम्बन, किन्तु इन दोनों विज्ञानों की उत्पत्ति में वस्तु (प्रसाद) और आलम्बन का घट्टन (संस्पर्श) इतना दुर्बल होता है कि तज्जन्य विज्ञान उपेक्षा-वेदना-सहगत ही होता है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण एवं जिह्वा – ये चारों वस्तु (प्रसाद) उपादाय-रूप हैं तथा उनके आलम्बन – रूप, शब्द, गन्ध एवं रस भी उपादाय-रूप हैं। उपादाय-रूपों का उपादाय-रूपों से घट्टन भी अतिदुर्बल ही होता है। जैसे – एक पिचु (रूई)-पिण्ड का दूसरे पिचु-पिण्ड से घट्टन (घर्षण) अतिदुर्बल होता है[3]।

काय-विज्ञान – प्रश्न है कि जब चक्षुर्विज्ञान-आदि चारों विज्ञान उपेक्षासहगत होते हैं तब काय-विज्ञान दुःखसहगत अथवा सुखसहगत क्यों होता है?

समाधान – काय-विज्ञान, काय-प्रसाद और स्प्रष्टव्य-आलम्बन के घट्टन से उत्पन्न होता है। इनमें कायवस्तु (काय-प्रसाद) उपादाय-रूप है और स्प्रष्टव्य-विषय पृथ्वी-धातु, तेजोधातु एवं वायुधातु हैं। ये तीनों महाभूत हैं। पहले कहा जा चुका है कि काय-प्रसाद उपादाय-रूप है और उपादाय-रूप विना महाभूतों के नहीं होता। इसका

---

१. अभि० स० ४ : २८ – ३२।
२. विभा०, पृ० ६४; प० दी०, पृ० ३९।
३. प० दी०, पृ० ३८; विभा०, पृ० ६५।

अहेतुककुसलविपाकानि

९. उपेक्खासहगतं कुसलविपाकं* चक्खुविञ्ञाणं तथा सोतविञ्ञाणं, घानविञ्ञाणं, जिव्हाविञ्ञाणं, सुखसहगतं कायविञ्ञाणं, उपेक्खासहगतं सम्पटिच्छनचित्तं†, सोमनस्ससहगतं सन्तीरणचित्तं‡, उपेक्खासहगतं सन्तीरणचित्तञ्चेति इमानि अट्ठ पि कुसलविपाकाहेतुकचित्तानि नाम।

उपेक्षा-सहगत कुशल-विपाक चक्षुर्विज्ञान, उसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, सुख-सहगत काय-विज्ञान, उपेक्षा-सहगत सम्पटिच्छन चित्त, सौमनस्यसहगत सन्तीरणचित्त एवं उपेक्षा-सहगत सन्तीरण-चित्त—इस तरह ये आठ अकुशल-विपाक अहेतुकचित्त हैं।

अहेतुकक्रियाचित्तानि

१०. उपेक्खासहगतं पञ्चद्वारावज्जनचित्तं*, तथा मनोद्वारावज्जनचित्तं†, सोमनस्ससहगतं हसितुप्पादचित्तञ्चेति इमानि तीणि पि अहेतुकक्रियाचित्तानि‡ नाम ।

उपेक्षासहगत पञ्चद्वारावर्जनचित्त, उसी प्रकार मनोद्वारावर्जनचित्त एवं सौमनस्यसहगत हसितोत्पादचित्त—इस प्रकार ये तीनों अहेतुक क्रिया-चित्त हैं ।

विपाक एवं क्रियाचित्तों को पृथक् करने के लिये इनमें 'अहेतुक'—यह विशेषण दिया गया है ।

अहेतुकक्रियाचित्त

१०. पञ्चद्वारावज्जनं – चक्षु:, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय – ये पञ्चद्वार कहलाते हैं । इनमें घट्टित आलम्बन का जो आवर्जन करता है, अथवा उस आलम्बन में जो आभोग करता है वह 'पञ्चद्वारावर्जनचित्त' है[१] ।

अथवा – जो, चित्त-सन्तति को भवङ्ग के रूप में प्रवर्तित होने का अवकाश न देकर उसे वीथि-चित्त होने के लिये परिणमित करता है, वह 'पञ्चद्वारावर्जनचित्त' है[२] ।

उपेक्खासहगतं – पञ्चद्वारावर्जनचित्त किसी अन्य चित्त के द्वारा अगृहीत आलम्बन का पहले-पहल और केवल एक बार ग्रहण करता है, अतः दुर्बल होने के कारण उपेक्षासहगत ही होता है[३] ।

मनोद्वारावज्जनं – मनोद्वारावर्जनचित्त का अनन्तरप्रत्ययभूत भवङ्गचित्त (भवङ्गोपच्छेद-चित्त) वीथि-चित्तों की प्रवृत्ति का द्वारभूत होने से 'मनोद्वार' कहलाता है । इस (मनोद्वार) में दृष्ट, श्रुत, आवद्ध-आदि के वश से अभिनिपतित आलम्बन का जो आवर्जन करता है, उसे 'मनोद्वारावर्जनचित्त' कहते हैं ।

अथवा – उपर्युक्त नय के अनुसार जो, चित्त-सन्तति को भवङ्ग के रूप में प्रवर्तित होने का अवकाश न देकर उसे वीथि-चित्त होने के लिये परिणमित करता है, वह मनोद्वारावर्जनचित्त है । यह मनोद्वारावर्जनचित्त ही पञ्चद्वार में सन्तीरण के द्वारा मीमांसित आलम्बन का व्यवस्थापन (वोट्ठपन)-कृत्य करता है, अतः इसे 'वोट्ठपन' भी कहते हैं[४] ।

---

* पञ्चद्वारावज्जनं – स्या० ।

† मनोद्वारावज्जनं – स्या० ।

‡ ० क्रियचित्तानि – म० (क०, ख०) ('क्रिय' सर्वत्र) ।

१. विभा०, पृ० ६६; प० दी०, पृ० ३७ ।

२. विभा०, पृ० ६६ ।

३. विभा०, पृ० ६५; प० दी०, पृ० ३९ ।

४. इस सम्बन्ध में प० दी० के विशिष्ट मत के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३७ ।

अर्थ यह हुआ कि काय-प्रसाद महाभूतों में अनुप्रविष्ट होता है। जब काय-प्रसाद में उसका स्प्रष्टव्य-आलम्बन उपस्थित होता है तब स्प्रष्टव्य रूप नामक महाभूत, काय-प्रसाद (उपादाय-रूप) का अतिक्रमण (भेदन) करके उस काय-प्रसाद के आधारभूत महाभूतों से जाकर टकराते हैं। महाभूतों का महाभूतों के साथ घट्टन अतिबलवान् होता है। इन द्विविध (आलम्बनगत एवं काय-प्रसादगत) महाभूतों के मध्यवर्ती काय-प्रसाद का अतिपीड़न होता है; जैसे – निहाई (अधिकरणी) पर पिचु-पिण्ड को रखकर घन (बड़े हथौड़े) के द्वारा पीटने के समय घन पिचु-पिण्ड का भेदन (अतिक्रमण) करके निहाई से जाकर टकराता है; उसी प्रकार यहाँ पर काय-प्रसाद के आधारभूत महाभूतों को निहाई, स्प्रष्टव्य आलम्बन को घन तथा काय-प्रसाद को पिचु-पिण्ड समझना चाहिये। इस प्रकार वस्तु और आलम्बन के घट्टन के अतिबलवान् होने से अकुशल विपाक में आलम्बन के अनिष्ट होने के कारण काय-विज्ञान दुःख हगत तथा कुशल-विपाक में आलम्बन के इष्ट होने से काय-विज्ञान सुखसहगत होता है[1]।

सम्पटिच्छनद्वय – अकुशल-विपाक एवं कुशल-विपाक में होनेवाले दोनों सम्पटिच्छन चित्त उपेक्षासहगत इसलिये होते हैं; क्योंकि ये अपने से असमान निश्रय (आधार) वाले चक्षुर्विज्ञान-आदि के अनन्तर उत्पन्न होते हैं। समान निश्रय (आश्रय) वाले धर्मों से अनन्तर-प्रत्यय-शक्ति के द्वारा उपकार न मिलने के कारण ये विषय के रस का सर्वथा अनुभव नहीं कर सकते, अतः उपेक्षा-सहगत ही होते हैं[2]। (चक्षु-विज्ञान-आदि पाँचों विज्ञान चक्षुर्वस्तु-आदि को निश्रय करते हैं और सम्पटिछन हृदय-वस्तु को निश्रय करते हैं, अतः इनके निश्रय परस्पर असमान होते हैं।)

कुशल-विपाक – कुशल-विपाक अहेतुकचित्तों में 'उपेक्खासहगतं कुसलविपाकं' इस स्थल पर जो 'कुसल-विपाक' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह 'चक्खु-विञ्ञाणं' का गुण-वाची विशेपण है तथा अन्त में 'कुसल-विपाकाहेतुकचित्तानि नाम' इस स्थल पर 'अकुसल-विपाक' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह संज्ञावाची है।

कुशल-विपाक एवं क्रिया-चित्तों को उपनिबद्ध करके ग्रन्थकार ने अन्त में उन्हें 'अहेतुक' शब्द के द्वारा विशेषित किया है; किन्तु अकुशल-विपाक चित्तों को उपनिबद्ध कर उन्हें अन्त में 'अहेतुक' शब्द के द्वारा विशेषित नहीं किया, ऐसा क्यों? इसलिये कि अकुशल-चित्तों का विपाक केवल एक अहेतुक ही होता है, अन्य नहीं; कुशल-विपाक एवं क्रियाचित्त केवल अहेतुक ही नहीं, अपितु सहेतुक भी होते हैं। अतएव यहाँ उन सहेतुक

---

१. अट्ठ०, पृ० २१३; विभा०, पृ० ६५; प० दी०, पृ० ३८।

२. "सम्पटिच्छनयुगळं पन अत्तना असमाननिस्सयानं चक्खुविञ्ञाणादीनमनन्तरं उप्पज्जतीति समाननिस्सयतो अलद्धानन्तरपच्चयताय सभागूपत्थम्भरहितो विय पुरिसो नातिबलवं सब्बथापि विसयरसमनुभवितुं न सक्कोतीति सब्बत्थापि उपेक्खासहगतमेव।" – विभा०, पृ० ६५; "सम्पटिच्छनचित्तं पन सब्बदुब्बलानं पञ्चविञ्ञाणानं अनन्तरं उपज्जतीति निच्चं दुब्बलं हुत्वा सब्बत्थ उपेक्खा-सहगतमेवा ति।" – प० दी०, पृ० ३८।

(अर्थात् दन्ताग्र को दिखाते हुए स्मित किया) यह व्याख्या की गई है[1]। इसमें दन्ताग्र का दिखलाई पड़ना 'हसित' का लक्षण है। ऐसी स्थिति में 'हसित' के द्वारा स्मित एवं हसित दोनों का ग्रहण करना युक्तियुक्त है।

सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त – सम्प्रयुक्तता को उपलक्षित करनेवाले दृष्टि, प्रतिघ, विचिकित्सा, औद्धत्य एवं ज्ञान नामक चैतसिकों से सम्प्रयुक्त न होने के कारण इन अठारह अहेतुक चित्तों को कुछ विद्वान् 'विप्रयुक्त' ही कहते हैं; परन्तु दो मोहमूल चित्तों को छोड़कर (क्योंकि ये सर्वदा सम्प्रयुक्त ही होते हैं) अन्य चित्तों में व्यवहृत होनेवाला 'सम्प्रयुक्त' एवं 'विप्रयुक्त' यह नाम परस्पर की सापेक्षता से उपलब्ध नाम ही है। अर्थात् जब कुछ चित्त 'सम्प्रयुक्त' होते हैं तो उनकी अपेक्षा से अन्य चित्तों को 'विप्रयुक्त' कहा जाता है। सम्प्रयुक्त या विप्रयुक्त होना, यह चित्तगत धर्म नहीं है। जैसे – 'दृष्टि' चैतसिक कुछ (चार) लोभमूल चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है, तथा कुछ (चार) लोभमूल चित्तों में सम्प्रयुक्त नहीं होता। दृष्टि के इस सम्प्रयोग को लक्ष्य करके दृष्टिसम्प्रयुक्त चित्तों को 'सम्प्रयुक्त' तथा इन 'सम्प्रयुक्त' चित्तों की अपेक्षा से सम्प्रयुक्त न होनेवाले चित्तों को 'विप्रयुक्त' कहा जाता है। इन लोभमूल चित्तों की तरह अहेतुक चित्तों में अन्योन्यसापेक्षता नहीं है, अतः उन्हें 'सम्प्रयुक्त' या 'विप्रयुक्त' नहीं कहा जा सकता। अपिच – किसी धर्म का कोई नामकरण कुछ स्थलों पर व्यवहार के लिये होता है। इन अहेतुक चित्तों का 'विप्रयुक्त' – इस नाम से व्यवहार कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता, ऐसी स्थिति में इन्हें 'सम्प्रयुक्त' कहना अथवा 'विप्रयुक्त' कहना अनावश्यक है।

असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक – ये चक्षुर्विज्ञान-आदि अठारह अहेतुकचित्त कारण-सम्पत्ति के समुपस्थित होने पर स्वतः (अपने आप) उत्पन्न हो जाते हैं। इनके उत्पाद के लिये किसी अन्य की प्रेरणा अपेक्षित नहीं है। अतः प्राचीन विद्वान् इन्हें असंस्कारिक कहते हैं, किन्तु परवर्ती विद्वान् इन्हें असंस्कारिक तथा ससंस्कारिक दोनों मानते हैं[2]; क्योंकि – मान लीजिये रूप, रस, गन्ध-आदि आलम्बनों में से कोई आलम्बन सम्मुख उपस्थित हैं, हम उन्हें ग्रहण करना नहीं चाहते; किन्तु किसी अन्य पुरुष के द्वारा प्रेरित किये जाने पर ग्रहण कर लेते हैं तो ऐसी स्थिति में ये चित्त ससंस्कारिक हो जाते हैं। यदि हम किसी अन्य के द्वारा प्रेरित न होकर अपने आप ग्रहण करते हैं तो इस अवस्था में ये चित्त असंस्कारिक होते हैं। इसीलिये परवर्ती आचार्य इन्हें असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक दोनों मानते हैं।

उपर्युक्त दोनों वाद समीक्षा करने से समुचित प्रतीत नहीं होते; क्योंकि – (क) चाहे हम किसी अन्य के द्वारा प्रेरित होकर आलम्बन का ग्रहण करें अथवा अपने आप ग्रहण करें, हमारे प्रेरित होने या न होने से जो चक्षुर्विज्ञान-आदि उत्पन्न होते हैं उनकी शक्ति में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य (अन्तर) नहीं आता। (ख) असंस्कारिक अथवा ससंस्कारिक होना, चित्त के स्वभाव की तीक्ष्णता एवं मन्दता पर

---

१. म० नि० अ०, पृ० २१३। २. प० दी०, पृ० ३९।

यह चित्त भी किसी अन्य चित्त के द्वारा अगृहीत (नवीन) आलम्बन का पहले-पहल ग्रहण करता है, तथा अपने से असदृश जवन-सन्तति की प्रवृत्ति के लिये उपकार करता है। अपिच, परित्तालम्बन-वीथि में यह चित्त पञ्चद्वार में वोट्ठपन (व्यवस्थापन)-कृत्य करता है और उस समय अपने से असदृश भवङ्ग-सन्तति का प्रवर्तन करता है। इस तरह अत्यधिक व्यापारबहुल होने के कारण इसे आलम्बन के अनुभव का भली-भाँति अवकाश नहीं मिलता। इसलिये यह उपेक्षासहगत होता है[1]।

हसितुप्पादचित्तं – 'हसितमेव उप्पादेतीति हसितुप्पादं[2]' अर्थात् ईषद् हास्य को ही जो उत्पन्न करता है, वह हसितोत्पादचित्त है। ईषद् हास्य के अतिरिक्त यह चित्त और कोई कृत्य नहीं करता। यद्यपि लोभमूल एवं कामावचर शोभनचित्त भी जो सौमनस्य-सहगत होते हैं, हास्य का उत्पाद करते हैं, तथापि वे हसितोत्पादचित्त नहीं कहलाते; क्योंकि वे हास्य के अतिरिक्त अन्य कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्मों का भी उत्पाद करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र के अनुसार हास्य छ प्रकार का होता है। यथा—

"सितमिह विकासिनयनं किञ्चालक्खियदिजं तु तं हसितं।
मधुरस्सरं विहसितं अंससिरोकम्पमुपहसितं॥
अपहसितं सजलक्खि विक्खित्तङ्गं भवत्यतिहसितं।
द्वे द्वे कथिता चेसं जेट्ठे मज्झेधमे कमसो[3]"॥

१. स्मित – केवल नयनमात्र विकसित होते हैं।
२. हसित – इसमें कुछ कुछ दाँत भी दिखाई पड़ते हैं।
३. विहसित – इसमें हँसी के साथ मधुर स्वर भी होता है।
४. उपहसित – इसमें स्कन्ध (कन्धे) और सिर का कम्प भी होता है।
५. अपहसित – इसमें आँखों में पानी आ जाता है।
६. अतिहसित – इसमें सम्पूर्ण अङ्गों का विक्षेप होता है।

इनमें दो दो हास्य क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम एवं अधम होते हैं।

उपर्युक्त हसितोत्पादचित्त केवल भगवान् बुद्ध एवं अर्हत् जनों की चित्त-सन्तान में ही उत्पन्न होता है; अतः यहाँ पर 'हसित' शब्द के द्वारा शिष्टजनोचित केवल ज्येष्ठ हास्य अर्थात् स्मित एवं हसित का ही ग्रहण किया जाता है।

कुछ लोग "सितं पात्वाकासि[4]" इस पालि के आधार पर 'हसित' शब्द के द्वारा केवल स्मित हास्य का ही ग्रहण करते हैं। किन्तु यह पक्ष समुचित नहीं है; क्योंकि उक्त वचन की अट्ठकथा में "'सितं पात्वाकासी' ति अग्गदन्ते दस्सेन्तो सितं पातु अकासि,"

---

१. तु० – विभा०, पृ० ६५; प० दी०, पृ० ३६।
२. विभा०, पृ० ६७; प० दी०, पृ० ३७।
३. तु० – साहि० ३ : २१७ – २१६, पृ० ११५; भ० ना० ६ : ५२ – ५६।
४. म० नि० (म० प०), पृ० ३००।

सोभनचित्तानि (५९)

१२. पापाहेतुकमुत्तानि सोभनानीति* वुच्चरे ।
एकूनसट्ठि चित्तानि अथेकनवुती पि वा ।।

अकुशल चित्तों (१२) तथा अहेतुक चित्तों (१८) को वर्जित कर अवशिष्ट ५९ चित्त 'शोभनचित्त' कहलाते हैं। ये ९१ भी होते हैं।

शोभनचित्त

१२. **शोभनचित्त** – 'सोभन्तीति सोभनानि' क्लेशादि धर्मों से विशुद्ध होने के कारण जो शोभित होते हैं वे चित्त 'शोभन' कहलाते हैं[1]। 'शोभन' यह नाम चित्त का नहीं, अपितु चैतसिक का है; क्योंकि चित्त का लक्षण तो केवल 'आलम्वन को जानना'-मात्र है। अतः उसे 'शोभन' अथवा 'अशोभन' नहीं कहा जा सकता। यदि वह श्रद्धा-आदि चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है तो 'शोभन' और यदि क्लेश (लोभ)-आदि चैतसिक धर्मों से सम्प्रयुक्त होता है तो 'अशोभन' (अकुशल) होता है। इस प्रकार चित्त का 'शोभन होना' अथवा 'अशोभन होना' सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक धर्मों पर निर्भर है। अतएव 'शोभन' यह नाम चैतसिक का है, चित्त का नहीं – ऐसा कहा गया है[2]।

'मनोपुब्बङ्गमा धम्मा' आदि वचनों के अनुसार सभी धर्मों में चित्त की प्रधानता को देखकर कुछ आचार्य 'शोभन' यह नाम चित्त का ही है – ऐसा प्रतिपादित करते हैं; किन्तु चित्त की प्रधानता उसके 'शोभन' नाम होने में नहीं है। जिसका स्व (अपना) भाव (लक्षण) शोभन होता है वही शोभन होता है। चित्त का स्वभाव (स्वलक्षण) शोभन नहीं है। अतः आचार्यों का यह मत विचारणीय है।

शोभनचित्तों से भिन्न चित्तों को 'अशोभन' कहते हैं। बारह अकुशल एवं अठारह अहेतुक, इस प्रकार तीस चित्त 'अशोभन' कहे जाते हैं[3]। इनमें से बारह अकुशल-

---

*सोभणानीति – स्या०, रो०, म० (ख), (सर्वत्र)।

१. "सोभणेहि सद्धादिगुणधम्मेहि युत्तिया ततो येव च सयम्पि सोभग्गप्पत्तिया सोभणानी ति।" – प० दी०, पृ० ४१।

२. तु० – "पृथिव्यादि यथा द्रव्यं, नीलादिगुणयोगतः।
तैस्तैर्विशेष्यते शब्दैश्चैत्तयोगान्मनस्तथा ।।
यथा सम्बन्धिसम्बन्धाद्, विकारोऽम्भसि लक्ष्यते।
तथा संसर्गिसंसर्गाच्चेतोविकृतिरीक्ष्यताम् ।।"
– अभि० दी० ११६, ११८ का०, पृ० ७७।

३. प० दी०, पृ० ४०; "द्वादसहि पापचित्तेहि अट्ठारसहि अहेतुकेहि चा ति समतिंसचित्तेहि विमुत्तानि चतुवीसति कामावचरानि पञ्चतिंस महग्गत-लोकुत्तरचित्तानि चा ति एकूनसट्ठि चित्तानि अनवज्जत्ता सहेतुकत्ता च सोभणानीति वुच्चन्ति।" – अभि० स० टी०, पृ० २९०।

इच्चेवं सब्बथा पि अट्ठारसाहेतुकचित्तानि समत्तानि ।

११. सत्ताकुसलपाकानि पुञ्ञपाकानि अट्ठधा ।
क्रियाचित्तानि तीणीति* अट्ठारस अहेतुका ॥

इस तरह सर्वथा अठारह अहेतुकचित्त समाप्त ।

अकुशलविपाक सात, कुशलविपाक आठ, क्रियाचित्त तीन--इस प्रकार अहेतुकचित्त कुल अठारह हैं ।

निर्भर करता है । इन अहेतुक चित्तों का स्वभाव न तीक्ष्ण होता है और न मन्द ही । (ग) भगवान् बुद्ध अथवा अट्ठकथाचार्यों ने इन अहेतुक चित्तों का असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक भेद से कहीं पर भी विभाग नहीं किया है । प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता अनुरुद्धाचार्य ने भी स्वयं 'वीथिमुत्तपरिच्छेद' (पञ्चम) में 'असङ्खारं ससङ्खारं विपाकानि न पच्चति'-के द्वारा अहेतुक-विपाक-चित्तों में असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक भेद के अभाव को प्रदर्शित किया है, अतः पर्यालोचन से इस निश्चय पर पहुँचना सम्यक् प्रतीत होता है कि ये अहेतुकचित्त असंस्कारिक अथवा ससंस्कारिक नहीं होते[1] ।

११. **विशेष** – अकुशल चित्त बारह, अहेतुक चित्त अठारह – इस प्रकार इन तीस चित्तों को 'अशोभन' भी कहा जाता है ।

[इनका 'अशोभन' यह नाम आगे शोभनचित्तों की व्याख्या के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जायेगा ।]

विशेष – इन अठारह अहेतुक चित्तों में दो सौमनस्य, एक दुःख तथा चौदह उपेक्षावेदना होती हैं । इनमें सम्प्रयुक्त-विप्रयुक्त एवं असंस्कारिक-ससंस्कारिक भेद नहीं है ।

अहेतुकचित्त

अकुशल विपाक	कुशल विपाक	क्रिया
१. उपेक्षासहगत चक्षुर्विज्ञान	१. उपेक्षासहगत चक्षुर्विज्ञान	१. उपेक्षासहगत–पञ्चद्वारावर्जन
२. उपेक्षासहगत श्रोत्रविज्ञान	२. उपेक्षासहगत श्रोत्रविज्ञान	
३. उपेक्षासहगत घ्राणविज्ञान	३. उपेक्षासहगत घ्राणविज्ञान	२. उपेक्षासहगत–मनोद्वारावर्जन
४. उपेक्षासहगत जिह्वाविज्ञान	४. उपेक्षासहगत जिह्वाविज्ञान	
५. दुःखसहगत कायविज्ञान	५. सुखसहगत कायविज्ञान	३. सौमनस्यसहगत–हसितोत्पाद
६. उपेक्षासहगत सम्पटिच्छन	६. उपेक्षासहगत सम्पटिच्छन	
७. उपेक्षासहगत सन्तीरण	७. सौमनस्यसहगत सन्तीरण	
	८. उपेक्षासहगत सन्तीरण	

अहेतुक चित्त समाप्त ।

---

* तीनीति – रो० ।

[1] "मूलटीकायं पन विपाकुद्धारे अहेतुकविपाकानं अपरिब्यत्तिकिच्चत्ता ससङ्खारिककम्मविरुद्धो असङ्खारिकभावो पि नत्थि, असङ्खारिककम्मविरुद्धो ससङ्खारिकभावो पि नत्थि ।" – प० दी०, पृ० ३९ । तु० – ध० स० मू० टी०, पृ० १३४ ।

ज्ञानसम्प्रयुक्त की उत्पत्ति के कारण –

१. पूर्वजन्म में किसी कुशल कर्म को करते समय 'इस कुशल कर्म से अनागत भव में प्रज्ञा की तीक्ष्णता हो' – ऐसी प्रार्थना करके यदि कुशल कर्म किया जाता है तो वह कर्म जिस भव में फल देता है, उस भव में पुद्गल तीक्ष्णज्ञानसम्पन्न होता है और उसमें प्रायः ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त ही उत्पन्न होते हैं। (पूर्वोक्त प्रकार से किये गये कुशल कर्मों को 'पञ्ञासंवत्तनिक' कर्म कहते हैं, इसी तरह किसी विद्यासंस्थान के लिये दान देना, निःशुल्क अध्यापन करना आदि 'पञ्ञासंवत्तनिक' कर्म हैं।)

२. अव्यापज्जलोकुपपत्ति – द्वेष एवं व्यापाद से रहित लोक (ब्रह्मलोक) में उत्पन्न होना। रूपभूमि में ऋतु की अनुकूलता, लौकिक-आलम्बन कामभूमि से विरह एवं द्वेष, व्यापाद-आदि से विसंयोग-आदि होते हैं; अतः इन ज्ञान-प्रतिबन्धक कारणों के न होने से रूपभूमि में चित्त प्रायः ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होते हैं। (द्वेष एवं व्यापाद से रहित रूपभूमि की प्राप्ति को ही 'अव्यापज्जलोकुपपत्ति' कहते हैं।)

३. इन्द्रिय-परिपाक – इन्द्रिय-परिपाक से तात्पर्य प्रज्ञेन्द्रिय के परिपाक से है। अल्पवयस्कता की अवस्था में चित्त के चञ्चल (अस्थिर) होने तथा काम-विषयों की ओर अत्यधिक प्रवण होने के कारण उक्त अवस्था में समाधि (एकाग्रता) की दुर्बलता होती है। वयस् (उम्र) की अधिकता होने पर चञ्चलता के कम हो जाने एवं ज्ञान के पुष्ट हो जाने से उक्त अवस्था में मानसिक स्थिति समाधि के ज्यादा अनुकूल होती है, अतः इस अवस्था में चित्त प्रायः ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होते हैं।

४. क्लेश-धर्मों से दूरीभाव – अल्पवयस्कता के होने पर भी यदि पुद्गल 'कम्मट्ठान' (कर्मस्थान) की भावना करते हैं, अथवा उनका विद्या के प्रति अनुराग होता है तो ऐसे पुद्गलों में ज्ञान की तीक्ष्णता होने से उनके चित्त प्रायः ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होते हैं।

५. तिहेतुकपटिसन्धिकता – अर्थात् तीन उक्कट्ठ (उत्कृष्ट) हेतुओं (अलोभ, अद्वेष एवं अमोह) से प्रतिसन्धि लेना। इन उत्कृष्ट हेतुओं से प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों का चित्त प्रायः ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होता है; क्योंकि उनके प्रतिसन्धि-बीज में ज्ञानधातु का सम्प्रयोग होता है।

ये पाँच कारण ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्तों की उत्पत्ति के कारण कहे जाते हैं[1]।

आठ कामावचर महाकुशलचित्तों का उत्पत्ति-क्रम –

१. जब कोई पुद्गल देय वस्तु को ग्रहण करनेवाले योग्य पात्र को अथवा किसी अन्य सौमनस्य के हेतु को प्राप्त करके 'मैंने दान किया' – इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को आगे करके कष्ट का अनुभव न करते हुए तथा इस दान-कर्म के लिये किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा (प्रोत्साहन) न प्राप्त कर अपने आप दान-आदि पुण्य-कर्मों को करता

---

१. पञ्ञासंवत्तनिककम्मुपनिस्सयता, अब्यापज्जलोकुपपत्तिता, इन्द्रियपरिपाकता, किलेसदूरता च ञाणुप्पत्तिया कारणं।" – प० दी०, पृ० ४१।

कामावचरसोभनचित्तानि (२४)

कामावचरकुसलचित्तानि

१३. **सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि कामावचरकुसलचित्तानि* नाम।**

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक—

इस प्रकार ये आठों कामावचर कुशलचित्त हैं।

चित्तों को अशोभन कहना तो समझ में आता है, इनके 'अशोभन' होने के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हो सकता। इसी तरह अहेतुकचित्तों में परिगणित सात अकुशल-विपाक भी 'अशोभन' ही हैं। तथा आठ कुशलविपाक भी अनिष्ट आलम्बन होने पर 'अशोभन' कहे जा सकते हैं; किन्तु आठ कुशलविपाक इष्टालम्बन होने पर कैसे 'अशोभन' हैं? यह समझ में नहीं आता। अपिच – इन्हीं अठारह अहेतुकचित्तों में एक हसितोत्पादचित्त भी है, जो केवल भगवान् बुद्ध एवं अर्हतों में ही होता है, वह भी कैसे 'अशोभन' हो सकता है? इस तरह इष्टालम्बन होने पर आठ कुशलविपाकों को तथा हसितोत्पादचित्त को 'अशोभन' कहना, विद्वानों के द्वारा एक विचारणीय प्रश्न है।

कामावचरकुशल-चित्त

१३. **ञाणसम्पयुत्तं** – 'जानाति यथासभावं पटिविज्झतीति ञाणं, ञाणेन सम्पयुत्तं ञाणसम्पयुत्तं'[1] जो जानता है, अर्थात् जो वस्तु का यथास्वभाव प्रतिवेध करता है, वह ज्ञान है। ज्ञान से सम्प्रयुक्त को ज्ञानसम्प्रयुक्त कहते हैं। यहाँ ज्ञान से, चैतसिकों में होनेवाले प्रज्ञा-चैतसिक से तात्पर्य है।

---

* सहेतुककामा० – स्या०।

१. विभा०, पृ० ६७; तु० – प० दी०, पृ० ४१।

सहेतुककामावचरविपाकचित्तानि

१४. सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तमसङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि सहेतुककामावचरविपाकचित्तानि नाम।

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक–

इस प्रकार ये आठों सहेतुक कामावचर विपाकचित्त हैं।

प्रत्येक के साथ 'मीमांसा'-अधिपति को छोड़कर 'छन्द'-अधिपति, 'वीर्य'-अधिपति तथा 'चित्त'-अधिपति – इस तरह तीन अधिपति होते हैं। अतः विप्रयुक्तों की सङ्ख्या २४०×३=७२० हुई। २४० सम्प्रयुक्तचित्तों में प्रत्येक चित्त के साथ चारों अधिपति होते हैं, अतः इनकी सङ्ख्या २४०×४=९६० है। अब विप्रयुक्त एवं सम्प्रयुक्त – दोनों की सम्मिलित सङ्ख्या १६८० हुई। इनमें प्रत्येक के साथ तीन कर्म[1] होते हैं, अतः ये १६८०×३=५०४० हुए। इनमें भी प्रत्येक के हीन, मध्यम एवं प्रणीत भेद करने पर ये ५०४०×३=१५१२० होते हैं। इन्हें भी यदि अतीत-आदि भेद से भिन्न करके देखा जाय तो ये असङ्ख्य धर्म हो जाते हैं। इसलिये विभावनीकार कहते हैं कि 'अपि' शब्द 'सम्पिण्डन' अर्थ का द्योतक है।

"कम्मेन पुञ्ञवत्थूहि गोचराधिपतीहि च।
कम्महीनादितो चेव गणेय्य नयकोविदो[2] ॥"

कुसलचित्तानि – 'कुच्छिते पापके धम्मे सलयन्ति, चलयन्ति, कम्पेन्ति, विद्धंसेन्तीति कुसला[3]' कुत्सित पापधर्मों का जो नाश (ध्वंस) करते हैं, वे चित्त 'कुशलचित्त' कहलाते हैं[4]।

सहेतुक कामावचर विपाकचित्त

१४. विपाक – 'विपाक' शब्द की व्याख्या अहेतुकचित्तों के वर्णन के प्रसङ्ग में की

---

१. कायकर्म, वाक्कर्म, मनःकर्म। २. विभा०, पृ० ६८।

३. अट्ठ०, पृ० ३३-३४; विभा०, पृ० ६८; प० दी०, पृ० ४३।

४. विस्तार के लिये द्र० – विसु० महा०, खन्धनिद्देस।

है, तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्य-सहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त असंस्कारिकचित्त) कहलाता है।

२. जब कोई पुद्गल उपर्युक्त प्रकार से प्रसन्न होता होता हुआ सम्यग्दृष्टि को आगे करके भी दान की गई वस्तु के प्रति आसक्ति रखते हुए दुःखी होता है, अथवा किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा पाकर दान करता है, तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त द्वितीय कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त ससंस्कारिकचित्त) कहलाता है।

३. जब जाति-बन्धु अथवा अपने पूर्व-पुरुषों की परम्परा से परिचित बालक भिक्षुओं को देखकर सौमनस्य से युक्त होता हुआ सहसा हस्तगत वस्तु का दान कर देता है, अथवा प्रणाम, वन्दना-आदि के द्वारा सत्कार करता है तो इस प्रकार के पुद्गल का वैसा चित्त तृतीय कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्यसहगत ज्ञानविप्रयुक्त असंस्कारिकचित्त) कहलाता है।

४. किन्तु जब कोई बालक 'दान दो', 'वन्दना करो' – आदि प्रकार से जाति-बन्धु अथवा वृद्ध-पुरुषों से प्रेरणा पाकर दान, प्रणाम - आदि कृत्यों में प्रतिपन्न होता है, तो इस प्रकार के पुद्गल का वैसा चित्त चतुर्थ कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्य-सहगत ज्ञानविप्रयुक्त ससंस्कारिकचित्त) कहलाता है।

५.६.७.८. जब कोई पुद्गल देय वस्तु का दान करने के लिये किसी योग्य पात्र को अथवा सौमनस्य के किसी हेतु को प्राप्त करके कर्म के उपर्युक्त चार प्रकारों में सौमनस्य से रहित होकर दान-आदि कुशल-कर्मों का सम्पादन करते हैं, तो उक्त प्रकार के पुद्गलों में वैसे चित्त क्रमशः पञ्चम कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असंस्कारिकचित्त), षष्ठ कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त ससंस्कारिकचित्त), सप्तम कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञान-विप्रयुक्त असंस्कारिकचित्त) एवं अष्टम कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञान-विप्रयुक्तस संस्कारिकचित्त) कहलाते हैं[1]।

इमानि अट्ठ पि – इसमें 'अपि' शब्द अवयव-समुच्चय-बोधक है, किन्तु विभावनी-कार इसका 'सम्पिण्डन' अर्थ करके कुशलचित्तों का विस्तार दिखलाते हैं; यथा – आठ कुशलचित्तों में प्रत्येक के साथ दस पुण्य-वस्तु[2] हैं; अतः इनकी सङ्ख्या ८×१०=८० हुई। इनमें भी प्रत्येक के साथ छः गोचर-वस्तु[3] हैं, अतः ८०×६=४८० सङ्ख्या हुई। इन ४८० में २४० सम्प्रयुक्त तथा २४० विप्रयुक्त हैं। २४० विप्रयुक्त में

१. तु० – विभा०, पृ० ६७; विसु०, पृ० ३१६।

२. "दान-सील-भावना-अपचायन-वेय्यावच्च-पत्तिदान-पत्तानुमोदन-धम्मसवन-धम्मदेसना-दिट्ठिज्जुकम्मवसेन दसविधं होति।" – अभि० स० ५ : ५६।

३. रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन, स्प्रष्टव्यालम्बन एवं धर्मालम्बन।

इच्चेवं सब्बथा पि चतुवीसति सहेतुककामावचरकुसलविपाकक्रिया-चित्तानि समत्तानि।

इस तरह सर्वथा चौबीस – सहेतुक कामावचर कुशल, सहेतुक कामावचर विपाक, सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त समाप्त।

ज्ञानसम्प्रयुक्त असंस्कारिक' आदि चित्त फलोत्पादक नहीं होते, वे केवल 'करना'-मात्र होते हैं; अतः उन्हें क्रियाचित्त कहा जाता है। इसीलिये कुशलचित्त एवं क्रियाचित्त स्वभाव में और सङ्ख्या में भी समान ही होते हैं।

कुशल, अकुशल एवं क्रिया – इन शब्दों की व्याख्या परमत्थविनिच्छयकार निम्न प्रकार से करते हैं; यथा –

"रज्जनादिवसेनेत्थ जवनाकुसलं भवे।
कुसलं पन सम्भोति सद्धापञ्ञादिसम्भवे॥
तदेव वीतरागानं क्रिया नाम पवुच्चति।
अविपाकतमापन्नं वट्टमूलपरिक्खया"[1]॥

अर्थात् राग, द्वेष, मोह-आदि के वश से उत्पन्न जवनचित्त अकुशल हैं। श्रद्धा, प्रज्ञा-आदि के वश से उत्पन्न जवनचित्त कुशल होते हैं। ये कुशलचित्त ही जब अर्हत् की सन्तान में उत्पन्न होते हैं, तो अविद्या, तृष्णा-आदि संसार के मूल हेतुओं के क्षीण (नष्ट) हुए रहने से, फल देने में असमर्थ होने के कारण 'क्रियाचित्त' कहे जाते हैं।

इन कामावचर कुशल-विपाक-क्रियाचित्तों को महाकुशल, महाविपाक एवं महा-क्रिया कहा जाता है। इनमें 'महा' विशेषण देने में क्या हेतु है? इस सम्बन्ध में टीकाकारों का अभिमन्तव्य यह है कि रूपचित्त, अरूपचित्त एवं लोकोत्तरचित्तों की तरह ये महाकुशलचित्त निश्चित (सीमित) विपाक नहीं देते; अपितु सात काम-सुगति-भूमियों[2] में नौ कामसुगति-प्रतिसन्धिफल[3] को यथासम्भव देते हैं तथा प्रवृत्ति-काल में भी अनेकविध लौकिक सम्पत्तिरूप, जैसे – चक्रवर्तित्व, प्रदेशाधिपतित्व, लक्ष्मी-पतित्व, ऐश्वर्य-आदि – फल देनेवाले होते हैं। इनके फल देने की सीमा के अत्यन्त विस्तृत होने के कारण इनमें 'महा' विशेषण प्रयुक्त किया गया है; अतएव इनके विपाक को भी 'महाविपाक' कहा जाता है। क्रियाचित्त अर्हत् की सन्तान में होते हैं, अतः वे विपाक (फल) नहीं देते; किन्तु यदि वे विपाकोन्मुख हों तो कुशलचित्तों की तरह उनका विपाक असीमित ही होगा। अतः इन्हें 'महाक्रिया' कहा जाता है।

अथवा – कुछ आचार्यों का कथन है कि भगवान् बुद्ध इन चित्तों के द्वारा

---

१. परम० वि० १०८-१०९ का०, पृ० १३।
२. द्र० – अभि० स० ५:५।
३. द्र० – अभि० स० ५:१६-१७।

सहेतुककामावचरक्रियाचित्तानि

१५. सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि सहेतुककामावचरक्रिया-चित्तानि नाम।

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक–

इस प्रकार ये आठों सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त हैं।

जा चुकी है; अतः यहाँ पुनरुक्ति निरर्थक होगी। ये सहेतुक कामावचर विपाकचित्त, आठ कामावचर कुशलचित्तों के विपाक हैं – अतः इनकी सङ्ख्या भी आठ है। अहेतुक चित्तों में भी आठ कुशल-विपाक होते हैं; अतः उनसे भेद दिखाने के लिये इन चित्तों में 'सहेतुक' – यह विशेषण दिया गया है।

सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त

१५. **क्रियाचित्तानि** – 'करणं करणमत्तं किरियं' कुशलचित्तों की तरह इन चित्तों का विपाक नहीं होता, केवल 'करना'-मात्र ही होता है, अतः इन्हें क्रियाचित्त कहा जाता है।

पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों की तरह यद्यपि अर्हत् भी दान, शील, भावना-आदि कर्म करते हैं और इन कर्मों को करते समय उनके चित्त भी सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असंस्कारिक-आदि ही होते हैं, तथापि अविद्या, तृष्णा-आदि अनुशय-धातु से बद्ध पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों की भवसन्तति का, उन अविद्या, तृष्णा-आदि अनुशयों द्वारा उस (भवसन्तति) के निरवच्छिन्न प्रवाह के लिये अर्थात् भव-विच्छेद न होने देने के लिये, बन्धन कर दिया जाता है; अतः पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों की सन्तान में दान-आदि कुशल-कर्मों को करते समय उत्पन्न 'सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असंस्कारिक' आदि चित्त अनागत भव में अपने से सम्बद्ध फल का अवश्य उत्पाद करते हैं। अर्हतों की सन्तान में बन्धनकारक अविद्या, तृष्णा-आदि अनुशयों होने से दान, शील-आदि कर्म करते समय उत्पन्न उनके 'सौमनस्यसहगत

१७. कामे तेवीस पाकानि पुञ्ञापुञ्ञानि वीसति ।
एकादस क्रिया चेति चतुपञ्ञास सब्बथा ।।

एकादश कामभूमि में[1] विपाकचित्त २३, कुशल (८) एवं अकुशल (१२) चित्त २०, तथा क्रियाचित्त ११ होते हैं। इस तरह (कामभूमि में) सर्वथा कुल ५४ चित्त हैं।

---

१७. **कामचित्त** – उपर्युक्त गाथा सम्पूर्ण कामावचर चित्तों का सङ्क्षेप में निष्कर्ष है। ये सभी चित्त प्रायः कामभूमि में ही उपलब्ध होते हैं; अतः इन्हें 'कामावचर' कहते हैं – 'कामे अवचरन्तीति कामावचरा'। अकुशलचित्तों से लेकर यहाँ तक जितने चित्तों का वर्णन किया गया है उन सब चित्तों को 'कामचित्त' कहते हैं। यथा—

अकुशल	१२
अहेतुक	१८
कामावचर शोभन	२४
कुल	५४

इन ५४ कामावचर चित्तों में विपाक २३, कुशल (पुण्य), अकुशल (अपुण्य) २०, तथा क्रियाचित्त ११ होते हैं। यथा—

विपाक			कुशल-अकुशल			क्रिया		
अकुशल विपाक	७	=२३	अकुशल	१२	=२०	अहेतुक क्रियाचित्त	३	=११
अहेतुक कुशल विपाक	८		महाकुशल	८		महाक्रियाचित्त	८	
महाविपाक	८							=५४

विशेष – (क) कामावचर शोभनचित्तों की २४ सङ्ख्या को पालि के अनुसार जानना चाहिये।

(ख) इन ५४ कामचित्तों की वेदना-भेद से स्थिति इस प्रकार है – सौमनस्य १८, उपेक्षा ३२, दौर्मनस्य २, सुख १, एवं दुःख १ = ५४।

(ग) इनमें सम्प्रयुक्त २० तथा विप्रयुक्त १६ होते हैं, शेष अहेतुक चित्त १८, न सम्प्रयुक्त है न विप्रयुक्त = ५४।

(घ) इनमें असंस्कार १७ तथा ससंस्कार १७ होते हैं, शेष अहेतुक १८ एवं मोहमूल २, न असंस्कार हैं न ससंस्कार = ५४।

कामचित्त समाप्त।

---

१. द्र० – अभि० स० ५:६।

१६. वेदनाञाणसङ्खारभेदेन चतुवीसति ।
सहेतुकामावचरपुञ्ञपाकक्रिया मता ॥

वेदना, ज्ञान एवं संस्कार भेद से सहेतुक कामावचर कुशल-विपाक-क्रियाचित्त २४ माने गये हैं ।

प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं । उनके प्रतिसन्धिचित्त होने के कारण ये पूजार्ह हैं, अतः उनमें 'महा' विशेषण दिया गया है[1] ।

[इन टीकाकारों एवं आचार्यों के उपर्युक्त मत कहाँ तक युक्तियुक्त हैं, विद्वान् पाठक स्वयं विचार करें ।]

"रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकोत्तर नामक कुशलचित्तों से तुलना करके देखने पर इन महाकुशलचित्तों की सङ्ख्या अधिक होती है; अतः सङ्ख्यागत महत्त्व को अभिलक्षित करके इनमें 'महा' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है[2] ।"

सहेतुकविचार – यद्यपि 'सहेतुक' यह विशेषण कुशल, विपाक एवं क्रिया – इन तीनों के लिये समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, तथापि जहाँ तक विपाक एवं क्रिया का सम्बन्ध है यह विशेषण सार्थक प्रतीत होता है; क्योंकि अहेतुक चित्तों में भी विपाक एवं क्रियाचित्त होते हैं, अतः इनसे भेद दिखाने के लिये 'सहेतुक' यह विशेषण आवश्यक है। किन्तु कामावचर कुशलचित्तों के साथ यह विशेषण अनावश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि कुशलचित्त तो सर्वदा सहेतुक ही होते हैं और उनका किन्हीं अन्य चित्तों से पार्थक्य दिखाना अभीष्ट नहीं है। अतः कुशलचित्तों में उपर्युक्त विशेषण निष्प्रयोजन है।

१६. वेदनाञाणसङ्खारभेदेन – इन कामावचर कुशल, विपाक एवं क्रिया चित्तों में प्रत्येक में दो दो अर्थात् सौमनस्य एवं उपेक्षा वेदनाएं होती हैं – इस तरह वेदना-भेद से ये ३×२=६ होते हैं । फिर ये ६ चित्त भी प्रत्येक ज्ञानसम्प्रयुक्त एवं ज्ञान-विप्रयुक्त भेद से द्विविध होते हैं – इस तरह ये ६×२=१२ हो जाते हैं । ये बारह चित्त भी प्रत्येक 'सङ्खार' एवं 'असङ्खार' भेद से द्विविध होते हैं – इस तरह इनकी सङ्ख्या कुल चौबीस हो जाती है ।

कामावचर कुशल-विपाक-क्रिया-चित्त समाप्त ।

---

१. बर्मी परम्परा में इन चित्तों के लिये 'महा' – इस विशेषण का प्रयोग किया जाता है; अतः परमत्थदीपनीकार अपने ग्रन्थ में 'महाकुशल', 'महाविपाक' एवं 'महाक्रिया' शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

२. विभा०, पृ० ६९ ।

आदि कह कर इसी अर्थ को 'नामरूपपरिच्छेद' में "विचिकिच्छासहगतं उद्धच्चसहितं ति च[1]" इन शब्दों के द्वारा प्रकाशित किया है।

ध्यानाङ्ग, ध्यान एवं ध्यानचित्त – वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक ये पाँच चैतसिक पृथक् पृथक् ध्यानाङ्ग हैं। इन पाँचों का समुच्चय ध्यान कहा जाता है और इस ध्यान से सम्प्रयुक्त चित्त 'ध्यानचित्त' कहलाता है[2]। यहाँ चतुर्थध्यान में सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्ग तथा पञ्चमध्यान में उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्ग वर्णित हैं; इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रथमध्यान से लेकर चतुर्थध्यान-पर्यन्त सुखावेदना तथा पञ्चमध्यान में उपेक्षावेदना होती है। इस वेदना-भेद को दिखाने के लिये ही 'सुखेकग्गतासहितं' तथा 'उपेक्खेकग्गता-सहितं' – ऐसा कहा गया है।

[वितर्क, विचार-आदि पाँच ध्यानाङ्गों के लक्षण-आदि द्वितीय परिच्छेद (चैतसिकसङ्ग्रह) में विस्तार से कहेंगे।]

पठमज्झानकुसलचित्तं – ध्यान-भावना करनेवाले योगी को यह चित्त सर्वप्रथम प्राप्त होता है; भगवान् बुद्ध ने इसका उपदेश सर्वप्रथम किया है तथा गणना करने पर इसकी सर्वप्रथम गणना होती है – इस प्रकार प्रतिलाभ, देशना, एवं सङ्ख्या-क्रम से सर्वप्रथम होने के कारण इसे प्रथमध्यान कहा जाता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय-आदि ध्यानों को भी जानना चाहिये[3]।

---

१. नाम० प०, पृ० ६। २. प० दी०, पृ० ४७।

३. सर्वास्तिवाद सौत्रान्तिकवाद-आदि में कथित चतुर्विध ध्यान के लक्षण एवं स्वरूप इस प्रकार हैं—

प्रथम ध्यान—

"विविच्यकामैर्विविच्याकुशलधर्मैः सविचारं सवितर्कं कामविवेकजं प्रीतिसुखं प्राप्नोतीत्युच्यते प्रथमं ध्यानम्"—अभि० मृ०, पृ० ९४।

"प्रथमं ध्यानं पञ्चाङ्गम्। पञ्चाङ्गानि – वितर्को विचारः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रता च"—अभि० समु०, पृ० ६८।

"(आद्य पंच तर्क) चार-प्रीति-सुख-समाधय :।" – अभि० को० ८: ७, पृ० २२३।

"अङ्गान्याद्ये शुभे पञ्च, वितर्कश्चित्तसूक्ष्मता।
प्रीतिः सुखं समाधानं, क्लिष्टं सुखविवर्जितम्॥" – अभि० दी० ५४२ का०, पृ० ४०७।

द्वितीय ध्यान—

"वितर्कविचारोपशमात् अध्यात्मसम्प्रसादनः एकाग्रसमाहितः अवितर्कोऽविचारस्समाधिरुपजायते प्रीतिसुखसम्प्रयुक्तः। इति द्वितीयं ध्यानम्" – अभि० मृ०, पृ० ९५।

"द्वितीयं ध्यानं चतुरङ्गम्। चत्वार्यङ्गानि—अध्यात्मसम्प्रसादः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रता च"। – अभि० समु०, पृ० ६८।

"प्रीत्यादयः प्रसादश्च, द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम्।" अभि० को० ८ : ७, पृ० २२३।

"साध्यात्मसप्रसादास्तु, सुखप्रीतिसमाधयः।
द्वितीयेऽङ्गानि चत्वारि, क्लिष्टे श्रद्धासुखादृते॥" – अभि० दी० ५४३ का०।

रूपावचरसोभनचित्तानि (१५)

कुसलचित्तानि

१८. वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानकुसलचित्तं* , विचार-पीतिसुखेकग्गतासहितं दुतियज्झानकुसलचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततियज्झानकुसलचित्तं, सुखेकग्गतासहितं चतुत्थज्झानकुसलचित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानकुसलचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि रूपावचरकुसलचित्तानि नाम।

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्ग-सहित प्रथमध्यान कुशलचित्त,

विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान कुशलचित्त,

प्रीति, सुख, एवं एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान कुशलचित्त,

सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान कुशलचित्त,

तथा उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान कुशलचित्त–

इस तरह ये पाँचों रूपावचर कुशलचित्त हैं[1]।

रूपावचर कुशलचित्त

१८. इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की गयी है कि चित्त चार प्रकार के होते हैं; यथा–कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकोत्तर। कामावचरचित्तों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के अनन्तर अब यहाँ रूपावचरचित्तों का प्रतिपादन करने की इच्छा से अनुरुद्धाचार्य 'वितक्कविचारपीति'... आदि कहते हैं[2]।

मूल में प्रयुक्त 'सहितं' यह पद 'सहगत' का पर्यायवाची है। यही अर्थ अनुरुद्धाचार्य ने अपने 'नाम-रूपपरिच्छेद' नामक ग्रन्थ में–"सोमनस्ससहगतं उपेक्खासहितं तथा[3]"–इत्यादि वचनों द्वारा 'सहगत' एवं 'सहितं' को एक अर्थ में प्रयुक्त करके प्रकाशित किया है। इसी प्रकार 'सहित' एवं 'सहगत' 'सम्प्रयुक्त' के भी पर्यायवाची हैं; अतएव आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में 'विचिकिच्छासम्पयुत्तं, उद्धच्चसम्पयुत्तं'–

---

*पठम-ज्ञान ०–रो० (चतु० परि० पर्यन्त सन्धि सर्वत्र नहीं); म० (ख) (सन्धि सर्वत्र नहीं)

१. सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिकवाद-आदि में रूपावचर ध्यान चार हैं यथा–"चत्तारि ध्यानानि (रूपवातौ)–प्रथमध्यानं द्वितीयध्यानं तृतीयध्यानं चतुर्थध्यानं च"–अभि० मृ०, पृ० ६४; "द्विधा चत्वारि ध्यानानि।"–अभि को० ८ : १, पृ० २२१।

२. प० दी०, पृ० ४६, विभा०, पृ० ७०।

३. नाम० प०, पृ० ५।

झानं" तथा 'पच्चनीकधम्मे झापेतीति झानं" (जो प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी नीवरण-धर्मों का दहन करता है, वह ध्यान है) – ऐसा विग्रह किया जाता है ।

विशेष – (क) उपनिध्यानकृत्य का तात्पर्य है – 'कसिण-आदि आलम्बन का धैर्यपूर्वक ध्यान करना'। इस कृत्य का 'एकाग्रता' नामक ध्यानाङ्ग से सम्बन्ध है। यह एकाग्रता का पर्याय है, अतः यह एकाग्रता पाँचों ध्यानों में सङ्गृहीत है। एकाग्रता भी अकेले उपनिध्यानकृत्य में समर्थ नहीं है; वह वितर्क, विचार-आदि अङ्गों से सम्प्रयुक्त होकर ही उपर्युक्त कृत्य का सम्पादन करने में समर्थ होती है । वितर्क आलम्बन पर सम्प्रयुक्त धर्मों को आरोपित (प्रतिष्ठित) करता है । विचार उसी आलम्बन का 'अनुमज्जन' (पुनः पुनः विमर्श) करता है । प्रीति चित्त का प्रसाद है । सुख चित्त के द्वारा सुखावेदना का अनुभव है । इन चार ध्यानाङ्गों के अभिनिरोपण, अनुमज्जन-आदि कृत्यों के सहयोग से ही एकाग्रता उपनिध्यानकृत्य में समर्थ हो पाती है[2] ।

[मणिमञ्जूसाकार वितर्क, विचार-आदि ध्यानाङ्गों के अभिनिरोपण, अनुमज्जन-आदि कृत्यों को भी उपनिध्यानकृत्य कहते हैं[3], यह विचारणीय है।]

(ख) वितर्कध्यानाङ्ग – यह स्त्यान (थीन) एवं मिद्ध नामक प्रत्यनीकभूत नीवरण-धर्मों का दहन (प्रहाण) करता है । स्त्यान एवं मिद्ध का स्वभाव आलस्य है । इसके विपरीत वितर्क का स्वभाव सर्वदा अभिनिरोपण करना है; अतः विरुद्धस्वभाव होने से वितर्कध्यानाङ्ग स्त्यान एवं मिद्ध नामक नीवरण-धर्मों को अपनी सन्तान म नहीं आने देने के लिये उनका दहन (प्रहाण) करता है तथा सम्प्रयुक्त-धर्मों (चित्त-चैतसिकों) को आलम्बन में अभिनिरोपित करता है।

विचारध्यानाङ्ग – यह विचिकित्सा नामक नीवरण-धर्म का दहन करता है । वितर्क ने जिन सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में अभिनिरोपण किया था, विचिकित्सा उसमें संशय उत्पन्न कर सकती है; अतः विचार अभिनिरोपित धर्मों को प्राप्त-आलम्बन से हटने न देने के लिये आलम्बन का पुनः पुनः अनुमज्जन (विचार-विमर्श) करता है। अतः विचार, विचिकित्सा से विपरीतस्वभाव होने के कारण, विचिकित्सा का दहन करता है एवं कसिण-आदि आलम्बन का अनुमज्जन करता है ।

प्रीतिध्यानाङ्ग – यह व्यापाद नामक नीवरण-धर्म का दहन करता है । व्यापाद द्वेष ही है । वह चण्डलक्षण है, अतः आलम्बन के प्रति अप्रीति स्वभाववाला है। विचार के द्वारा पुनः पुनः अनुमज्जन करने पर भी यदि व्यापाद उसमें विघ्न उपस्थित करता है तो विचार आलम्बन का भली भाँति विमर्श नहीं कर सकता । प्रीति आलम्बन के प्रति प्रिय स्वभाववाली है । व्यापाद एवं प्रीति दोनों परस्पर विरुद्धस्वभाव होने के कारण, प्रीतिध्यानाङ्ग व्यापाद-नीवरण को चित्तसन्तति में न आने देने के लिये उसका

---

१. तु० – विसु०, पृ० १००।   २. तु० – विभा०, पृ० ७०; प० दी०, पृ० ४७।

३. "कसिणादीनि आरम्मणानि उपगन्त्वा निज्झानं ओलोकनं चिन्तनं वा उपनिज्झानं; किं तं ? अभिनिरोपणानुपबन्धन-पीणन-उपब्यूहन-समाधानानि । तमेव किच्चं उपनिज्झानकिच्चं।" – मणि०, प्र० भा०, पृ० १८२।

"पठमं पटिलद्धत्ता देसितत्ताय वुच्चते ।
सङ्ख्यातो पठमं झानं तथापि दुतियादिनि[1] ॥"

वितर्क आदि ध्यानाङ्ग क्यों है ? – इन रूपावचर चित्तों में स्पर्श (फस्स)-आदि चैतसिक भी तो सम्प्रयुक्त होते हैं, फिर केवल वितर्क-आदि पाँच चैतसिकों को ही क्यों ध्यान कहा जाता है ?

समाधान – यह ठीक है कि इनमें स्पर्श-आदि चैतसिक भी सम्प्रयुक्त होते हैं; किन्तु यहाँ वितर्क-आदि पाँच चैतसिक ही आलम्बन में 'उपनिध्यान'-कृत्य करते हैं तथा प्रतिपक्षी नीवरण-धर्मों[2] का 'दहन'-कृत्य करते हैं, अतएव इन्हें ही ध्यान कहते हैं ।

"उपनिज्झानकिच्चत्ता कामादिपटिपक्खतो ।
सन्तेस्वपि च अञ्ञेसु पञ्चेव झानसञ्ञिता[3] ॥"

अर्थात् उपनिध्यानकृत्य करने से तथा कामच्छन्द-आदि नीवरण-धर्मों के प्रतिपक्षभूत होने से, अन्य स्पर्श-आदि धर्मों के होने पर भी ये पाँच ही ध्यानसंज्ञक हैं ।

उपर्युक्त अर्थ के अनुरोध से ही "कसिणादिआरम्मणं झायति उपनिज्झायतीति

तृतीय ध्यान—

"प्रीत्या विरागाद् उपेक्षको विहरति प्रतिसंवेदयति कायेन सुखं भवत्यनास्रवः पुद्गलः स उच्यते उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी तृतीयं ध्यानमवतीर्णः ।..."– अभि० मृ०, पृ० ६५ ।

"तृतीयं ध्यानं पञ्चाङ्गम् । पञ्चाङ्गानि – उपेक्षा स्मृतिः सम्प्रजन्यं सुखं चित्तैकाग्रता च ।" – अभि० समु०, पृ० ६८ ।

"तृतीये पञ्च तूपेक्षा, स्मृतिर्ज्ञानं सुखं स्थितिः ।" – अभि० को० ८ : ८, पृ० २२३ ।

"तृतीये पञ्चमे प्रज्ञा, स्मृत्युपेक्षा सुखं स्थितिः ।
क्लिष्टे त्वङ्गद्वयं ज्ञेयं, समाधिर्वेदना सुखम् ॥" – अभि० दी० ५४४ का०, पृ० ४०८

चतुर्थ ध्यान—

"सुखस्य प्रहाणात् पूर्वमेव दुःखस्य प्रहाणात् सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तङ्गमादुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धमुपसम्पादयति चतुर्थं ध्यानम् ।" – अभि० मृ०, पृ० ६६ ।

"चतुर्थं ध्यानं चतुरङ्गम् । चत्वार्यङ्गानि उपेक्षापरिशुद्धिः स्मृतिपरिशुद्धिः अदुःखासुखा वेदना चित्तैकाग्रता च ।" – अभि० समु०, पृ० ६८ ।

"चत्वार्यन्ते स्मृत्युपेक्षाऽसुखादुःखसमाधयः ।" – अभि० को० ८ : ८, पृ० २२३ ।

"अन्त्ये चत्वार्युपेक्षे द्वे, समाधिः स्मृतिरेव च ।
क्लिष्टे ध्याने चतुर्थे तु, द्वे अङ्गे वेदना स्थितिः ॥"
–अभि० दी० ५४५ का०, पृ० ४०८ ।

१. व० भा० टी० ।

२. कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा – ये नीवरण-धर्म हैं । द्र० – अभि० स० ७ : ८ ।

३. विभा०, पृ० ७२ ।

दहन करता है तथा वितर्क के द्वारा गृहीत एवं विचार के द्वारा पुनः पुनः अनुमज्जित आलम्बन में अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करता है।

सुखध्यानाङ्ग – यह औद्धत्य (उद्धच्च) एवं कौकृत्य (कुक्कुच्च) नामक नीवरण-धर्मों का प्रहाण करता है। औद्धत्य का स्वभाव अनुपशम तथा कौकृत्य का स्वभाव अनुताप है। कसिण-आदि आलम्बनों में चित्तसन्तति के प्रीतियुक्त होने पर भी औद्धत्य एवं कौकृत्य के कारण, यदि आलम्बन में अनुभव करने के लिये कोई रस नहीं है तो वह उसमें शान्तिपूर्वक स्थित नहीं रह सकती। औद्धत्य एवं कौकृत्य के द्वारा विघ्न किये जाने से अनुपशम एवं अनुताप होने से वह तुरन्त आलम्बन से हट जायेगी। सुख, आलम्बन के रस का अनुभव करता है और वह उपशमलक्षण है। अतः औद्धत्य एवं कौकृत्य से विपरीतस्वभाव होने के कारण सुखध्यानाङ्ग औद्धत्य एवं कौकृत्य नामक नीवरण-धर्मों को चित्तसन्तति में न आने देने के लिये उनका दहन करता है तथा वितर्क, विचार एवं प्रीति के कृत्यों से प्रतिष्ठापित आलम्बन के रस का अनुभव करता है, साथ ही चित्तधातु को पुष्ट करता है।

एकाग्रताध्यानाङ्ग – यह कामच्छन्द नामक नीवरण-धर्म का दहन (प्रहाण) करता है। कामविषयों में राग (आसक्ति) उत्पन्न करनेवाले लोभ एवं तृष्णा को 'कामच्छन्द' कहते हैं। कामविषयानुगामी होने के कारण यह चित्तधातु को विकीर्ण करता है अथवा विकम्पित करता है। यदि यह कामच्छन्द नामक नीवरण चित्तधातु में उपस्थित होता है तो वितर्क, विचार, प्रीति एवं सुख अपने कसिण-आलम्बन में स्थिर नहीं रह सकते; ये आलम्बन से अपगत हो सकते हैं। चित्त का आलम्बन से विचलित न होना अर्थात् आलम्बन में ही स्थिर रहना 'एकाग्रता-ध्यानाङ्ग' (समाधि) है; अतः कामच्छन्द से विपरीत-स्वभाव होने के कारण, यह कामच्छन्द को चित्तसन्तति में आने न देकर उसका दहन करता है तथा चित्त को आलम्बन में स्थिर (दृढ) करता है। एकाग्रता को ही समाधि कहते हैं।

अतएव 'पच्चनीके धम्मे झापेति' – इस विग्रह के अनुसार वितर्क, विचार-आदि पाँच चैतसिक ही ध्यानाङ्ग कहे जाते हैं।

[अविद्या नामक नीवरण-धर्म ध्यान-धर्मों का आवरण (आबाधन) नहीं करता, वह केवल मार्ग एवं फल धर्मों का ही आवरण करता है; अतः ध्यानाङ्गों के द्वारा प्रहातव्य नीवरणों में उसका समावेश नहीं है।]

"वितक्को थीनमिद्धस्स विचिकिच्छाय विचारो।
पीति चापि व्यापादस्स सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चं।
समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो ति पेटके[1]"॥

अर्थात् वितर्क स्त्यान एवं मिद्ध का, विचार विचिकित्सा का, प्रीति व्यापाद

---

१. व० भा० टी०। "समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति व्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स, सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया ति-पेटके वुत्तं।" – अट्ठ०, पृ० १३५। विसु० ४ : ८६, पृ० ९५।

पूर्वाभिसंस्कारमात्र से यदि ध्यान की प्राप्ति होती है तो अधिकार के न होने के कारण उस ध्यान को ससंस्कारिक-ध्यान कहा जा सकता है; किन्तु अधिकार के न होने पर केवल पूर्वाभिसंस्कारमात्र से ध्यान की प्राप्ति असम्भव है, अतः ध्यान-चित्तों को ससंस्कारिक भी नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार विभावनीकार पहले जिस दृष्टिकोण को रखते हैं, आगे चलकर उसी का खण्डन करके असंस्कारिक-ससंस्कारिक के विषय में एक अस्पष्ट एवं उलझा हुआ दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

प्रथमवाद – विभावनीकार का अभिप्राय यह है कि अधिकार एवं पूर्वाभिसंस्कार, दोनों के होने पर ही ध्यान की प्राप्ति हो सकती है; किन्तु उनका यह वाद – 'अधिकार के विना ध्यान की प्राप्ति असम्भव है' – समीचीन नहीं है। अधिकार के विना यद्यपि ध्यान-प्राप्ति दुरधिगम है, तथापि 'असम्भव है' – ऐसा नहीं कहा जा सकता। लोकोत्तर-धर्मों की तरह लौकिक-धर्म पूर्वकृत पारमियों के होने पर ही प्राप्त हो सकते हैं – ऐसा नहीं है; त्रिहेतुक पुद्गल यदि उत्साह करे तो लौकिक ध्यानों की प्राप्ति असम्भव नहीं है। इसीलिये रूपावचर चित्तों की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'अट्ठसालिनी' में भी "यो च समथे अकताधिकारो तस्स दुक्खा पटिपदा होति"[1] – ऐसा लिखा है। अर्थात् शमथ में जिस साधक का अधिकार नहीं है, उसकी प्रतिपदा दुःखा होती है। 'पूर्वाभिसंस्कार के विना ध्यान की प्राप्ति असम्भव है' – यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है। ध्यान-धर्मों में असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक का विचार करते समय उस (विचार-काल) में सामान्य रूप से (ध्यान-प्राप्ति से पूर्व) आरब्धकर्म नामक पूर्वाभिसंस्कार को नहीं जोड़ना चाहिये। ध्यान-प्राप्ति के लिये 'पठवी, पठवी' की भावना से आरब्ध कर्म (पूर्वाभिसंस्कार) ध्यान-प्राप्ति के सामान्य कारण हैं। ये 'स्वप्रयोग' या 'पर-प्रयोग' नामक 'सङ्खार' नहीं हैं। इस प्रकार के सामान्य पूर्वाभिसंस्कार को भी यदि 'सङ्खार' कहा जाता है तो सभी कुशल एवं अकुशल कर्म पूर्वाभिसंस्कार के विना नहीं हो सकेंगे और मानसिक कर्म के अतिरिक्त कोई भी कुशल या अकुशल कर्म असंस्कारिक न हो सकेंगे; अतः असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक के विषय में विचार करते समय पूर्वाभिसंस्कार का विचार नहीं करना चाहिये। जैसे – कोई दायक स्वतः (अपने मन से) किसी भिक्षु को दान देना चाहता है। इस प्रक्रिया में उसे ओदन पकाने से प्रारम्भ करके पक्वान्न को भिक्षापात्र में डालने तक अनेकविध उपक्रम करने पड़ते हैं। ये सम्पूर्ण उपक्रम दान के ही अङ्ग हैं। यदि इन्हें (पूर्वाभिसंस्कार को) भी 'सङ्खार' कह कर दान को भी 'ससङ्खारिक' कहा जाता है तो समग्र कुशल एवं अकुशल कर्म ससंस्कारिक ही हो जायेंगे, केवल एक मानसिक कर्म ही असंस्कारिक होगा; अतः पूर्वाभिसंस्कार के आधार पर असंस्कारिक-ससंस्कारिक सङ्गत नहीं है[2]।

---

१. अट्ठ०, पृ० १५०।

२. व० भा० टी०।

भी ध्यान-धर्मों को इनके द्वारा विशेषित नहीं किया गया है; क्योंकि पूर्व-प्रयोग नामक 'सङ्खार' (जिसके द्वारा चित्त ससंस्कारिक होते हैं और ससंस्कारिक की अपेक्षा से असंस्कारिक होते हैं) का सम्बन्ध केवल ध्यान-धर्मो से ही नहीं होता, अपितु उसका सम्बन्ध अकुशल-धर्मों से भी होता है । 'दुक्खा पटिपदा' का सम्बन्ध केवल 'पटिपत्ति' नामक ध्यान-धर्मों से ही होता है, अतः इस ध्यान-खण्ड (महग्गत-लोकोत्तर चित्तों) को सर्व (कुशल-अकुशल) –साधारण 'सङ्खार' से विशेपित न करके सर्व-असाधारण 'पटिपदा' से ही विशेपित करके 'पठमज्झानं उपसम्पज्ज विहरति दुक्खपटिपदं दन्धाभिञ्ञं....' आदि कहा गया है । इस तरह सुखाप्रतिपदा-ध्यान और असंस्कारिक ध्यान तथा दुःखाप्रतिपदा-ध्यान और ससंस्कारिक ध्यान एकार्थक हैं।

निराकरण – यद्यपि दुःखाप्रतिपदा-ध्यान को ससंस्कारिक तथा सुखाप्रतिपदा-ध्यान को असंस्कारिक कहा जा सकता है, तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ में 'सङ्खार' शब्द का जैसा अर्थ है – उस अर्थ में नहीं । प्रस्तुत ग्रन्थ में 'ससंस्कारिक एवं असंस्कारिक' – यह भेद शक्ति-भेद (मन्द, तीक्ष्ण) से होता है; किन्तु यहाँ दुःखा प्रतिपदा होने पर शक्ति की मन्दता या सुखा प्रतिपदा होने पर शक्ति की तीक्ष्णता नहीं होती । पुनश्च – ध्यानचित्तों के वर्णन के अवसरों पर 'पटिपदा' शब्द सर्वदा उनके साथ प्रयुक्त भी नहीं होता । इसीलिये 'धम्मसङ्गणिपालि' में बिना 'पटिपदा' शब्द के ही चित्त का केवल स्वरूपमात्र द्योतित करने के लिये 'पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति ...' आदि शुद्ध नवक को सर्वप्रथम कह कर तदनन्तर आलम्बन एवं प्रतिपदा के द्वारा उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । इस प्रकार चित्त का स्वरूपमात्र बिना 'पटिपदा' शब्द के ही दिखाया गया है । तथाच – 'सङ्खार' शब्द के स्थान में यदि 'पटिपदा' शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो रूपावचर चित्त पन्द्रह ही न होकर तीस तक भी हो सकते हैं । अतः 'परमत्थदीपनी' का उपर्युक्त मत विचारणीय है[1] ।

विभावनीवाद[2] – विभावनीकार के मत में रूपावचर चित्तों के 'असंस्कारिक-ससंस्कारिक' भेद के विषय में 'दो वाद हैं: १. इन्हें असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक दोनों ही नहीं कहा जा सकता; २. ये केवल ससंस्कारिक ही हो सकते हैं। ये दोनों वाद अधिकार एवं पूर्वाभिसंस्कार के आधार पर स्थित हैं। पूर्व जन्म में चाहे ध्यान की प्राप्ति हुई हो अथवा न हुई हो, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये यदि पर्याप्त प्रयत्न किया गया था तो इस जन्म में उसे ही 'अधिकार' कहते हैं । इस जन्म में ध्यान की प्राप्ति के पूर्व 'पठवी, पठवी' आदि कह कर जो भावना की जाती है उसे 'पूर्वाभिसंस्कार' कहते हैं । पूर्वाभिसंस्कार न करके यदि केवल अधिकारमात्र से ध्यान की प्राप्ति होती है तो पूर्वाभिसंस्कार न होने के कारण उस ध्यान को असंस्कारिक-ध्यान कहा जा सकता है; किन्तु पूर्वाभिसंस्कार के बिना केवल अधिकारमात्र से ध्यान की प्राप्ति असम्भव है, अतः ध्यान-चित्तों को असंस्कारिक नहीं कहा जा सकता । अधिकार के बिना केवल

१. प० भा० टी० ।
२. तु० – विभा०, पृ० ७२ ।

रूपावचरक्रियाचित्तानि

२०. वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानक्रियाचित्तं, विचारपीतिसुखेकग्गतासहितं दुतियज्झानक्रियाचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततियज्झानक्रियाचित्तं, सुखेकग्गतासहितं चतुत्थज्झानक्रियाचित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानक्रियाचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि रूपावचरक्रियाचित्तानि नाम।

इच्चेवं सब्बथापि पन्नरस* रूपावचरकुसल-विपाक-क्रियाचित्तानि समत्तानि।

२१. पञ्चधा झानभेदेन रूपावचरमानसं।
पुञ्ञपाकक्रियाभेदा तं पञ्चदसधा भवे॥

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्गसहित प्रथमध्यान क्रियाचित्त,

विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान क्रियाचित्त,

प्रीति, सुख, एवं एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान क्रियाचित्त,

सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान क्रियाचित्त

तथा उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान क्रियाचित्त – इस प्रकार ये पाँचों रूपावचर क्रियाचित्त हैं।

इस तरह सर्वथा पन्द्रह रूपावचर कुशल, विपाक एवं क्रियाचित्त समाप्त।

रूपावचर चित्त ध्यान-भेद से पाँच प्रकार के हैं। वे ही कुशल, विपाक एवं क्रिया-भेद से पन्द्रह प्रकार के हो जाते हैं।

रूपावचरक्रियाचित्त

२०. ज्ञान-सम्प्रयुक्तता – ये पन्द्रह रूपावचर चित्त प्रज्ञा चैतसिक से सम्प्रयुक्त होने के कारण ज्ञान-सम्प्रयुक्त ही होते हैं[1]।

२१. विशेष—इन पन्द्रह रूपावचर चित्तों में प्रथमध्यान से चतुर्थध्यानपर्यन्त बारह चित्त सौमनस्यवेदना से सम्प्रयुक्त होते हैं। शेष (पञ्चमध्यान के) तीन चित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होते हैं।

रूपावचरचित्त समाप्त।

---

* पण्णरस – स्या० ('ण्ण' सर्वत्र)।

१. द्र० – अभि० स० २ : ३१।

रूपावचरविपाकचित्तानि

१९. वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानविपाकचित्तं, विचारपीतिसुखेकग्गतासहितं दुतियज्झानविपाकचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततियज्झानविपाकचित्तं, सुखेकग्गतासहितं चतुत्थज्झानविपाकचित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानविपाकचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि रूपावचरविपाकचित्तानि नाम ।

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्गसहित प्रथमध्यान विपाकचित्त,

विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान विपाकचित्त,

प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान विपाकचित्त,

सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान विपाकचित्त

तथा उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान विपाकचित्त –

इस प्रकार ये पाँचों रूपावचर विपाकचित्त हैं ।

द्वितीयवाद – "पूर्वाभिसंस्कार के होने पर ही ध्यान-धर्मों की उत्पत्ति सम्भव है, अतः ये कभी भी असंस्कारिक नहीं हो सकते, केवल ससंस्कारिक ही हो सकते हैं। इस प्रकार ध्यान-धर्मों में असंस्कारिक के न होने से 'यह असंस्कारिक है, या यह ससंस्कारिक है' – ऐसा सन्देह भी आवश्यक नहीं है; क्योंकि वे केवल ससंस्कारिक ही होते हैं । इस प्रकार ध्यान-धर्मों में ससंस्कारिकमात्र होने से उन्हें 'सङ्खार' शब्द के द्वारा ('ससङ्खारिक' ऐसा) विशेषित नहीं किया गया है" – विभावनीकार के इस मत को 'अभिधम्म' शास्त्र में निष्णात बर्मा के कई प्रसिद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं; "किन्तु पूर्वाभिसंस्कार को 'सङ्खार' नहीं कहा जा सकता और इसके आधार पर चित्तों को 'ससङ्खारिक' नहीं कह सकते । अतः विभावनीकार का द्वितीय वाद भी युक्तियुक्त नहीं है[1] ।"

१. व० भा० टी० ।

से उपर्युक्त शब्द द्वारा सम्प्रयुक्त ध्यानों का ग्रहण किया जाता ह। कारण (स्थान) – भूत आलम्बन के 'आकाशानन्त्यायतन' – इस नाम का आलम्बन करनेवाले (आलम्बनक) कार्यरूप (स्थानी) ससम्प्रयुक्त ध्यान में उपचार करके ससम्प्रयुक्त ध्यान को भी 'आकाशानन्त्यायतन' कहा जाता है।

अथवा 'आकासानञ्चं आयतनं यस्सा ति आकासानञ्चायतनं' – इस प्रकार बहुव्रीहि समास करना चाहिये। अर्थात् जिस ससम्प्रयुक्त ध्यान का आकाशप्रज्ञप्ति आधार है, वह 'आकाशानन्त्यायतन' है।

'आकासानञ्चायतने पवत्तं कुसलचित्तं आकासानञ्चायतनकुसलचित्तं' आकाशानन्त्यायतन में प्रवृत्त कुशलचित्त को 'आकाशानन्त्यायतन कुशलचित्त' कहते हैं[1]।

तात्पर्य यह है कि आकाशानन्त्यायतनचित्त आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करता है।

विञ्ञाणञ्चायतनकुसलचित्तं – (विञ्ञाण+आनञ्च+आयतनं) आकाशानन्त्यायतन चित्त ही 'विज्ञान' है। इस चित्त को ही प्रथम आरूप्य-विज्ञान कहते हैं। यह प्रथम आरूप्य-विज्ञान अनन्त आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करता है। अतः आलम्बन के 'अनन्त' इस नाम का विज्ञान में उपचार करके स्थानोपचार एवं कारणोपचार से प्रथम आरूप्य-विज्ञान को भी 'अनन्त' कहते हैं।

योगी के द्वारा 'अनन्तं विञ्ञाणं, अनन्तं विञ्ञाणं' – इस प्रकार भावना करने से उस भावना के अनुसार पूर्वोक्त विज्ञान को 'अनन्तं विञ्ञाणं' कहा जाता है। यहाँ पर भी विशेषणोत्तरपदसमास करके 'अनन्त' इस विशेषण को पीछे रखने से 'विञ्ञाणानन्त' – यह शब्द निष्पन्न होता है। 'विञ्ञाणानन्तमेव विञ्ञाणानञ्चं' अर्थात् अनन्त विज्ञान ही 'विज्ञानानन्त्य' है। यहाँ इस शब्द में मूर्धज णकार-उत्तरवर्त्ती 'आकार' को ह्रस्व करने तथा उसके अव्यवहित-उत्तरवर्त्ती 'नकार' का लोप करने से 'विञ्ञाणञ्चं' – ऐसा रूप सिद्ध होता है। 'विञ्ञाणञ्चं च तं आयतनं चा ति विञ्ञाणञ्चायतनं, विञ्ञाणञ्चायतने पवत्तं कुसलचित्तं विञ्ञाणञ्चायतनकुसलचित्तं' जो विज्ञानानन्त्य 'आयतन' भी है, उसे 'विज्ञानानन्त्यायतन' कहते हैं; विज्ञानानन्त्यायतन में प्रवृत्त कुशलचित्त 'विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त' है[2]।

उपर्युक्त व्याख्यान के अनुसार विज्ञानानन्त्यायतनचित्त प्रथम आरूप्य-विज्ञान का आलम्बन करता है – ऐसा जानना चाहिये।

आकिञ्चञ्ञायतनकुसलचित्तं – (आकिञ्चञ्ञ + आयतनं) 'नत्थि किञ्चन यस्सा ति अकिञ्चनं' जिस प्रथम आरूप्य-विज्ञान का किञ्चित् (भङ्गमात्र) भी अवशिष्ट

---

१. तु० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५३; अट्ठ०, पृ० १६७।

२. द्र० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५३; अट्ठ०, पृ० १६७; तु० – "अनन्तं विज्ञानमिति भावयन् विज्ञानानन्त्यायतनमवतीर्य पश्यन्नाकाशानन्त्यायतनदोषं विज्ञानानन्त्यायतनसुप्रतिष्ठितः साक्षात्कुर्वन्निमं मार्गमुपसम्पादयति विज्ञानानन्त्यायतनसमाधिम्।" – अभि० मृ०, पृ० ९६।

अरूपावचरसोभनचित्तानि (१२)

कुसलचित्तानि

२२. आकासानञ्चायतनकुसलचित्तं, विञ्ञाणञ्चायतनकुसलचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतनकुसलचित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनकुसलचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि अरूपावचरकुसलचित्तानि नाम ।

आकाशानन्त्यायतन कुशलचित्त, विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त, आकिञ्चन्यायतन कुशलचित्त एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशलचित्त— इस प्रकार ये चारों अरूपावचर कुशलचित्त हैं[1]।

अरूपावचरकुसलचित्त

२२. *आकासानञ्चायतनकुसलचित्तं* – (आकास+आनञ्च+आयतनं) नौ 'कसिण' (कृत्स्न)-धर्मों में से किसी एक को उद्घाटित करने पर प्राप्त होनेवाली आकाशप्रज्ञप्ति ही 'आकाश' है[2]।

(आकाश के भेद 'रूपसङ्गहविभागो' नामक षष्ठ परिच्छेद में तथा 'कसिण' धर्मों का स्वभाव 'कम्मट्ठानसङ्गहविभागो' नामक नवम परिच्छेद में कहेंगे।)

आकाशप्रज्ञप्ति परमार्थ-धर्मों की तरह द्रव्यस्वभाव नहीं है । अतः उसका 'उत्पाद' एवं 'भङ्ग' से परिच्छेद नहीं होता । 'अनन्तो आकासो – अनन्ताकासो' (उत्पाद एवं भङ्ग से अपरिच्छिन्न आकाश) – ऐसा विग्रह करने पर विशेषण के पूर्व में रहने से 'अनन्ताकासो' यह रूप होना चाहिये । किन्तु 'अनन्त' इस विशेषण को पीछे (विशेषणोत्तरपदसमास) करने से व्याकरण के नियमानुसार 'आकासानन्तं' – ऐसा रूप निष्पन्न होता है । 'आकासानन्तमेव आकासानञ्चं' अनन्त आकाश ही आकाशानन्त्य है । 'आयतन' शब्द का अर्थ आधार है । उपर्युक्त आकाशप्रज्ञप्ति ही आलम्बन करनेवाले ध्यान-चित्त की आधार होने के कारण 'आयतन' होती है । अतः 'आकासानञ्चं च तं आयतनं चाति आकासानञ्चायतनं' अर्थात् जो आकाशानन्त्य 'आयतन' भी है, उसे 'आकाशानन्त्यायतन' कहते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त शब्द की निष्पत्ति होती है ।

उपर्युक्त कथन के अनुसार 'आकाशानन्त्यायतन' शब्द के द्वारा आकाशप्रज्ञप्ति का ही ग्रहण होता है, ध्यान एवं सम्प्रयुक्त धर्मों का नहीं । स्थानोपचार एवं कारणोपचार

---

१. "चत्वार्यारूप्यध्यानानि ।" – अभि० मृ०, पृ० ९४ ।
"विज्ञानानन्त्यमाकाशानन्त्यमाकिञ्चनाह्वयम् ।
तथा प्रयोगान्मान्द्यात्तु, न संज्ञा नाप्यसंज्ञकम् ॥" – अभि० को० ८ : ४, पृ० २२२ ।

२. तु० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५२; "रूपसंज्ञानां समतिक्रमात् पश्यन्त्यनन्तमवकाशमित्याकाशानन्त्यायतनसमापत्तिमवतरति, आकाशानन्त्यायतनसुप्रतिष्ठितः साक्षात्कुर्वन्निमं मार्गमुपसम्पादयति आकाशानन्त्यायतनसमाधिम् ।" – अभि० मृ०, पृ० ९० ।

अरूपावचरविपाकचित्तानि

२३. आकासानञ्चायतनविपाकचित्तं, विञ्ञाणञ्चायतनविपाकचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतनविपाकचित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनविपाकचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि अरूपावचरविपाकचित्तानि नाम।

आकाशानन्त्यायतन विपाकचित्त, विज्ञानानन्त्यायतन विपाकचित्त, आकिञ्चन्यायतन विपाकचित्त एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन विपाकचित्त – इस प्रकार ये चारों अरूपावचर विपाकचित्त हैं।

(नैवसंज्ञा) कहा गया; किन्तु वह कुछ तो अवश्य है; अतः सर्वथा निःस्वभाव न होने के कारण उसे 'नासञ्ञा' (नासंज्ञा) भी कहा गया है।

इस चतुर्थ आरूप्य-विज्ञान में न केवल 'संज्ञा'-चैतसिक ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विद्यमान है; अपितु स्पर्श, वेदना-आदि चैतसिक भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सम्प्रयुक्त हैं, अतः इसे 'नेवफस्सनाफस्सं' (नैवस्पर्शनास्पर्श) या 'नेववेदनानावेदनाचित्तं' (नैववेदनानावेदनाचित्त) आदि भी कहा जा सकता है, तथापि उपलक्षण से यहाँ केवल 'संज्ञा'-चैतसिक ही कहा गया है[1]। इसमें 'आयतन' शब्द का प्रयोग पहले के आयतन शब्दों की तरह आधार अर्थ में नहीं है, अपितु निस्सयपच्चय[2] (निश्रय-प्रत्यय) से सम्प्रयुक्त धर्मों के निश्रय (आधार) अर्थ में है। अतएव 'नेव सञ्ञा नासञ्ञा च सा आयतनञ्चा ति नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनेन सम्पयुत्तं कुसलचित्तं नेवसञ्ञानासञ्ञायतनकुसलचित्तं' – ऐसा विग्रह किया गया है। अर्थात् जो न 'संज्ञा' है, न 'असंज्ञा' है और सम्प्रयुक्त धर्मों का आधार है, वह 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' है; उससे सम्प्रयुक्त कुशलचित्त 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशलचित्त' है[3]। उपर्युक्त शब्दार्थ के अनुसार नैवसंज्ञानासंज्ञायतनचित्त के द्वारा 'तृतीय आरूप्य-विज्ञान का आलम्बन किया जाना' सुस्पष्ट नहीं हो पाया है। यह स्पष्टीकरण नवम परिच्छेद[4] में किया जायेगा।

---

१. प० दी०, पृ० ५४।

२. द्र० – अभि० स०, अट्ठ० परि०, 'पट्ठाननयो'।

३. तु० – विभा०, पृ० ७४; प० दी०, पृ० ५४; अट्ठ०, पृ० १६६। "संज्ञायतनं रोग इति असंज्ञायतनं मोह इत्येवं भावयन् नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तिमवतीर्य पश्यन्नाकिञ्चन्यायतनदोषं नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसुप्रतिष्ठितः साक्षात्कुर्वन्निमं मार्गमुपसम्पादयति नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमाधिमिति नैवसंज्ञानासंज्ञायतनध्यानम्।" – अभि० मृ०, पृ० ६६।

४. द्र० – अभि० स० ९ : २९।

नहीं है, वह प्रथम आरूप्य-विज्ञान 'अकिञ्चन' है। 'अकिञ्चनस्स भावो आकिञ्चञ्ञं' अकिञ्चन के भाव को 'आकिञ्चन्य' कहते हैं।

यद्यपि यह चित्त उत्पाद-भङ्गात्मक है तथापि उत्पाद से लेकर भङ्गपर्यन्त स्व-रूपतः यह किञ्चित् (कुछ) भी नहीं होता, अतएव इसे 'नत्थिभावपञ्ञत्ति' (नास्तिभावप्रज्ञप्ति) कहते हैं। यह 'नत्थिभाव' परमार्थ-धर्म न होकर 'अभाव-प्रज्ञप्ति-मात्र' होता है, अतः इसे 'नत्थिभावपञ्ञत्ति' कहते हैं। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार 'आकिञ्चन्य' शब्द से 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' का ही ग्रहण होता है। 'आकिञ्चञ्ञा-यतने पवत्तं कुसलचित्तं आकिञ्चञ्ञायतनकुसलचित्तं' आकिञ्चन्यायतन में प्रवृत्त कुशल-चित्त 'आकिञ्चन्यायतन कुशलचित्त' है। इस चित्त के द्वारा 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' (नत्थि-भावपञ्ञत्ति) का आलम्बन किया जाता है – ऐसा समझना चाहिये[1]।

नेवसञ्ञानासञ्ञायतनकुसलचित्तं – (नेव+सञ्ञा+न+असञ्ञा+आयतनं) 'नेव सञ्ञा च सा न असञ्ञा चा ति नेवसञ्ञानासञ्ञा' जो संज्ञा नहीं है और वह असंज्ञा भी नहीं है (फिर भी कुछ है) उसे 'नैवसंज्ञानासंज्ञा' कहते हैं। यहाँ पर 'नैवसंज्ञानासंज्ञा' के द्वारा 'संज्ञा'–चैतसिक का ग्रहण होता है। इस चतुर्थ आरूप्य-विज्ञान चित्त में होनेवाले संज्ञा-चैतसिक के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका अनित्य, अनात्म एवं दुःख लक्षणों से सम्मर्शन (विमर्श) नहीं किया जा सकता; और ऐसा करने पर भी उसके अनित्य-आदि स्वभाव ज्ञान में अवभासित नहीं हो पाते[2]। इस प्रकार अनित्य-आदि स्वभावों के भी अवभासित न होने से अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण 'नैवसंज्ञा' कहा जाता है। उसके अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी परमार्थ रूप से सत्स्वभाव होने के कारण उसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता, अतः 'न असंज्ञा' – ऐसा कहा गया है; क्योंकि वह 'कुछ' तो है ही। जैसे – कोई भिक्षु अपने शिष्य के साथ किसी मार्ग से होकर जा रहा है। शिष्य आगे है, अतः वह सामने पानी देखकर 'गुरु के उपानह (जूते) खराब न हो जायें' – इस बुद्धि से गुरु से कहता है कि 'आगे पानी है'। उसके इस वचन को सुनकर गुरु उससे स्नान करने के लिये वस्त्र मांगते हैं। तब शिष्य कहता है कि 'पानी नहीं है'। शिष्य का दुवारा यह कहना कि 'पानी नहीं है' पानी की असत्ता का सूचक नहीं है। उसका आशय केवल इतना ही है कि स्नान करने योग्य पानी नहीं है; क्योंकि कुछ पानी तो अवश्य है ही[3]। इसी तरह दार्ष्टान्ति में में भी, अनित्य-आदि लक्षण तक के भी अवभासित न होने से उस चित्त को 'नेवसञ्ञा'

---

१. द्र० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५३; अट्ठ०, पृ० १६८; तु० – "विज्ञानानन्त्या-यतनगतिर्दुःखेति भावयति आकिञ्चन्यायतनगतिमवतरत्याकिञ्चन्यायतनसमापत्तिं पश्यन् विज्ञानानन्त्यायतनदोषमाकिञ्चन्यायतनसुप्रतिष्ठितः साक्षात्कुर्वन्निमं मार्गमु-पसम्पादयत्याकिञ्चन्यायतनसमाधिम्।" – अभि० मृ०, पृ० ६६।

२. अट्ठ०, पृ० १६६; विभा०, पृ० ७४; प० दी०, पृ० ५४।

३. उपमा के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० १७०।

भी अरूपावचर ध्यानों में प्रत्येक का एक एक आलम्बन ही होता है। रूपावचर ध्यानों में नीचे नीचे के ध्यानाङ्गों का प्रहाण करने पर ही ऊपर ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति होती है; इसलिये प्रथम ध्यान में पाँच अङ्ग, द्वितीय ध्यान में चार अङ्ग – इस प्रकार ध्यानाङ्ग कम होते जाते हैं। अङ्गों का इस प्रकार अतिक्रमण होते रहने से रूपावचर ध्यानों को 'अङ्गातिक्रमणध्यान' कहा जाता है। रूपावचर ध्यानों में अङ्गों का इस प्रकार अतिक्रमण होता रहता है, अतः उनमें आलम्बनों की अधिकता होने पर भी कोई वाधा नहीं होती।

सब अरूपावचर ध्यानों में उपेक्षा एवं एकाग्रता – ये दो ध्यानाङ्ग ही सर्वदा होते हैं; अतः उनका प्रहाण आवश्यक नहीं होता। तथा नीचे नीचे के ध्यानों के आलम्बनों का अतिक्रमण करने से ही ऊपर ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति होती है। इसलिये रूपावचर पञ्चम ध्यान की आलम्बनभूत कसिण-प्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके उसका अतिक्रमण करने से आकाशानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति होती है। इसी तरह आकाशानान्त्यायतन ध्यान की आलम्बनभूत आकाशप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण करने से विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति होती है। इसी तरह अन्य अरूप-ध्यानचित्तों को भी समझना चाहिये। आलम्बनों का इस तरह अतिक्रमण होते रहने से अरूपावचर ध्यानों को 'आलम्बनातिक्रमणध्यान' कहा जाता है। इन अरूपसमापत्तियों में नीचे नीचे के ध्यानों के आलम्बन का अतिक्रमण करने से ऊपर ऊपर के ध्यानों की प्राप्ति होती है।

"आलम्बनातिक्कमतो चतस्सो पि भवन्तिमा।
अङ्गातिक्कममेतासं न इच्छन्ति विभाविनो[1]"॥

ध्यान के दो भेद – ये रूपावचर एवं अरूपावचर ध्यान दो प्रकार के होते हैं[2]: १. शमथानुयोगप्रतिलब्ध ध्यान एवं २. मार्गसिद्ध ध्यान। इनमें से 'कम्मट्ठान[3]' की भावना करने से प्राप्त होनेवाले ध्यानों को 'शमथानुयोगप्रतिलब्ध ध्यान' कहते हैं, तथा जिस पुद्गल ने अपने पूर्व भव में यह प्रार्थना की है कि 'मैं आगामी (अनागत) भव में आठ समापत्तियों का लाभी होऊँ' और उस पुद्गल को यदि अपने वर्तमान भव (जन्म) में मार्गज्ञान होता है तो ऐसे पुद्गल को ये रूपावचर एवं अरूपावचर ध्यान बिना भावना के ही अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। मार्ग के द्वारा प्राप्त इस प्रकार के ध्यानों को 'मार्गसिद्ध' ध्यान कहते हैं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'उपपत्तिसिद्ध ध्यान' नामक एक तीसरा प्रकार और होता है। जैसे – किसी पुद्गल ने काम-भूमि में किसी ध्यान की प्राप्ति की और इस ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर उसकी च्युति (मरण) हो गयी तो उसका उपलब्ध ध्यान अन्तर्हित हो जाता है; किन्तु उस ध्यान के अन्तर्हित हो जाने पर भी जब उसकी ब्रह्मलोक (रूप-अरूप लोक) में पुनः प्रतिसन्धि (जन्म-ग्रहण) होती है तब उसे

१. अट्ठ०, पृ० १७१; विभा०, पृ० ७४। २. विभा०, पृ० ७२; प० दी०, पृ० ४६।
३. 'कम्मट्ठान' ४० होते हैं। द्र० – नव० परि० 'कम्मट्ठानसमुद्देसो'।

अरूपावचरक्रियाचित्तानि

२४. आकासानञ्चायतनक्रियाचित्तं, विञ्ञाणञ्चायतनक्रियाचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतनक्रियाचित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनक्रियाचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि अरूपावचरक्रियाचित्तानि नाम।

इच्चेवं सब्बथा पि द्वादस अरूपावचरकुसल-विपाक-क्रियाचित्तानि समत्तानि।

२५. आलम्बनप्पभेदेन* चतुधारुप्पमानसं।
पुञ्ञपाकक्रियाभेदा पुन द्वादसधा ठितं॥

आकाशानन्त्यायतन क्रियाचित्त, विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाचित्त, आकिञ्चन्यायतन क्रियाचित्त एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन क्रियाचित्त – इस प्रकार चारों अरूपावचर क्रियाचित्त हैं।

इस तरह सर्वथा वारह अरूपावचर कुशल, विपाक एवं क्रिया-चित्त समाप्त।

अरूपावचर चित्त आलम्वन के भेद से चार प्रकार के होते हैं। वे ही कुशल, विपाक एवं क्रिया के भेद से वारह प्रकार से (विभक्त होकर) स्थित हैं।

---

२५. **आलम्बनप्पभेदेन** – आलम्बन दो प्रकार के होते हैं: १. आलम्बितव्य, २. अतिक्रमितव्य। आकाशानन्त्यायतन-आदि अरूपावचर चित्तों में इन द्विविध आलम्बनों के क्रम निम्न प्रकार से हैं –

चित्त	आलम्बितव्य	अतिक्रमितव्य
१. आकाशानन्त्यायतन	आकाशप्रज्ञप्ति	'कसिण'-प्रज्ञप्ति
२. विज्ञानानन्त्यायतन	प्रथम आरूप्य-विज्ञान	आकाशप्रज्ञप्ति
३. आकिञ्चन्यायतन	नास्तिभावप्रज्ञप्ति	प्रथम आरूप्य-विज्ञान
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन	तृतीय आरूप्य-विज्ञान	नास्तिभावप्रज्ञप्ति

आलम्बन की अल्पता – रूपावचर ध्यानचित्तों में प्रत्येक के दस 'कसिण'[1] एवं दस 'कोट्ठास'[1] आदि अनेक आलम्बन होते हैं, किन्तु अरूपावचर ध्यानचित्तों में ऐसा नहीं है। इनमें एक ध्यान का एक ही आलम्बन होता है।

प्रश्न – ऐसा क्यों होता है?

उत्तर – रूपावचरध्यान अङ्गातिक्रमणध्यान होते हैं तथा अरूपावचरध्यान आलम्बनातिक्रमणध्यान होते हैं; अतः रूपावचरध्यानों में अनेक आलम्बनों के होने पर

---

* ०पभेदेन – म० (क) (सन्धि सर्वत्र नहीं); आलम्बण० – रो०, म० (ख) (सर्वत्र)।

१. द्र० – अभि० स० ९ : ६; ९ : ८।

प्रवाह (धारा) को 'स्रोतस्' कहते हैं। उस प्रवाह के समान होने से 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' को भी 'स्रोतस्' कहा जाता है[1]। जैसे – गङ्गा-आदि महानदियों की धारा हिमालय से उद्भूत होकर मार्ग में विना रुके वेग से समुद्र की ही ओर अग्रेसर होती हुई अन्त में समुद्र में ही मिल जाती हैं, उसी तरह 'सम्यग्दृष्टि'-आदि आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग अपने प्रथम उत्पाद-क्षण से लेकर अप्रतिहत गति से वेगपूर्वक अग्रेसर होते हुए अन्त में निर्वाणरूपी समुद्र तक पहुँच जाते हैं।

यद्यपि साधारण पृथग्जनों की सन्तान में भी कभी-कभी लौकिक कुशल-धर्मों से सम्प्रयुक्त मार्गाङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, तथापि ये मार्गाङ्ग-धर्म क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण नहीं कर पाते; अतः ये सर्वदा मुख्य रूप से अग्रेसर होते ही रहेंगे – ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस भव में अथवा इस क्षण में मार्गाङ्ग-धर्मों के उत्पन्न होने पर यद्यपि चित्त शीलवान् (चारित्र्ययुक्त) हो सकता है तथापि अपर-भव (द्वितीय जन्म) में अथवा दूसरे क्षणों में वह दुःशील (दुश्चरित्र) भी हो सकता है। प्रायः यह देखने में भी आता है कि कोई व्यक्ति वर्तमान भव के बाल्यकाल में कुशल मार्गाङ्ग-धर्मों के उत्पादवश सुन्दर शीलयुक्त होता है फिर भी वह बाद के जीवन में किन्हीं कारणों से कुशल मार्गाङ्गों के नष्ट हो जाने से दुःशील हो जाता है। लोकोत्तर मार्गाङ्ग-धर्म ऐसे नहीं होते। वे एक बार उत्पन्न हो जाने पर निर्वाण को विना प्राप्त किये बीच में स्वभाव से च्युत नहीं होते; क्योंकि ये अपने उत्पाद के प्रथम क्षण में ही क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण कर देते हैं। अतः निर्वाण की ओर अग्रेसर होते रहने की इनकी गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती[2]। यथा –

"सेय्यथापि भिक्खवे! गङ्गा नदी समुद्दनिन्ना समुद्दपोणा समुद्दपब्भारा.... एवमेव खो भिक्खवे! भिक्खु अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं भावेन्तो अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं बहुलीकरोन्तो निब्बाननिन्नो होति निब्बानपोणो निब्बानपब्भारो[3]।"

'आदितो पज्जनं आपत्ति' प्रथम प्राप्ति 'आपत्ति' है। यहाँ पर 'आ' शब्द 'आदि' के अर्थ में प्रयुक्त है। सकृदागामी मार्ग आदि मार्गों से इस (स्रोतापत्ति) मार्ग की प्राप्ति पहले (प्रथम) होती है। 'सोतस्स आपत्ति सोतापत्ति' अर्थात् स्रोतस् की प्रथम प्राप्ति। 'सोतापत्तिया अधिगतो मग्गो सोतापत्तिमग्गो' स्रोतापत्ति से अधिगत मार्ग 'स्रोतापत्ति मार्ग' है। 'सोतापत्तिमग्गेन सम्पयुत्तं चित्तं सोतापत्तिमग्गचित्तं' स्रोतापत्ति मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त 'स्रोतापत्ति मार्गचित्त' है। इस तरह स्रोतापत्ति मार्गचित्त का अर्थ हुआ – 'स्रोतस्' की तरह आर्य अष्टाङ्गों की प्रथम प्राप्ति से अधिगत मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त'।

---

१. प० दी०, पृ० ५५; तु० – विभा०, पृ० ७५।
२. प० दी०, पृ० ५५।
३. सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ३४।

लोकुत्तरसोभनचित्तानि (८)

कुसलचित्तानि

२६. सोतापत्तिमग्गचित्तं, सकदागामिमग्गचित्तं, अनागामिमग्गचित्तं, अरहत्तमग्गचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि लोकुत्तरकुसलचित्तानि नाम ।

स्रोतापत्ति मार्गचित्त, सकृदागामी मार्गचित्त, अनागामी मार्गचित्त एवं अर्हत् मार्गचित्त – इस प्रकार ये चारों लोकोत्तर कुशलचित्त हैं ।

अन्तर्हित ध्यान की पुनः प्राप्ति हो सकती है। ब्रह्मलोक में इस तरह विना भावना के पुनः प्राप्त ध्यान को 'उपपत्तिसिद्ध ध्यान' कहते हैं[1] ।

इन अरूपावचर ध्यानों में कौन वेदना सम्प्रयुक्त होती है – इसका यद्यपि सुस्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि ये अरूपावचर ध्यान, क्योंकि पञ्चमध्यान में सङ्गृहीत होते हैं; अतः, रूपावचर पञ्चम ध्यान की तरह इनमें भी उपेक्षावेदना ही होती है – ऐसा समझना चाहिये । इनके सम्प्रयुक्त-विप्रयुक्त-नय एवं संसस्कारिक-असंस्कारिक-नय का स्पष्ट उल्लेख न होने से रूपावचर ध्यान की तरह ही जानना चाहिये ।

महग्गत चित्त – रूपावचर १५ एवं अरूपावचर १२, कुल २७ चित्त 'महग्गत चित्त' भी कहे जाते हैं[2] ।

लौकिक चित्त – कामचित्त ५४ एवं महग्गत २७, कुल ८१ चित्त 'लौकिक चित्त' भी कहे जाते हैं ।

जाति-भेद से इन ८१ लौकिक चित्तों में अकुशल १२, कुशल १७, विपाक ३२ तथा क्रिया चित्त २० होते हैं ।

[इन लौकिक चित्तों में सौमनस्य, उपेक्षा, दौर्मनस्य, सुख, दुःख, असंस्कारिक, ससंस्कारिक, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त-आदि को सङ्ख्या के साथ जानने का प्रयास करना चाहिये ।]

अरूपावचर चित्त समाप्त ।

लोकोत्तर कुशलचित्त

२६. **सोतापत्तिमग्गचित्तं** – (सोत+आपत्ति+मग्ग+चित्तं) 'सवति सन्दतीति सोतो' जो स्यन्दित (प्रस्रवित) होता है, वह स्रोतस् है । 'सोतो विया ति सोतो' गङ्गा-आदि के

---

१. तु० – प० दी०, पृ० ४६ ।

२. "विनीवरणादिताय महत्तं गतानि महन्तेहि वा झायीहि गतानि पत्तानीति महग्गतानि ।" – विभा०, पृ० ८६ ।

'अनागामिनो मग्गो अनागामिमग्गो, तेन सम्पयुत्तं चित्तं अनागामिमग्गचित्तं' अनागामी पुद्गल के मार्ग को 'अनागामी मार्ग' कहते हैं, उससे सम्प्रयुक्त चित्त 'अनागामी मार्गचित्त' है[1]।

अरहत्तमग्गचित्तं – 'अरहतो भावो अरहत्तं' अर्हत् के भाव को 'अर्हत्त्व' कहते हैं। यह अर्हत्-फलचित्त है। 'अरहत्तस्स मग्गो अरहत्तमग्गो' अर्थात उस अर्हत्-फलचित्त का मार्ग[2]। यहाँ कार्य से कारण को विशेषित किया गया है। 'कार्य' है अर्हत्-फलचित्त, तथा कारण है 'अर्हत्-मार्गचित्त। लोक में, जैसे – 'कार्य' पुत्र के द्वारा 'कारण' माता को विशेपित करके 'तिष्य की माता' – ऐसा कहा जाता है।

---

१. तु० – प० दी०, पृ० ५६–५७; विभा०, पृ० ७५।

"रूपारूप्यधातुदुःखप्रहाणात् (तत एव) लभते परिनिर्वाणं न चोपपद्यतेऽधोलोके इत्युच्यतेऽनागामी।" – अभि० मृ०, पृ० ८६।

"अनागामिफलप्रतिपन्नकः कतमः ? भावनामार्गे कामावचराणां सप्तमाष्टमानां क्लेशप्रकाराणां प्रहाणमार्गे यः पुद्गलः। अनागामी पुद्गलः कतमः ? भावनामार्गे कामावचरस्य नवमस्य क्लेशप्रकारस्य प्रहाणमार्गे यः पुद्गलः।" – अभि० समु०, पृ० ८९।

"क्षीण-सप्ताष्टदोपांश एकजन्मैकवीचिकः।
प्रतिपन्नकस्तृतीये सोऽनागामी नवक्षयात्॥"

–अभि० को० ६ : ३६, पृ० १७४।

२. प० दी०, पृ० ५९; तु० – विभा०, पृ० ७५।

"एतस्मिन् काले अर्हत्फलं भवत्यनुत्तरम्। अपि सवैराग्यानन्तर्यमार्गं पश्चिमशैक्षचित्तम्। इति वज्रोपमसमाधिक्रमेण प्रथममशैक्षस्य क्षयज्ञानं जायते – 'प्रहीणा मे जातिः, प्राप्तं मयार्हत्त्वम्, क्षीणा मे सर्वसंयोजनक्लेशोपक्लेशाः' – इत्युच्यते अर्हन्। सर्वदेवमनुष्येषु पूजार्ह इत्युच्यते अर्हन्।" – अभि० मृ०, पृ० ८६।

"अर्हत्त्वफलप्रतिपन्नकः कतमः ? यावद्भावाग्रिकाणामष्टप्रकाराणां क्लेशानां प्रहाणमार्गे यः पुद्गलः। अर्हन् कतमः ? भावाग्रिकस्य नवमस्य क्लेशप्रकारस्य प्रहाणमार्गे यः पुद्गलः।" – अभि० समु०, पृ० ८९-९०।

"आभवाग्राष्टभागक्षिद्, अर्हत्त्वे प्रतिपन्नकः॥
आनन्तर्येऽपि नवमे, स तु वज्रोपमः सह।
तत्क्षयाप्त्या क्षयज्ञानं, अशैक्षोऽर्हन्नसौ तदा॥"

–अभि० को० ६ : ४४–४५, पृ० १७७।

"भवाग्राष्टांशहा यावदर्हत्त्वप्रतिपन्नकः॥
यश्चानन्तर्यमार्गेऽन्त्ये, वज्रौपम्याह्वये स्थितः।
तत्फलार्थं क्षयज्ञानं, तदेकालम्बनं न वा॥
तदवाप्तेरशैक्षोऽसावर्हस्त्रैलोक्यसत्कृतः।
सर्वक्लेशविसंयुक्तः, शिक्षात्रितयपारगः॥'

–अभि० दी० ४३२-३४ का०, पृ० ३४९-५०।

यहाँ पर 'स्रोतस्' एवं 'मार्ग' दोनों का अर्थ 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' ही है, तथापि अभेद में भेदोपचार करके 'स्रोतापत्ति मार्ग' – ऐसा कहा जाता है[1]।

सकदागामिमग्गचित्तं – 'सकिं आगामी सकदागामी, इमं लोकं सकिं आगच्छति सीलेना ति सकदागामी' इस लोक अर्थात् काम-भूमि में अभ्यासवश (बार बार उत्पन्न होते रहने से आदत पड़ जाने के कारण) जो एक बार आता है उसे 'सकृदागामी' कहते हैं। इस काम-भूमि में एक बार आने से तात्पर्य ब्रह्मलोक-आदि लोकों से आना नहीं, अपितु काम-भूमि से ही एक बार पुनः काम-भूमि में प्रतिसन्धि लेने से है। 'परमत्थदीपनी' में ब्रह्मलोक से भी पुनः एक बार आने के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखा हुआ है[2]।

'सकदागामिनो मग्गो सकदागामिमग्गो, तेन सम्पयुत्तं चित्तं सकदागामिमग्गचित्तं' सकृदागामी पुद्गल के मार्ग को 'सकृदागामी मार्ग' कहते हैं, उससे सम्प्रयुक्त चित्त 'सकृदागामी मार्गचित्त' है[3]।

अनागामिमग्गचित्तं – 'इमं लोकं न आगच्छतीति अनागामी' इस काम-भूमि में पुनः प्रतिसन्धि न लेनेवाले पुद्गल को 'अनागामी' कहते हैं। अनागामी पुद्गल का कामराग-अनुशय एवं भवराग-अनुशय सर्वथा प्रहीण हो चुका रहता है, अतः वह काम-भूमि में पुनः प्रतिसन्धि नहीं लेता। काम-भूमि से च्युत होने के अनन्तर यदि वह 'अर्हत्' नहीं होता है तो ब्रह्मलोक में प्रतिसन्धि लेता है।

---

१. द्र० – प० दी०, पृ० ५५; विभा०, पृ० ७५।
तु० – "अष्टाशीतिसंयोजनप्रहाणे पुद्गलः अनास्रवशीलकुशलमूलसिद्ध इत्युच्यते स्रोतआपन्नः।... अष्टाङ्गिकमार्गजलस्रोतसि निर्वाणाभिमुखे मध्यचारीति स्रोतआपन्नः।" – अभि० मृ०, पृ० ८५।
"स्रोतापत्तिफलप्रतिपन्नकः कतमः? निर्वेधभागीयेषु पञ्चदशसु दर्शनमार्गचित्तक्षणेषु यः पुद्गलः। स्रोतआपन्नः कतमः? षोडशे दर्शनमार्गचित्तक्षणे यः पुद्गलः।" – अभि० समु०, पृ० ८८।
"अक्षीणभावनाहेयः, फलस्थः सप्तकृत्परः।
प्रकार-त्रि-चतुर्मुक्तो, द्वित्रिजन्मा कुलङ्कुलः॥" – अभि०को० ६ : ३४, पृ० १७३।
२. द्र० – प० दी०, पृ० ५६।
३. प० दी०, पृ० ५६; विभा०, पृ० ७५।
तु० – "प्रहीणषड्विधसंयोजन उच्यते सकृदागामी।... कामदेवलोकाद् मनुष्येषूपपद्य ततः परिनिर्वातीत्युच्यते एकवीचिश्च सकृदागामी च।" – अभि० मृ०, पृ० ८५।
"सकृदागामिफलप्रतिपन्नकः कतमः? भावनामार्गे कामावचराणां पञ्चप्रकाराणां क्लेशानां प्रहाणमार्गे यः पुद्गलः। सकृदागामी कतमः? भावनामार्गे कामावचरस्य षष्ठस्य क्लेशप्रकारस्य प्रहाणमार्गे यः पुद्गलः।" – अभि० समु०, पृ० ८९।
"यावत्पञ्चप्रकारघ्नो, द्वितीये प्रतिपन्नकः।
क्षीणषष्ठप्रकारस्तु, सकृदागाम्यसौ भवेत्॥" – अभि० को० ६ : ३५, पृ० १७४।

२८. चतुमग्गप्पभेदेन चतुधा कुसलं तथा।
पाकं तस्स फलत्ता ति अट्ठधानुत्तरं मतं॥

चार मार्गों के भेद से चतुर्विध कुशल तथा उनके (मार्गों के) फलों के भेद से चतुर्विध विपाक – इस प्रकार अनुत्तर[1] (लोकोत्तर) चित्त आठ प्रकार के माने गये हैं।

"रूपावचरादिकुसलं पन अनन्तराये सति अनन्तरभवे विपाककालनियतत्ता सदिसविपाकमेव देति, लोकुत्तरकुसलं पन अत्तनो अनन्तरं विपाकदानकालनियतत्ता सदिसविपाकमेव देति, अथवा कामावचरकुसलस्स नानारम्मणत्ता विपाकं पि कम्मनिमित्तादिवसेन नानारम्मणं होति। तस्मा सदिसासदिसं विपाकं देति[2]।"

२८. **चतुमग्गप्पभेदेन** – आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अन्तर्गत परिगणित सम्यग्दृष्टि, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति एवं सम्यक्समाधि – ये चार क्रमशः प्रज्ञेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय एवं समाधीन्द्रिय हैं। ये इन्द्रियाँ स्रोतापत्ति मार्ग के क्षण में मन्द, सकृदागामी मार्ग के क्षण में तीक्ष्ण, अनागामी मार्ग के क्षण में तीक्ष्णतर तथा अर्हत् मार्ग के क्षण में तीक्ष्णतम होती हैं। अतः मार्ग के एक होने पर भी इन्द्रियों के मन्द, तीक्ष्ण-आदि तर-तम भेद से वह चतुर्विध होता है[3]।

कुशल मार्गचित्त के चतुर्विध होने से उनके विपाक फलचित्त भी चतुर्विध होते हैं।

लोकोत्तर में क्रिया का अभाव—

प्रश्न – लोकोत्तर चित्तों में क्रियाचित्त क्यों नहीं होते ?

उत्तर – मार्गचित्तों का स्वभाव से एक 'वार'[4] (एकचित्तक्षणमात्र) होने से लोकोत्तर चित्तों में क्रियाचित्त नहीं होते।

प्रश्न – मार्गचित्तों का क्यों एक 'वार' (एकचित्तक्षणिकभाव) ही होता है ?

उत्तर – मार्गचित्त अपने एक 'वार' (उत्पादक्षणमात्र) से ही सम्बद्ध क्लेश-धर्मों का प्रहाणकृत्य सम्पन्न कर देते हैं, अतः इनका एक 'वार' ही होता है।

प्रश्न – मार्गचित्तों का एक 'वार' होने से क्रियाचित्तों के न होने का क्या सम्बन्ध है ?

---

१. "नत्थि अत्तनो उत्तरं अधिकं एतस्सा ति अनुत्तरं।" – प० दी०, पृ० ६१।
"अनुत्तरं अत्तनो उत्तरितराभावेन अनुत्तरसङ्खातं लोकुत्तरं चित्तं अट्ठधा मतं ति योजना।" – विभा०, पृ० ७६।

२. सङ्खेप०, पृ० २२३।

३. तु० – प० दी०, पृ० ६१; विभा०, पृ० ७६।

४. 'Turn' द्र० – पा० टे० सो० डि०, पृ० ६०९।

लोकुत्तरविपाकचित्तानि

२७. सोतापत्तिफलचित्तं, सकदागामिफलचित्तं, अनागामिफलचित्तं, अरहत्तफलचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि लोकुत्तरविपाकचित्तानि नाम।

इच्चेवं सब्बथा पि अट्ठ लोकुत्तरकुसलविपाकचित्तानि समत्तानि।

स्रोतापत्ति फलचित्त, सकृदागामी फलचित्त, अनागामी फल-चित्त, एवं अर्हत्-फलचित्त—इस प्रकार ये चारों लोकोत्तर विपाकचित्त हैं।

इस तरह सर्वथा आठ लोकोत्तर-कुशल एवं लोकोत्तर-विपाक चित्त समाप्त।

'अरहत्तमग्गेन सम्पयुत्तं चित्तं अरहत्तमग्गचित्तं' अर्हत् पुद्गल के मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त अर्हत्-मार्गचित्त है।[1]

लोकोत्तर विपाकचित्त

२७. सोतापत्तिफलचित्तं – यहाँ पर 'फल' शब्द से विपाकपर्यापन्न अष्टाङ्गिक मार्ग का ग्रहण होता है[2], अतः 'सोतापत्तिया अधिगतं फलं सोतापत्तिफलं, तेन सम्पयुत्तं चित्तं सोतापत्तिफलचित्तं' – ऐसा विग्रह होता है।

सकृदागामी फल-आदि फलचित्तों का विग्रह भी ऐसे ही समझना चाहिये[3]।

विपाकचित्तों की असमानता – रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकोत्तर कुशलचित्त अपने समान ही फल देते हैं। अतः कुशलचित्तों एवं विपाकचित्तों की सङ्ख्या समान होती है। कामावचर कुशलचित्त 'अहेतुक कुशलविपाक' नामक असदृश एवं 'सहेतुक महाविपाक' नामक सदृश फल देते हैं।

प्रश्न – जब रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकोत्तर कुशलचित्त समान फल देते हैं, तो क्यों कामावचर कुशलचित्त समान एवं असमान फल देते हैं?

उत्तर – यदि कोई अन्तराय उपस्थित नहीं होता है तो रूपावचर एवं अरूपावचर चित्तों का फल अनन्तर भव में नियत होता है, अतः वे सदृश फल देते हैं। लोकोत्तर कुशलचित्त भी अपने उत्पाद के अव्यवहित समनन्तर (द्वितीय क्षण में ही) नियत फल देते हैं, अतः इनका विपाक भी सदृश होता है। कामावचर कुशलचित्तों में ऐसा नहीं होता। वे प्रत्युत्पन्न भव में दृष्टधर्म-फल[4] तथा अनन्तर भव में उपपद्यवेदनीय[4], अपरपर्याय-वेदनीय[4]-आदि नानाविध फल देते हैं, अतः वे समान एवं असमान विपाक देनेवाले होते हैं। 'सङ्खेपवण्णना' में भी कहा गया है; यथा—

---

१. विस्तार के लिये द्र० – प० दी० 'लोकोत्तरचित्त' पृ० ५९; तु० – विभा०, पृ० ७५।

२. "फलं ति विपाकभूतो अट्ठङ्गिकमग्गो।" – प० दी०, पृ० ६०।

३. विभा०, पृ० ७६; प० दी०, पृ० ५९–६०।

४. द्र० – अभि० स० ५ : ४३।

२९. द्वादसाकुसलानेवं* कुसलानेकवीसति ।
छत्तिसेवं† विपाकानि क्रियाचित्तानि वीसति ।।

इस तरह (सम्पूर्ण चित्तों में) अकुशल – १२, कुशल – २१, विपाक – ३६ एवं क्रियाचित्त २० हैं ।

प्रथम चार ध्यानों से सम्प्रयुक्त होते हैं तो सौमनस्यवेदना होती है तथा पञ्चमध्यान से सम्प्रयुक्त होने पर उपेक्षावेदना होती है । अतएव लोकोत्तर चित्तों में उपर्युक्त दो ही वेदनाएँ होती हैं ।

जिस तरह हमने कहा है कि रूपावचर चित्तों में सम्प्रयुक्त-विप्रयुक्त एवं असंस्कारिक-ससंस्कारिक भेद नहीं हो सकते, वैसे ही लोकोत्तर चित्तों में भी ये भेद नहीं हो सकते ।

२९. 'द्वादसाकुसलानेवं...'–इस गाथा के द्वारा चित्तों का जाति-भेद से वर्गीकरण दिखलाया गया है । जाति त्रिविध है; यथा – अकुशलजाति, कुशलजाति एवं अव्याकृत जाति । बारह अकुशलचित्त अकुशलजाति के हैं; इक्कीस कुशलचित्त कुशलजाति के हैं तथा विपाकचित्त छत्तीस एवं क्रियाचित्त वीस = छप्पन चित्त अव्याकृतजाति के हैं । तीनों जातियों के कुल चित्तों की सङ्ख्या नवासी (८९) है ।

जाति-भेद से चित्तों की गणना

जाति	भेद	संख्या	योग
अकुशल			१२
कुशल	कामावचर	८	=२१
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
	लोकोत्तर	४	
अव्याकृत	**विपाक**		
	अकुशल विपाक	७	=३६
	अहेतुक कामावचर कुशलविपाक	८	
	सहेतुक कामावचर कुशलविपाक	८	
	रूपावचर विपाक	५	
	अरूपावचर विपाक	४	
	लोकोत्तर विपाक	४	
	क्रिया		
	अहेतुक	३	=२०
	कामावचर	८	
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
		कुल योग	८९

---

* नेव – स्या० । † छत्तिसेवं – रो० ।

उत्तर – पूर्वकथित कामावचर, रूपावचर एवं अरूपावचर चित्तों में से पृथग्जन एवं शैक्ष्य[2] पुद्गलों की सन्तान में होनेवाले कुशल-चित्त ही जब अर्हत् की सन्तान में होते हैं तो 'क्रियाचित्त' कहलाते हैं। इन लोकोत्तर चित्तों में से मार्ग कुशलचित्त यदि अर्हत् की सन्तान में पुनः उत्पन्न होते तो क्रियाचित्त कहलाते; किन्तु मार्गचित्तों का एक 'वार' मात्र होने के कारण अर्हत् की सन्तान में इनका पुनः उत्पाद नहीं होता, अतः इनका 'क्रिया' नाम नहीं होता। यही मार्गचित्तों का एक 'वार' होने से क्रियाचित्तों के न होने का सम्बन्ध है[3]।

सर्वप्रथम महाक्रिया एवं महग्गत क्रियाचित्तों के कृत्य पर विचार करना चाहिये।

पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल जिस तरह दान (जलदान, पुष्पदान-आदि), शील, भावना-आदि कर्म करते हैं उसी तरह अर्हत् जन भी करते हैं। ध्यानलाभी पृथग्-जन एवं शैक्ष्य पुद्गल जिस तरह ध्यानसमापत्ति का आवर्जन करते हैं उसी तरह अर्हत् जन भी करते हैं। दान, शील, भावना, ध्यानसमापत्ति-आदि कृत्यों को सम्पन्न करनेवाले चित्त जब पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों की सन्तान में उत्पन्न होते हैं तब वे 'महाकुशल' एवं 'महग्गतकुशल' कहलाते हैं; क्योंकि इन कुशलचित्तों का कालान्तर में विपाक अवश्यमेव होता है। उपर्युक्त कृत्यों का ही सम्पादन करनेवाले ये (महाकुशल एवं महग्गत) चित्त जब अर्हत् की सन्तान में उत्पन्न होते हैं तो महाक्रिया एवं महग्गत-क्रिया कहलाते हैं; क्योंकि इनका विपाक कदापि नहीं होता। उनके ये चित्त केवल क्रियामात्र होते हैं, अतः 'क्रियाचित्त' कहलाते हैं।

मार्गों का कृत्य यद्यपि एक ही है; यथा – 'क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण करना' तथापि ये (मार्ग-धर्म) क्लेश-धर्मों का चतुर्धा विभाग करके उनका प्रहाण करते हैं। जैसे – इन्द्र का वज्र पाषाणमय पर्वतों का सकृत्पात (एक वार के अभिनिपात) में ही भेदन करता है उसी तरह मार्ग-धर्म भी क्लेश-धर्मों का एक क्षण (उत्पाद-क्षण) में ही समूलघात कर देते हैं। अतः उनके पुनः प्रहाण के लिये मार्गचित्तों के पुनः उत्पाद की अपेक्षा नहीं होती और इसीलिये आर्यपुद्गल जिस तरह ध्यान-समापत्तियों का आवर्जन करते हैं, उस तरह मार्गचित्तों का आवर्जन नहीं करते; वे केवल फल-समापत्ति का ही आवर्जन करते हैं। यदि क्लेश-धर्मों के प्रहाणार्थ अथवा समापत्ति के आवर्जनार्थ मार्गचित्तों का पुनः उत्पाद होगा तो उन्हें 'क्रियाचित्त' कह सकते हैं; किन्तु उक्त दोनों कृत्यों के सम्पादन के लिये मार्गचित्तों का पुनः उत्पाद नहीं होता; अतः लोकोत्तर चित्तों में क्रियाचित्त नहीं होते[4]।

लोकोत्तर चित्तों में सौमनस्य एवं उपेक्षा – ये दो वेदनायें होती हैं। लोकोत्तर मार्गचित्तों एवं फलचित्तों में से प्रत्येक में पाँच पाँच ध्यान होते हैं। जब ये चित्त

---

१. जिस पुद्गल को अभी तक मार्ग की प्राप्ति नहीं हुई है वह 'पृथग्जन' है।

२. आठ आर्य पुद्गलों में जिन्हें अभी अर्हत्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है वे 'शैक्ष्य' हैं।

३. उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों के लिये तु० – विभा०, पृ० ७६; प० दी०, पृ० ६१।

४. प० दी०, पृ० ६१।

३१. इत्थमेकूननवुतिप्पभेदं* पन मानसं।
एकवीससतं वाथ विभजन्ति विचक्खणा ॥

३२. कथमेकूननवुतिविधं चित्तं एकवीससतं होति ? वितक्कविचार-पीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं, विचारपीतिसुखेक-ग्गतासहितं दुतियज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततिय-ज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं, सुखेकग्गतासहितं† चतुत्थज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं†,

इस प्रकार (पूर्वोक्त गाथा के अनुसार) सम्पूर्ण चित्तों के ८९ प्रभेद हैं। विद्वान् इनके १२१ विभाग भी करते हैं।

किस तरह ८९ प्रकार के चित्त १२१ हो जाते हैं ?

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्ग-सहित प्रथमध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त,

विचार, प्रीति, सुख, एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त,

प्रीति, सुख, एवं एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त,

सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान स्रोता-पत्ति मार्गचित्त

---

३१. 'इत्थमेकूननवुति...' – यह गाथा निगमन एवं निदान दोनों को दिखलाने-वाली गाथा है। 'आलम्बनविजाननं' इस लक्षण से चित्त एक ही प्रकार का है। उस एक प्रकार के चित्त का ही—वेदना-भेद से, योग-भेद से, एवं संस्कार-भेद से, कुशल-अकुशल-अव्याकृत – इस प्रकार जाति-भेद से, काम-रूप-अरूप-लोकोत्तर – इस प्रकार भूमि-भेद से, तथा ध्यान-भेद से, आलम्बन-भेद से एवं मार्ग-भेद से ८९ प्रकार का विभाजन किया गया है। गाथा के पूर्वार्ध से चित्तों का सङ्क्षेप में निगमन होता है, अतः पूर्वार्ध निगमन-गाथा है, तथा उत्तरार्ध से ८९ चित्त किस तरह १२१ प्रकार के हो जाते हैं – इसका सङ्केत किया गया है, अतः उत्तरार्ध निदानगाथा है।

३२. पठमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं[1] – ध्यान दो प्रकार के होते हैं; यथा—१. आलम्बनो-पनिध्यान (आरम्मणूपनिज्झान) एवं २. लक्षणोपनिध्यान (लक्खणूपनिज्झान)। इनमें से महग्गत ध्यान-समापत्तियाँ 'पृथ्वी' आदि कसिण-आलम्बनों का उपनिध्यान करती हैं, अतः उन्हें 'आलम्बनोपनिध्यान' कहते हैं। 'आरम्मणं उपनिज्झायतीति आरम्मणू-पनिज्झानं'।

---

* ०पभेदं – म० (ख)।　　　　†-† म० (ख) में नहीं।

१. "तत्थ पठमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं ति एत्थ पञ्चङ्गिकेन पठमज्झानेन युत्तो सोतापत्तिमग्गो पठमज्झानसोतापत्तिमग्गो तेन सम्पयुत्तं चित्तं ति समासो। टीकासु पन पठमज्झानञ्च तं सोतापत्तिमग्गचित्तञ्चा ति योजेन्ति, तं न युत्तं; नहि झानं चित्तं होति, न च चित्तं झानं; अञ्ञं हि झानं, अञ्ञं चित्तं ति।" – प० दी०, पृ० ६३।

३०. चतुपञ्ञासधा कामे रूपे पन्नरसीरये* ।
चित्तानि द्वादसारूपे† अट्ठधानुत्तरे तथा ।।

काम-भूमि में ५४, रूपावचर-भूमि में १५, अरूप-भूमि में १२, एवं अनुत्तर (लोकोत्तर)-भूमि में ८ प्रकार के चित्त हैं ।

---

३०. 'चतुपञ्ञासधा कामे...' – इस गाथा के द्वारा भूमि-भेद से चित्तों का विभाग दिखाया गया है । भूमि दो प्रकार की होती है–१. स्थान-भूमि एवं २. अवस्था-भूमि ।

१. जिनका आधार 'भूमि' होती है, उन्हें स्थान-भूमि कहते हैं; यथा – अपाय-भूमि, मनुष्य-भूमि, देव-भूमि तथा ब्रह्म-भूमि ।

२. त्रिविध तृष्णाओं से उपलक्षित धर्मसमूह को अवस्था-भूमि कहते हैं । जैसे –

(क) कामतृष्णा के आलम्बनक्षेत्र; यथा – कामतृष्णा से परिच्छिन्न कामचित्त, चैतसिक एवं रूप कामावस्था-भूमि है ।

(ख) रूपतृष्णा के आलम्बनक्षेत्र; यथा – रूपतृष्णा से परिच्छिन्न रूपचित्त एवं चैतसिक रूपावस्था-भूमि है ।

(ग) अरूपतृष्णा के आलम्बनक्षेत्र; यथा – अरूपतृष्णा से परिच्छिन्न अरूप-चित्त एवं चैतसिक अरूपावस्था-भूमि है ।

(घ) इन त्रिविध तृष्णाओं के द्वारा आलम्बन न किये जा सकनेवाले क्षेत्र; यथा – तीनों तृष्णाओं का अनालम्बनभूत निर्वाण, लोकोत्तरचित्त एवं चैतसिक लोकोत्तरावस्था-भूमि है[1] ।

इस तरह चार अवस्था-भूमि होती हैं । इस प्रकार काम-भूमि, रूप-भूमि एवं अरूप-भूमि – ये तीन भूमियाँ स्थान-भूमि एवं अवस्था-भूमि दोनों कही जा सकती हैं । लोकोत्तर-भूमि केवल अवस्था-भूमि है, स्थान-भूमि नहीं; यथा –

"भूमिभेदतो ति – भवन्ति एत्था ति भूमि; ठानं अवत्था च.... लोकिया वा ठानावत्थावसेन, लोकुत्तरा अवत्थावसेनेव[2] ।"

इन चारों भूमियों में भूमि-भेद से चित्तों की सङ्ख्या इस प्रकार है–

भूमि	चित्त
काम-भूमि	५४
रूप-भूमि	१५
अरूप-भूमि	१२
लोकोत्तर-भूमि	८
कुल योग	८९

---

* पण्णरसीरिये – स्या० ।

† द्वादसारुप्पे – ना०, म० (ख) ।

१. विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ६२ ।

२. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ११४ ।

को 'गौण ध्यान' कहते हैं; किन्तु उनका यह मत 'अट्ठसालिनी' के उपर्युक्त वचन से विपरीत होने के कारण अनुपादेय है।

लोकोत्तर चित्त में प्रथमध्यान-आदि भेद – पहले कहा गया है कि मार्गचित्तों का एक 'वार' (एकचित्तक्षणप्रवृत्ति) होता है। ऐसी स्थिति में एक ही पुद्गल में ये पाँचों स्रोतापत्तिमार्ग-ध्यान नहीं हो सकते, अतः प्रश्न होता है कि किस पुद्गल में प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्ग तथा किस पुद्गल में द्वितीयध्यान स्रोतापत्तिमार्ग-आदि होते हैं ?

उत्तर – मार्ग की भावना करनेवाले उत्साही योगी की सन्तान में जब मार्गचित्त का उत्पाद आसन्न होता है तब उसमें 'व्युत्थानगामिनी'[1] नामक विपश्यनाज्ञान उत्पन्न होता है। इस विपश्यनाज्ञान की शक्ति के अनुसार किसी योगी में प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्ग तथा किसी में द्वितीयध्यान स्रोतापत्तिमार्ग-आदि उत्पन्न होते हैं।

मार्गचित्त की उत्पत्ति के आसन्नकाल में उत्पन्न होनेवाले 'संस्कारोपेक्षाज्ञान'[1] तथा मार्ग-वीथि में उत्पन्न होनेवाले 'अनुलोमज्ञान'[1] को 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहते हैं।

जब किसी योगी की सन्तान में उत्पन्न व्युत्थानगामिनी विपश्यना के द्वारा, पाँच ध्यानाङ्गों से युक्त प्रथमध्यान मार्गचित्त के किसी ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा या औदासीन्य उत्पन्न नहीं होता तो उसे प्रथमध्यान मार्गचित्त उत्पन्न होता है। यदि उसे इस विपश्यनाज्ञान के द्वारा वितर्क ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा या अनुत्साह उत्पन्न हो जाता है तो चार ध्यानाङ्गों से युक्त द्वितीयध्यान मार्गचित्त उत्पन्न होता है। इसी तरह अन्य ध्यानों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। इसी प्रकार नानाविध पुद्गलों के मार्ग के नानाविध ध्यानाङ्गों से सम्प्रयुक्त होने में व्युत्थानगामिनी विपश्यना प्रधान होती है[2]।

मार्गाभिलाषी पुद्गल भी द्विविध होते हैं: १. शुष्कविपश्यक पुद्गल तथा २. ध्यानलाभी पुद्गल। लौकिक ध्यानों को प्राप्त न होकर केवल विपश्यना करनेवाले पुद्गल को 'शुष्क-विपश्यक' कहते हैं तथा लौकिक ध्यानों को प्राप्त पुद्गल 'ध्यानलाभी' कहा जाता है। इनमें से शुष्कविपश्यक पुद्गल ध्यानों को अप्राप्त होने से जब विपश्यना करता है तब काम-धर्मों की ही विपश्यना करता है; अतः उसे वितर्क-आदि पाँच ध्यानाङ्गों में से किसी भी ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा नहीं होती। ध्यानलाभी पुद्गल भी जब किसी ध्यान का समावर्जन न करके काम-धर्मों की ही अनित्य-अनात्म-दुःखलक्षणों से विपश्यना करता है, अथवा प्रथमध्यान का ही समावर्जन करता है, अथवा प्रथमध्यान का ही सम्मर्शन करता है, अथवा प्रथमध्यान का ही समावर्जन एवं सम्मर्शन –

---

१. द्र० – अभि० स० ९:५८।

२. "सङ्खारुपेक्खाञाणमेव हि अरियमग्गस्स बोज्झङ्ग-मग्गङ्ग-झानङ्ग-विसेसं नियमेति।" – अट्ठ०, पृ० १८५।

उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि सोतापत्तिमग्गचित्तानि नाम। तथा सकदागामिमग्ग-अनागामिमग्ग-अरहत्तमग्गचित्तञ्चेति* समवीसति मग्गचित्तानि†, तथा फलचित्तानि चेति समचत्तालीस‡ लोकुत्तरचित्तानि भवन्तीति§।

एवं उपेक्षा तथा एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त –

इस प्रकार ये पाँचों (ध्यान-भेद से) स्रोतापत्ति मार्गचित्त हैं।

उसी प्रकार सकृदागामी मार्गचित्त, अनागामी मार्गचित्त एवं अर्हत्-मार्गचित्त भी (५-५ प्रकार के) हैं – इस प्रकार मार्गचित्त २० होते हैं। तथा फल चित्त भी (उसी प्रकार) २० होते हैं, और इस तरह लोकोत्तर-चित्त कुल ४० होते हैं।

कामावचरविपश्यना, मार्ग एवं फल – ये लक्षणोपनिध्यान होते हैं; क्योंकि कामावचरविपश्यना अनित्य-अनात्म-दुःख लक्षणों का उपनिध्यान करती है। विपश्यना का यह उपनिध्यानकृत्य मार्गचित्तों के उत्पाद-क्षण में समाप्त हो जाता है, अतः 'मार्गचित्त भी उन लक्षण-धर्मों का उपनिध्यान करते हैं' – ऐसा कहा जाता है। फल-चित्त निरोध-सत्य नामक निर्वाण के तथतालक्षण का उपनिध्यान करते हैं, अतः विपश्यना, मार्ग एवं फल ये तीनों लक्षणोपनिध्यान हैं। 'लक्खणं उपनिज्झायतीति लक्खणूपनिज्झानं'।

"झानं ति दुविधं झानं – आरम्मणूपनिज्झानं, लक्खणूपनिज्झानं ति; तत्थ अट्ठ समापत्तियो पठवीकसिणादिआरम्मणं उपनिज्झायन्तीति आरम्मणूपनिज्झानं ति सङ्ख्यं गता। विपस्सनामग्गफलानि पन लक्खणूपनिज्झानं नाम[1]।"

सब लोकोत्तर ध्यान लक्षणोपनिध्यान होते हैं। अतः स्रोतापत्तिमार्ग-चित्त-आदि में सम्प्रयुक्त होनेवाले वितर्क-आदि ध्यानाङ्गों को मुख्य रूप से ध्यान कहा जाता है।

कुछ विद्वान् लौकिक ध्यानों को ही 'मुख्य ध्यान' कहते हैं तथा लोकोत्तर ध्यानों

---

* सकदागामि-अनागामि-अरहत्तमग्गचित्तानि चेति – स्या०।

† ०चित्तानि नाम – स्या०।

‡ ०चत्ताळीस – सी०, स्या० (सर्वत्र)।

§ भवन्ति – स्या०।

१. अट्ठ०, पृ० १३७।

१. पादकध्यानवाद – मार्ग की भावना करनेवाले ध्यानलाभी कुछ योगी एकाग्रता के साथ विपश्यना को आरब्ध करने के लिये अपने द्वारा उपलब्ध किसी एक ध्यान का 'पादक' (आधार) रूप में समावर्जन करते हैं। यह समावर्जित ध्यान विपश्यना का आधार होने से 'पादकध्यान' कहा जाता है। इस पादकध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर इस (पादक) से अतिरिक्त किसी एक लौकिक संस्कार-धर्म की विपश्यना करते समय यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँचकर मार्ग की प्राप्ति होती है तो इस स्थिति में यदि पूर्व का पादकध्यान प्रथमध्यान होता है तो प्राप्त होनेवाला मार्ग भी प्रथमध्यान-मार्ग ही होता है। पादकध्यान यदि वितर्क से घृणा करनेवाला द्वितीयध्यान होता है तो विपश्यनाचित्तसन्तति में पादकध्यान से सङ्क्रमित होकर वितर्क के प्रति घृणा करनेवाला एक शक्तिविशेष उत्पन्न होता है और इस शक्ति-विशेष के कारण विपश्यना-क्रम से उपलब्ध मार्ग भी विपश्यना के अनुसार वितर्क से रहित द्वितीयध्यान से ही सम्प्रयुक्त होता है। अर्थात् वितर्क से घृणा करनेवाले शक्ति-विशेष से युक्त विपश्यना से द्वितीयध्यान-मार्ग ही प्राप्त होता है। यदि तृतीयध्यान को 'पादक' किया जाता है, तो तृतीयध्यान-मार्ग; यदि चतुर्थध्यान को 'पादक' किया जाता है, तो चतुर्थध्यान-मार्ग तथा पञ्चमध्यान को 'पादक' किया जाता है तो पञ्चम-ध्यानमार्ग-चित्त उत्पन्न होता है। इस वाद में योगी पादकध्यान से अतिरिक्त अन्य संस्कार-धर्मों का सम्मर्शन करते समय ध्यान का भी सम्मर्शन करने का अवसर प्राप्त करता है; किन्तु सम्मर्शन करना इसमें प्रधान नहीं है। अतः इस वाद के अनुसार पादक-ध्यान के ही समान मार्ग में ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने चाहिये।

२. सम्मर्शितध्यानवाद – कतिपय ध्यानलाभी योगी मार्ग की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते समय स्वोपलब्ध किसी लौकिक ध्यान का अनित्य-अनात्म-दुःखलक्षण से सम्मर्शन करते हैं। सम्मर्शन किया जाने से उस ध्यान को 'सम्मर्शितध्यान' कहते हैं। यदि यह सम्मर्शित ध्यान प्रथमध्यान होता है तो प्राप्त होनेवाला मार्ग भी प्रथमध्यान-मार्ग ही होता है। सम्मर्शित ध्यान यदि वितर्क से घृणा करने वाला द्वितीयध्यान होता है तो विपश्यना-चित्तसन्तति में सम्मर्शित ध्यान से सङ्क्रमित होकर वितर्क के प्रति घृणा करनेवाला एक शक्तिविशेष उत्पन्न होता है और इस शक्तिविशेष के कारण विपश्यना-क्रम से व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँच कर प्राप्त होनेवाला मार्ग भी विपश्यना के अनुसार वितर्क से रहित द्वितीयध्यान से ही सम्प्रयुक्त होता है। इसी तरह यदि तृतीयध्यान सम्मर्शित किया जाता है तो तृतीयध्यान-मार्ग, यदि चतुर्थ-ध्यान सम्मर्शित किया जाता है तो चतुर्थध्यान-मार्ग तथा पञ्चमध्यान सम्मर्शित किया जाता है तो पञ्चमध्यान मार्गचित्त उत्पन्न होता है। इस वाद में 'पादकध्यान' का 'होना' या 'न होना' प्रधान नहीं है। अतः इस वाद के अनुसार सम्मर्शित ध्यान के ही समान मार्ग में ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने चाहिये।

[कुछ लोग कहते हैं कि 'पादकध्यानवाद' में ध्यान का सम्मर्शन नहीं करना चाहिये; यदि किया जाता है तो 'सम्मर्शितध्यानवाद' के लक्षण से सम्मिश्रण हो

३३. झानङ्गयोगभेदेन* कत्वेकेकं तु पञ्चधा ।
वुच्चतानुत्तरं चित्तं चत्तालीसविधं ति च ॥

ध्यानाङ्गों के योग के भेद से लोकोत्तर चित्तों के एक एक चित्तों को पाँच पाँच प्रकार का करके लोकोत्तर चित्तों को चालीस प्रकार का कहा जाता है ।

दोनों करता है तो उसे किसी भी ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं होती । अतः 'शुष्कविपश्यक' एवं ध्यान का समावर्जन न करके कामधर्मों का ही सम्मर्शन करनेवाले 'ध्यानलाभी' में, प्रथमध्यान का समावर्जन करनेवाले 'ध्यानलाभी' में, किसी भी ध्यान का समावर्जन न करके केवल प्रथमध्यान का ही सम्मर्शन करनेवाले 'ध्यानलाभी' में एवं प्रथमध्यान का ही समावर्जन एवं सम्मर्शन-दोनों करनेवाले ध्यानलाभी में – इस प्रकार चार प्रकार के पुद्गलों में प्रथम-ध्यान से सम्प्रयुक्त मार्ग ही उत्पन्न होते हैं[1] ।

इन पुद्गलों के मार्ग में सदा सौमनस्य ही होता है – इन योगियों की व्युत्थान-गामिनी विपश्यना यदि उपेक्षा से सम्प्रयुक्त होती है, तो "उपेक्खासहगतजवनानन्तरं उपेक्खासहगता व[2]" (उपेक्षासहगत जवन के अनन्तर चित्त उपेक्षासहगत ही होता है) – इस वचन के अनुसार मार्गचित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होने से उन्हें पञ्चम-ध्यान मार्गचित्त ही उत्पन्न होगा; किन्तु मार्गचित्त के उत्पाद से अव्यवहितपूर्व विपश्यना-चित्त में पर्याय-क्रम से कभी सौमनस्य एवं कभी उपेक्षा उत्पन्न होती है । उपेक्षाध्यान का सम्मर्शन करने से सुख के प्रति आदीनव देखनेवाले योगी के अतिरिक्त अन्य योगियों की सन्तान में मार्गचित्त के उत्पाद के आसन्न पूर्वकाल में उत्पन्न होनेवाली व्युत्थान-गामिनी विपश्यना सदा प्रीति-सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होती है; अतः इस प्रकार के योगियों की सन्तान में पञ्चमध्यान मार्गचित्त का उत्पाद कथमपि नहीं हो सकता ।

३३. **'झानङ्गयोगभेदेन....'** – यह गाथा लोकोत्तर चित्तों के विस्तार का सङ्ग्रह करती है । कुछ मार्ग एवं फलचित्त पाँच ध्यानाङ्गों से, कुछ चार ध्यानाङ्गों से, कुछ तीन, कुछ दो, पुनः कुछ दो ध्यानाङ्गों से सम्प्रयुक्त होते हैं; अतः ध्यानाङ्गों का सम्प्रयोग पञ्चविध होने से प्रत्येक मार्गचित्त एवं फलचित्त पाँच प्रकार का होता है – इस प्रकार लोकोत्तर चित्त कुल चालीस प्रकार के होते हैं । प्रत्येक चित्त के पाँच प्रकारों में प्रथम चार सुखावेदना से सम्प्रयुक्त होते हैं तथा अन्तिम (पञ्चम) उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होता है । अतः चालीस लोकोत्तर चित्तों में से बत्तीस चित्त सुखावेदना से तथा आठ चित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

द्वितीयध्यानमार्ग-आदि मार्गों के उत्पाद में तीन वाद होते हैं[3]; यथा – १. पादकध्यानवाद, २. सम्मर्शितध्यानवाद, तथा ३. पुद्गलाध्याशयवाद ।

---

* ठानङ्ग० – रो० ।

१. तु० – प० दी०, पृ० ६४, विभा०, पृ० ७७ । २. अभि० स० ४ : २४ ।

३. तीनों वादों के विस्तार के लिये तु० – अट्ठ०, पृ० १८६–१८७; प० दी०, पृ० ६५–६६ ।

३४. यथा च रूपावचरं गय्हतानुत्तरं तथा।
पठमादिज्झानभेदे* आरुप्पञ्चापि पञ्चमे ॥
एकादसविधं तस्मा पठमादिकमीरितं।
झानमेकेकमन्ते तु तेवीसतिविधं भवे ॥

जैसे रूपावचर चित्त 'प्रथम' आदि ध्यान-भेदों में गृहीत होते हैं, उसी प्रकार लोकोत्तर चित्त भी 'प्रथम' आदि ध्यान-भेदों में गृहीत होते हैं; तथा आरूप्य ध्यान पञ्चमध्यान में गृहीत होते हैं।

अतः प्रथमध्यान-आदि प्रत्येक ध्यान ग्यारह प्रकार का कहा गया है तथा अन्तिम पञ्चमध्यान तेईस प्रकार का होता है।

सम्मर्शितध्यान दूसरे प्रकार का होने से दोनों में वैषम्य हो जाने पर यदि अध्याशय किसी एक के प्रति विशेष रूप से नहीं होता है तो ऊपर के ध्यान के प्रति ही स्वभावतः चित्त का झुकाव होने से ऊपर के ध्यान के सदृश मार्ग उत्पन्न होता है। अर्थात् यदि 'पादकध्यान' द्वितीय और 'सम्मर्शित ध्यान' तृतीय होता है तो तृतीयध्यान-मार्ग ही प्राप्त होगा। यदि 'पादकध्यान' पञ्चम और सम्मर्शित ध्यान चतुर्थ होता है तो पञ्चम ध्यान-मार्ग ही उत्पन्न होगा।

कुछ विद्वान् पुद्गलाध्याशय को 'पुद्गलाध्याशय ध्यान' कहते हैं; किन्तु यह ध्यान नहीं है, अपितु यह पुद्गल का अध्याशय अर्थात् अभिलाष या छन्दमात्र है। इस छन्द के कारण ध्यान की प्राप्ति नहीं, अपितु ध्यानसम्प्रयुक्त मार्ग की प्राप्ति ही होती हैं। अतः पुद्गलाध्याशय को ध्यान नहीं कहा जा सकता। ध्यान न कहने पर इस पुद्गला-ध्याशय के कारण मार्ग की प्राप्ति होने से कारणभूत इस पुद्गलाध्याशय का कार्यभूत मार्ग में उपचार करके कारणोपचार से इसे 'पुद्गलाध्याशय मार्ग' कहा जा सकता है।

३४. **'यथा च रूपावचरं...'** – जैसे रूपावचर चित्त पांच ध्यानों से समन्वागत होते हैं, उसी प्रकार लोकोत्तर चित्तों में भी प्रत्येक चित्त पाँच-पाँच ध्यानों से समन्वागत होता है। इस तरह आठ लोकोत्तर चित्तों में आठ प्रथमध्यान-चित्त, आठ द्वितीय-ध्यान-चित्त, इसी प्रकार अन्य चित्त भी आठ आठ प्रकार के होते हैं। यदि लौकिक प्रथमध्यान-चित्त – तीन (कुशल-विपाक-क्रिया) और लोकोत्तर प्रथमध्यान-चित्त – आठ, दोनों की सम्मिलित गणना की जाती है तो प्रथमध्यान ग्यारह प्रकार का हो जाता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान भी ग्यारह ग्यारह प्रकार के होते हैं। आरूप्यचित्तों का पञ्चमध्यान में ग्रहण होता है; अतः रूपावचर पञ्चमध्यान – तीन, अरूपावचर – बारह (इस तरह लौकिक पञ्चमध्यान-चित्त – पन्द्रह) और लोकोत्तर पञ्चमध्यान-चित्त – आठ, तीनों की सम्मिलित गणना की जाती है तो पञ्चमध्यान तेईस प्रकार का हो जाता है।

---

* पठमादिझानभेदेन – रो०।

जायेगा। तथा 'सम्मर्शितध्यानवाद' में ध्यान को 'पादक' नहीं करना चाहिये; यदि किया जाता है तो 'पादकवाद' का लक्षण इससे सम्मिश्रित हो जायगा। इस मत का 'अट्ठसालिनी'[1] की 'मूलटीका' के "पकिण्णकसङ्खारे' ति – पादकज्झानतो अञ्ञसङ्खारे, तेन पादकज्झानसङ्खारेसु सम्मिस्सितेसु वत्तब्बमेव नत्थीति दस्सेति"[2] – इस वचन से तुलना करके परीक्षण करना चाहिये।]

३. पुद्गलाध्याशयवाद – योगी पुद्गल के अध्याशय को 'पुद्गलाध्याशय' कहते हैं। 'यदि चार ध्यानाङ्गोंवाला मार्ग प्राप्त होगा तो अच्छा होगा' अथवा 'तीन ध्यानाङ्गोंवाला मार्ग प्राप्त होगा तो अच्छा होगा' – योगी के ऐसे अभिलाष को 'पुद्गलाध्याशय' कहते हैं। यहाँ पर 'अध्याशय' का अर्थ 'कुशल से सम्प्रयुक्त छन्द चैतसिक' है। इस प्रकार के अध्याशय से भावना करने पर व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँच कर यदि मार्ग प्राप्त होते हैं तो वे अध्याशय के अनुसार ही द्वितीयध्यान-मार्ग, तृतीयध्यान-मार्ग-आदि ही होते हैं, किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि केवल अध्याशयमात्र से ध्यानाङ्गों की प्राप्ति नहीं होती, अपितु अध्याशय के अनुसार लौकिक ध्यानों का समावर्जन अथवा सम्मर्शन अथवा दोनों करने होते हैं। यदि योगी द्वितीयध्यान-मार्ग प्राप्त करना चाहता है तो उसे लौकिक द्वितीयध्यान का समावर्जन, सम्मर्शन अथवा दोनों करना होता है। यही प्रकार तृतीय, चतुर्थ-आदि मार्गों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। इस वाद में योगी के अध्याशय के अनुसार मार्ग में ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने चाहिये। इस तरह के वाद को 'पुद्गलाध्याशयवाद' कहते हैं।

उपर्युक्त कथन के अनुसार 'पुद्गलाध्याशयवाद' पूर्वोक्त दोनों वादों में गतार्थ हो जाता है। जैसे – यदि अपने अभिलषित मार्ग के तुल्य ध्यानाङ्गोंवाले लौकिक ध्यान को 'पादक' करके उसका समावर्जन किया जाता है तो इसका 'पादकध्यानवाद' में अन्तर्भाव हो जाता है। यदि पादक न कर के केवल सम्मर्शन किया जाता है तो यह 'सम्मर्शितध्यानवाद' के अन्तर्गत आ जाता है।

पुद्गलाध्याशयवाद की विशेषता – अधोनिर्दिष्ट दृष्टि से विचार करने पर 'पुद्गलाध्याशयवाद' उक्त दोनों वादों में गतार्थ न होकर स्वतन्त्र एवं मौलिक रूप में स्थित रहता है। जैसे – यदि कोई योगी द्वितीयध्यान को 'पादक' करके तृतीयध्यान का सम्मर्शन करता है तो 'पादक' के अनुसार उसे द्वितीयध्यान-मार्ग प्राप्त होना चाहिये। और 'सम्मर्शितवाद' के अनुसार उसे तृतीयध्यान-मार्ग प्राप्त होना चाहिये। इस प्रकर दोनों वादों का सम्मिश्रण हो जाने से "इज्झतावुसो! सीलवतो चेतोपणिधि विसुद्धता"[3] (भिक्षुओ! शीलवान् भिक्षु की चित्त-प्रणिधि विशुद्ध होने से सिद्ध होती है।) इस वचन के अनुसार अध्याशय के अनुसार ही योगी को अपने इष्ट मार्ग की प्राप्ति होती है। यही 'पुद्गलाध्याशयवाद' की विशेषता है। उपर्युक्त प्रकार से पादकध्यान एक प्रकार का, तथा

१. अट्ठ०, पृ० १८६।
२. ध० स० मू० टी०, पृ० ११६।

दुतियो परिच्छेदो

चेतसिकसङ्गहविभागो

१. एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका ।
चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता ॥

जिनकी एक ही साथ उत्पत्ति एवं निरोध होता है, जिनका एक ही आलम्बन[1] एवं वस्तु[2] होती है तथा जो चित्त के साथ सदा संयुक्त रहते हैं, ऐसे ५२ धर्म चैतसिक कहलाते हैं[3] ।

चैतसिकसङ्ग्रह विभाग

१. **अनुसन्धि** – 'चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति . . .' के अनुसार 'चित्तं' – इस उद्देश का निर्देश कर देने के अनन्तर 'चेतसिकं' – इस उद्देश का निर्देश करने लिये आचार्य अनुरुद्ध अब यहाँ 'एकुप्पादनिरोधा च' . . . – यह गाथा प्रारम्भ करते हैं ।

भूमि, जाति सम्प्रयोग, संस्कार, ध्यान, आलम्बन एवं मार्ग भेद से चित्त का विभाजन दिखा कर, अब चैतसिकों का विभाजन प्रसङ्ग प्राप्त होने के कारण, आचार्य सर्वप्रथम 'एकोत्पाद' 'एकनिरोध' आदि लक्षणों को स्थापित करके उनके चतुर्विध सम्प्रयोग-लक्षण को दिखलाने के लिये तथा सम्पूर्ण चैतसिकों का 'अन्यसमान' 'अकुशल' एवं 'शोभन' – इन तीन राशियों में विभाग करके[4] उनका सोलह आकारों

---

१. द्र० – अभि० स० तृ० परि० 'आलम्बनसङ्गहो' ।

२. अभि० स० तृ० परि० 'वत्थुसङ्गहो' ।

३. तु० – "चित्तचैत्ताः सहावश्यं, सर्वं संस्कृतलक्षणैः ।"

—अभि० को०, २ : २३, पृ० ११८ ।

"चित्तं चैतसिकैः सार्धं, संस्कृतं तु स्वलक्षणैः ।"

—अभि० दी० १११ का०, पृ० ६७ ।

४. स्थविरवाद (थेरवाद) में चैतसिकों का त्रिविध विभाग किया गया है; यथा – अन्यसमान, अकुशल एवं शोभन । वैभाषिक, सौत्रान्तिक-आदि इनका पाँच प्रकार से विभाजन करते हैं; जैसे – महाभूमिक, कुशल-महाभूमिक, क्लेशमहाभूमिक, अकुशलमहाभूमिक एवं परित्तक्लेशभूमिक । जो चैतसिक सर्वचित्तसहगत हैं वे 'महाभूमिक', जो सर्वकुशलचित्तसहगत हैं वे 'कुशलमहाभूमिक'; जो सर्वक्लिष्टचित्तसहगत हैं वे 'क्लेशमहाभूमिक', जो सर्वअकुशलचित्तसहगत हैं वे 'अकुशलमहाभूमिक' तथा जिनकी भूमि परित्त-क्लेश हैं वे 'परित्तक्लेशभूमिक' होते हैं ।

३५. सत्ततिसविधं* पुञ्ञं द्विपञ्ञासविधं तथा ।
पाकमिच्चाहु चित्तानि एकवीससतं बुधा† ॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे चित्तसङ्गहविभागो नाम
पठमो परिच्छेदो ।

कुशलचित्त ३७ प्रकार के और विपाकचित्त ५२ प्रकार के – इस प्रकार कुल चित्त १२१ प्रकार के होते हैं – ऐसा विद्वज्जन कहते हैं ।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'चित्तसङ्ग्रहविभाग' नामक
प्रथम परिच्छेद समाप्त ।

---

३५. 'सत्ततिसविधं पुञ्ञं ...' – यह गाथा कुशल एवं विपाकचित्तों के सङ्ख्यागत विस्तार का सङ्क्षेप से कथन करनेवाली गाथा है ।

८९ चित्तों का विस्तार १२१ चित्तों में करने पर भी क्रियाचित्तों की सङ्ख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता; क्योंकि लोकोत्तरचित्तों में (जो विस्तार के आधार हैं) क्रियाचित्त नहीं होते । अतएव इस गाथा में क्रियाचित्तों का कोई उल्लेख नहीं किया किया गया है ।

कुल १२१ प्रकार के चित्तों में कुशलचित्त – ३७, अकुशलचित्त – १२, विपाकचित्त – ५२ एवं क्रियाचित्त – २० होते हैं ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो यह प्रतिज्ञा की गयी थी कि प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण का प्रतिपादन किया जायेगा उनमें से चित्त का वर्णन यहाँ समाप्त होता है; अतः आचार्य 'इति अभिधम्मत्थसङ्गहे' ... इत्यादि पद के द्वारा निगमन करते हैं ।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में चित्तसङ्ग्रहविभाग नामक
प्रथम परिच्छेद समाप्त ।

* सत्तत्तिस० – म० (क) ।
† वुधा ति – सी०, स्या० ।

चित्त का अपना पृथक् उत्पाद होता है और स्पर्श-आदि चैतसिकों का अपना पृथक् उत्पाद होता है । अतः 'एक' शब्द यहाँ सङ्ख्या-अर्थ में न होकर 'समान' (तुल्य)- अर्थ में प्रयुक्त है ।

चित्त के साथ जिन धर्मों का समान काल में ही उत्पाद एवं निरोध होता है, उन्हें 'एकुप्पादनिरोधा' कहते हैं । तथा चित्त के आलम्बन एवं चित्त की वस्तु (चक्षु-वस्तु-आदि आधार) के समान जिन धर्मों के आलम्बन एवं वस्तु होते हैं, उन्हें 'एका-लम्बनवत्थुका' कहते है; अर्थात् जो आलम्बन एवं वस्तु चित्त के होते हैं, वही आलम्बन एवं वस्तु इन (चैतसिक धर्मो) के भी होते हैं।

'एकुप्पाद' (एकोत्पाद), 'एकनिरोध', 'एकालम्बन' एवं 'एकवत्थुक' (एकवस्तुक) होना - ये चार चैतसिकों के लक्षण हैं । अतएव 'परमत्थदीपनी' में "एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका च (हुत्वा ये धम्मा) चेतोयुत्ता (ते) द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता ति[1]" - ऐसा अन्वय किया गया है ।

[चैतसिकों के इन चारों लक्षणों के सम्वन्ध में परमत्थदीपनी में अतिविस्तृत विवेचन उपलब्ध है, विस्तार-भय से हम छोड़ रहे हैं । जिज्ञासुओं को सम्बद्ध स्थल अवश्य देखना चाहिये ।]

चारों लक्षणों का अभिप्राय

(क) **एकनिरोध** - जिन धर्मों का समान (एक) आलम्बन-आदि प्रत्ययों से चित्त के साथ (सह) उत्पाद होता है, वे 'चेतोयुत्त' (चेतोयुक्त) हैं; इस प्रकार केवल 'एकुप्पादा' कहने मात्र से चेतोयुक्तता सिद्ध हो सकती थी तव चैतसिकों के लक्षण में 'एकनिरोधा' (जो चित्त के साथ निरुद्ध होते हैं) - इस विशेषण के निवेश की क्या आवश्यता थी ?

समाधान - केवल 'एकुप्पादा' कहने से चित्त के साथ (सह) उत्पन्न होनेवाले चित्तज एवं कर्मज रूपों के भी 'चेतोयुक्त' हो जाने का सन्देह होने लगेगा और इस तरह लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा, अतः इस दोप की निवृत्ति के लिये लक्षणों में 'एकनिरोधा' इस विशेपण का सन्निवेश किया गया है; क्योंकि चित्तज एवं कर्मज रूप यद्यपि चित्त के साथ (सह) उत्पन्न होते हैं, तथापि उनका चित्त के साथ निरोध नहीं होता, अपितु चित्तवीथि के सत्रहवें क्षण में निरोध होता है[2] । अतः चित्तज एवं कर्मज रूप सहोत्पन्न होने से 'एकुप्पादा' तो हैं, किन्तु 'एकनिरोधा' नहीं हैं। इस प्रकार 'एकनिरोधा' - इस लक्षण के द्वारा चित्तज एवं कर्मज रूपों का निषेध किया गया है ।

(ख) **एकालम्बन** - जिन धर्मों का चित्त के साथ (सह) उत्पाद एवं चित्त के साथ (सह) निरोध होता है, वे 'चेतोयुक्त' होते हैं - ऐसा स्थिर हो जाने पर, चैतसिकों के लक्षणों में 'एकालम्बन' - इस विशेषण के निवेश की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान - यद्यपि 'एकुप्पादा' एवं 'एकनिरोधा' - इतने लक्षणमात्र से भी चेतो-युक्तता सिद्ध हो सकती है तथापि यदि 'एकालम्बन' - इस विशेपण का सन्निवेश नहीं

१. प० दी०, पृ० ७१ ।

२. द्र० - अभि० स० ४ : ६ ।

से सम्प्रयोग तथा तैंतीस प्रकार से सङ्ग्रह दिखलाने के लिये 'एकुप्पादनिरोधा च ...' – इस गाथा को प्रारम्भ करते हैं[१]।

"चित्तेन सह एकतो उप्पादो च निरोधो च येसं ते एकुप्पादनिरोधा, एकं आलम्बणञ्च वत्थु च येसं ते एकालम्बणवत्थुका[१]।"

"एको उप्पादो एतेसं ति एकुप्पादा, एको निरोधो एतेसं ति एकनिरोधा, एकुप्पादा च ते एकनिरोधा चा ति एकुप्पादनिरोधा; एकं आलम्बनं एतेसं ति एकालम्बना, एकं वत्थु एतेसं ति एकवत्थुका, एकालम्बना च ते एकवत्थुका चा ति एकालम्बनवत्थुका[२]।'

गाथा में 'एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका' के द्वारा चैतसिकों के चार प्रकार के सम्प्रयोग-लक्षणों को दिखलाया गया है। 'चेतोयुत्ता' – इसके द्वारा उनके स्वभाव को द्योतित किया गया है; अर्थात् चित्त के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले धर्म 'चैतसिक' हैं। 'द्विपञ्ञास' शब्द उनकी सङ्ख्या का द्योतक है।

'परमत्थदीपनी' में 'चेतोयुत्ता' इस पद का 'चेतसि युत्ता', 'चेतसा वा युत्ता' – यह विग्रह किया गया है तथा लिखा है कि 'द्विपञ्ञास' शब्द के द्वारा चैतसिकों के स्वरूप को दिखलाया गया है[२]। परमत्थदीपनीकार के द्वारा विहित इन शब्दों का यह अर्थ विद्वानों के द्वारा विचारणीय है।

पुनश्च – वे कहते हैं कि चैतसिकों के उपर्युक्त चार लक्षणों में प्रयुक्त 'एक' शब्द सङ्ख्या का द्योतक है और वह उत्पाद-आदि का विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि सभी लोगों से सम्बद्ध किसी 'एक' वस्तु की तरह सभी चित्त चैतसिकों का 'एक' उत्पाद होना चाहिये। उन्होंने अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिये प्रमाणरूप में मूल-टीका का "एककलापपरियापन्नानं रूपानं सहेव उप्पादादिप्पवत्तितो एकस्स कलापस्स उप्पादादयो एकेका व होन्ति[३]" एक कलाप (समूह) में पर्यापन्न रूपों की साथ ही उत्पाद-आदि प्रवृत्ति होने से एक कलाप के उत्पाद आदि एक ही होते हैं – यह वचन उद्धृत किया है।

किन्तु परमत्थदीपनीकार के उपर्युक्त मत को बहुत से आचार्य पसन्द नहीं करते। मूलटीका में भी 'वेदना-तिक' की व्याख्या के प्रसङ्ग में – "एको समानो उप्पादो एतेसं ति एकुप्पादा, समानपच्चयेहि सहुप्पत्तिका ति अत्थो[४]" जिन धर्मों का समान उत्पाद है उन्हें 'एकोत्पाद' कहते हैं; अर्थात् आलम्बन-प्रत्यय-आदि समान प्रत्ययों से सह-उत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्म 'एकोत्पाद' (एकुप्पादा) हैं – यह कहा गया है। सहोत्पन्न चित्त एवं चैतसिक धर्मों का अपना अपना (स्वकीय) स्वतन्त्र उत्पाद होता है।

---

१. विभा०, पृ० ८०।
२. प० दी०, पृ० ७१।
३. ध० स० मू० टी०, पृ० १५७।
४. ध० स० मू० टी०, पृ० ३७।

अञ्ञसमानचेतसिका

२. कथं ? फस्सो, वेदना, सञ्ञा, चेतना, एकग्गता, जीवितिन्द्रियं, मनसिकारो चेति सत्तिमे चेतसिका सब्बचित्तसाधारणा नाम ।

(ये चैतसिक) किस प्रकार (५२) होते हैं ?

स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय एवं मनसिकार – इस प्रकार ये सात चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' हैं ।

चैतसिकों के उपर्युक्त चतुर्विध लक्षण एवं उनके क्रम-आदि के सम्बन्ध में प्रतिपादित यह व्याख्यान 'विभावनी' का अतिप्रसिद्ध व्याख्यान होने से हमने उसी के आधार पर इसका निरूपण किया है[1]; किन्तु आचार्य अनुरुद्ध का भी 'यही अभिप्राय था'– इसमें सन्देह है । परमत्थदीपनीकार 'विभावनी' के उपर्युक्त व्याख्यान के सम्बन्ध में "सब्बं तं निरत्थकमेव" – कह कर इसकी व्यर्थता उद्घोषित करते हैं[2] । 'कथावत्थुपालि' में भी विभावनीकार के द्वारा प्रतिपादित क्रम के विपरीत 'एकुप्पादा', 'एकनिरोधा', 'एकवत्थुका', एकालम्बना' – इस प्रकार का क्रम प्रदर्शित किया गया है[3] । ऐसा प्रतीत होता है कि 'चतुवोकारभूमि' में चैतसिकों में 'एकवत्थुका' इस लक्षण के सङ्घटित न हो सकने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य ने इसे अन्त में स्थान दिया है ।

['मूलटीका' में 'कथावत्थुपालि' का युक्तिपूर्वक एवं सविस्तर वर्णन किया गया है, उसे अवश्य देखना चाहिये[4] ।]

अन्यसमान राशि

२. सर्वप्रथम सम्पूर्ण चैतसिकों का त्रिविध विभाग दिखाने के लिये ग्रन्थकार स्वयं 'कथं' (चैतसिक धर्म ५२ किस तरह होते हैं ?) – ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं । इस प्रकार के प्रश्न अर्थात् उत्तर देने के लिये ग्रन्थकार के द्वारा अपने आप उठाये गये प्रश्न 'कथयितुकाम्यता' कहे जाते हैं ।

सर्वचित्तसाधारण चैतसिक – सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले ये सात चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' कहे जाते हैं[5] । क्रम दो प्रकार का होता है; यथा –

---

१. द्र० – विभा०, पृ० ८० ।

२. प० दी०, पृ० ७३ । जिज्ञासुओं को प० दी० का यह स्थल अवश्य देखना चाहिये ।

३. द्र० – कथा०, पृ० ३०० ।

४. ध० स० मू० टी०, पृ० ३७ ।

५. तु० – "वेदना चेतना संज्ञा, छन्दः स्पर्शो मतिः स्मृतिः ।
मनस्कारोऽधिमोक्षश्च, समाधिः सर्वचेतसि ।।"
– अभि० को० २ : २४, पृ० १२१ ।

"दश धर्माः महाभौमाः, वित्संज्ञा चेतना स्मृतिः ।
छन्दः स्पर्शो ऽधिमोक्षश्च, धीः समाधिर्मनःस्थितिः ।।
– अभि० दी० ११२ का०, पृ० ६८ ।

"सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् ।" – त्रिं० ३ का० ।

किया जाता है तो चित्तानुपरिवर्ती[1] धर्मों के भी 'चेतोयुक्त' हो जाने का सन्देह होने लगेगा और इस तरह लक्षण अतिव्याप्त ही रह जायेगा; क्योंकि चित्तानुपरिवर्ती धर्मों का चित्त के साथ (सह) ही उत्पाद और चित्त के साथ (सह) ही निरोध होता है। अपि च – पूर्व (प्रथम) चित्त के साथ उत्पन्न चित्तज एवं कर्मज रूप भी सत्रहवें क्षण में तत्कालीन चित्त के साथ निरुद्ध होते ही हैं, अतः 'एकुप्पादा', 'एकनिरोधा' – एतन्मात्र लक्षण करने से इनके भी 'चेतोयुक्त' हो जाने का सन्देह होने लगेगा और इस तरह भी लक्षण अपर्याप्त ही रह जायेगा। इन सब दोषों के परिहार के लिये लक्षणों में 'एकालम्बन' – इस विशेषण का निवेश किया जाता है। इतना हो जाने पर निर्गलितार्थ यह होता है कि जिनका चित्त के साथ एकोत्पाद एवं एकनिरोध होता है वे ही धर्म 'चेतोयुक्त' नहीं हैं अपितु चित्त का जो आलम्बन है, यदि वही उनका आलम्बन भी है, तो वे धर्म 'चेतोयुक्त' हैं। ऐसी स्थिति में चित्तज एवं कर्मज रूप, जो अनालम्बनस्वभाव हैं[2], वे कथमपि 'चेतोयुक्त' नहीं हो सकते और विज्ञप्तिद्वय (चित्तानुपरिवर्ती धर्म) भी, जिनका चित्तज रूपों में ग्रहण होता है, 'चेतोयुक्त' नहीं हो सकते; क्योंकि विज्ञप्ति-द्वय के चित्तज रूप होने के कारण चित्तज रूपों की तरह वे भी अनालम्बन-स्वभाव ही होते हैं। अतः 'एकालम्बन' – इस विशेषण का सन्निवेश करने से उपर्युक्त सभी दोषों का निराकरण हो जाता है।

(ग) एकवस्तुक – जिन धर्मों का चित्त के साथ एकोत्पाद, एकनिरोध एवं एकालम्बन होता है, वे चेतोयुक्त (चैतसिक) होते हैं – इतना स्थिर हो जाने पर किस कमी की पूर्ति के लिये अथवा क्या दिखाने के लिये आचार्य ने लक्षणों में 'एकवत्थुका' इस विशेषण का निवेश किया है?

समाधान – इन तीनों लक्षणों से सम्पन्न धर्म अवश्य चेतोयुक्त होते हैं – इसमें सन्देह नहीं; फिर भी यह दिखलाने के लिये कि इन तीनों लक्षणों से सम्पन्न धर्म पञ्चवोकारभूमि[3] में चित्त के साथ 'एकवस्तुक' (एकवत्थुका) भी होते हैं, लक्षणों में इस विशेषण का सन्निवेश किया गया है।

---

१. विज्ञप्तिद्वय चित्तानुपरिवर्ती धर्म हैं। द्र० – "कतमं तं रूपं चित्तानुपरिवत्ति? कायविञ्ञत्ति, वचीविञ्ञत्ति – इदं तं रूपं चित्तानुपरिवत्ति।" – ध० स०, पृ० १७९।
तु० – "चैत्ता द्वौ संवरौ तेषां, चेतसो लक्षणानि च।
चित्तानुवर्तिनः कालफलादिशुभतादिभिः॥"
– अभि० को० २ : ५१, पृ० १९३।

२. रूप होने से ये आलम्बन का ग्रहण नहीं कर सकते – अतः इन्हें 'अनालम्बन-स्वभाव' कहा गया है।

३. जिस भूमि में पाँचों स्कन्ध होते हैं उसे 'पञ्चवोकारभूमि' कहते हैं; यथा – काम-भूमि एवं रूप-भूमि। जिसमें चार ही स्कन्ध होते हैं उसे 'चतुवोकार-भूमि' कहते हैं; यथा – अरूप-भूमि। जिसमें एक ही स्कन्ध होता है उसे 'एकवोकारभूमि' कहते हैं; यथा – असंज्ञिभूमि। तु० – "तत्थ पञ्चन्नं खन्धानं वोकारो वित्थारो एत्था ति पञ्चवोकारो। अथवा यथापच्चयं पवत्तमानेहि पञ्चहि खन्धेहि वोकरीयतीति पञ्चवोकारो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २९९।

रस – 'सङ्घट्टनरसो' – सङ्घट्टन इसका 'रस' (कृत्य) है। आलम्बन एवं चित्त का संयोग इसका तात्पर्य है। चित्त जब आलम्बन का ग्रहण करना चाहता है तब वह स्पर्श की सहायता से ही उसका ग्रहण करने में समर्थ हो पाता है। स्पर्श की सहायता के विना चित्त आलम्बन के ग्रहण में असमर्थ होता है। ताली बजाने के समय जैसे दोनों हाथ मिलते हैं, उसी प्रकार चित्त एवं आलम्बन के मिलन को 'स्पर्श' कहते हैं। अन्य शब्दों में यह वह धर्म है जिसके योग से इन्द्रिय, विषय एवं विज्ञान अन्योन्य का मानों स्पर्श करते हैं[1]।

प्रत्युपस्थान (पच्चुपट्ठान) – 'सन्निपातपच्चुपट्ठानको' इन्द्रिय, विषय एवं विज्ञान का सन्निपात ही इसका 'प्रत्युपस्थान' (जानने का आकार) है। "चक्खुं च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं, तिण्णं सङ्गति फस्सो[2]" चक्षुर्वस्तु, रूपालम्बन और चक्षुर्विज्ञान – इन तीनों के सन्निपात (त्रिक-सन्निपात) से उत्पन्न होनेवाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है[3]। इन्द्रिय, विषय एवं विज्ञान के सन्निपात से सञ्जात स्पृष्टि ही 'स्पर्श' है[4]।

पदस्थान (पदट्ठान) – 'आपातगतविसयपदट्ठानो' अभिनिपतित आलम्बन ही इसका 'पदट्ठान' अर्थात् आसन्नकारण है। कारण-सामग्री की पूर्णता होने पर रूप-आदि आलम्बनों का यदि अवभास होता है तो मुख्य रूप से (अवश्य) स्पर्श उत्पन्न होता है; अतः अवभासित आलम्बन ही इसके आसन्नकारण हैं।

२. वेदना चैतसिक :

"या वेदेतीति वेदना, सा वेदयितलक्खणा;
अनुभवरसा, चेतसिकस्सादुपट्ठानका।
पस्सद्धिपदट्ठाना ति कुसलम्हि पकासिता[5]"॥

वचनार्थ, लक्षण एवं रस – 'या वेदेति सा वेदना', 'सा वेदयितलक्खणा' 'अनुभवरसा' जो धर्म आलम्न के रस का वेदन (अनुभव) करता है वह 'वेदना' है। वेदयित (अनुभूति) इसका लक्षण है। आलम्बन के रस का अनुभव करना – इसका कृत्य है।

आलम्बन में इष्टाकार, अनिष्टाकार अथवा मध्यस्थाकार – इन तीन आकारों में से कोई एक आकार अवश्य होता है। यह आकार ही आलम्बन का रस है। इस रस का अनुभव करना वेदना का लक्षण एवं कृत्य है।

[आलम्बन एवं उसका रस अभिन्न है। आलम्बन ही रस है, अतः स्पर्श आदि के द्वारा जब आलम्बन का ग्रहण किया जाता है तब वेदना भी उस 'आलम्बन'

---

१. तु० – "यद्योगादिन्द्रियविषयविज्ञानान्यन्योन्यं स्पृशन्तीव स्पर्शः।" – अभि० को० २ : २४ पर स्फु०, पृ० १२७।

२. म० नि०, तृ० भा०, पृ० ३८६।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४०।

४. तु० – वि० प्र० वृ०, पृ० ६६।

५. प० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२१-३२२; अट्ठ, पृ० ९०-९१।

१. देशना-क्रम एवं २. उत्पत्ति-क्रम । उनमें से 'फस्सो, वेदना, सञ्ञा...' इस रूप में दिखाया गया 'सर्वचित्त-साधारण' चैतसिकों का उपर्युक्त क्रम 'देशना-क्रम' है; क्योंकि 'धम्मसङ्गणिपालि' में इन चैतसिकों का यही क्रम उपदिष्ट है[1] । प्रतीत होता है, अनुरुद्धाचार्य ने वहीं से यह क्रम लिया है । यह 'उत्पत्ति-क्रम' नहीं हो सकता; क्यों कि ऐसा नहीं होता कि स्पर्श के अनन्तर वेदना और वेदना के अनन्तर संज्ञा-आदि का का उत्पाद होता हो, अपितु जब कोई चित्त उत्पन्न होता है तब उस चित्त के साथ ही इन सातों चैतसिकों का भी सहोत्पाद होता है ।

१. स्पर्श (फस्स) चैतसिक :

"आलम्बं फुसति फस्सो, स्वायं फुसनलक्खणो;
सङ्घट्टनरसो सन्निपातपच्चुपट्ठानको ।
आपातगतविसयपदट्ठानो ति सञ्ञितो[2] ।।"

वचनार्थ – 'आलम्बं फुसतीति फस्सो' जो धर्म आलम्बन का स्पर्शन करता है वह 'स्पर्श' है। अथवा – 'फुसन्ति सम्पयुत्तधम्मा एतेना ति फस्सो' जिसके द्वारा सम्प्रयुक्त धर्म (चित्त-चैतसिक) आलम्बन का स्पर्श करते हैं, वह 'स्पर्श' है । अथवा 'फुसनं फस्सो' छूनामात्र 'स्पर्श' है ।

लक्षण – 'स्वायं फुसनलक्खणो' 'वह' यह (स्पर्श) आलम्बन का स्पर्श करने लक्षणवाला है । जिस प्रकार दो रूपी धर्मों का परस्पर स्पर्श होता है, यह स्पर्श उस प्रकार का नहीं है । यह किसी एक आलम्बन में उसके स्वभाव का संस्पर्श या सङ्घट्टनरूप है[3] । यह सूक्ष्म एवं कठोर – दोनों रूप में होता है । नीबू या किसी अन्य अम्ल पदार्थ को खानेवाले व्यक्ति को देखकर स्वयं के न खाने पर भी आलम्बन में स्पर्श के सङ्घट्टनवश मुखस्राव का क्षरित हो जाना, किसी ऊँचे वृक्ष पर आरूढ व्यक्ति को देखकर नीचे खड़े हुए व्यक्ति के पैरों का काँपना या दो प्रियजनों के पारस्परिक आलिङ्गन-आदि प्रीतिभावों को देखकर देखनेवाले के चित्त में विकार का उत्पन्न हो जाना आदि – ये सब स्पर्श के उदाहरण हैं[4] । वस्तुतः यह आलम्बन के रस के अनुरूप चित्त के विकार का होना है[5] ।

---

१. द्र० – ध० स०, पृ० १८ ।

२. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२३; अट्ठ०, पृ० ८६ ।

३. ध० स० अनु०, पृ० ६३ ।

४. "फस्सो हि चित्तस्स आरम्मणे फुसनाकारेनेव पवत्तितो तस्स आरम्मणे सन्निपतितप्पवत्तिया पच्चयो ति च वुच्चति । सा चस्स फुसनाकारप्पवत्ति साखग्गे ठितं दिस्वा भूमिसण्ठितस्स अवीरकपुरिसस्स जङ्घाचलनं, अम्बिल-अम्बपक्कादि खादन्तं दिस्वा मुखे खेळुप्पत्ति, दयालुकस्स परं हञ्ञमानं दिस्वा सरीरकम्पनं ति एवमादीसु परिब्यत्ता होति ।" – ध० स० अनु०, पृ० ६३ ।

५. तु० – प० दी०, पृ० ७३; विभा०, पृ० ८०; विसु० महा, द्वि० भा०, पृ० १४०; ध० स० मू० टी०, पृ० ६४ ।

क्लेशाग्नि से उपशान्त नामकाय (नामसमूह) एवं रूपकाय (रूपसमूह) से सम्पन्न पुद्‌गल को सुख होता है; अतएव दोनों प्रश्रब्धियाँ सुखावेदना के उत्पाद में आसन्नकारण हैं— —ऐसा कहा गया है ।

३. संज्ञा चैतसिक :

"आलम्बं सञ्जानातीति सञ्ञा, नीलादिभेदतो;
सञ्जाननलक्खणा चेसा पच्चाभिञ्ञाणरसका ।
यथागय्हनिमित्ताभिनिवेसकरणुपट्ठाना ।
यथोपट्ठितविसयपदट्ठाना ति सञ्ञिता[1] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण—'आलम्बं सञ्जानातीति सञ्ञा, नीलादिभेदतो' जो धर्म आलम्बनों का उसके नील, पीत-आदि भेद से परिज्ञान (संज्ञान) करता है, वह 'संज्ञा' है । 'सञ्जाननलक्खणा चेसा' सञ्जानन (जानना)-मात्र इसका लक्षण है । अर्थात् यह आलम्बनों के नीलत्व, पीतत्व-आदि स्वभावों का परिच्छेद करती है । ('आदि' शब्द से दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सातत्व, असातत्व, मनोज्ञत्व, अमनोज्ञत्व-आदि का भी ग्रहण करना चाहिये ।) शिशु के नील-ज्ञान, पीत-ज्ञान-आदि की तरह 'जाननामात्र' इसका लक्षण है । यह आलम्बन को प्रतिवेध-ज्ञान से नहीं जानती और न तो उनकी अनुभूति ही करती है[2] ।

रस—'पच्चाभिञ्ञाणरसका' प्रत्यभिज्ञान करना — इसका कृत्य है । पहले की हुई संज्ञा (अभिज्ञान) से उस वस्तु को पुनः जानना (प्रत्यभिज्ञान) इसका रस है, अर्थात् 'यह वस्तु वही है'—इस प्रकार पूर्वकृत सङ्केत से यह 'संज्ञा' वस्तु का पुनः ज्ञान करती है । 'संज्ञा' के इन लक्षण एवं कृत्यों को देखने से यह अर्थ स्पष्ट होता है कि यह वस्तु को पुनः पुनः जानने के लिये उनका संज्ञान (अभिज्ञान) करती है तथा अपने पूर्वकृत संज्ञान से ही उन्हें पुनः जानती है और इस प्रकार पुनः जानने के लिये भविष्य में और अधिक संज्ञान करती है । इस प्रकार संज्ञान करके जानने में यदि संज्ञा के द्वारा कहीं एक बार मिथ्या अभिनिवेश हो जाता है तो वह दृढ ही होता जाता है और फिर उस मिथ्याभिनिविष्ट पुद्‌गल के मिथ्याभिनिवेश को हटा कर उसे सम्यग् बोध कराने में सर्वज्ञ बुद्ध-आदि को भी कठिनाई होती है । कहा भी गया है— "मिच्छाभिनिवेससञ्ञाभावं पत्वा च इमे सत्ते सब्बञ्ञुबुद्धेहि पि बोधेतुं असक्कुणेय्ये करोति[3] ।" संक्षेपतः, ज्ञान चाहे पहले से ही वर्तमान हो अथवा पीछे किया गया हो,

१. व० भा० टी० । तु०—विसु०, पृ० ३२२; अट्ठ०, पृ० ९१ ।
२. तु०—"संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका ।"—अभि० को० १ : १४, पृ० २४ ।
"निमित्तनामार्थैक्यज्ञा संज्ञा वितर्कयोनिः ।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ६९ ।
"संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम्; विषय आलम्बनम्, निमित्तं तद्विशेषो नील-पीताद्यालम्बनव्यवस्थाकारणम्, तस्योद्ग्रहणं निरूपणं नीलमेतं न पीतमिति ।" —त्रि० भा०, पृ० २१ ।
३. प० दी०, पृ० ७४ ।

नामक रस का अनुभव करती है; इसीलिये स्पर्श-आदि के साथ वेदना 'एकालम्बन' होती है।]

'जब आलम्बन एवं रस अभिन्न हैं तो स्पर्श-आदि धर्मों द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय स्वभावतः उनके द्वारा आलम्बन के इष्ट-आदि रस का भी स्पर्श किया जाने से वे (स्पर्श-आदि धर्म) भी आलम्बन के रस का अनुभव करते हैं' – ऐसा कहा जा सकता है कि नहीं ?

उत्तर—'स्पर्श-आदि धर्म भी आलम्बन के रस का अनुभव करते हैं' – ऐसा कहा जा सकता है; किन्तु वे आलम्बन के रस का वेदना की तरह अति-उत्कट भाव से ग्रहण नहीं करते। वे 'आलम्बन का स्पर्श करना' आदि स्वभाव से आलम्बन के एकदेशमात्र का ही अनुभव करते हैं[1]। वेदना तो स्वामी की तरह आलम्बन के सर्वांश का अनुभव करती है और शेष धर्म उसके एकदेश का ही अनुभव कर सकते हैं। जैसे कोई सूदकार (रसोइया) अपने स्वामी राजा के लिये विविध प्रकार के भोज्यान्नों का निर्माण करके राजा के समीप लाता है और राजा के विष-सन्देह की निवृत्ति के लिये उनके सम्मुख उस भोज्य-सामग्री में से प्रत्येक पदार्थ का थोड़ा थोड़ा अंश चखता भी है; किन्तु राजा ही उस भोज्य-सामग्री का सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है। उसी तरह स्पर्श-आदि धर्म आलम्बन के रस के एकदेशमात्र का अनुभव करते हैं और वेदना ही उसके रस का सम्यक् उपभोग करती है। इस उपमा में सूदकार का प्रत्येक पदार्थ के एकदेश (अल्पांश) का चखना स्पर्श-स्थानीय है, राजा का सर्वांश में उपभोग करना वेदना-स्थानीय है। इसीलिये 'वेदना स्वामी की तरह आलम्बन का ग्रहण करती है और स्पर्श-आदि धर्म सूदकार की तरह आलम्बन के एकदेश का ही ग्रहण करते हैं' – ऐसा कहा गया है[2]।

प्रत्युपस्थान – 'चेतसिक-अस्साद-उपट्ठानका' यह धर्म चित्त का आश्रय करके आस्वाद करने के स्वभाववाला है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।

[कुशल-सौमनस्यवेदना को दिखलानेवाले 'अट्ठसालिनी' नामक ग्रन्थ का आधार मानकर कहने के कारण 'चेतसिक अस्साद' – ऐसा कहा गया है। कायिक सुख, दुःख, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा वेदना के लक्षण-आदि पृथक् पृथक् हैं, उन्हें 'विसुद्धिमग्ग' में देखना चाहिये[3]।]

पदस्थान – 'पस्सद्धिपदट्ठाना ति कुसलम्हि पकासिता' कुशल सौमनस्यवेदना में 'कायप्रश्रब्धि' एवं 'चित्तप्रश्रब्धि', ये दोनों प्रश्रब्धियां आसन्नकारण होती हैं – ऐसा प्रकाशित किया गया है। "पस्सद्धकायो सुखं वेदेति[4]" प्रश्रब्ध (उपशान्त) नामकाय एवं रूपकाय से सम्पन्न पुद्गल सुख का अनुभव करता है – इस वचन के अनुसार

१. विभा०, पृ० ८०।
२. प० दी०, पृ० ७३।
३. द्र० – विसु०, पृ० ३२२; तु० – अट्ठ०, पृ० ९०।
४. म० नि०, प्र० भा०, पृ० ५०।

अथवा – चेतना वह है जो चित्त का अभिसंस्कार, चित्त का प्रस्यन्द करती है[1]। यह मन की चेष्टा है, जिसके होने पर अयस्कान्त मणि की ओर अयस् की तरह चित्त का आलम्बन की ओर प्रस्यन्द होता है[2]।

रस – 'आयूहनरसा' उत्साहित करना – इसका कृत्य है। कुशल-अकुशल कर्मों में यह स्वयं सक्रिय होकर शेष (अपने से अतिरिक्त) सम्प्रयुक्त धर्मों को दुगुने उत्साह से प्रवृत्त करती है। जैसे – कोई मालिक अपने अधीन काम करनेवाले श्रमिकों का स्वयं भी काम में लग कर उत्साह बढ़ाता है – उसी प्रकार यह भी अत्यधिक (जरूरी) कर्मों के अनुसरण-आदि में सम्प्रयुक्त धर्मों को प्रोत्साहित एवं प्रेरित करती हुई प्रकट होती है।

प्रत्युपस्थान – 'संविधानपच्चुपट्ठानका' – यह सम्प्रयुक्त धर्मों को नियोजित करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। चेतना, सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन में युक्त करती हुई उपस्थित होती है। यह ज्येष्ठ शिष्य एवं प्रधान वढ़ई की तरह अपने और दूसरे के कृत्यों को सिद्ध करती है[3]। जैसे – ज्येष्ठ शिष्य दूर से उपाध्याय को आता हुआ देखकर स्वयं अध्ययन-कर्म में प्रवृत्त होते हुए, दूसरे शिष्यों को भी उस कर्म में प्रवृत्त करता है। उसके द्वारा अध्ययन आरब्ध करने पर, उसका अनुसरण करते हुए, अन्य शिष्य भी अध्ययन आरम्भ कर देते हैं। तथा जैसे – प्रधान बढ़ई के तक्षणकृत्य में प्रवृत्त होने पर उसके अधीनस्थ अन्य छोटे बढ़ई भी अपने तक्षणकृत्य में प्रवृत्त हो जाते हैं; इसी तरह यह चेतना भी अपने कृत्य से आलम्बन में प्रवृत्त होती हुई अन्य सम्प्रयुक्त धर्मों को भी अपने अपने कृत्य में प्रवृत्त करती है। चेतना द्वारा अपना कृत्य आरब्ध कर देने पर उससे सम्प्रयुक्त अन्य धर्म भी अपने अपने कृत्यों को आरम्भ कर देते हैं। चेतना के इन लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान-आदि के देखने से आलम्बन के ग्रहण में अन्य सम्प्रयुक्त धर्मों की अपेक्षा चेतना का ही व्यापार अधिक स्पष्ट होता है। कुशल अथवा अकुशल कायकर्म, वाक्कर्म एवं मनःकर्म के उत्पाद में चेतना ही प्रधान कारण होती है, इसीलिये "चेतनाहं भिक्खवे ! कम्मं वदामि, चेतयित्वा कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा[4]" अर्थात् भिक्षुओ ! मैं चेतना को ही कर्म कहता हूं, 'मैं यह करूँगा' – ऐसा सोच कर ही पुद्गल कायद्वार से वाग्द्वार से अथवा मनोद्वार से कर्म करता है – ऐसा कहा गया है।

---

१. तु० – "चित्ताभिसंस्कारश्चेतना।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ६६। द्र० – अभि० को० २:२४, पृ० १२२; स्फु०, पृ० १२७।

२. "चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा, यस्यां सत्यामालम्वनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति अयस्कान्तवशादयःप्रस्यन्दवत्।" – त्रि० भा०, पृ० २१।

३. "सकिच्चपरकिच्चसाधिका, जेट्ठसिस्स-महावड्ढकि-आदयो विय।" अट्ठ०, पृ० ६२।

४. अ० नि०, तृ० भा०, पृ० १२०; अट्ठ०, पृ० ७३।

तु० – "कर्मजं लोकवैचित्र्यं, चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म, तज्जे वाक्कायकर्मणि॥"
– अभि० को० ४:१, पृ० ८५।

'जाननामात्र' संज्ञा का स्वभाव है। अतएव 'चाहे मिथ्या हो चाहे सत्य, सञ्जाननमात्र संज्ञा के द्वारा जानना है' – ऐसा कहा गया है[1]। संज्ञा के प्रत्यभिज्ञान-स्वभाव के स्पष्टीकरण के लिये बढ़ई (वड्ढकी), भाण्डागारिक-आदि के उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे – बढ़ई दरवाजा-आदि बनाते समय उसके विभिन्न भागों को बना बना कर उनमें अभिज्ञान (संज्ञान = चिह्न) कर करके रखता जाता है और अन्त में पुनः उन अभिज्ञानों के आधार पर दरवाजा-आदि को खड़ा कर देता है इत्यादि[2]।

प्रत्युपस्थान – 'यथागय्हनिमित्ताभिनिवेसकरणुपट्ठाना' यह यथागृहीत आलम्बन के निमित्त (अवस्थाविशेष) का अभिनिवेश करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। अपने द्वारा की गयी संज्ञा के अनुसार, चाहे वह सत्य हो अथवा मिथ्या, अभिनिवेश करना इसका प्रत्युपस्थान है।

पदस्थान – 'यथोपट्ठितविसयपदट्ठाना ति सञ्जानाता' यथोपस्थित (जिस किसी भी रूप में आगत) विषय (आलम्बन) इसके आसन्नकारण हैं। जैसे – तृणपुरुष (तृण-निर्मित पुरुष) में मृगशावकों को 'यह पुरुष है' – ऐसी संज्ञा होती है अथवा अन्धों को हाथी में 'यह दीवाल है', यह स्तम्भ है' – इत्यादि संज्ञा होती है। इन संज्ञाओं में जिस रूप में वह विषय उपस्थित है उसी रूप में वह संज्ञा (चाहे मिथ्या हो चाहे सत्य) का निमित्तकारण होता है।

४. चेतना चैतसिक :

"या चेतेतीति चेतना सा चेतयितलक्खणा;
आयूहनरसा, संविधानपच्चुपट्ठानका[3]।
सेसखन्धपदट्ठाना यथा थावरियादयो[4] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'या चेतेती ति चेतना' जो धर्म अपना तथा अपने साथ सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में अभिसन्धान (योग) करता है वह चेतना है[5]। चेतना स्वयं को तथा सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन में जुटाती है, अर्थात् प्रवृत्त करती है; आलम्बन के साथ युक्त होने के लिये सम्प्रयुक्त धर्मों को उत्साहित करती है। 'सा चेतयितलक्खणा' चेतनात्व इसका लक्षण है।

---

१. द्र० – पीछे पृ० १२।
२. द्र० – अट्ठ०, पृ० ६१; विसु०, पृ० ३२२।
३. संविदहन० – विसु०, पृ० ३२३; अट्ठ०, पृ० ६२।
४. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२३; अट्ठ०, पृ० ६२; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१; ध० स० मू० टी०, पृ० ८७।
५. "चेतयतीति चेतना, अभिसन्दहती ति अत्थो।" – विसु०, पृ० ३२३।
"अभिसन्दहति पबन्धति पवत्तति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१; ध० स० मू० टी०, पृ० ८७।
"सद्धिं अत्तना सम्पयुत्तधम्मे आरम्मणे अभिसन्दहती ति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० ६१।

'विसार' कहते हैं। इसके विपरीत 'अविसार' है; अर्थात् स्थैर्य एवं अव्यग्रता – यही समाधि है। अथवा 'अविक्षेप' इसका लक्षण है[1]।

रस – 'सम्पिण्डनरसो' सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्वन में एकत्रित करना – इसका कृत्य है। जैसे स्नानीय चूर्ण का उदक के द्वारा पिण्डीभाव किया जाता है, उसी तरह इसके स्वभाव को जानना चाहिये।

प्रत्युपस्थान – 'उपसमपच्चुपट्ठानको, ठिति निवाते इच्चिनं विय' यह उपशम स्वभाववाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता हैं। इसके कारण निवात प्रदेश में रखे हुए दीपक की लौ (अर्चि) की स्थिति की तरह आलम्वन में चित्त की स्थिति होती है। जैसे – दीपक की स्थिति निवात प्रदेश में अचञ्चल (उपशान्त) होती है, उसी प्रकार चित्त की स्थिति को जानना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रता के बल से एक आलम्वन में चित्त की स्थिति एकक्षणमात्र नहीं होती। एक ही आलम्वन में निरन्तर पुनः पुनः आलम्वन का किया जाना ही 'एकाग्रता' है। इसीलिये "दीपच्चि-दस्सनेन सन्तानठितिभावं समाधिस्स दस्सेति[2]" – ऐसा कहा गया है।

अथवा – ज्ञान इसका प्रत्युपस्थान है। इसीलिये "समाहितो यथाभूतं पजानाति पस्सति[3]" – ऐसा कहा गया है।

पदस्थान – 'सुखपदट्ठानो' सुख ही इसका आसन्नकारण है। सुखी पुरुष की समाधि बलवती होती है।

६. जीवितेन्द्रिय चैतसिक :

"जीवितमेव इन्द्रियं अनुपालनलक्खणं;
पवत्तनरसं सहजानं थपनुपट्ठानं।
यापेतव्वपदट्ठानं दकं धाति नियामको[4]॥"

वचनार्थ – 'जीवितमेव इन्द्रियं' जीवित ही इन्द्रिय है। अथवा – "जीवन्ति तेना ति जीवितं, जीवितमेव इन्द्रियं जीवितिन्द्रियं[5]", जिससे सहजात धर्म जीवित रहते हैं उसे 'जीवित' कहते हैं। उस जीवित का ही सहजात धर्मो के जीवन-धारण में आधिपत्य होने के कारण वह इन्द्रिय भी है; अतः उसे ही 'जीवितेन्द्रिय' कहते हैं। "मेरे विना तुम्हारा जीवन नहीं है, अतः अपने जीवन कृत्य में मुझे स्वामी (अधिपति) वनाओ' – इस प्रकार कहते हुए की तरह यह सहजात धर्मो को अभिभूत करती हुई प्रवृत्त होती

---

१. विसु०, पृ० ३२४।
२. ध० स० मू० टी०, पृ० ८८।
३. तु० – अ० नि०, द्वि० भा०, (पञ्च० निपा०) पृ० २८४; दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ४१।
४. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२३-३२४; अट्ठ०, पृ० १०१-१०२।
५. प० दी०, पृ० ७५।

पदस्थान – 'सेसखन्धपदट्ठाना' अवशिष्ट (वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध एवं विज्ञान-स्कन्ध नामक) तीन नामस्कन्ध इसके आसन्नकारण हैं। 'यथा थावरियादयो' यह चेतना क्षेत्रस्वामी के स्वभाव के आकारवाली होती है। 'थावरिय' क्षेत्र-स्वामी को कहते हैं[1]। जैसे – कोई क्षेत्रस्वामी कुछ बलवान् पुरुषों को लेकर, 'मैं उसे (काष्ठ-खण्ड, प्रस्तर-खण्ड-आदि को) अवश्य लाऊँगा' – ऐसा सोच कर, खेत के निश्चित स्थान की ओर जाता है। उस समय उसमें अत्यन्त उत्साह एवं अत्यन्त प्रयत्न दृष्टिगोचर होते हैं। वह निरन्तर 'पकड़ो', 'खींचो', 'उठाओ' – आदि शब्दों का प्रयोग करता है और बलवान् पुरुषों को उत्साहित करता है; चेतना के स्वभाव को भी इसी तरह समझना चाहिये। यहाँ पर क्षेत्र-स्वामी की तरह चेतना है, बलवान् पुरुषों की तरह सम्प्रयुक्त धर्म हैं, क्षेत्रस्वामी के प्रोत्साहन एवं प्रयत्न करने की तरह कुशल-अकुशल कर्मों में चेतना का प्रोत्साहन एवं प्रयत्न होता है। इस प्रकार इसकी 'आयूहनरसता' को जानना चाहिये।

५. *एकाग्रता चैतसिक :*

"एकग्गभावो समाधि सो अविसारलक्खणो;
सम्पिण्डनरसो उपसमपच्चुपट्ठानको।
सुखपदट्ठानो ठिति निवाते इच्चिनं विय[2] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'एकग्गभावो समाधि' एकालम्बनतारूपी एकाग्रता ही समाधि है। "एकं अग्गं (आरम्मणं) यस्सा ति एकग्गं, एकग्गस्स भावो एकग्गता[3]" अर्थात् जिसका एक ही आलम्बन होता है उसे 'एकाग्र' कहते हैं, उसका भाव एकाग्रता है। यह आलम्बन में चित्त का सम या सम्यक् आधान करती है[4]। सभी कुशल-धर्म समाधि-चित्त के द्वारा ही सिद्ध होने कारण उन सब कुशल-धर्मों में समाधि प्रमुख होती है[5]। यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त प्रबन्धेन आलम्बन में एकत्र वर्तमान होता है[6]। समाधि चित्त की आलम्बन में स्थिति है[7]। 'सो अविसारलक्खणो' 'अविसार' अर्थात् अव्यग्रता या स्थिरता – इस का लक्षण है[8]। विचिकित्सा (आलम्बन में सन्देह या निश्चयाभाव) एवं औद्धत्य (आलम्बन में चाञ्चल्य या अस्थैर्य) इन दोनों धर्मों को

१. "तेनाहु पोराणा – 'थावरियसभावसण्ठिता च पनेसा चेतना' ति। थावरियो ति खेत्तसामी वुच्चति।" – अट्ठ०, पृ० ९२।
२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० ९७।
३. प० दी०, पृ० ७५।
४. विसु०, पृ० ३२४।
५. अट्ठ०, पृ० ९७।
६. "समाधिश्चित्तस्यैकाग्रतेति। अग्रमालम्बनमित्येकोऽर्थः। यद्योगाच्चित्तं प्रबन्धेनैकत्रा-लम्बने वर्तते स समाधिः।" – अभि० को० २ : २४ पर स्फु०, पृ० १२८। तु० – "समापत्तिः शुभैकाग्र्यम्।" – अभि० को० ८ : १, पृ० २२१।
७. "चित्तस्यैकाग्रता समाधिः चित्तस्थितिलक्षणः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७०; विसु०, पृ० ३२४।
८. ध० स० मू० टी०, पृ० ९५।

है[1]। वैपाक आयु ही जीवितेन्द्रिय है, यह ऊष्म और विज्ञान का आधार है[2]। जब आयु, ऊष्म और विज्ञान काय का परित्याग करते हैं तो अपविद्ध काय अचेतन काष्ठ की तरह शयन करता है[3]। यह जीवितेन्द्रिय दो प्रकार की होती है; यथा – नामजीवितेन्द्रिय, एवं रूपजीवितेन्द्रिय। नामजीवितेन्द्रिय अपने सम्प्रयुक्त धर्मों के अनुपालनकृत्य में तथा रूपजीवितेन्द्रिय अपने साथ उत्पन्न कर्मज एवं चित्तज रूपों के अनुपालनकृत्य में आधिपत्य करती है।

लक्षण – 'अनुपालनलक्खणं, दकं वाति नियामको' सहोत्पन्न नाम एवं रूप धर्मों का अनुपालन करना – इसका लक्षण है। इसके द्वारा किये जानेवाले अनुपालनकृत्य के कारण ही यह देह मृत देह से भिन्न होता है। प्राणियों का जीवन इस द्विविध जीवितेन्द्रिय पर ही निर्भर है। उदक, धात्री एवं नाविक से इसकी उपमा दी जाती है। जैसे – उदक 'जब तक कमल हैं' अर्थात् अस्तित्व में उनका अनुपालन करता है; उसी प्रकार जब तक सहजात धर्मों का निरोध नहीं होता, जीवितेन्द्रिय उनका अनुपालन करती है; क्योंकि यह उनके निरोध का प्रतिषेध करने में असमर्थ है। जैसे – धात्री दूसरों से उत्पन्न शिशु का अनुपालन करती है, उसी प्रकार यह (जीवितेन्द्रिय) भी आलम्बनप्रत्यय, कर्मप्रत्यय-आदि हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नाम एवं रूप धर्मों का अनुपालन करती है। सहजात-धर्मों के उत्पाद में इसका कुछ भी सामर्थ्य नहीं है।

प्रश्न – जिस प्रकार जीवितेन्द्रिय सहजात धर्मों के जीवित रहने में उनका अनुपालन करती है, उस प्रकार स्वयं जीवितेन्द्रिय के जीवित रहने में उसका कौन अनुपालन करता है?

उत्तर – नाविक जैसे नावारूढ व्यक्तियों को नदी के पार करता है, वैसे वह स्वयं अपने को भी नदी के पार करता है – इसी तरह जीवितेन्द्रिय भी जैसे सहजात

---

१. प० दी०, पृ० ७५।

२. "आयुर्जीवितमाधारः, ऊष्मविज्ञानयोर्हि यः।"

– अभि० को० २:४५, पृ० १६७।

"आयुर्जीवितमित्यनर्थान्तरम्।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ६७।

तु० – "कतमं तस्मिं समये जीवितिन्द्रियं होति? या अरूपीनं धम्मानं आयु, ठिति, यपना, यापना, इरियना, वत्तना, पालना, जीवितं, जीवितिन्द्रियं – इदं तस्मिं समये जीवितिन्द्रियं होति।" – ध० स०, पृ० ३२१।

३. "आयु उस्मा च विञ्ञाणं, यदा कायं जहन्तिमं।
अपविद्धो तदा सेति, परभत्तं अचेतनं।"

– सं० नि०, तृ० भा०, पृ० ३६०।

"यदा खो आवुसो! इमं कायं तयो धम्मा जहन्ति – आयु उस्मा च विञ्ञाणं, अथायं कायो उज्झितो अवक्खित्तो सेति; यथा – कट्ठं अचेतनं ति।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३६५।

पकिण्णकचेतसिका

३. वितक्को, विचारो, अधिमोक्खो, वीरियं*, पीति, छन्दो चा† ति† छ इमे चेतसिका पकिण्णका नाम ।

वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति एवं छन्द – इस प्रकार ये छह चैतसिक 'प्रकीर्णक' हैं[1] ।

(ग) आलम्बन को चित्त में उत्पन्न करनेवाले मनसिकार को 'आलम्बनप्रतिपादक मनसिकार' कहते हैं, और वही 'मनसिकार चैतसिक' है ।

सब्बचित्तसाधारणा नाम – "समानं धारणं येसं ति साधारणा, सब्बचित्तानं साधारणा सब्बचित्तसाधारणा" जिन चैतसिकों का समान रूप से धारण है वे 'साधारण' हैं । सभी चित्तों को धारण करनेवाले अथवा सभी चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' कहलाते हैं ।

सर्वचित्तसाधारण चैतसिक समाप्त ।

प्रकीर्णक चैतसिक

३. १. वितर्क चैतसिक :

"वितक्केतीति वितक्को अभिनिरोपनलक्खणो ।
आहनप्परियाहनरसो आनयुपट्ठानो ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'वितक्केतीति वितक्को' जो धर्म आलम्बन के विषय में तर्क करता है, वितर्क करता है वह वितर्क है; ऊहन इसका अर्थ है । 'अभिनिरोपनलक्खणो' आलम्बन में चित्त को आरोपित करना – इसका लक्षण है । जैसे – कोई ग्रामीण पुरुष, जो राजप्रासाद में प्रवेश करना चाहता है तो वह किसी राजवल्लभ (राजा के प्रियपात्र) की सहायता के विना प्रवेश नहीं कर सकता, राजा के प्रियपात्र या उसके

* विरियं – सी०, स्या०, रो०, ना० (सर्वत्र) ।
†-† चेति – स्या० ।

1. अभिधर्मकोश के अनुसार कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं विचार – ये चार चैतसिक अनियत हैं; जो कभी कुशल, कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते हैं । – द्र० – अभि० को०, आ० न० दे०, पृ० १३२; यही बात 'त्रिंशिका' में भी कही गई है –
   "..................कौकृत्यं मिद्धमेव च ।
   वितर्कश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा ॥" – त्रिं०, १४ का० ।
   "द्वये द्विधेति – द्वयं च द्वयं च द्वये । ते पुनः कौकृत्यमिद्धे वितर्कविचारौ च । एते च चत्वारो धर्मा द्विधा – क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च ।" – त्रिं० भा०, पृ० ३२ ।
2. प० दी०, पृ० ७५–७६ ।
3. प० दी०, पृ० ७६ ।
4. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ६५; अट्ठ०, पृ० ६४ ।

है । मनसिकार चित्त का आभोग है । दूसरे शब्दों में यह आलम्बन में चित्त का आवर्जन अवधारण है[1] ।

अथवा – "पुरिममनतो विसदिसं मनं करोतीति पि मनसिकारो[2]" अर्थात् जो पूर्व मन से विसदृश, मन को कर देता है वह भी मनसिकार है ।

लक्षणादि – 'एसो सारणलक्खणो, यथाजानीयसारथि' यह सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन की ओर अभिमुख (ऋजु) करता है; जैसे सारथि आजानेय (उत्तम जाति के) अश्वों को गन्तव्याभिमुख (ऋजु) करता है । 'सम्पयोजनरसो' सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन में युक्त करना – इसका कृत्य है । 'आलम्बाभिमुखीभावुपट्ठानो' यह सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन में अभिमुख करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है । 'आलम्बनपदट्ठानो' आलम्बन ही मनसिकार के आसन्नकारण हैं ।

पहले कहा है कि उत्तम जाति के अश्वों को जिस प्रकार सारथि गन्तव्य लक्ष्य की ओर ऋजु करता है, उसी प्रकार मनसिकार भी सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन की ओर ऋजु करता है; मनसिकार के इसी स्वाभाविक बल के कारण सम्प्रयुक्त धर्म कभी भी बिना आलम्बन के (निरालम्बन) नहीं रह पाते, उनका सर्वदा कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है । इस उपमा में सारथि को मनसिकार, आजानेय अश्वों को सम्प्रयुक्त धर्म तथा गन्तव्य स्थल को आलम्बन समझना चाहिये ।

त्रिविध मनसिकार – मनसिकार तीन प्रकार का होता है; यथा – (क) वीथिप्रतिपादक मनसिकार, (ख) जवनप्रतिपादक मनसिकार एवं (ग) आलम्बनप्रतिपादक मनसिकार ।

(क) इनमें से वीथिचित्त की सन्तति को आलम्बन में उत्पन्न करनेवाला मनसिकार 'वीथिप्रतिपादक मनसिकार' है। यह पञ्चद्वारावर्जनचित्त ही है। पञ्चद्वारावर्जन अपने अनन्तर चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन (सम्प्रत्येषण) आदि वीथिचित्तों का उत्पाद करता है ।

(ख) जवनचित्त-सन्तति को आलम्बन में उत्पन्न करनेवाले मनसिकार को 'जवन-प्रतिपादक मनसिकार' कहते हैं । यह मनोद्वारावर्जनचित्त ही है । मनोद्वारावर्जन अपने अनन्तर जवनचित्त-सन्तति का उत्पाद करता है । पालिग्रन्थों में ये ही दोनों 'योनिसोमनसिकार' एवं 'अयोनिसोमनसिकार' शब्दों से बहुशः व्यवहृत हुए हैं । इस मनसिकार के कारण ही कुशल अथवा अकुशल कर्म उत्पन्न होते हैं । इसीलिये 'पुरिममनतो विसदिसं मनं करोतीति मनसिकारो' – ऐसा भी निर्वचन किया गया है । अर्थात् यह (पुरिममनतो) पूर्वावस्थित भवङ्गचित्त-सन्तति से विसदृश, (मनं) वीथिचित्त-सन्तति एवं जवनचित्त-सन्तति को उत्पन्न करता है ।

---

१. तु० – "चित्तस्याभोगो मनस्कारः पूर्वानुभूतादिसमन्वाहारस्वरूपः ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७० ।

द्र० – "मनस्कारश्चेतस आभोग इति आलम्बने चेतस आवर्जनम्, अवधारणमित्यर्थः । मनसःकारो मनस्कारः; मनो वा करोति, आवर्जयतीति मनस्कारः ।" – अभि० को० २ : २४ पर स्फु०, पृ० १२७-१२८ ।

२. विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०९ ।

अतिविभूत होने के कारण वितर्क के बिना भी आलम्बन में आरोहण कर सकते हैं। अर्थात् अत्यन्त विभूत आलम्बनों में वितर्क के द्वारा आरोपण अनावश्यक है।

द्वितीयध्यान-आदि ध्यानों के उत्पाद से पहले उत्पन्न होनेवाले कामावचर भावना-चित्त को 'उपचार भावना' कहते हैं। इस उपचार-भावना के द्वारा 'पठवी-कसिण' आदि आलम्बनों का अच्छी तरह ग्रहण कर लेने के अनन्तर ही ध्यान-धर्म उत्पन्न होते हैं। अतः वितर्क के साथ युक्त उपचार-भावना के परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू कृत्यों द्वारा अच्छी तरह गृहीत आलम्बन का ही, अनायास पुनः ग्रहण करनेवाले द्वितीय, तृतीय-आदि ध्यान, वितर्क के बिना भी आलम्बन का ग्रहण कर सकते हैं[1]।

अथवा – चित्त स्वयं भी आलम्बन में आरोहण कर सकते हैं। उसमें उनका नित्य सहायक मनसिकार होता है। जिस प्रकार कैवर्त (नाविक) – रहित नाव जिस किसी भी घाट पर लग सकती है, इस प्रकार मनसिकार के न होने पर चित्त भी जिस किसी आलम्बन में प्रवृत्त होंगे। मनसिकार की सहायता से उनकी इष्ट आलम्बन में प्रवृत्ति हो सकती है; अतः द्विपञ्चविज्ञान (अवितर्कचित्त) मनसिकार की सहायता से अपनी 'आलम्बन-विजानन' शक्ति के वश से ही आलम्बन में आरोहण करते हैं। द्वितीय-आदि ध्यानचित्त भी मनसिकार, वीर्य एवं स्मृति-आदि के बल से आलम्बन में आरोहण करते हैं।

वितर्क तो उस उस प्रकार से सङ्कल्प करके अपने साथ सम्प्रयुक्त धर्मों को, जो आलम्बन का ग्रहण करनेवाले हैं, बल-प्रदान करता है और इस कृत्य में उसके दूसरे धर्मों से अधिक (विशेष) व्यापारवान् होने के कारण 'वितर्क' कहा जाता है[1]।

चेतना, मनसिकार एवं वितर्क में विशेष –

चेतना, सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में योग (अभिसन्धान) करने रूप लक्षण-वाली है। मनसिकार, सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में संयोजन करने रूप कृत्यवाला है। तथा वितर्क, सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में आरोहण करने रूप लक्षणवाला है – ऐसी स्थिति होने से इन तीनों धर्मों में साम्य प्रतीत होता है, अतः इनके विशेष (भेद) को कैसे जानना चाहिये ?

वितर्क का 'सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में आरोहण कराना' – यह स्वभाव होने के कारण (अभिनिरोपणसभावतो) वह सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में प्रक्षेपण करनेवाले की तरह होता है।

स्वयं भी अपने आलम्बन का ग्रहण करने के कारण 'चेतना' यथारूढ सम्प्रयुक्त धर्मों को उस उस आलम्बन में नियुक्त करती हुई, सेनापति की तरह, होती है।

सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन के अभिमुख ऋजु करने के कारण 'मनसिकार' उत्तम जाति के (आजानेय) अश्वों को ऋजु करनेवाले सारथि की तरह है[2]।

---

१. प० दी०, पृ० ७६।
२. विभा०, पृ० ८१।

बन्धु-आदि की सहायता से प्रवेश कर पाता है; उसी प्रकार सम्प्रयुक्त धर्म वितर्क का आश्रय ग्रहण करके ही आलम्बन में आरोहण करते हैं। इसीलिये वितर्क को 'आरोपण-लक्षण' कहा गया है[1]। इस उदाहरण में सम्प्रयुक्त धर्म ग्रामीण-स्थानीय, वितर्क राज-वल्लभ-स्थानीय एवं आलम्बन राजप्रासाद-स्थानीय हैं। जिस पुरुष में वितर्क बलवान् होता है वह रात्रि में भली प्रकार शयन भी नहीं कर पाता; क्योंकि वितर्क के द्वारा नये नये आलम्बनों में सम्प्रयुक्त धर्मों का आरोपण करते रहने से उसके चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं।

रस – 'आहनप्परियाहनरसो' आहन (प्रथम बार खटखटाना) एवं पर्याहन (पुनः पुनः खटखटाना) – इसका कृत्य है। भावना करते समय योगी का 'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि कहते हुये या सोचते हुये आलम्बन का ग्रहण करना, उस (आलम्बन) के पुनः पुनः खटखटाने की तरह (पर्याहन) होता है। इसीलिये "तेन योगावचरो आरम्मणं वितक्काहतं वितक्कपरियाहतं करोति[2]" – ऐसा कहा गया है। अर्थात् योगी आलम्बन को वितर्क से आहत करता है, वितर्क से पर्याहत करता है। उसी प्रकार लौकिक आलम्बन काम-गुणों का पुनः पुनः ऊहन करना – वितर्क का कृत्य है।

प्रत्युपस्थान – 'आनयुपट्ठानो' आलम्बन तक पहुँचाने के लिये चित्त को धारण करनेवाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।

[इसका 'पदस्थान' अट्ठकथाओं में वर्णित नहीं है, तथापि आलम्बन ही इसके पदस्थान हैं – ऐसा कहा जा सकता है।]

जिस प्रकार 'वितर्क' सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में आरोपण करता है, उसी प्रकार सम्प्रयुक्त धर्म भी इसे आलम्बन में आरोपित करते हैं[3]।

अवितर्क धर्मों के द्वारा आलम्बन का ग्रहण –

प्रश्न – यदि वितर्क के द्वारा आरोपण करने से ही सम्प्रयुक्त धर्म आलम्बन में पहुँचते (आरोपित होते) हैं तो जिनका वितर्क से सम्प्रयोग नहीं होता ऐसे द्विपञ्चविज्ञान एवं द्वितीय-ध्यान-चित्त-आदि (वितर्क से असम्प्रयुक्त = अवितर्क) धर्म आलम्बन में कैसे आरूढ होते हैं?

उत्तर – रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनों के चक्षुर्वस्तु (चक्षुःप्रसाद) आदि पाँच वस्तुओं में होनेवाले सङ्घट्टन के बल से तथा उपचार-भावना के बल से वितर्क से सम्प्रयुक्त नहीं होनेवाले चित्त भी आलम्बन में आरोहण कर सकते हैं।

अवितर्क चित्तों[4] (६६) में से द्विपञ्चविज्ञान आरोपण करनेवाले वितर्क से सम्प्रयुक्त न होने पर भी चक्षुर्वस्तु-आदि में रूपालम्बन-आदि (पाँच) आलम्बनों के सङ्घट्टन के

---

१. अट्ठ०, पृ० ९४।
२. विसु०, पृ० ९५; अट्ठ०, पृ० ९४।
३. प० दी०, पृ० ७६।
४. द्र० – अभि० स० २ : १२।

होने के कारण जब एक बार आलम्बन का ग्रहण हो जाता है तो यह (विचार) उसे छोड़ना न चाहकर उससे चित्त-सन्तति के निरन्तर अविच्छेद के लिये प्रबन्ध (अनुबन्धन) करता है।

वितर्क एवं विचार में भेद – वितर्क, विचार की अपेक्षा औदारिक (स्थूल) होने के कारण तथा विचार से पूर्व होने के कारण घण्टी के प्रथम अभिघात की तरह आलम्बन में चित्त का प्रथम अभिनिपात है। तथा विचार, सूक्ष्म होने एवं अनुसञ्चरण-स्वभाव होने के कारण घण्टी के अनुरव (अनुरणन) की तरह आलम्बन में 'अनुसञ्चरण' लक्षणवाला है[1]। आकाश में उड़ने की इच्छावाले पक्षी के पङ्ख-विक्षेप की तरह तथा गन्धलोलुप भ्रमर के पद्म की ओर अभिनिपात की तरह 'वितर्क' होता है। उत्पतित (उड़ चुके) पक्षी के पङ्ख-प्रसारण की तरह (इच्छानुसार उड़ चुकने पर पक्षी जैसे अपने पङ्ख फैला देता है अर्थात् पङ्ख-चालनरूप उड्डयन-क्रिया से निवृत्त हो जाता है, उसी तरह) एवं पद्म की ओर अभिनिपतित भ्रमर के पद्म के ऊर्ध्व भाग में मंडराने की तरह 'विचार' होता है। विस्फरण (फड़फड़ना) स्वभाववाला 'वितर्क' प्रथम उत्पत्तिकाल में चित्त का परिस्पन्द है, तथा शान्त वृत्तिवाला 'विचार' चित्त का अधिक परिस्पन्द नहीं है।

अपि च – मैल पकड़े हुए काँसे के वर्तन को एक हाथ से दृढतापूर्वक पकड़कर दूसरे हाथ से कूंची लेकर रगड़ते हुए व्यक्ति के दृढतापूर्वक पकड़नेवाले हाथ की तरह 'वितर्क' है तथा रगड़नेवाले हाथ की तरह 'विचार' है। कुम्भकार के दण्ड के दृढ प्रहार से चक्र को घुमाकर वर्तन बनाते समय मिट्टी के पिण्ड को दबानेवाले हाथ की तरह 'वितर्क' है और इधर-उधर घुमानेवाले हाथ की तरह 'विचार' है। परकाल से गोला बनानेवाले पुद्गल के हाथ में स्थित गड़े हुए काँटे के समान आरोपणस्वभाव 'वितर्क' है तथा बाहर घमनेवाले काँटे के समान अनुमज्जनलक्षण 'विचार' है[2]।

"वितर्क पर्येषक मनोजल्प है, जो अनभ्यूहावस्था एवं अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्रय लेता है – यह चित्त की औदारिकता है। विचार प्रत्यवेक्षक मनोजल्प है, जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्रय लेता है – यह चित्त की सूक्ष्मता है। वितर्क एवं विचार में भेद यह है कि एक पर्येषणाकार है तथा दूसरा प्रत्यवेक्षणाकार। जैसे – बहुत से घटों के अवस्थित होने पर यह जानने के लिये कि कौन दृढ है, कौन जर्जर, मुष्टि के अभिघात से ऊह करते हैं –

---

१. तु० – "वितर्कविचारौ औदार्यसूक्ष्मते।" – अभि० को० १ : ३३, पृ० १३६।
"वितर्को नाम चित्तौदार्यलक्षणः सङ्कल्पद्वितीयनामा, विषयनिमित्तप्रकारविकल्पी संज्ञापवनोद्धतवृत्तिः, औदारिकपञ्चविज्ञानकायप्रवृत्तिहेतुः। विचारस्तु चित्त-सौक्ष्म्यलक्षणो मनोविज्ञानप्रवृत्त्यनुकूलः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ८१।

२. द्र० – विसु०, पृ० ९५-९६; अट्ठ०, पृ० ९४–९५।

अथवा – वितर्क, सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में आरोपण करनेवाला है। चेतना, वितर्क द्वारा आरूढ धर्मों का आलम्बन में संयोग करती है। मनसिकार, सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन की ओर ऋजु करता है।

इन तीनों धर्मों के स्वभाव-वैशिष्टच को समझाने के लिये नौकाओं की एक क्रीडा का उदाहरण दिया जाता है। नौकाओं की इस क्रीडा में, किसी नदी की चौड़ाई के रुख में एक आड़ा डण्डा या बाँस रख दिया जाता है। एक निश्चित दूरी से कुछ नौकाएँ उस डण्डे को छूने के लिये दौड़ती हैं। जो नौका उस डण्डे का सर्वप्रथम स्पर्श करती है, उसकी विजय समझी जाती है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा में, प्रतिनौका में तीन प्रकार के पुरुष कार्यरत होते हैं। एक पुरुष नौका में उसके सबसे आगे के भाग में बैठता है, जो नाव के डण्डे के समीप पहुँचने पर उस डण्डे को उठा लेता है। दूसरा पुरुष नौका के मध्य भाग में स्थित होता है जो अपनी नौका को सर्वप्रथम करने के लिये अथक परिश्रम करता है, यही प्रधान एवं नौका का चालक होता है। तीसरा पुरुष नौका के अन्तिम भाग में बैठता है जो पतवार के सहारे गन्तव्य स्थल की ओर नौका की दिशा का नियमन करता रहता है। यह उदाहरण चेतना, वितर्क एवं मनसिकार के कृत्यों को पृथक् पृथक् समझाने के लिये है। इस उदाहरण में लक्ष्य-स्थान पर रखा हुआ डण्डा आलम्बन है। नौकाएँ सम्प्रयुक्त धर्म हैं। नाव के सबसे आगे के भाग में बैठा हुआ पुरुष चेतना-स्थानीय है, जो नौका के समीप पहुँचने पर डण्डे का ग्रहण करता है। नौका के मध्यभाग में बैठा हुआ चालक पुरुष वितर्क की तरह है तथा नौका के अन्तिम भाग में स्थित नौका की दिशा का नियामक पुरुष मनसिकार की तरह है।

२. विचार चैतसिक :

"विचरणं विचारो सो अनुमज्जनलक्खणो ।
सहजातानुयोजनरसोनुपबन्धुपट्ठानो[1] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'विचरणं विचारो' आलम्बन में पुनः पुनः विचरण करना 'विचार' है। 'अनुसञ्चरण' इस का अर्थ है। अर्थात् इस धर्म के कारण चित्त आलम्बन में विचरण करता है। 'सो अनुमज्जनलक्खणो' आलम्बन का चारों ओर स्पर्शन (अनुमर्शन) इसका लक्षण है। [वितर्क के द्वारा आरूढ सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन से हटने न देकर आलम्बन के आस पास घूमते रहना, उसी के चारों ओर चक्कर लगाना – अनुमज्जन है।]

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'सहजातानुयोजनरसो' सहोत्पन्न सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन में पुनः पुनः योग करना – इसका कृत्य है। 'अनुपबन्धुपट्ठानो' गृहीत आलम्बन में चित्त-सन्तति का विच्छेद न होने देने के लिये प्रबन्ध करने (उसी आलम्बन में चित्त को लगाये रखने) – वाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। अर्थात् —— साथ ही सम्प्रयुक्त धर्मों को भी आलम्बन में पुनः पुनः युक्त करने के स्वभाववाला

१. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ९५; अट्ठ० पृ० ९४।

है। 'विनिच्छयपच्चुपट्ठानको' यह विनिश्चय करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। विचिकित्सा का स्वभाव है – आलम्बन में सन्देह करना तथा अधिमोक्ष का स्वभाव है – आलम्बन में निश्चय करना, अतः इन दोनों का स्वभाव परस्पर विरोधी होने के कारण अधिमोक्ष चैतसिक विचिकित्सासहगत चित्त में सम्प्रयुक्त नहीं होता।

पदस्थान – 'सन्निट्ठेय्यपदट्ठानो इन्दखिलो व निच्चलो' निश्चित किये जानेवाले धर्म ही इसके आसन्नकारण हैं। जैसे – 'इन्द्रकील' अत्यन्त दृढ होने के कारण निश्चल होता है, उसी प्रकार यह अधिमोक्ष भी आलम्बन में दृढ होने के कारण निश्चलस्वभाव होता है।

'अधिमुक्ति' आलम्बन के गुणों का अवधारण है, दूसरों के अनुसार यह रुचि है। योगाचारों के अनुसार यह यथानिश्चय आलम्बन की धारणा है[1]।

४. वीर्य चैतसिक :

"वीरस्स भावो वीरियं एतं उस्साहलक्खणं;
उपत्थम्भनरसासंसीदपच्चुपट्ठानकं ।
संवेगपदट्ठानं वा वीरियारम्भवत्थु वा[2] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'वीरस्स भावो वीरियं' वीर के भाव को 'वीर्य' कहते हैं। अथवा – वीर का कर्म 'वीर्य' है। 'एतं उस्साहलक्खणं' उत्साह इसका लक्षण है। वीर्य चित्त का अभ्युत्साह है[3], यह सब कुशल-चित्तों से सम्प्रयुक्त होता है। वीर्यवान् पुद्गल प्रत्येक कार्य करने में पराक्रमी होता है। उसके पराक्रमी होने में वीर्य ही कारणभूत होता है।

पुनश्च – वीर्यवान् पुद्गल अपने द्वारा किये गये किसी भी कार्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न दुःख को निर्भयतापूर्वक सहन करता है। ['उ (दुक्खलाभे) सहनं उस्साहो' दुःख के प्राप्त होने पर उसे सहन करना 'उत्साह' है।]

रस – 'उपत्थम्भनरसं' सम्प्रयुक्त धर्मों का उपस्तम्भ करना अर्थात् उन्हें सहारा देना, इसका कृत्य है। जैसे – गिरते हुए जीर्ण गृह को किसी स्थूणा (बल्ली) के द्वारा

---

१. "चित्तस्य विषयेऽधिमुक्तिरधिमोक्षो रुचिद्वितीयनामा चित्तस्य विषयाप्रतिसङ्कोचलक्षणः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७०।
"अधिमुक्तिस्तदालम्बनस्य गुणतोऽवधारणम्, रुचिरित्यन्ये। यथानिश्चयं धारणेति योगाचारचित्ताः।" – अभि० को० २ : २४ पर स्फु०, पृ० १२८।

२. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२३; अट्ठ०, पृ० ९९।
"विधिना ईरेतब्बं वा पवत्तेतब्बं वा वीरियं, उस्साहो तंतंकिच्चसमारम्भो परक्कमो वा, उपट्ठम्भनं सम्पयुत्तधम्मानं कोसज्जपक्खे पतितुं अदत्वा धारणं अनुबलप्पदानं सम्पग्गण्हनं।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१।

३. "कुशलक्रियायां यच्चेतसोऽभ्युत्साहस्तद्वीर्यम्।" – अभि० को० १ : २५ पर स्फु०, पृ० १३०।

यह ऊह 'वितर्क' है। अन्त में वह जानता है कि इतने दृढ़ हैं, इतने जर्जर – यह 'विचार' है[1]।"

'वितर्क' चित्त का आलम्बन में स्थूल आभोग है तथा सूक्ष्म 'विचार' है।

३. अधिमोक्ष चैतसिक :

"अधिमुच्चनं अधिमोक्खो सो सन्निट्ठानलक्खणो;
असंसप्पनरसो विनिच्छयपच्चुपट्ठानको।
सन्निट्ठेय्यपदट्ठानो इन्दखिलो व निच्चलो[2]॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'अधिमुच्चनं अधिमोक्खो' आलम्बन में प्रवेश करके उसका निश्चय करना 'अधिमोक्ष' है। 'सो सन्निट्ठानलक्खणो' दृढ निश्चय करना या निश्चय पर पहुँचना इसका लक्षण है। आलम्बन, चाहे यथार्थ हो चाहे मिथ्या, उसपर दृढतापूर्वक निश्चित (निष्ठावान्) रहना अधिमोक्ष का स्वभाव है। इस अधिमोक्ष के कारण ही प्राणातिपात-आदि दुश्चरित तथा प्राणातिपातविरति-आदि सुचरित कर्म होते हैं।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'असंसप्पनरसो' असंसर्पण अर्थात् आगा पीछा न करना – इसका कृत्य है। चाञ्चल्य एवं संशय लक्षणवाली विचिकित्सा से विरोधी इसका स्वभाव

---

१. "अत्र पूर्वाचार्या आहुः – 'वितर्कः कतमः ? चेतनां वा निश्रित्य प्रज्ञां वा पर्येषको मनोजल्पोऽनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोर्यथाक्रमं सा च चित्तस्यौदारिकता। विचारः कतमः ? चेतनां वा निश्रित्य प्रज्ञां वा प्रत्यवेक्षको मनोजल्पोऽनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोर्यथाक्रमं सा च चित्तसूक्ष्मतेति। अस्मिन् पक्षे वितर्कविचारावेकस्वभावौ समुदायरूपौ पर्यायवर्तिनौ पर्येषणप्रत्यवेक्षणाकारमात्रेण भिन्नाविष्येते। तत्रोदाहरणं केचिदाचक्षते; तद्यथा – बहुषु घटेष्ववस्थितेषु कोऽत्र दृढः को जर्जर इति मुष्टिनाभिघनतो य ऊहः स वितर्कः, इयन्तो जर्जरा दृढा वेति यदन्ते ग्रहणं स विचार इति।" स्फु०, पृ० १४०।

तु० – "वितर्कः पर्येषको मनोजल्पः प्रज्ञाचेतनाविशेषः। पर्येषकः किमेतदिति निरूपणाकारप्रवृत्तः। मनसो जल्पो मनोजल्पः। जल्प इव जल्पः, जल्पोऽर्थकथनम्। चेतनाप्रज्ञाविशेष इति, चेतनायाः चित्तपरिस्पन्दात्मकत्वात्; प्रज्ञायाश्च गुणदोषविवेकाकारत्वात् तद्वशेन चित्तप्रवृत्तेः। कदाचिच्चित्तचेतनयोर्वितर्कप्रज्ञप्तिः; कदाचित्प्रज्ञाचेतसोर्यथाक्रममनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोः। अथवा – चेतनाप्रज्ञयोरेव वितर्कप्रज्ञप्तिः, तद्वशेन चित्तस्य तथाप्रवृत्तत्वात्। स एव चित्तस्यौदारिकता। औदारिकतेति स्थूलता, वस्तुमात्रपर्येषणाकारत्वात्। एष च नयो विचारेऽपि द्रष्टव्यः। विचारोऽपि हि चेतनाप्रज्ञाविशेषात्मकः प्रत्यवेक्षको मनोजल्प एव, इदं तदिति पूर्वाधिगतनिरूपणात्। अत एव च चित्तसूक्ष्मतेत्युच्यते।" त्रिं० भा०, पृ० ३२। तु० – "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः।" – यो० सू० १ : १७ पर व्या० भा०, पृ० ३२।

२. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ, पृ० १०६।

कहा भी है – "संविग्गो योनिसो पदहति[1]" । अतः वीर्य होने के लिये इसका आसन्न कारण संवेग ही होता है । (यह पदस्थान केवल कुशलवीर्य में ही होता है ।)

अथवा – 'वीरियारम्भवत्थु वा' 'वीर्यारम्भवस्तु' इसका आसन्नकारण है। जिन कारणों से वीर्य (उत्साह) का आरम्भ होता है, उन कारणों को 'वीर्यारम्भवस्तु' कहते हैं । इसके आठ प्रकार होते हैं[2] ।

५. प्रीति चैतसिक :

"पिणेति इति पीति सा सम्पियायनलक्खणा;
कायचित्तपीणनरसा ओदग्यपच्चुपट्ठाना ।
खुद्दिकाखणिकोक्कन्तिफुब्बेगाफरणा ति च[3] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'पिणेति इति पीति' जो धर्म काय एवं चित्त का तर्पण करता है, उन्हें बढाता है वह 'प्रीति' है । 'सा सम्पियायनलक्खणा' वह आलम्बन में अनुरक्त करने के स्वभाववाली है । यह 'व्यापाद[4]' नामक नीवरण धर्म का प्रतिपक्ष है ।

रस – 'कायचित्तपीणनरसा' काय एवं चित्तों को तृप्त करना अर्थात् बढाना – इसका कृत्य है । जब प्रीति उत्पन्न होती है तब चित्तधातु विकसित कमल की भाँति प्रफुल्ल हो जाती है । इस प्रफुल्ल चित्त से उत्पन्न प्रणीत चित्तज रूपों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाने से सम्पूर्ण शरीर तृप्त एवं बृंहित (बढा हुआ) प्रतीत होता है[5] ।

जैसे – मरुस्थल का कोई प्यासा और थका हुआ पथिक दूर से आते हुए किसी दूसरे पथिक से जल के विषय में पूछता है और उससे यह जान कर कि, थोड़ी ही दूर पर स्वच्छ एवं मधुर जल से परिपूर्ण एक महाह्लद है, अपने चित्त में प्रसाद एवं

---

१. अ० नि०, द्वि० भा०, पृ० १२१ ।

२. "मग्गो गन्तब्बो होति, मग्गो गतो; कम्मं कातब्बं, कम्मं कतं; अप्पमत्तको आबाधो उप्पन्नो, गिलाना वुट्ठितो होति, अचिरवुट्ठितो गेलञ्ञा, गामं वा निगमं वा पिण्डाय विचरन्तो न लभति लूखस्स वा पणीतस्स वा भोजनस्स यावदत्थं पारिपूरिं, लभति ... पारिपूरिं ति – एवं वुत्तानि एतानि अनुरूपपच्चवेक्खणासहितानि अट्ठ वीरियारम्भवत्थूनि, तम्मूलकानि वा पच्चवेक्खणानि ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१ ।

३. व० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ९७; अट्ठ०, पृ० ९५ ।

४. "हितसुखं व्यापादयतीति व्यापादो, सो परविनासाय मनोपदोसलक्खणो ।" – अट्ठ०, पृ० ८३ ।

५. "पीति च चित्तं व्यापादवसेन उक्कण्ठितुं अदत्वा आरम्मणे परितुट्ठमेव करोति, आरम्मणसम्पियायनलक्खणा हि पीति व्यापादनीवरणस्स उजुपटिपक्खा ति ।" – प० दी०, पृ० ४७ ।

सहारा देकर गिरने से रोका जाता है और वल्ली का सहारा पा कर वह गृह गिरता नहीं है, उसी प्रकार सहारा देने रूप लक्षणवाला यह वीर्य है। इस वीर्यरूपी स्तम्भ का सहारा पाकर सम्प्रयुक्त धर्म कुशल-धर्मों से च्युत नहीं होते[1]। अथवा – किसी छोटी सेना का किसी बड़ी सेना के साथ युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर छोटी सेना अवसाद को प्राप्त होती है। राजा यह जानकर छोटी सेना को बल देने के लिये बलवती सेना प्रेषित करता है और उस बलवती सेना से बल पाकर छोटी सेना बड़ी सेना को पराजित कर देती है, उसी प्रकार यह वीर्य भी सम्प्रयुक्त धर्मों को अवसन्न होने से बचाता है, उन्हें थामता है। इसीलिये 'पग्गहनलक्खणं विरियं[2]' कहा गया है।

प्रत्युपस्थान – 'असंसीद्यपच्चुपट्ठानकं' यह कुशल कर्मों में अनुत्साह या सङ्कोच से विपरीत स्वभाववाला धर्म है[3] – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। स्त्यान-मिद्ध (मानसिक एवं शारीरिक आलस्य) – प्रधान अकुशल चित्तोत्पाद को 'कौसीद्य' कहते हैं[4]। यह (वीर्य) कौसीद्य का प्रतिपक्षी धर्म है। यह कुशल-धर्मों के उत्पाद एवं अकुशल धर्मों के निरोध में चित्त का उत्साह है। अकुशल-धर्मों के प्रति उत्साह तो कुत्सित होने के कारण कौसीद्य ही है[5]। कौसीद्य का अभिभव करनेवाला धर्म होने के कारण यह समय पड़ने पर अनुत्साह दिखानेवाला धर्म नहीं है – ऐसा आकार योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।

पदस्थान – संवेगपदट्ठानं' संवेग इसका आसन्नकारण है। जाति, जरा, व्याधि, मरण, अपायगति-आदि का विचार करने से उत्पन्न भय नामक 'ओत्तप्प[6]' (उद्वेग)-प्रधान' ज्ञान को 'संवेग' कहते हैं[7]। संविग्न पुरुष का कुशल कर्मों में उत्साह होता है।

---

१. "यथा महाराज ! पुरिसो गेहे पतन्ते अञ्ञेन दारुना उपत्थम्भेय्य, उपत्थम्भितं सन्तं एवं तं गेहं न पतेय्य; एवमेव खो महाराज ! उपत्थम्भनलक्खणं विरियं, विरियुपत्थम्भिता सब्बे कुसला धम्मा न परिहायन्तीति।" – मिलि०, पृ० ३८।

२ अट्ठ०, पृ० ९९।

३. तु० – "सिलोकमच्छरियादिवसेन पुञ्ञकिरियायं संसीदं सङ्कोचं अनापज्जन्तो, तेन मुत्तचागतादिं दस्सेति।" – विसु० महा, द्वि० भा०, पृ० ११७।

४. "कोसज्जं थीनमिद्धपधानो अकुसलचित्तुप्पादो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४९१।

"कौसीद्यं चित्तस्यानभ्युत्साहः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७४।

५. "वीर्यं कौशीद्यप्रतिपक्षः, कुशले चेतसोऽभ्युत्साहः, न तु क्लिष्टे। क्लिष्टे तूत्साहः कुत्सितत्वात् कौशीद्यमेव।" – त्रि० भा०, पृ० २७।

"वीर्यं कुशलाकुशलधर्मोत्पादनिरोधाभ्युत्साहः संसारनिमग्नस्य चेतसोऽभ्युन्नतिरित्यर्थः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३।

६. "ओत्तप्पतीति ओत्तप्पं, पापतो उब्बेगस्सेतं अधिवचनं।" – विसु०, पृ० ३२४।

७. संवेग आठ प्रकार का होता है। द्र० – अ० नि०अ० १–४०१। इति० अ० पृ० १०८।

करने की इच्छा (कामना) इसका लक्षण है[1]। अथवा – 'छन्द' कार्य की इच्छा है[2]। 'छन्द' दो प्रकार का होता है; यथा – १. तृष्णाछन्द (कामच्छन्द) एवं २. कर्त्तुकामताछन्द। 'विभङ्गट्ठकथा' में छन्द के अनेकविध भेदों का वर्णन किया गया है[3]।

१. तृष्णाछन्द – "छन्दो कामो"[4] "कामच्छन्दो"[4] यहाँ 'छन्द' शब्द तृष्णा के अर्थ में प्रयुक्त है। "छन्दं जनेति वायमति"[5] यहाँ 'छन्द' शब्द 'वीर्य' अर्थ में प्रयुक्त है। चाहे कुशल हो, चाहे अकुशल अथवा अव्याकृत, आलम्बन की इच्छा करनेवाले स्वभाव को 'छन्द' कहते हैं। यही 'तृष्णाछन्द' है।

२. कर्त्तुकामताछन्द – इसमें प्रयुक्त 'कृ' ('कर') धातु सभी धातुओं में व्याप्त है, इसकी कोई सीमा नहीं है; अतः दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्शन, एवं विजानन – इन सभी की आलम्बन करने की इच्छा, छन्द का लक्षण है। वह इच्छा भी लोभ के द्वारा आलम्बन के प्रति होनेवाली आसक्तिरूप इच्छा के सदृश नहीं है, अपितु आलम्बन करने की इच्छामात्र है।

रस – 'आलम्बनपरियेसनरसो' आलम्बन का पर्येषण (अन्वेषण) करना इसका कृत्य है। इच्छा होने पर एष्टव्य आलम्बन का पर्येषण करना स्वाभाविक ही है। इस लोक में होनेवाले (लौकिक) लोभनीय आलम्बन अर्थात् कामगुणों[6] के पर्येषण को वर्जित करके धर्म, प्रज्ञा, एवं निर्वाण-आदि की पर्येषणा (गवेषणा) – इस (छन्द) का कृत्य है। लोभनीय काम-धर्मों की इच्छा होने पर तो उस इच्छा में लोभ की प्रधानता होने के कारण 'छन्द चैतसिक' वहाँ लोभचैतसिक का अनुगामी हो जाता है। लोभनीय आलम्बनों के होने पर भी, यदि पुद्गल दूसरों को दान देने, अनुग्रह करने-आदि के लिये धन-सम्पत्ति का सङ्ग्रह करता है और उस धन-सम्पत्ति के प्रति आसक्तिलक्षणा तृष्णा नहीं होती है तो वहाँ 'लोभ' न होकर 'छन्द' ही होगा। जैसे – बाण चलानेवाला (इष्वास) व्यक्ति बाण चलाने के लिये ही उनका सङ्ग्रह करता

---

१. तु० – "छन्दः कर्त्तुकामता वीर्याङ्गभूतः।" वि० प्र० वृ०, पृ० ६९।
"छन्दोऽभिप्रेते वस्तुन्यभिलाषः।" – त्रिं० भा०, पृ० २५।

२. आ० न० दे०, अभि० को०, पृ० १२२।

३. "छन्दनं छन्दो, इच्छा पत्यना अभिसन्धीति वुत्तं होति। सो पन दुविधो – तण्हाछन्दो, कत्तुकम्यताछन्दो ति। इध कत्तुकम्यताछन्दो अधिप्पेतो।" – प० दी०, पृ० ७८; विभ० अ०, पृ० २९२।

४. विभ०, पृ० ३०८।

५. विभ०, पृ० २६४।

६. कामगुण पाँच होते हैं; यथा – "चक्खुविञ्ञेय्या रूपा इट्ठा कन्ता मनापा पियरूपा कामूपसंहिता रजनीया, सोतविञ्ञेय्या सद्दा...पे०... घानविञ्ञेय्या गन्धा...पे०... जिव्हाविञ्ञेय्या रसा...पे०... कायविञ्ञेय्या फोट्ठब्बा इट्ठा कन्ता मनापा पियरूपा कामूपसंहिता रजनीया।" – दी० नि०, तृ० भा०, पृ० १८२।

स्फूर्ति का अनुभव करता है। तदनन्तर महाह्लद की दिशा में थोड़ा चलने पर जब वह जल लेकर आते हुए एक दूसरे व्यक्ति को देखता है तो अपने चित्त में और अधिक तृप्ति, प्रसन्नता एवं स्फूर्ति का अनुभव करता है; कुछ कुछ इसी तरह के भाव आलम्बन में प्रीति उत्पन्न हो जाने पर साधक अपने चित्त में अनुभव करता है। ये तृप्ति, प्रसाद एवं स्फूर्ति-आदि भाव इस प्रीति के लक्षण अथवा कृत्य हैं।

अथवा – 'फरणरसा वा' – सम्पूर्ण काय एवं चित्त में व्याप्त हो जाना – इस का कृत्य है[1]।

प्रत्युपस्थान – 'ओदग्यपच्चुपट्ठाना' उदग्र (उन्नत) का भाव 'औदग्य' (ओदग्य) है। यह चित्त की अभ्युन्नति के आकार में योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। आलम्बन में प्रीति के अधिक मात्रा में उत्पन्न होने पर इसका 'औदग्य' (चित्त का अभ्युन्नत होना या गद्गद होना) प्रकट होता है।

प्रीति के पाँच प्रकार –

"खुद्दिकाखणिकोक्कन्तिकुब्बेगाफरणा ति च[2]।"

प्रीति पाँच प्रकार की होती है; यथा – १. क्षुद्रिका प्रीति, २. क्षणिका प्रीति, ३. अवक्रान्तिका प्रीति, ४. उद्वेगा प्रीति एवं ५. स्फरणा प्रीति।

इनमें से क्षुद्रिका प्रीति – शरीर में लोमहर्षणमात्र ही कर सकती है। क्षणिका प्रीति – क्षण क्षण पर विद्युत्पात के समान होती है। अवक्रान्तिका प्रीति – समुद्रतट की तरङ्ग के समान शरीर में फैल फैल कर समाप्त हो जाती है। 'उद्वेगा प्रीति' वलवती होती है – यह अपने वेग से शरीर को ऊपर की ओर उछालती हुई सी प्रतीत होती है। तथा स्फरणा प्रीति – यह सम्पूर्ण शरीर में फैल जाने की तरह प्रतीत होती है। इससे ऐसा अनुभव होता है मानो प्रसन्नता एवं स्फूर्ति सारे शरीर में व्याप्त हो गयी हो। इन पाँचों प्रीतियों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा पश्चिम पश्चिम प्रीतियाँ अधिक वलवती होती हैं।

६. छन्द चैतसिक :

"छन्देति इति छन्दो सो कत्तुकम्यतालक्खणो;
आलम्वनपरियेसनरसो अत्थिवयुपट्ठानो।
आलम्वनपदट्ठानो चेतोहत्थप्पसारणं[3]॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – "छन्देति इति छन्दो' आलम्वन की इच्छा (अभिलाप), प्रार्थना (पत्थना) अथवा अभिसन्धि – 'छन्द' है। 'सो कत्तुकम्यतालक्खणो' आलम्वन

---

१. "फरणरसा ति पणीतरूपेहि कायस्स व्यापनरसा।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ८८।
२. प० दी०, पृ० ७८।
३. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०६।

अकुसलचेतसिका

४. मोहो, अहिरीकं*, अनोत्तप्पं, उद्धच्चं, लोभो, दिट्ठि, मानो, दोसो, इस्सा, मच्छरियं, कुक्कुच्चं, थीनं†, मिद्धं†, विचिकिच्छा चेति चुद्दसिमे चेतसिका अकुसला नाम ।

मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य (अनपत्रपा) औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विचिकित्सा – इस प्रकार ये चौदह चैतसिक अकुशल हैं[1] ।

अकुशल चैतसिक

४. १. मोह चैतसिक :

"मुय्हतीति मोहो नाम एसो अञ्ञाणलक्खणो;
आलम्बसभावच्छादरसोन्धकारुपट्ठानो ।
अयोनिसोमनसिकारपदट्ठानो ति सञ्ञितो[2] ।।"

---

* अहिरिकं – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (क) ।
†-† थीनमिद्धं – सी०; थिनं० – म० (क, ख) (सर्वत्र) ।
१. तु० – ६ क्लेशमहाभूमिक, २ अकुशलमहाभूमिक, १० परित्तक्लेशभुमिक चैतसिक । यथा—

"मोहः प्रमादः कौसीद्यमाश्रद्धयं स्त्यानमुद्धवः ।
क्लिष्टे,
सदैवाकुशले, त्वाह्रीक्यमनपत्रपा ।।
क्रोधोपनाहशाठ्येर्ष्याप्रदासम्रक्षमत्सराः ।
मायामदविहिंसाश्च, परीत्तक्लेशभूमिकाः ।।"
– अभि० को० २ : २६, २७ का० ।

"स्त्यानं प्रमत्तिराश्रद्धयमालस्यं मूढिरुद्धतिः ।
क्लिष्टे षट्,
अशुभे तु द्वे, आह्रीक्यमनपत्रपाः ।।" –अभि० दी० ११४ का० ।

"मायाशाठ्यमदक्रोधविहिंसेर्ष्याप्रदष्टयः ।
सूक्ष्मोपनाहमात्सर्याण्यल्पक्लेशभुवो दश ।।" –अभि० दी० ११५ का० ।

"........क्लेशा रागप्रतिघमूढयः ।।
मानदृग्विचिकित्साश्च,
क्रोधोपनहने पुनः ।
म्रक्षः प्रदाश ईर्ष्याथ, मात्सर्यं सह मायया ।।
शाठ्यं मदो विहिंसाह्रीरत्रपा स्त्यानमुद्धवः ।
आश्रद्धयमथ कौशीद्यं प्रमादो मुपितास्मृतिः ।।
विक्षेपोऽसम्प्रजन्यं च............... ।" –त्रिं० ११–१४ का० ।

२. व० भा० टी० । तु० – अट्ठ०, पृ० २०१, विसु०, पृ० ३२७ ।

एवमेते* तेरस चेतसिका अञ्ञसमाना ति वेदितब्बा ।

इस प्रकार ये तेरह चैतसिक अन्यसमान चैतसिक हैं – ऐसा जानना चाहिये ।

है, उनमें उसकी तृष्णा (अपने पास रखने की इच्छा) नहीं होती, इसी तरह यदि कोई पुरुष दान करने के लिये ही धन-सङ्ग्रह करता है तो उसकी धन के प्रति आसक्ति-मूलिका तृष्णा न होने से उसमें लोभचैतसिक न होकर छन्दचैतसिक ही होगा[1] ।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अत्थिकयुपट्ठानो' यह आलम्बन की इच्छा (प्रार्थना) करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है । 'आलम्बनपदट्ठानो' आलम्बन ही इसके आसन्नकारण हैं । 'चेतोहत्थप्पसारणं' आलम्बन को ग्रहण करने में यह (छन्द) चित्त के हाथ पसारने की तरह होता है । चित्त के यद्यपि हाथ नहीं होते तथापि उपचार से अर्थ का ग्रहण करना चाहिये । जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये हाथ फैलाता है, उसी तरह चित्त के द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय यह चित्त के हाथ फैलाने की तरह है[2] ।

अञ्ञसमाना – 'अञ्ञेसं समाना अञ्ञसमाना' जो चैतसिक अन्य चैतसिकों के समान होते हैं उन्हें 'अन्यसमान' कहते हैं । औद्धत्य-आदि चैतसिक केवल 'अकुशल-स्वभाव' ही होते हैं, अर्थात् वे केवल अकुशलचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं । श्रद्धा-आदि चैतसिक केवल 'शोभन-स्वभाव' ही होते हैं, अर्थात् ये केवल शोभनचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं । ये औद्धत्य, श्रद्धा-आदि चैतसिक, अन्य धर्मों के स्वभाव के समान कथमपि नहीं हो सकते; अर्थात् यदि ये अकुशल हैं तो अकुशल ही रहेंगे, यदि कुशल हैं तो कुशल ही रहेंगे । उपर्युक्त स्पर्श, वेदना-आदि तेरह अन्यसमान चैतसिक औद्धत्य, श्रद्धा-आदि की भाँति केवल एकस्वभाव ही नहीं हैं, अर्थात् वे अकुशल स्वभाववाले धर्मों के साथ सम्प्रयुक्त होने पर 'अकुशल' तथा कुशल स्वभाववाले धर्मों के साथ सम्प्रयुक्त होने पर 'कुशल' हो सकते हैं ।

शोभन की अपेक्षा अशोभन 'अन्य' हैं, तथा अशोभन की अपेक्षा से शोभन 'अन्य' हैं । इस अन्य के समान जो होते हैं, उन्हें 'अन्यसमान' कहते हैं[3] ।

अन्यसमानराशि समाप्त ।

---

* एवमिमे – स्या० ।

१. "दानवत्थुविस्सज्जनवसेन पवत्तकाले पि चेस विस्सज्जितब्बेन तेन अत्थिको व, खिपितब्बउस्सूनं गहणे अत्थिको इस्सासो विय ।" – विभा०, पृ० ८२ ।

२. "छन्दनं छन्दो आरम्मणेन अत्थिकता, सो कत्तुकामतालक्खणो । तथा हेस आरम्मणगहणे चेतसो हत्थपसारणं विया ति वुच्चति ।" –विभा०, पृ० ८२ ।

३. "सोभणापेक्खाय इतरे, इतरापेक्खाय सोभणा च अञ्ञे नाम । न उद्धच्च-सद्धादयो विय अकुसलादिसभावा येवा ति अञ्ञसमाना ।" – विभा०, पृ० ८२ ।

हो जाते हैं, अतः यह मोह का आसन्नकारण है[1]। इसे सब अकुशलों का मूल जानना चाहिये।

[अकुशल चैतसिकों के निरूपण में जहाँ पदस्थान का निर्देश न किया गया हो वहाँ उनका पदस्थान (आसन्नकारण) 'अयोनिशोमनसिकार' है – ऐसा समझना चाहिये।]

२. आह्रीक्य एवं ३. अनपत्राप्य चैतसिक :

"उभो इमे अजिगुच्छ-अनुत्तासनलक्खणा;
पापानं करणरसा असङ्कोचनुपट्ठाना।
अत्तपर-अगारवपदट्ठाना ति सञ्ञिता[2]॥"

लक्षणादि – कायदुश्चरित-आदि से जुगुप्सा न करना 'आह्रीक्य' का लक्षण है। निर्लज्जता इसका अर्थ है। उन्हीं कायदुश्चरित-आदि से त्रस्त अर्थात् भयभीत न होना 'अनपत्राप्य' का लक्षण है। अर्थात् पाप से उद्विग्न न होना इसका अर्थ है। अकुशल कर्मों को करना – इन दोनों का कृत्य है। ये अकुशल कर्म में सङ्कोच करनेवाले धर्म नहीं हैं – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। आत्मगौरव और परगौरव का अभाव इनके आसन्नकारण हैं।

अथवा – आह्रीक्य 'ह्री' (शोभन चैतसिक) का विपक्षभूत तथा अनपत्राप्य 'अपत्रपा' (शोभन चैतसिक) का विपक्षभूत धर्म है। कुकर्म करते समय अपने से ही लज्जा का न होना—'आह्रीक्य' तथा दूसरों से लज्जा का न होना 'अनपत्राप्य' है। अपनी सन्तान में होनेवाले गुणों के प्रति या परसन्तान में होनेवाले गुणों के प्रति अथवा गुणवान् पुद्गलों के प्रति गौरव न होना 'आह्रीक्य' है तथा 'अनपत्राप्य' वह धर्म है जिसके योग से पुद्गल सत्पुरुषों से गर्हित अवद्य (अकुशल कर्म) का अनिष्ट फल नहीं देखता, अर्थात् अनिष्ट फल में भय नहीं करता[3]।

---

१. तु० – "तत्थ कतमो अयोनिसोमनसिकारो ? 'अनिच्चे निच्चं' ति अयोनिसो मनसिकारो, 'दुक्खे सुखं' ति अयोनिसोमनसिकारो, 'अनत्तनि अत्ता' ति अयोनिसोमनसिकारो, 'असुभे सुभं' ति अयोनिसो मनसिकारो; सच्चविप्पटिकूलेन वा चित्तस्स आवट्टना अनावट्टना आभोगो समन्नाहारो मनसिकारो – अयं वुच्चति अयोनिसोमनसिकारो।" – विभ०, पृ० ४४७।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२६; अट्ठ०, पृ० २०१।

३. "तत्राह्रीक्यं ह्रीविपक्षभूतो धर्मः, अनपत्राप्यमत्राप्यस्येति। अकार्यं कुर्वाणस्यालज्जा स्वात्मनोऽह्रीः; परेभ्योऽलज्जा अनपत्राप्यमित्यपरे।"–वि० प्र० वृ०, पृ० ७५। अह्रीरगुरुतावद्ये, भयादर्शितमत्रपा।"–अभि० को० २ : ३२, पृ० १३४। "आह्रीक्यम् – स्वयमवद्येनालज्जा। तस्मिन् कर्मण्यात्मानमयोग्यं मन्यमानस्यापि यावद्येनालज्जा साह्रीक्यं ह्रीविपक्षभूतम्। अनपत्राप्यम् – परतोऽवद्येनालज्जा 'लोकशास्त्रविरुद्धमेतन्मया क्रियते' – इत्येवमवगच्छतोऽपि या तया पापक्रिययालज्जा साऽपत्राप्यविपक्षभूतमनपत्राप्यम्।" – त्रिं० भा०, पृ० ३१।

वचनार्थ एवं लक्षण – मुय्हतीति मोहो नाम, एसो अञ्ञाणलक्खणो' आलम्बन में जो स्वयं मुग्ध (मोह को प्राप्त) होता है, अथवा – जिसके द्वारा प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं। अथवा – विचित्ततामात्र मोह है[1]। विद्या का विपक्ष अर्थात् अज्ञान – इसका लक्षण है[2]। आलम्बन में मोह को प्राप्त होने का तात्पर्य विचिकित्सा की तरह अनिश्चित होकर मोह को प्राप्त होना नहीं है; अपितु आलम्बन के सत्य स्वभाव का अज्ञान है। अतएव टीकाकारों ने 'मुय्हति' का अर्थ 'न बुज्झति[3]' – ऐसा किया है। अपि च – 'भवङ्ग' (भवाङ्ग) की अवस्था में या सुषुप्तिकाल में जैसे किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता[4], उस प्रकार का भी ज्ञानाभाव इसका लक्षण नहीं है; अपितु ज्ञान का विपक्ष इसका अर्थ है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा जैसे आलम्बन के स्वभाव का यथाभूत ज्ञान होता है, ठीक इसके विपरीत, मोह के द्वारा वस्तु के अयथाभूत स्वभाव का अवधारण (विपर्ययाध्यास) होता है। अतः ज्ञान का विरोधी होना इसका लक्षण है।

अथवा – चित्त को अन्धा करना इसका लक्षण है।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'आलम्बसभावच्छादरसो' आलम्बन के यथार्थ स्वभाव का आवरण करना (अथवा जानने में असमर्थ होना) – इसका कृत्य है। 'अन्धकारपच्चुपट्ठानो' यह प्रज्ञाचक्षु को अन्धकारावृत करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।

'आलम्बन के यथाभूत स्वभाव' से तात्पर्य – दुश्चरित (पाप कहे जानेवाले) धर्मों के दुष्ठु (अशोभन) स्वभाव, सुचरित धर्मों के सुष्ठु (शोभन) स्वभाव, दुःख-सत्य-आदि सत्यों के सत्स्वभाव, अतीतभव एवं अनागतभव के अस्तिस्वभाव एवं प्रतीत्य-समुत्पादस्वभाव-आदि स्वभावों से है। उपर्युक्त स्वभावों का ज्ञान न होने देने के लिये आवरण करना – इसका कृत्य है। मोहजनित आवरण के कारण दुश्चरित धर्मों के दुश्चरित स्वभाव को, दुश्चरित के रूप में जाननेवाले विद्वान् पुरुष भी जब मोह को प्राप्त होते हैं तब वे उनमें किसी भी प्रकार की आपत्ति (दोष) न देखकर उन कर्मों (पाप) को करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः यह मोह प्रज्ञाचक्षु को अन्धा करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। असम्यक् प्रतिपत्ति या अन्धकार का होना इसका प्रत्युपस्थान (जानने का आकार) है।

पदस्थान – 'अयोनिसोमनसिकारपदट्ठानो ति सञ्ञितो' अयोनिशोमनसिकार इसका आसन्नकारण है। अयोनिशोमनसिकार के होने पर अनुत्पन्न अकुशल धर्म भी उत्पन्न

---

१. "मुय्हन्ति तेन, सयं वा मुय्हन्ति, मुय्हनमत्तमेव वा तं ति मोहो।"–अट्ठ०, पृ० २०१।

२. "अविद्यालक्षणो मोहः।"–स्फु०, पृ० ३०१।
"मूढिरविद्यानुकारा असम्प्रख्यानरूपा।"–वि० प्र० वृ०, पृ० ७४।
"मोहोऽपायेषु सुगतौ निर्वाणे तत्प्रतिष्ठापकेषु हेतुषु तेषां चाविपरीते हेतुफल-सम्बन्धे यदज्ञानम्।" – त्रि० भा०, पृ० २८।

३. विभु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६।

४. द्र० – अभि० स० ४ : १६।

ध्वज, पताका-आदि स्थिर नहीं रह पाते, अपितु कम्पयुक्त (चञ्चल) होते हैं; उसी तरह औद्धत्य से सम्प्रयुक्त चित्त भी एक ही आलम्बन में स्थिर (निष्कम्प) नहीं रह पाता; अपितु अनवस्थित (भ्रान्त) रहता है[1]। औद्धत्य के इस अनवस्थानकृत्य के कारण तत्सम्प्रयुक्त धर्म एक ही आलम्बन का दृढतापूर्वक ग्रहण नहीं कर पाते, यहाँ तक कि 'एकाग्रता' नामक समाधि भी जब औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होती है तो वह आलम्बन का केवल ग्रहणमात्र ही कर पाती है। दूसरे चित्तों से सम्प्रयुक्त होने पर जैसे वह (समाधि) दृढ होती है, वैसे औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होने पर नहीं हो पाती। इसीलिये पाषाण के अभिघात से समुद्धत भस्म की तरह स्वभाववाला यह धर्म है – ऐसा कहा गया है। भस्म-राशि में पाषाण के प्रक्षिप्त होने पर जैसे वह भस्म-राशि अनवस्थित होकर ऊपर उठती है, उसी तरह इसके आकार को जानना चाहिये। यह (औद्धत्य) चित्त का विक्षेप है।

[उपर्युक्त चार चैतसिक सर्वअकुशल-साधारण होते हैं। अतः इनका वर्णन सर्वप्रथम किया गया है।]

५. लोभ चैतसिक :

"लुब्भतीति लोभो एसो आलम्बग्गाहलक्खणो;
अभिसङ्गरसो अपरिच्चागपच्चुपट्ठानको।
संयोजनीयधम्मेसु अस्सादिक्खपदट्ठानो[2]।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'लुब्भतीति लोभो' जो आलम्बन के प्रति आसक्त होता है, अथवा जिसके कारण सम्प्रयुक्त धर्म आसक्त होते हैं, अथवा आसक्तिमात्र लोभ है[3]। 'एसो आलम्बग्गाहलक्खणो' आलम्बन को ग्रहण करना इसका लक्षण है। आलम्बन

---

१. तु० – "भन्तत्तं चित्तस्सा ति – चित्तस्स भन्तभावो, भन्तयान-भन्तगोणादीनं विय। इमिना एकारम्मणस्मिं येव विप्फन्दनं कथितं। उद्धच्चं हि एकारम्मणे विप्फन्दति, विचिकिच्छा नानारम्मणे।" – अट्ठ०, पृ० २१०।

२. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०१। प० दी०, पृ० ८०; विभा०, पृ० ८२; अभि० दी०, पृ० २२०। "कामेऽकुशलमूलानि रागप्रतिघमूढयः।" – अभि० को० ५ : २०, पृ० १३६।
"लोभो नाम भवे भवोपकरणेषु यासक्तिः प्रार्थना च।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
अपिच "तत्र रागो भवभोगयोरध्यवसानं प्रार्थना च।" – त्रि० भा०, पृ० २८।

३. तु० – "लुब्भतीति लोभो, लुब्भन्ति सम्पयुत्ता धम्मा एतेना ति लोभो, लुब्भनमत्तमेव वा एतं ति लोभो। एत्थ च लुब्भनं नाम आरम्मणाभिसज्जनं दट्ठब्बं। सो पन आरम्मणे लगनट्ठेन मक्कटालेपो विय, अभिकङ्खनट्ठेन तत्तकपाले खित्तमंसपेसि विय, अपरिच्चागट्ठेन तेलञ्जनरागो विय, तण्हानदिभावेन वड्ढित्वा सत्तानं अपायावहट्ठेन सब्बानि सुक्खकट्ठसाखापलासतिणकसटानि महासमुद्दं वहन्ती सीघसोता नदी विय दट्ठब्बो।" – प० दी०, पृ० ८०।

(क) आह्रीक्य – 'न हिरीयतीति अहिरीको' जो कायदुश्चरित-आदि से लज्जा नहीं करता वह 'अह्रीक' है। इस शब्द से 'पुद्गल' एवं 'सम्प्रयुक्त धर्मसमूह' – दोनों का ग्रहण होता है। 'अहिरीकस्स भावो अहिरीकं' अह्रीक के भाव को 'आह्रीक्य' कहते हैं[1]। विष्ठा से ग्रामशूकर की भांति कायदुश्चरित-आदि से जुगुप्सा न करना – इसका कृत्य है।

(ख) अनपत्राप्य – 'न उत्तप्पतीति अनोत्तप्पं' जिस धर्म के कारण पाप-कर्मों के करने में अपत्रपा (व्यग्रता या सङ्कोच) उत्पन्न नहीं होती वह 'अनपत्राप्य' है। अग्नि से शलभ की भांति कायदुश्चरित-आदि से अनुत्रास (निर्भयता) इसका स्वभाव है।

"जिगुच्छति नाहिरीको, पापा गूथा व सूकरो।
न भायति अनोत्तप्पी, सलभो विय पावका" ति[2]॥

[आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य के रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान 'ह्री' एवं अपत्रपा' के विपरीत हैं, अतः इन्हें शोभन चैतसिकों में होनेवाले इनके वर्णन से जानना चाहिये।]

४. औद्धत्य चैतसिक :

"उद्धतभावो उद्धच्चं अवूपसमलक्खणं।
अनवट्ठानरसं भन्तभावपच्चुपट्ठानकं[3]।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'उद्धं उद्धं हनतीति उद्धतं, उद्धतस्स भावो उद्धच्चं' उद्धत का भाव 'औद्धत्य' है। 'तं अवूपसमलक्खणं' उपशम का अभाव इसका लक्षण है। औद्धत्य से सम्प्रयुक्त चित्त आलम्बन में स्थिर नही रह पाता; अपितु वह वायु के अभिघात से चञ्चल जल की भाँति आलम्बन में अनवस्थित रहता है[4]।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'अनवट्ठानरसं', 'भन्तभावपच्चुपट्ठानकं' आलम्बन में अनवस्थिति (अस्थिरता) – इसका कृत्य है। यह धर्म सर्वदा प्रकम्पित होते रहने के स्वभाव-वाला है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। जैसे – वायु के अभिघात से

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ३२६; अट्ठ०, पृ० २०१।
२. विभा०, पृ० ८२; तु० – प० दी०, पृ० ८०।
३. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०३।
४. द्र० – "उद्धरतीति उद्धटं, पासाणपिट्ठे वट्टित्वा विस्सट्ठगेण्डुको विय नानारम्मणेसु विक्खित्तं चित्तं, उद्धटस्स पन चित्तस्स उद्धरणाकारपवत्तिया पच्चयभूतो धम्मो उद्धच्चं, तं पन वातेरितं जलं विय धजपताका विय च दट्ठव्वं।" – प० दी०, पृ० ८०।
तु० – ध० स०, पृ० १०५, २५६, २७२; विभा०, पृ० ८२।
"औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः।" – त्रि० त्र० वृ०, पृ० ७४।
"चित्ताव्युपशान्तिरौद्धत्यम्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०९।
"औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः; व्युपशमो हि शमथस्तद्विरुद्धोऽव्युपशमः, स पुनरेष रागानुकूलपूर्वहसितरसितक्रीडिताद्यनुस्मरतश्चेतसोऽव्युपशमहेतुः शमथ-परिपन्थ-कर्मकः।" – त्रि० भा०, पृ० ३१।

६. दृष्टि चैतसिक :

"मिच्छा पस्सतीति दिट्ठि अभिनिवेसलक्खणा;
परामासरसा मिच्छाभिनिवेस-उपट्ठाना।
अरियानं अदस्सनकामतादिपदट्ठाना[1]॥"

वचनार्थ – 'मिच्छा पस्सतीति दिट्ठि' जो धर्म आलम्बन को मिथ्या (अयथार्थ रूप से) देखता है, अथवा जिसके द्वारा सम्प्रयुक्त धर्म मिथ्या देखते हैं, अथवा मिथ्या देखनामात्र 'मिथ्यादृष्टि[2]' है। 'पस्सतीति दिट्ठि' इस विग्रह के अनुसार जो धर्म देखता है वह 'दृष्टि' है – ऐसा अर्थ होना चाहिये; किन्तु अकुशल धर्मों के अन्तर्गत सन्निविष्ट होने के कारण इसका 'मिथ्या' – यह विशेषण युक्तिसङ्गत है। अयथार्थ का ग्रहण करने के कारण यह वितथ एवं अयथाभूत दृष्टि है। सभी अनर्थों को लानेवाली होने से यह पण्डितों के द्वारा जुगुप्सित है, इसीलिये 'मिथ्यादृष्टि' कही जाती है।

लक्षण, रस एवं प्रत्युपस्थान – 'अभिनिवेसलक्खणा' मिथ्याभिनिवेश[3] (अयोनिशोमनसिकार) इसका लक्षण है। 'परामासरसा' आलम्बन का विपरीत परामर्श[4] (अवधारण) – इसका कृत्य है। 'मिच्छाभिनिवेसपच्चुपट्ठाना' यह धर्म मिथ्याभिनिवेश के रूप में योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। अनित्य को नित्य तथा जगत् को सकर्तृक (ईश्वरकर्तृक आदि) मानना-आदि मिथ्याभिनिवेश हैं। यह दृष्टि परम अवद्य है।

पदस्थान – 'अरियानं अदस्सनकामतादिपदट्ठाना' आठ आर्य पुद्गलों को न देखने की इच्छा इसका आसन्नकारण है। आर्यों के दर्शनमात्र से सम्यग् दृष्टि का उत्पाद हो जाता है, अतः दृष्टिसम्प्रयुक्त पुद्गल उनके दर्शन अर्थात् उनके सम्पर्क से भी दूर रहना चाहता है, और यह अदर्शनकामता ही इसका आसन्नकारण भी है।

ज्ञान एवं दृष्टि – ज्ञान, आलम्बन को उसके स्वभाव (अनित्यादि) के अनुसार

---

१. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०१।

२. तु० – "नास्ति दृष्टिरेव मिथ्यादृष्टिः।" – अभि० को ५ : ७, पृ० १३२।
"फलहेत्वपवादो यः, सा मिथ्यादृष्टिरुच्यते।" – अभि० दी० २७० का०, पृ० २३०।
"मिथ्यादृष्टिः – यया मिथ्यादृष्ट्या हेतुं वाऽपवदति फलं क्रियां वा सद्वा वस्तु नाशयति सा सर्वदर्शनपातित्वान्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते।" – त्रिं० भा०, पृ० २९।

३. "अयोनिसो अभिनिवेसो अनुपायाभिनिवेसो उप्पथाभिनिवेसो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४९।

४. "धम्मसभावमतिकम्म परतो आमसन्तीति परामासा।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५०, ४९५।
"धम्मानं यथारूपं अनिच्चादि-आकारं अतिक्कमित्वा 'निच्चं' ति आदिवसेन पवत्तमाना परतो आमसन्तीति परामासा।" – अट्ठ०, पृ० ४२।

का ग्रहणमात्र इसका अर्थ नहीं है; अपितु उत्कट लगनपूर्वक आलम्बन का ग्रहण है। अतएव कहा गया है कि लोभ के द्वारा आलम्बन का ग्रहण बन्दर के द्वारा मर्कटालेप (गोंद की तरह का कोई द्रव्य) के ग्रहण की भांति होता है। मर्कट (बन्दर) के अतिशय लोभी एवं चञ्चल होने के कारण जब वह मर्कटालेप[1] का ग्रहण करने के लिये उसे अपने एक हाथ से पकड़ता है तो उसका वह हाथ उसी में चिपक जाता है तब वह दूसरे हाथ से भी उसे ग्रहण करता है और उसका दूसरा हाथ भी उसी में चिपक जाता है। तदनन्तर वह दोनों पैर और सिर भी उसमें लगा देता है और उसका सम्पूर्ण शरीर पूरी तरह उसमें सट जाता है। इसी तरह लोभ भी छह आलम्बनों में से किसी को भी न छोड़ कर सब का एक साथ ग्रहण करना चाहता है। इस उपमा में मर्कटालेप (गोंद या किसी वृक्ष का निर्यास) को लोभ तथा मर्कट के अङ्गों को आलम्बन समझना चाहिये।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'अभिसङ्गरसो' आलम्बन में अभिष्वङ्ग (आसक्ति)- इसका कृत्य है। जैसे गर्म कड़ाही में प्रक्षिप्त (फेंकी हुई) मांसपेशी उसी में चिपक जाती है उसी तरह आलम्बन में आसक्त हो जाना इसका कृत्य है। 'अपरिच्चाग-पच्चुपट्ठानको' यह त्याग न करने के स्वभाववाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। जैसे – तैलाक्त अञ्जन-द्रव्य किसी वस्त्र-आदि पर लग जाने पर, उसका आसानी से त्याग नहीं करता; उसी प्रकार लोभ भी जब किसी आलम्बन में लग जाता है तो उसका वहाँ से हटना अतिदुष्कर हो जाता है।

पदस्थान – 'संयोजनीयधम्मेसु अस्सादिक्खपदट्ठानो' संयोजन-धर्मों[2] के आलम्बन-भूत धर्मों में आस्वाद-दर्शन इसका आसन्नकारण है। अशुभ को शुभ देखने से ही लोभ (तृष्णा) का उत्पाद होता है। अतः आस्वाद-दर्शन ही इसके उत्पाद में आसन्नकारण होता है।

छन्द एवं लोभ में भेद– चित्त की आलम्बन को ग्रहण करने की कामनामात्र छन्द है, यह आसक्तिस्वभाव नहीं है। आलम्बन का लालच अर्थात् आसक्तिपूर्वक आलम्बन की चाह लोभ है[3]। छन्द, आलम्बन की ग्रहीतुकामता मात्र होने से, लोभ की अपेक्षा दुर्बल होता है – ऐसा नहीं समझना चाहिये; अपितु कुछ स्थलों पर, जहाँ छन्द अधिपतिप्रत्यय होता है वहाँ, यह लोभ से भी बलवत्तर होता है।

---

१. विभा०, पृ० ८२। बन्दर पकड़नेवाले लोग एक ऐसे आलेप का प्रयोग करते हैं जिसका स्पर्श करने पर बन्दर उसी में सट (चिपक) जाते हैं, उससे छूट नहीं सकते।

२. द्र० – अभि० स०, सप्त० परि०, 'दस संयोजनानि'।

३. "चित्तस्स आलम्बितुकामतामत्तं छन्दो, लोभो तत्थ अभिगिज्झनं ति – अयमेतेसं विसेसो।" – विभा०, पृ० ८२।

होते हैं। इसी तरह सदृशपुद्गल का 'सदिसमान' तथा हीनपुद्गल का 'हीनमान' – 'याथावमान'[1] हैं तथा उनके अवशिष्ट दो दो मान 'अयाथावमान' होते हैं।

'याथावमान' का प्रहाण 'अर्हत् मार्ग' से तथा 'अयाथावमान' का प्रहाण स्रोतापत्तिमार्ग' से होता है।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'सम्पग्गहरसो, केतुकम्यतापच्चुपट्ठानको' सम्प्रयुक्त धर्मों को अवलम्बन देना (अनुग्रह करना) – इसका कृत्य है[2]। मान से युक्त पुद्गल अन्य जनों के मध्य अपने को केतु (पताका) की तरह अत्युद्गत (ऊपर उठा हुआ) अर्थात् श्रेष्ठ समझना चाहता है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है[3]। स्वयं उन्नत होने के कारण यह सम्प्रयुक्त धर्मों को भी उन्नत करने की तरह होता है।

पदस्थान—"दिट्ठिविप्पयुत्तलोभपदट्ठानो ति सञ्ञितो' दृष्टि से विप्रयुक्त लोभ इसका आसन्नकारण है। दृष्टि के द्वारा ही 'पञ्चस्कन्धों में आत्मा है'– ऐसा उपादान होता है, तथा मान के द्वारा इन पञ्चस्कन्धों में ही 'मैं हूँ' – ऐसा माना जाता है। इस प्रकार दृष्टि एवं मान में भेद होने पर भी दोनों का विषय एक ही है। 'मैं हूँ' – इस भावना के वश से प्रवृत्त होने के कारण, दृष्टि एवं मान, दोनों सदृश ही प्रवृत्त होते हैं। अतः

---

१. "सेय्योहमस्मीति मानो ति – उत्तमट्ठेन 'अहं सेय्यो' ति एवं उप्पन्नमानो। सदिसोहमस्मीति मानो ति – समसमट्ठेन 'अहं सदिसो' ति एवं उप्पन्नमानो। हीनोहमस्मीति मानो ति – लामकट्ठेन 'अहं हीनो' ति एवं उप्पन्नमानो। एवं सेय्यमानो, सदिसमानो, हीनमानो ति इमे तयो माना तिण्णं जनानं उप्पज्जन्ति। सेय्यस्सापि हि 'अहं सेय्यो, सदिसो हीनो' ति तयो माना उप्पज्जन्ति; सदिसस्सापि, हीनस्सापि। तत्थ सेय्यस्स सेय्यमानो व याथावमानो, इतरे द्वे अयाथावमाना। सदिसस्स सदिसमानो व...हीनस्स हीनमानो व याथावमानो, इतरे द्वे अयाथावमाना।" – अट्ठ०, पृ० २६६; ध० स० मू० टी०, पृ० १७१।
तु० – "सप्त मानविधास्त्रिभ्यो नवमानविधास्त्रिधा।
त्रिधाऽत्युन्नमनादिभ्यः, स्वोत्कर्षाद्यस्ति नास्तिता।"
– अभि० दी० २७५ का०, पृ० २३६।
"मानाः सप्त, नवविधास्त्रयः, दृग्भावनाक्षयः।"
– अभि० को० ५:१०, पृ० १३३।
"स च पुनश्चित्तोन्नतिस्वरूपाभेदेऽपि चित्तोन्नतिनिमित्तभेदात् सप्तधा भिद्यते – मानोऽतिमान इत्येवमादि।" – त्रिं० भा०, पृ० २६।

२. "उन्नमनवसेनेव सम्पग्गहरसो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१; ध० स० मू० टी०, पृ० १२१।

३. "केतु वुच्चति अच्चुग्गतधजो, इध पन केतु वियाति केतु उळारतमादिभावो। तं केतुसङ्खातं केतुं कामेतीति केतुकम्यं चित्तं, यस्स धम्मस्स वसेन केतुकम्यं सा केतुकम्यता।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१।

जानता है। तथा दृष्टि, उसके यथार्थ (सत्य) स्वभाव का त्याग करके अयथार्थ (विपरीत) स्वभाव का ही ग्रहण करती है – यही दोनों में विशेष है[1] ।

७. मान चैतसिक :

"अहंकारो मञ्ञतीति मानो उन्नतिलक्खणो;
सम्पग्गहरसो केतुकम्यतापच्चुपट्ठानको ।
दिट्ठिविप्पयुत्तलोभपदट्ठानो ति सञ्ञितो[2] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'अहंकारो मञ्ञतीति मानो, उन्नतिलक्खणो' जिस धर्मके द्वारा पुद्गल अपने को गुण-आदि में दूसरों से अधिक (सेय्यो अस्मि) मानता है, वह 'मान' है। श्रैष्ठ्य-आदि के वश से चित्त का उन्नमन 'उन्नति' है और 'उन्नति' इसका लक्षण है[3] ।

लोक में श्रेष्ठपुद्गल, सदृशपुद्गल एवं हीनपुद्गल – इस प्रकार त्रिविध पुद्गल होते हैं। इनमें से प्रत्येक को 'सेय्यमान' 'सदिसमान' एवं 'हीनमान' – इस तरह त्रिविध मान होते हैं।

(क) सेय्यमान – गुण, श्री, धन, प्रज्ञा एवं रूप-आदि के द्वारा अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानना 'सेय्यमान' है।

(ख) सदिसमान – उपर्युक्त गुण, श्री-आदि के द्वारा अपने को दूसरों के सदृश समझना 'सदिसमान' है।

(ग) हीनमान – उपर्युक्त गुणों से अपने हीन होने पर भी 'यद्यपि मैं दूसरों से गुण-आदि में हीन हूँ, किन्तु इससे क्या ? मैं क्यों उनकी परवाह करूँ !' – इस तरह मानना 'हीनमान' है।

इन त्रिविध मानों में से श्रेष्ठ पुद्गल का जो सेय्यमान है, वह 'याथावमान' (यथार्थ=अविपरीत मान) है, तथा उसके अवशिष्ट दो मान 'अयाथावमान' (अयथार्थ मान)

---

१. "ञाणं हि आरम्मणं यथासभावतो जानाति, दिट्ठि यथासभावं विजहित्वा अयाथावतो गण्हातीति – अयमेतेसं विसेसो ।" – विभा०, पृ० ८३ ।

२. व० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०७ ।

३. "सेय्यादिवसेन उच्चतो नमनं उन्नति ।" विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१; "सो पन जाति-कुल-धन-भोग-यस-इस्सरियादीहि चेव सील-सुत-लाभ-सक्कारादीहि च गुणेहि उपरूपरि उपत्थम्भितो अतिरेकतरं वड्ढित्वा अत्तानं जनमज्झे केतुं विय अब्भुग्गतं मञ्ञति, तस्मा सो उन्नतिलक्खणो ति च ।" – प० दी०, पृ० ८१ । तु० – "मानो हि नाम सर्व एव सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण प्रवर्तते, स पुनश्चित्तस्योन्नतिलक्षणः । तथा ह्यात्मात्मीयभावं स्कन्धेष्वध्यारोप्यायमहमिदं ममेत्यात्मानं तेन तेन विशेषेणोन्नमयति, अन्येभ्योऽधिकं मन्यते ।" – त्रिं० भा०, पृ० २८ । "ऊर्ध्ववृत्तिरुन्नतिलक्षणो मानः ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४७; अपि च – "मानोऽप्यप्रशान्तत्वादुन्नतिलक्षणः ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४२ ।

मन:प्रदोषक (मनोपदोसिका देवता) देवों की भांति जीवन-सन्तति का उच्छेद तक हो जाता है।[1] अथवा – विष चढ़ने के समान फैलने के कृत्यवाला यह धर्म है।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान—'दुस्सनपच्चुपट्ठानो, आघातवत्थुपदट्ठानो' अवसर पाये हुए वैरी के समान यह काय एवं चित्त को नष्ट (आहत) करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। आघातवस्तु (द्वेष्यवस्तु) इसका आसन्नकारण है। आघातवस्तु दस हैं – मेरा अहित (अनर्थ) किया, मेरा अहित करता है, मेरा अहित करेगा; मेरे आत्मीय प्रियजनों का अहित किया है, करता है, करेगा; तथा मेरे अप्रिय अनिष्ट जनों (शत्रुओं) का हित साधन किया है, करता है, करेगा – इस प्रकार आघात-वस्तु नौ होती हैं तथा एक अस्थानकोप – ये दस आघात वस्तु हैं[2]। अस्थानकोप 'अकारणकोप' को कहते हैं। यह अत्यधिक वर्षण, अवर्षण, वायु के अधिक वहने न वहने, सूर्य के अधिक तपने न तपने – आदि से उत्पन्न होनेवाला कोप है[3]। इस तरह ये दस आघातवस्तु इसके आसन्नकारण हैं।

इस द्वेष को विषमिश्रित सड़े मूत्र के समान समझना चाहिये[4]।

---

१. मनोपदोसिका देवताओं की कथा के लिये द्र० – दी० नि० अ०, (ब्रह्म० सु०) अन्योन्य द्वेष के कारण इन देवताओं के विमान, वर्ण-आदि का नाश होते होते अन्त में जीवन-सन्तति का भी उच्छेद हो जाता है और वे अपने लोक से च्युत हो जाते हैं।

२. "अनत्थं मे अचरीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरतीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरिस्सतीति आघातो जायति; पियस्स मे मनापस्स अनत्थं अचरि ... प०... अनत्थं चरति...प०...अनत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति; अप्पियस्स मे अमनापस्स अत्थं अचरि...पे०... अत्थं चरति...पे०...अत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति; अट्ठाने पन आघातो जायति।" – ध० स०, पृ० २४१।

विस्तार के लिये द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १६८-१६९; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१।

३. "अट्ठाने पन आघातो ति अकारणे कोपो। एकच्चो हि 'देवो अतिवस्सती' ति कुप्पति, 'न वस्सती' ति कुप्पति; 'सुरियो तप्पती' ति कुप्पति, 'न तप्पती' ति कुप्पति; वाते वायन्ते पि कुप्पति, अवायन्ते पि कुप्पति; सम्मज्जितुं असक्कोन्तो बोधिपण्णानं कुप्पति, चीवरं पारुपितुं असक्कोन्तो वातस्स कुप्पति, उपक्खलित्वा खाणुकस्स कुप्पतीति इदं सन्धाय वुत्तं – 'अट्ठाने पन आघातो जायती' ति।" – अट्ठ०, पृ० २९२।

४. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५२। तु० – "द्वेषस्तु अनिष्टाकारेण काञ्जिक-कोद्रवौदनभक्षणवत्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४४।

यह (मान) दृष्टि के साथ एक चित्तोत्पाद में प्रवृत्त नहीं होता[1]। आत्मस्नेह इसका आश्रय होता है; अतएव दृष्टिविप्रयुक्त लोभ इसका आसन्नकारण है[2]। इसे उन्माद की तरह समझना चाहिये।

[लोभ सभी लोभमूलचित्तों से, दृष्टि लोभमूलसम्प्रयुक्त ४ चित्तों से, तथा मान दृष्टिगत-विप्रयुक्त ४ चित्तों से सम्प्रयुक्त होता है। सम्प्रयुक्त चित्तों में प्रथम होने के कारण ये तीन चैतसिक द्वेष-आदि चैतसिकों से पूर्व रखे गये हैं।]

८. द्वेष चैतसिक :

"चण्डिक्कलक्खणो दोसो निस्सयदाहरसको।
दुस्सनपच्चुपट्ठानो आघातवत्थुपदट्ठानो[3] ॥"

लक्षणार्थ – 'चण्डिक्कलक्खणो दोसो' चण्डिकत्व द्वेष का लक्षण है। जैसे – कृष्ण सर्प आहत होने पर अपना चण्ड स्वभाव प्रदर्शित करता है, ठीक उसी प्रकार चित्त-चैतसिक धर्मों का जब किसी अनिष्ट (अप्रिय) आलम्बन से समागम होता है तब इसका चण्डत्व लक्षण प्रकट होता है। 'दुस्सतीति दोसो' काय एवं चित्त को जो दूषित करता है अर्थात् विकृत करता है या नष्ट करता है, वह द्वेष है – ऐसा विग्रह होता है। अथवा – जिसके द्वारा काय एवं चित्त दूषित होते हैं वह द्वेष है अथवा – दूषित होना मात्र द्वेष है[4]।

रस – 'निस्सयदाहरसको' अपने निश्रय (आश्रय=काय एवं चित्त) का दाह करना – इसका कृत्य है। जैसे – अग्नि अपने आश्रय का दहन करती है, उसी तरह जब द्वेष उत्पन्न होता है तब सम्प्रयुक्त धर्मों का दहन होने लगता है। सम्प्रयुक्त धर्मों के दग्ध होने से उन सम्प्रयुत्त धर्मों से उत्पन्न चित्तज रूपों का भी इसी द्वेष के कारण दाह होने लगता है तथा उस दहनधातु का सङ्क्रमण होने से उन चित्तज रूपों के समीपस्थ कर्मज, ऋतुज एवं आहारज रूपों का भी दहन होने लगता है और इस तरह सम्पूर्ण काय (नाम-रूप स्कन्ध) जलने लगता है। अतएव द्वेषोत्पत्तिकाल में सम्पूर्ण शरीर रक्त-वर्ण होकर काँपने लगता है। द्वेष का वेग यदि बलवान् होता है, तो मनःप्रदोष[5] से

---

१. "मानो पि अहम्मानवसेन पवत्तनतो दिट्ठिसदिसो व पवत्ततीति दिट्ठिया सह एकचितुप्पादे न पवत्तति।" – विभा०, पृ० ८७।

२. "अहं ति पवत्तनतो मानस्स दिट्ठिसदिसी पवत्तीति सो दिट्ठिया सद्धिं एक-चित्तुप्पादे न पवत्तति, अत्तसिनेहसन्निस्सयो चा ति आह – 'दिट्ठिविप्पयुत्तलोभ-पदट्ठानो' ति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१।

३. द्र० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२८; अट्ठ०, पृ० २०८।

४. द्र० – विसु०, पृ० ३२८, अट्ठ०, पृ० २०८।
तु० – "द्वेषो हि सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वाघातः।" – त्रिं० भा०, पृ० २७।
पुनश्च – "प्रतिघः सत्त्वेष्वाघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता येनाविष्टः सत्त्वानां वधबन्धनादिकमनर्थं चिन्तयति।" – त्रिं० भा०, पृ० २८।
अभि० को० ५ : २०, पृ० १३६; अभि० दी०, पृ० २२०।

५. "मनं पदूसयमानो उप्पज्जतीति मनोपदोसो।" – अट्ठ०, पृ० २९२।

५. अलोभ चैतसिक :

"न लुब्भतीति अलोभो अलग्गभावलक्खणो;
अपरिग्गहरसो अल्लीनभावुपट्ठानको[1] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'न लुब्भतीति अलोभो, अलग्गभावलक्खणो' आलम्बन की आकाङ्क्षा न करनेवाला या उनके प्रति आसक्त न होनेवाला धर्म अलोभ है। जल में कमल की भांति इष्ट आलम्बन में लगाव का न होना अर्थात् अनासक्ति इसका लक्षण है[2]। रूप, शब्द-आदि कामगुणों के प्रति आसक्तिलक्षण लोभ है, इसका प्रतिपक्ष अलोभ है[3]। किसी भी धर्म (वस्तु) की अ काङ्क्षा न करना अलोभ नहीं है; क्योंकि अकुशल कर्म की आकाङ्क्षा न करना तो अलोभ हो सकता है, किन्तु कुशल-धर्मों को न चाहना तो कभी भी अलोभ नहीं हो सकता। अतः कुशल-धर्मों की आकाङ्क्षा का न होना 'अलोभ' न होकर सम्यक्-छन्द एवं सम्यग्वीर्य की दुर्बलता से जनित 'कौसीद्य' है; अथवा चित्त-चैतसिक-धर्मों की हीनता है।

रस – 'अपरिग्गहरसो' अपरिग्रह – इसका कृत्य है। अर्हत् पुद्गल जैसे किसी भी धर्म (वस्तु) में 'यह मेरा है' – ऐसा ममत्व (परिग्रह) नहीं करता; उसी प्रकार अलोभी पुद्गल भी लोभनीय आलम्बन कामगुणों में 'यह मेरा है' – ऐसा

गरूनं दारा ति वा; सम्भेदं लोको अगमिस्स – यथा अजेळका, कुक्कुट-सूकरा, सोणसिङ्गाला। यस्मा च खो भिक्खवे ! इमे द्वे सुक्का धम्मा लोकं पालेन्ति, तस्मा पञ्ञायति – माता ति वा, मातुच्छा ति वा, मातुलानीति वा, आचरियभरिया ति वा, गरूनं दारा ति वा ति।" – अ० नि०, प्र० भा०, पृ० ४६; खु० नि०, प्र० भा०, पृ० २०६।

'"हिरि ओत्तप्पसम्पन्ना, सुक्कधम्मसमाहिता।
सन्तो सप्पुरिसा लोके, देवधम्मा ति वुच्चरे' ति ॥"

– खु० नि०, तृ० भा०, (जा०, प्र० भा०), पृ० ४।

१. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०४।

२. "अलग्गभावो अनासत्तता।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३।
"अलग्गभावलक्खणो वा कमलदले जलबिन्दु विय।" – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०४।

३. "लोभपटिपक्खो अलोभो।" – प० दी०, पृ० ८६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३। "न लुब्भन्ति एते, सयं वा न लुब्भति, अलुब्भनमत्तमेव वा तं ति अलोभो।" – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०४।
"कतमो अलोभः ? स्वपरकायसम्पत्तावरागोऽस्वार्थश्च।" – अभि० मृ०, पृ० ६८।
"अलोभो लोभप्रतिपक्षः। लोभो नाम भवे भवोपकरणेषु च यासक्तिः प्रार्थना च, तत्प्रतिपक्षोऽलोभो भवे भवोपकरणेषु चानासक्तिर्वैमुख्यं च।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
"द्वे तु कुशलमूले अलोभाद्वेषौ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३।
अभि० को० २ : २५, पृ० १२४; ६ : ७, पृ० १६२।

ममत्व नहीं करता[1]। इसीलिये कहा गया है – 'मुक्त भिक्षु की तरह इस का कृत्य है[2]।

यदि अपरिग्रह (अममत्व)-मात्र अलोभ होगा तो अपनी सम्पत्ति का, परिणाम की परवाह किये बिना, दुरुपयोग भी अलोभ हो सकता है; किन्तु ऐसा नहीं, वह अलोभ नहीं है। वह तो स्मृति एवं सम्प्रजन्य[3] से रहित मोह नामक धर्म है। दान न करना, भोग न करना – यह लोभ का कृत्य है, इसके विपरीत दान करना तथा स्मृति एवं सम्प्रजन्य से युक्त होकर कुशल परिणाम की अपेक्षा से उपभोग करना, अलोभ का कृत्य है।

प्रत्युपस्थान – 'अल्लीनभावुपट्ठानको' अनुरागयुक्त न होना इसका स्वभाव है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। जैसे – अशुचि-कुण्ड में पतित पुरुष अपने शरीर में अशुचि के लग जाने पर भी उस अशुचि के प्रति रागवान् नहीं होता अर्थात् उसे अपने मन से नहीं चाहता; उसी तरह अलोभ-युक्त पुद्गल लोभ के आलम्बनभूत कामगुणों से परिवृत रहने पर भी उन आलम्बनों के प्रति भीतर से अनुरागहीन होता है[4]।

६. अद्वेष चैतसिक :

"न दुस्सतीति अदोसो अचण्डिकत्तलक्खणो।
आघातविनयरसो, सोम्मभावुपट्ठानको[5] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'न दुस्सतीति अदोसो, अचण्डिकत्तलक्खणो' जिस धर्म के कारण पुद्गल किसी से द्वेष नहीं करता अर्थात् सबसे प्रीति करता है, वह अद्वेष है। अचण्डिकत्व[6] (अनुग्रता) – इसका लक्षण है।

अथवा – अनुकल मित्र की भाँति अविरोध – इसका लक्षण है। यह धर्म द्वेष का विरोधी है। यहाँ 'नञ्' विरुद्धार्थक है। यह शील का हेतु है[7]।

---

१. "अपरिग्गहो कस्सचि वत्थुनो ममत्तवसेन असङ्गहो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३।
२. "अपरिग्गहरसो मुत्तभिक्खु विय।" – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०४।
३. "सम्पजानाती ति सम्पजञ्ञं; समन्ततो पकारेहि जानातीति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० १०७।
४. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० १०४-१०६।
५. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०४।
६. "चण्डिको वुच्चति चण्डो, थद्धपुग्गलो; तस्स भावो चण्डिक्कं।" – अट्ठ०, पृ० २०८।
७. प० दी०, पृ० ८६; विभा०, पृ० ८४।
तु० – "कतमोऽद्वेषः ? सत्त्वपक्षासत्त्वपक्षयोरव्यापादचित्तोत्पादः ।" – अभि० मू०, पृ० ६८। अभि० को० २ : २५, पृ० १२४।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'आघातविनयरसो, सोम्मभावुपट्ठानको' आघात (द्वेष) को दूर (अपनीत) करना – इसका कृत्य है। अथवा – चन्दनरस की भाँति परिदाह का उपशमन करना – इसका कृत्य है। पूर्ण चन्द्र की भाँति सौम्य रूप में यह योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।

इस अद्वेष के आलम्बन के रूप में सत्त्वप्रज्ञप्ति होने पर जब सौम्यभाव का उत्पाद होता है तो उसे ही 'मैत्रीब्रह्मविहार' कहते हैं[1]; अतएव सर्वमैत्री ही अद्वेष है। फिर भी सर्वमैत्री को अद्वेष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जब अद्वेष सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन नहीं करता, अपितु उसके आलम्बन बुद्धपूजा, धर्मदेशना – आदि अन्य कुशल धर्म होते हैं तब उसे 'मैत्री' नहीं कहा जा सकता, बल्कि तब उसे 'अद्वेष' ही कहा जायेगा[2]। (प्रतिरूपक अद्वेष का वर्णन नवमपरिच्छेद में किया जायेगा।)

[त्रिपिटक में अद्वेष के अनन्तर अमोह का वर्णन उपलब्ध होता है[3]; फिर भी यहाँ (प्रस्तुत ग्रन्थ में) अद्वेष के अनन्तर अमोह का वर्णन नहीं किया गया है; क्योंकि अमोह का अर्थ है प्रज्ञा और यह प्रज्ञा ज्ञान-विप्रयुक्त शोभन चित्तों में सम्प्रयुक्त नहीं होती। इस प्रकार सभी शोभनचित्तों में सम्प्रयुक्त न होने के कारण सर्व-शोभनसाधारण चैतसिकों के इस प्रसङ्ग में उसका उल्लेख नहीं किया गया है। सब चैतसिकों के वर्णन के अनन्तर अन्त में 'प्रज्ञेन्द्रिय' नाम से उसका पृथक् वर्णन किया गया है[4]।]

७. तत्रमध्यस्थता चैतसिक :

"तत्रमज्झत्तता नाम समवाहितलक्खणा।
ऊनाधिकवारणरसा, मज्झत्तभावुपट्ठाना[5]॥"

वचनार्थ – "मज्झे ठितो अत्ता यस्सा ति मज्झत्तो, तस्स भावो मज्झत्तता[6]" जिस सम्प्रयुक्त धर्म-समुदाय का आत्मा (स्वभाव) मध्य में स्थित है, वह मध्यस्थ है, और उसका भाव 'मध्यस्थता' है। स्पर्शन, अनुभवन-आदि कृत्यों में जो धर्म न्यूनता

"द्वे तु कुशलमूले अलोभाद्वेषौ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३।
"अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षो मैत्री। द्वेषो हि सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वाघातः, अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षत्वात् सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वनाघातः।" – त्रिं० भा०, पृ० २७।
विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० १०४-१०६।
१. प० दी०, पृ० ८६।
२. द्र० – अभि० स० ६ : ६ की व्याख्या।
३. द्र० – ध० स०, पृ० १८, २३, ३४, ३५।
४. द्र० – अभि० स० २ : ७, पृ० १७१।
५. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०६।
६. प० दी०, पृ० ८६।

एवं आधिक्य का वर्जन करके सम्प्रयुक्त धर्मों के मध्य स्थित रहता है उसका भाव मध्यस्थता है। 'उपेक्षा' इसका भावार्थ है। 'तत्र' शब्द का सम्बन्ध यहाँ सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्मों से है। यह सम्प्रयुक्त धर्मों में उपेक्षा करनेवाला धर्म है[1]।

लक्षण एवं रस – 'तत्रमज्झत्तता नाम समवाहितलक्खणा' सम्प्रयुक्त धर्मों का समवहन करना – इसका लक्षण है। अर्थात् यह वह धर्म है जिसके योग से सम्प्रयुक्त धर्म न्यूनता एवं आधिक्य का वर्जन करते हुए सम अर्थात् मध्य में स्थित रहते हैं। इसीलिये इसे 'समवाहितलक्खणा' कहा गया है। 'ऊनाधिकवारणरसा' न्यूनता एवं आधिक्य का वारण (वर्जन) करना – इसका कृत्य है। अथवा – पक्षपात को मिटाना – इसका कृत्य है।

जैसे – आजानेय (उत्तम अश्व) युक्त रथ का सारथि कुछ न करके केवल बैठा रहता है; क्योंकि उत्तम अश्व स्वयं समान गति से चलते रहते हैं। वहाँ सारथि का कृत्य इतना ही होता है कि वह उनमें से किसी की भी गति को कम या अधिक न होने देते हुए, जैसे वे चल रहे हैं उन्हें वैसे ही चलने दे; ठीक उसी प्रकार सम-प्रवृत्त चैतसिकों को न्यूनाधिक व्यापार से वर्जित करते हुए उन्हें समप्रवृत्त ही रहने देना – तत्रमध्यस्थता का कृत्य है। इसी कृत्य को 'उपेक्षा' कहते हैं; न कि अनवधानता को[2]।

समवाहितत्व एवं उपेक्षा – ऊपर जो दृष्टान्त दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि जब दोनों आजानेय समान गति से चल रहे हों तब सारथि का कोई व्यापार नहीं होता, वह केवल उपेक्षामात्र ही करता है; फिर भी यह ध्यातव्य है कि वे आजानेय, जो समान गति से चल रहे हैं, सारथि की वजह से ही चलते हैं; यदि सारथि

---

१. तु० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४७; प० दी०, पृ० ८६।
अभिधर्मकोश-आदि ग्रन्थों में 'तत्रमज्झत्तता' चैतसिक नहीं है वहाँ इसका 'उपेक्षा' नाम से वर्णन किया गया है। यथा –
"उपेक्षा चित्तसमता चित्तानाभोगता। कथमिदानीमेतद् योक्ष्यते ? तत्रैव चित्ते आभोगात्मको मनस्कारो अनाभोगात्मिका चोपेक्षा इति।" – अभि० को० २ : २५ पर भाष्य।
"उपेक्षा चित्तसमतेति। यद्योगाच्चित्तं सममनाभोगे वर्तते, सोपेक्षा संस्कारोपेक्षा नाम। त्रिविधा हि उपेक्षा – वेदनोपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, अप्रमाणोपेक्षा चेति।" – स्फु०, पृ० १२६।
"उपेक्षा चित्तसमता चित्तानाभोगः संस्कारनिमित्ताभोगमप्युपेक्षानिमित्त-प्रवणता।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७२।
"कतमा उपेक्षा ? सर्वधर्मेष्वप्रतिष्ठा।" – अभि० मृ०, पृ० ६८।
"उपेक्षा चित्तसमता चित्तप्रशठता चित्तानाभोगता। एभिस्त्रिभिः पदैरुपेक्षाया आदिमध्यावसानावस्था द्योतिता।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
२. प० दी०, पृ० ८६।

न रहे तो कदाचित् यह सम्भव न हो। यही सारथि का समवाहितत्व है और इसीलिये तत्रमध्यस्थता का भावार्थ उपेक्षा भी होता है तथा उसका लक्षण समवाहितत्व भी है[1]।

नवम (कम्मट्ठान) परिच्छेद में आनेवाला उपेक्षा-ब्रह्मविहार भी 'तत्रमध्यस्थता' (तत्रमज्झत्तता) ही है[2]; किन्तु सभी तत्रमध्यस्थता उपेक्षा-ब्रह्मविहार नहीं हैं। सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके जब उपेक्षा होती है तभी वह उपेक्षा-ब्रह्मविहार कहलाती है। बुद्धार्चन, धर्मदेशना-आदि में जो तत्रमध्यस्थता होती है वह उपेक्षा-ब्रह्मविहार नहीं है।

८. कायप्रश्रब्धि एवं ९. चित्तप्रश्रब्धि :

"पस्सद्धियो कायचित्तदरथोपसमलक्खणा;
तस्स निद्दमनरसा सन्तसीत्युपट्ठानका।
कायचित्तपदट्ठाना उद्धच्चादिपच्चनिका[3]॥"

वचनार्थ – यहाँ 'काय' शब्द स्कन्ध अर्थ में प्रयुक्त है, तथा 'स्कन्ध' शब्द से वेदनादि स्कन्धत्रय का ग्रहण करना चाहिये[4]। 'पस्सम्भनं पस्सद्धि, कायस्स पस्सद्धि काय-पस्सद्धि' प्रश्रम्भण (उपशम) प्रश्रब्धि है, काय की प्रश्रब्धि को 'कायप्रश्रब्धि' कहते हैं। इसी तरह 'चित्तस्स पस्सद्धि चित्तपस्सद्धि' अर्थात् चित्त की प्रश्रब्धि 'चित्तप्रश्रब्धि' है[5]।

---

१. द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४७।
२. द्र० – अभि० स० ९ : ९।
३. व० भा० टी०। विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०७।
४. "कायसद्दो समूहवाची, सो च खो वेदनादिक्खन्धत्तयवसेना ति आह – 'कायो ति चेत्थ वेदनादयो तयो खन्धा' ति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३।
५. "ननु च सूत्रे कायप्रश्रब्धिरप्युक्ता ? न खलु नोक्ता, सा तु यथा कायिकी वेदना तथा वेदयितव्या। कथं सा बोध्यङ्गेषु योक्ष्यते ? तत्र तर्हि काय-कर्मण्यतैव कायिकी प्रश्रब्धिर्वेदितव्या। कथं सा बोध्यङ्गमित्युच्यते ? बोध्यङ्गानुकूल्यात्।" – अभि० को० २ : २५ पर भाष्य।
"चित्तकर्मण्यतेति – यद्योगाच्चित्तं कर्मण्यं भवति सा चित्तकर्मण्यता, चित्तलाघव-मित्यर्थः। ननु च सूत्रे कायप्रश्रब्धिरप्युक्तेति – कश्च पर्यायो यत् प्रश्रब्धि-सम्बोध्यङ्गद्वयं भवति अस्ति कायप्रश्रब्धिरस्ति चित्तप्रश्रब्धिः ? तत्र यापि कायप्रश्रब्धिः, तदपि प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्गमभिज्ञायै सम्बोधये निर्वाणाय संवर्तते; यापि चित्तप्रश्रब्धिः, तदपि प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्गमभिज्ञायै सम्बोध निर्वाणाय संवर्तत इति।" – स्फु०, पृ० १२८।
"प्रश्रब्धिः चित्तकर्मण्यता; कायप्रश्रब्धिरप्यस्ति। सा तु तदानुकूल्यात् बोध्य-ङ्गशब्दं लभते; तद्यथा प्रीतिः। प्रीतिस्थानीयाश्च धर्माः प्रीतिबोध्यङ्ग-मुक्तं भगवता। सम्यग्दृष्टिसङ्कल्पव्यायामाश्च प्रज्ञानुकूल्यात् प्रज्ञास्कन्ध इत्युक्ताः। तद्वत् कायकर्मण्यता चित्तकर्मण्यता बोध्यङ्गावाहकत्वात् तच्छब्दे-नोक्ता।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७२।

लक्षण एवं रस – 'पस्सद्धियो कायचित्तदरथोपसमलक्खणा' काय एवं चित्त के परिदाह को उपशान्त करना – इन दोनों प्रश्रब्धियों का लक्षण है। 'तस्स निद्दमनरसा' काय एवं चित्त के परिदाह का दमन करना – इनका कृत्य है।

पहले कहा गया है कि 'औद्धत्य' काय एवं चित्त को अशान्त करनेवाला धर्म है, अतः औद्धत्यप्रधान क्लेश-धर्म (अकुशल चित्तोत्पाद) अनुपशमलक्षण होने के कारण चित्त-चैतसिक-धर्मों का दहन करते हैं। ये शोभनधर्म (प्रश्रब्धियाँ) औद्धत्य-प्रधान क्लेश-धर्मों से विरहित होते हैं, अतः उपशमयुक्त होते हैं। इस प्रकार उपशम होने में चैतसिकसमूह का उपशम होना 'कायप्रश्रब्धि' तथा चित्त का उपशम होना 'चित्तप्रश्रब्धि' है[1]। चैतसिक-स्कन्ध के परिदाह का निर्दमन कायप्रश्रब्धि का तथा चित्त के परिदाह का निर्दमन चित्तप्रश्रब्धि का कृत्य है[2]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'सन्तसीत्युपट्ठानका' शान्त एवं शीतीभूत धर्म के रूप में ये योगी के ज्ञान में अवभासित होती हैं। 'कायचित्तपदट्ठाना' काय (चैतसिकसमूह) एवं चित्त, इनके आसन्नकारण हैं।

'उद्धच्चपच्चनिका' ये प्रश्रब्धियाँ औद्धत्यप्रधान क्लेश-धर्मों की प्रतिपक्ष हैं।

जब श्रद्धा-आदि चैतसिकों का पृथक् पृथक् अयुग्म रूप से वर्णन उपलब्ध होता है; तब क्यों प्रश्रब्धि, कर्मण्यता-आदि चैतसिकों का वर्णन उसी प्रकार न करके युग्म रूप में किया गया है ?

समाधान – चित्तप्रश्रब्धि-आदि से चित्त-धर्मों का ही उपशम-आदि होता है, चैतसिक-धर्मों का नहीं; तथा कायप्रश्रब्धि-आदि से चैतसिक-समूह नामक नामकाय

"प्रश्रब्धिः कतमा ? कायचित्तदौष्ठुल्यानां प्रतिप्रश्रब्धेः कायचित्तकर्मण्यता। सर्वावरणनिष्कर्षणकर्मिका।" – अभि० समु०, पृ० ६।

"कतमा प्रश्रब्धिः ? चित्तकुशलता दौष्ठुल्य (= गुरुत्व = स्त्यान-मिद्ध) परित्यागेन (चित्तस्य) लघुभूतता शीतीभूतता।" – अभि० मृ०, पृ० ६८।

"प्रश्रब्धिर्दौष्ठुल्यप्रतिपक्षः कायचित्तकर्मण्यता। दौष्ठुल्यं कायचित्तयोरकर्मण्यता, साङ्क्लेशिकधर्मबीजानि च; तदपगमे प्रश्रब्धिसद्भावात्। तत्र कायकर्मण्यता – कायस्य स्वकार्येषु लघुसमुत्थानता यतो भवति। चित्तकर्मण्यता – सम्यङ्मनसिकारसम्प्रयुक्तचित्तस्याह्लादलाघवनिमित्तं यच्चैतसिकं धर्मान्तरं यद्योगाच्चित्तमालम्बने प्रवर्त्ततेऽतस्तच्चित्तकर्मण्यतेत्युच्यते। कायस्य पुनः स्प्रष्टव्यविशेष एव प्रीत्याहृते कायप्रश्रब्धिर्वेदितव्या। प्रीतमनसः कायः प्रश्रभ्यत इति सूत्रे वचनात्। इयं तद्वशेनाश्रयपरावृत्तितोऽशेषक्लेशावरणनिष्कर्षणकर्मिका।" – त्रिं० भा०, पृ० २७।

1. विभा०, पृ० ८४; प० दी०, पृ० ८७।
2. तु० – "ह्लादः प्रश्रब्धिः। रागजादिपरिदाहप्रतप्तचित्तशरीरस्य ग्रीष्मार्कप्रतप्तस्येव शीतोदकह्रदावगाहनादनास्रवज्ञानसम्मुखीभावाद् यत् कायचित्तप्रह्लादः स धर्मः प्रश्रब्धिः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३६१।

एवं रूपकाय, दोनों का उपशम-आदि होता है; अतएव प्रश्रब्धि-आदि चैतसिकों का युग्म रूप में वर्णन उपलब्ध होता है ।

"एत्थ न चित्तपस्सद्धि-आदीहि चित्तमेव पस्सद्धं, लहु, मुदु, कम्मञ्ञं, पगुणं, उजु च होति; कायपस्सद्धि-आदीहि पन रूपकायो पि। तेनेवेत्थ भगवता धम्मानं दुविधता वुत्ता[1] ।"

['फस्स' (स्पर्श), वेदना-आदि की तरह उपशम स्वभाववाली प्रश्रब्धि को भी एक ही होना चाहिये, दो नहीं; क्योंकि चित्त का उपशम एक प्रकार का और चैतसिकों का उपशम दूसरे प्रकार का होता है – ऐसा नहीं। हाँ, 'फस्स', 'वेदना' आदि की अपेक्षा इसके उपशम स्वभाव का कुछ वैशिष्ट्य है। वह यह कि यह उपशम चित्त-चैतसिकों तक ही सीमित नहीं रहता; अपितु उपशमित चैतसिकों से उत्पन्न चित्तज रूपों का भी इसके द्वारा उपशम होता है और चित्तज रूपों से सङ्क्रमित होकर यह उपशमधातु सम्पूर्ण शरीर को शान्त एवं शीतल करती है । चित्त एवं शरीर (काय) – दोनों को शान्त करने से यह, चित्तप्रश्रब्धि एवं कायप्रश्रब्धि के नाम से, दो प्रकार की कही गयी है; वस्तुतः स्वभाव से एक ही है। इसीलिये सप्तम परिच्छेद के 'बोधिपक्षीयसङ्ग्रह' में 'सङ्कप्पपस्सद्धि च पीतुपेक्खा[2]' कहकर आचार्य ने प्रश्रब्धि का द्विविध भेद न करके केवल एक प्रकार के प्रश्रब्धि-चैतसिक का ही उल्लेख किया है। 'लघुता', 'मृदुता' आदि को भी इसी प्रकार जानना चाहिये[3] ।]

१०. कायलघुता एवं ११. चित्तलघुता :

"लहुतायो कायचित्तगरुतासमलक्खणा;
तस्सा निद्दमनरसा अदन्धता-उपट्ठाना ।
कायचित्तपदट्ठाना थिनमिद्धपच्चनिका[4] ॥"

वचनार्थ – 'लहुनो भावो लहुता, कायस्स लहुता कायलहुता' लघु का भाव लघुता है, काय (वेदनादि स्कन्धत्रय) की लघुता 'कायलघुता' है । इसी तरह 'चित्तस्स लहुता चित्तलहुता' चित्त की लघुता को 'चित्तलघुता' कहते हैं ।

लक्षण एवं रस – 'लहुतायो कायचित्तगरुतासमलक्खणा' काय (चैतसिकसमूह) एवं चित्त की गुरुता (भारीपन) का उपशम करना – दोनों लघुताओं का लक्षण है । 'तस्सा निद्दमनरसा' उस गुरुता का दमन करना – इनका कृत्य है। अकुशल-धर्म स्त्यान एवं मिद्ध के द्वारा अभिभूत होने के कारण गुरु होते हैं । गुरु होने का तात्पर्य यह है कि – वीथिचित्त-सन्तति के अन्तराल में भवङ्गपात अनेक बार होता है, तथा वीथिचित्त शीघ्रता से न होकर मन्द गति से या कम होते हैं। शोभन-धर्म स्त्यान एवं मिद्ध नामक अकुशल धर्मों से विरहित होने के कारण लघु होते हैं । कायलघुता

---

१. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४६ ।
२. द्र० – अभि० स० ७ : ३७ ।
३. व० भा० टी० ।
४. व० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०७ ।

वचनार्थ – 'तंसमङ्गिनो मोदन्ति ताया ति मुदिता' मुदितायुक्त पुद्गल, उस मुदिता के कारण हर्षित होता है, इस हर्षित होने का कारणभूत धर्म 'मुदिता' है। अथवा – जो धर्म स्वयं मुदित होता है वह 'मुदिता' है। अथवा मोदनमात्र 'मुदिता' है[1]।

लक्षण एवं रस – 'पमोदनलक्खणा एसा' सुखी सत्त्वों को देखकर प्रमुदित होना – इसका लक्षण है। 'अनिस्सायनरसका' ईर्ष्या न करना – इसका कृत्य है।

धन, सम्पत्ति एवं गुण-सम्पत्ति से सम्पन्न सुखित सत्त्वों को देखकर सज्जन पुरुष प्रमोदयुक्त होते हैं। वे ईर्ष्यालुओं की तरह उनकी सम्पत्ति से ईर्ष्या नहीं करते – यही मुदिता का कृत्य है।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अरतिविघातुपट्ठाना' दूसरे की सम्पत्ति में अरति करनेवाला यह धर्म नहीं है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है।

'लक्खीभावपदट्ठाना' परसम्पत्ति का दर्शन इसका आसन्नकारण है।

अन्य सत्त्वों को गुण, श्री-आदि से सम्पन्न देखकर उनके प्रति ईर्ष्या के भाव को उत्पन्न न होने देनेवाला यह धर्म है।

अपने परिजनों को सम्पन्न देखकर उत्पन्न होनेवाला प्रमोद 'मुदिता' न होकर 'प्रतिरूपिका मुदिता' है। यह प्रीति के बल से उत्पन्न सौमनस्यसहगत लोभमूलचित्त है।

परिजनों की सम्पत्ति को देखकर उत्पन्न होनेवाले प्रमोद का आलम्बन उनकी सम्पत्ति होती है तथा उनकी विपत्ति को देखकर उत्पन्न होनेवाले दयाभाव का आलम्बन उनकी विपत्ति होती है। करुणा एवं मुदिता का आलम्बन कभी भी किसी की सम्पत्ति

---

१. "मोदन्ति ताय तंसमङ्गिनो, सयं वा मोदति, मोदनमत्तमेव वा तं ति मुदिता।" – अट्ठ०, पृ० १५७।

"मोदन्ति एताया ति मुदिता, सा परसम्पत्ति-अनुमोदनलक्खणा।" – विभा०, पृ० ८५।

"परसम्पत्तिं दिस्वा मोदन्ति एताया ति मुदिता।" – प० दी०, पृ० ९०।

"मुदिता सुमनस्कता।" – अभि० को० ८ : २९, पृ० २३१।

"मुदिता प्रीतिरेकेषाम्।" – अभि० दी० ५८८ का०, पृ० ४२७।

"सौमनस्यस्वभावा मुदिता इति पौराणाः।...अरतिप्रहाणाय मुदिता (संवर्तते)।...'मोदन्तां वत सत्त्वा' इति मुदिताम् (समापद्यते)।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ४२७-२८।

"समाहितो भावयति ('अहो) मुदितास्निग्धातुसत्त्वा' इति प्राप्तसुखसौमनस्यो दुःखदौर्मनस्यापनयनप्रतिबलो भवतीति मुदिता नामाप्रमाणं वेदनासंज्ञासंस्कार-विज्ञानसम्प्रयुक्तं सम्यग्वाचः सम्यक्कर्मान्तस्योत्थापकमपि न सर्वसंस्कार-सम्प्रयुक्तमिति मुदिताप्रमाणम्।" – अभि० मू०, पृ० १००।

"मुदिता कतमा ? ध्यानं निश्रित्य 'सत्त्वाः सुखेन न वियुज्येरन्' इति विहार-समृद्धो समाधिः प्रज्ञा (तत्सम्प्रयुक्ताश्च चित्तचैतसिकाः धर्माः)।" – अभि० समु०, पृ० ९४-९५।

या विपत्ति नहीं होती; अपितु पञ्चस्कन्धात्मक सत्त्व-प्रज्ञप्ति ही उनका सदा आलम्बन होती है। अतः परिजनों की सम्पत्ति को देखकर उत्पन्न हर्ष या उनकी विपत्ति को देखकर उत्पन्न दयाभाव कभी भी 'मुदिता' या 'करुणा' नहीं हो सकते।

अप्रामाण्याद्वय – नवम परिच्छेद में मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा नामक चार अप्रामाण्याओं (अप्पमञ्ञाओं) का वर्णन है, किन्तु यहाँ केवल करुणा एवं मुदिता का ही उल्लेख किया गया है; क्योंकि चैतसिकों के वर्णन के प्रसङ्ग में 'मैत्री' का वर्णन 'अद्वेष'-चैतसिक के नाम से कर दिया गया है; इसी प्रकार 'उपेक्षा' का वर्णन 'तत्रमध्य-स्थता' चैतसिक के नाम से कर दिया गया है। अतएव यहाँ पर केवल अवशिष्ट दो अप्रामाण्याओं का ही वर्णन किया गया है।

"अदोसेनेव मेत्तापि तत्रमज्झत्तताय च।
उपेक्खा गहिता यस्मा तस्मा न गहिता उभो[1]॥"

३. प्रज्ञेन्द्रिय :

"पटिवेधलक्खणा पञ्ञा विसयोभासनरसा।
असम्मोह-उपट्ठाना मनसिकारपदट्ठाना[2]॥"

वचनार्थ – 'पकारेन जानाती ति पञ्ञा, पञ्ञा व इन्द्रियं पञ्ञिन्द्रियं' उस उस अनित्य-आदि प्रकारों से धर्मों को जाननेवाला धर्म 'प्रज्ञा' है। अविद्या के अभिभव में आधिपत्य होने के कारण यह 'इन्द्रिय' भी है, अतः इसे ही 'प्रज्ञेन्द्रिय' भी कहते हैं। 'अनित्य-आदि' – इस वाक्य में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से अनित्य, अनात्म, दुःख; दुःखसमुदय, निरोध, मार्ग; कुशल-अकुशल तथा कर्म, कर्म-फल आदि प्रकारों को जानना अभिप्रेत है। इसे (इस प्रकार जानने को) ही 'अमोह' 'ज्ञान' एवं 'प्रज्ञा' आदि नामों से भी यथायोग्य कहा जाता है[3]।

---

१. ब० भा० टी०। तु० –
"अब्यापादेन मेत्ता हि, तत्रमज्झत्तताय च।
उपेक्खा गहिता यस्मा, तस्मा न गहिता उभो ति॥" – विभा०, पृ० ८६।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०१।

३. "तेन तेन वा अनिच्चादिना पकारेन धम्मे जानातीति पञ्ञा...चतुसच्च-धम्मे विचिनातीति धम्मविचयो।" – अट्ठ०, पृ० १२०; अपि च – "सा च अविज्जाय अभिभवनतो अधिपतियट्ठेन इन्द्रियं...पञ्ञा व इन्द्रियं पञ्ञिन्द्रियं।" – अट्ठ०, पृ० १००। "पजानाति पजानातीति खो आवुसो! तस्मा 'पञ्ञा' ति वुच्चति।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३६०। "यथा महाराज! पुरिसो अन्धकारे गेहे पदीपं पवेसेय्य, पविट्ठो पदीपो अन्धकारं विधमति – ओभासं जनेति, आलोकं विदंसेति, रूपानि पाकटीकरोति; एवमेव खो महाराज! पञ्ञा उप्पज्जमाना अविज्जन्धकारं विधमति, विज्जो-भासं जनेति, ञाणालोकं विदंसेति, अरियसच्चानि पाकटीकरोति...एवं खो महाराज! ओभासनलक्खणा पञ्ञा ति।" – मिलि०, पृ० ४१। "पकारेन

लक्षणादिचतुष्क – 'पटिवेधलक्खणा पञ्ञा' प्रतिवेध अर्थात् धर्मों का यथाभूत अवबोध 'प्रज्ञा' का लक्षण है[1]।

'विसयोभासनरसा' विषयों का अवभास – इसका कृत्य है।

अविद्या विषयों का अवभास न होने देने के लिये अन्धकार की तरह होती है। प्रज्ञा उस अन्धकार का अभिभव कर के आलम्बन के स्वभाव का यथार्थ अवभास कराने के लिये प्रकाश की तरह होती है।

'असम्मोह-उपट्ठाना' यह आलम्बन में असम्मोह के रूप में योगी के ज्ञान में अवभासित होती है।

'मनसिकारपदट्ठाना' योनिशोमनसिकार इसका आसन्नकारण है।

प्रज्ञा एक कुशल-धर्म है, अतः अनवद्य कर्मों से ही इसका सम्बन्ध होना चाहिये। वञ्चक पुरुषों का परवञ्चना में जो चातुर्य होता है, वह अकुशल होने के कारण 'प्रज्ञा' नहीं है; अपितु 'प्रतिरूपिका प्रज्ञा' है।

कुण्डलकेशी नामक एक श्रेष्ठि-कन्या के आभूषणों का अपहरण करने के लोभ से एक चोर उसके प्रति मिथ्याप्रेम प्रदर्शित कर उसे अपने प्रेमजाल में फँसा लेता

जानाति अनिच्चादिवसेन अवबुज्झतीति पञ्ञा, सा एव यथासभावावबोधने आधिपच्चयोगतो इन्द्रियं ति पञ्ञिन्द्रियं।" – विभा०, पृ० ८६।
तु० – "धीः प्रज्ञा धर्मसङ्ग्रहाद्युपलक्षणस्वभावा।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७०। अभि० को २ : २४, पृ० १२१।

"धर्मप्रविचय इति – प्रविचिनोतीति प्रविचयः, प्रविचीयन्ते वा अनेन इति प्रविचयः; येन सङ्कीर्णा इव धर्माः पुष्पाणीव प्रविचीयन्ते उच्चीयन्त इत्यर्थः। 'इमे सास्रवा इमेऽनास्रवाः', 'इमे रूपिण इमेऽरूपिण' इति धर्माणां प्रविचयो धर्मप्रविचयः। प्रतीतत्वात् प्रज्ञेति वक्तव्ये श्लोकबन्धानुगुण्येन मतिरिति कारिकायामुक्तम्।" – स्फु०, पृ० १२७।

"धर्मविवेकः प्रज्ञा।" – अभि० मृ०, पृ० ६६।

"प्रज्ञा कतमा? उपपरीक्ष्य एव वस्तुनि धर्माणां प्रविचयः, संशयव्यावर्त्तनकर्मिका।" – अभि० समु०, पृ० ६।

"धीः प्रज्ञा, साऽप्युपपरीक्ष्य एव वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा वेति। प्रविचिनोतीति प्रविचयः, यः सम्यङ्मिथ्या वा सङ्कीर्णस्वसामान्यलक्षणेष्विव धर्मेषु विवेकाववोधः...।" – त्रिं० भा०, पृ० २६।

"प्रज्ञा यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुतत्त्वप्रविचयलक्षणा।" – बोधि० प०, पृ० १६८।

१. "पटिवेधो ति तन्तिया तन्ति-अत्थस्स च यथाभूतावबोधो। ...पटिवेधो ति अभिसमयो, सो च लोकियलोकुत्तरो। विसयतो असम्मोहतो च अत्थानुरूपं धम्मेसु, धम्मानुरूपं अत्थेसु, पञ्ञत्तिपथानुरूपं पञ्ञत्तीसु अवबोधो। तेसं तेसं वा तत्थ तत्थ वुत्तधम्मानं पटिविज्झितब्बो सलक्खणसङ्खातो अविपरीतसभावो।" – अट्ठ०, पृ० १६।

है तथा एकान्त-मिलन के बहाने उसे पर्वत-शिखर पर ले जाता है। शिखर तट पर उस कन्या को खड़ा करके अपने सब आभूषणों को देने के लिये कहता है। अन्यथा पर्वत-शिखर से नीचे ढकेलकर प्राणापहरण की धमकी देता है। ऐसी विपन्नावस्था में उस श्रेष्ठि-कन्या को एक बुद्धि सूझती है। वह कहती है कि – तुम मेरे प्रियतम हो, अतः अन्तिम अवस्था में तुम्हारे चरण-स्पर्श करना चाहती हूँ। चोर ने उसे वैसा करने की अनुमति दे दी। चरण-स्पर्श के बहाने श्रेष्ठि-कन्या ने उस चोर को पर्वत से नीचे ढकेल दिया। इस दृश्य को देखकर वहाँ उपस्थित वनदेवता ने एक गाथा कही –

"न हि सब्बेसु ठानेसु पुरिसो होति पण्डितो।
इत्थी पि पण्डिता होति तत्थ तत्थ विचक्खणा[1]॥"

अर्थात् सर्वत्र पुरुष ही पण्डित नहीं होता, अपितु विशेष विशेष स्थल पर स्त्री भी पण्डित होती हैं। इस आख्यायिका से यह सिद्ध हुआ कि स्त्री प्रज्ञावती होती है; *किन्तु यहाँ जिस प्रज्ञा का वर्णन किया गया है वह शुद्ध प्रज्ञा न होकर* 'प्रतिरूपिका प्रज्ञा' है; क्योंकि प्रज्ञा होगी तो चित्तसन्तति भी कुशल होगी, किन्तु कुण्डलकेशी की चित्तसन्तति कुशल नहीं हो सकती; क्योंकि उसने प्राणातिपात किया है। यद्यपि चोर प्राणापहरण करने का भय दिखलाता है; किन्तु जिस समय कुण्डलकेशी उससे उसके चरण-स्पर्श की अनुमति माँगती है, उस समय उसका वितर्क वञ्चना से युक्त होता है; अतः उसकी प्रज्ञा वञ्चनायुक्त होती है। अतः यह प्रज्ञा न होकर तृष्णा-लोभप्रधान अकुशल-चित्तोत्पाद है। जब वञ्चना करके कुण्डलकेशी चरण-स्पर्श की अनुमति प्राप्त कर लेती है तो पति (चोर) को अपने वश में आया जानकर प्रसन्न होती है। उस समय उसका यह 'प्रसन्न होना' सौमनस्यसहगत लोभमूलचित्त है। जब पर्वत-शिखर से वह अपने पति को नीचे ढकेलती है तब उसे द्वेषमूल चित्तोत्पाद होता है। इसी तरह जो मिथ्या-दृष्टियुक्त पुद्गल साधारण जनों को प्रलोभन देकर अपने मत की ओर आकृष्ट करते हैं – यह भी वञ्चनासहगत प्रज्ञा है। 'अट्ठसालिनी' में भी लिखा है:

"किं दिट्ठिगतिकानं वञ्चना पञ्ञा नत्थी ति? अत्थि, न पनेसा पञ्ञा; माया नामेसा होति, अत्थतो तण्हा व[2]।"

अर्थात् क्या मिथ्यादृष्टिवालों की वञ्चना 'प्रज्ञा' नहीं होती? होती है; किन्तु यह 'प्रज्ञा' नहीं होती, इसका नाम 'माया' है। वस्तुतः यह तृष्णा ही है। इसी तरह वैज्ञानिकों के संहारकशस्त्रसम्बन्धी आविष्कार भी कुशल चित्तोत्पाद नहीं है; क्योंकि ऐसे शस्त्रों के निर्माण के समय उनकी चित्तसन्तति अकुशल होती है, अतः तत्सम्बन्धी ज्ञान 'प्रज्ञा' नहीं कहा जा सकता; अपितु यह अकुशल वितर्क है। परन्तु जब मानवजाति के प्रति करुणा एवं मैत्री से प्रभावित होकर, उसकी सुरक्षा की दृष्टि से, वैज्ञानिक किसी आयुधविशेष का आविष्कार करता है तो उस क्षण में उसकी चित्तसन्तति कुशल होती है; अतः कुशल होने से उसका यह ज्ञान 'प्रज्ञा' कहा जा सकता है।

शोभनराशि समाप्त।

१. खु० नि०, पष्ठ भा०, (थेरी-अप०), पृ० २३७; खु० नि०, तृ० भा० (जा०, प्र० भा०), पृ० १७०।
२. अट्ठ०, पृ० २०२।

सङ्गहगाथा

८. एत्तावता च* –

तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसाकुसला तथा।
सोभना पञ्चवीसा ति द्विपञ्ञास पवुच्चरे ॥

उपर्युक्त क्रम के अनुसार अन्यसमान चैतसिक १३, अकुशल चैतसिक १४ तथा शोभन चैतसिक २५ – इस प्रकार कुल ५२ चैतसिक कहे जाते हैं।

सम्पयोगनयो

९. तेसं चित्तावियुत्तानं यथायोगमितो परं।
चित्तुप्पादेसु पच्चेकं सम्पयोगो† पवुच्चति ॥

१०. सत्त सब्बत्थ युज्जन्ति यथायोगं पकिण्णका।
चुद्दसाकुसलेस्वेव सोभनेस्वेव सोभना ॥

इसके अनन्तर चित्तों से अवियुक्त उन चैतसिकों का चित्तोत्पादों (चित्तों) में पृथक् पृथक् यथायोग सम्प्रयोगनय कहा जाता है।

सर्वचित्तसाधारण (७) चैतसिक सर्वत्र (सभी चित्तों में) सम्प्रयुक्त होते हैं। प्रकीर्णक (६) चैतसिक सभी चित्तों में यथायोग सम्प्रयुक्त होते हैं। अकुशल १४ चैतसिक अकुशल चित्तों में ही तथा (२५) शोभन चैतसिक शोभनचित्तों में ही यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते हैं।

सङ्ग्रहगाथा

८. पूर्वोक्त व्याख्या द्वारा ५२ चैतसिकों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। अब उन चैतसिकों के विस्तार को सङ्क्षेप से कहने के लिये 'एत्तावता च' के द्वारा इस गाथा को प्रस्तुत किया गया है। यह गाथा पूर्ववर्णित चैतसिकों के सङ्ग्रह को, साथ ही उनके निगमन को भी दिखलानेवाली गाथा है।

'तेरसञ्ञसमाना' के द्वारा अन्यसमान चैतसिकों का; 'चुद्दसाकुसला' के द्वारा अकुशल चैतसिकों का; 'सोभना पञ्चवीस' के द्वारा शोभन चैतसिकों का सङ्ग्रह दिखलाया गया है। तथा 'एत्तावता इति द्विपञ्ञास पवुच्चरे' के द्वारा ५२ चैतसिकों का निगमन दिखलाया गया है।

बावन चैतसिकों का वर्णन समाप्त।

सम्प्रयोगनय

९. 'तेसं चित्तावियुत्तानं...' – इस गाथा द्वारा चैतसिकों के सम्प्रयोगनय को दिखलाने का उपक्रम किया गया है। 'चित्तोत्पाद' शब्द से कुछ स्थानों में 'चित्त'

---

* स्या० में नहीं।

† सम्पयोगो – रो०।

अञ्ञसमानचेतसिक-सम्पयोगनयो

सब्बचित्तसाधारण-सम्पयोगनयो

११. कथं ? सब्बचित्तसाधारणा ताव सत्तिमे* चेतसिका सब्बेसु पि एकूननवुतिचित्तुप्पादेसु लब्भन्ति ।

कैसे ? सर्वचित्तसाधारण ये ७ चैतसिक सभी ८९ चित्तों में उपलब्ध (सम्प्रयुक्त) होते हैं ।

पकिण्णक-सम्पयोगनयो

१२. पकिण्णकेसु पन वितक्को ताव द्विपञ्चविञ्ञाणवज्जितकामावचरचित्तेसु चेव एकादससु पठमज्झानचित्तेसु चेति पञ्चपञ्ञासचित्तेसु उप्पज्जति ।

प्रकीर्णक चैतसिकों (६) में से (प्रथम चैतसिक) 'वितर्क' – (१०) द्विपञ्चविज्ञान से वर्जित कामावचर (४४) चित्तों में एवं ११ प्रथमध्यान चित्तों में – इस प्रकार कुल ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

एवं 'चैतसिक' – दोनों का ग्रहण होता है तथा कुछ स्थलों पर केवल चित्त का ही ग्रहण होता है । यहाँ केवल 'चित्त' का ही ग्रहण करना चाहिये[1] । अमुक चैतसिक इतने चित्तों से सम्प्रयुक्त होता है, इतने से नहीं – इस प्रकार प्रत्येक चैतसिक का चित्तों के साथ सम्प्रयोग दिखलानेवाला यह सम्प्रयोगनय है ।

१०. यह (गाथा) सम्प्रयोगनय के सङ्क्षेप को दिखलानेवाली उद्देश-गाथा है । आगे चलकर इसी उद्देश के अनुसार विस्तारपूर्वक निर्देश दिखलाया जायेगा ।

अन्यसमानचैतसिक-सम्प्रयोगनय

सर्वचित्तसाधारण-सम्प्रयोगनय

११. ये ७ सर्वचित्तसाधारण चैतसिक सभी ८९ या १२१ चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं । ऐसा कोई चित्त नहीं है, जिसमें ये चैतसिक सम्प्रयुक्त न होते हों ।

प्रकीर्णक-सम्प्रयोगनय

१२. द्विपञ्चविज्ञान (१०) चित्तों में वितर्क स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि अपने उत्पाद के लिये इन्हें वितर्क के आरोपण-कृत्य की अपेक्षा ही नहीं होती ।

---

* सत्त – ना० ।

१. "चित्तुप्पादेसू ति – चित्तेसु इच्चेव अत्थो; उप्पज्जन्ति चेतसिका एतेसू ति उप्पादा, चित्तानि एव उप्पादा ति कत्वा ।" – प० दी०, पृ० ९० ।
तु० – विभा०, पृ० ८६ ।

१३. विचारो पन तेसु चेव एकादससु दुतियज्झानचित्तेसु चा ति छसट्ठिचित्तेसु* ।

१४. अधिमोक्खो द्विपञ्चविञ्ञाण-विचिकिच्छासहगतवज्जितचित्तेसु† ।

विचार – उन्हीं वितर्कसम्प्रयुक्त (५५) चित्तों में तथा ११ द्वितीयध्यान चित्तों में – इस प्रकार कुल ६६ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

अधिमोक्ष – द्विपञ्चविज्ञान (१०) एवं विचिकित्सासहगत (१) से वर्जित (७८) चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

आलम्बन को चित्त में आरोपित करना वितर्क का कृत्य है। द्विपञ्चविज्ञान चित्तों की आधारभूत चक्षुर्वस्तु-आदि पाँच वस्तुओं में, आलम्बन का सङ्घट्टन स्वतः (वितर्क के आरोपण की सहायता के विना ही) अत्यन्त स्पष्ट (विभूततर) होता है। अतः द्विपञ्च-विज्ञानचित्त वितर्कनिरपेक्ष होने के कारण वितर्कवर्जित होते हैं।

द्विपञ्चविज्ञानचित्तों की ही भांति द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम ध्यानों में भी वितर्क, सम्प्रयुक्त नहीं होता; क्योंकि इन ध्यानों के द्वारा भावना के बल से वितर्क का प्रहाण कर दिया जाता है; अतः वितर्क केवल (११) प्रथमध्यान चित्तों में ही सम्प्रयुक्त होता है[१] ।

१३. विचार एवं वितर्क प्रायः सहप्रवृत्त ही होते हैं। अर्थात् जहाँ वितर्क होता है वहाँ विचार अवश्य होता है; किन्तु जहाँ विचार होता है वहाँ सर्वत्र वितर्क सम्प्रयुक्त नहीं होता । जैसे – द्वितीयध्यान में विचार तो होता है; किन्तु वितर्क नहीं होता । तृतीयध्यान में भावना के बल से विचार का भी प्रहाण कर दिया जाता है; अतः विचार केवल द्वितीयध्यानपर्यन्त ही सम्प्रयुक्त होता है।

१४. अधिमोक्ष का स्वभाव आलम्बन का निश्चय करना है। द्विपञ्चविज्ञान का कृत्य आलम्बन का निश्चय करना नहीं; अपितु उसका ग्रहण करना मात्र है। अतः अधिमोक्ष द्विपञ्चविज्ञान में सम्प्रयुक्त नहीं होता।

विचिकित्सा सन्देहस्वभाव तथा अधिमोक्ष निश्चयस्वभाव धर्म हैं। इस प्रकार दोनों के स्वभाव में वैपरीत्य होने के कारण अधिमोक्ष, विचिकित्सासहगत चित्त में सम्प्र-युक्त नहीं हो सकता। अतः यह, कुल ८९ चित्तों में से द्विपञ्चविज्ञान (१०) एवं विचिकित्सासहगत (१) – इस प्रकार ग्यारह (११) चित्तों को छोड़ कर शेष अठहत्तर

---

* ०जायति – ना० ।

† ०विचिकिच्छावज्जितचित्तेसु – सी०, स्या०, ना० ।

१. "द्विपञ्चविञ्ञाणानं सब्बदुब्बलत्ता तेसु छ पकिण्णका नुप्पज्जन्ति, भावनाबलेन पहीनत्ता वितक्को दुतियज्झानिकादीसु, विचारो ततियज्झानिकादीसु, पीति चतुत्थज्झानिकादीसु नुप्पज्जति ।" – प० दी०, पृ० ९० । तु० – विभा०, पृ० ८६ ।

१५. वीरियं* पञ्चद्वारावज्जन-द्विपञ्चविञ्ञाण-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वज्जितचित्तेसु ।

१६. पीति दोमनस्सुपेक्खासहगत-कायविञ्ञाण-चतुत्थज्झानवज्जितचित्तेसु ।

१७. छन्दो अहेतुक-मोमूहवज्जितचित्तेसु† ति† ।

वीर्य – पञ्चद्वारावर्जन (१), द्विपञ्चविज्ञान (१०), सम्पटिच्छन (२) एवं सन्तीरण (३) से वर्जित (७३) चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

प्रीति – दौर्मनस्य (२), उपेक्षासहगत (५५), कायविज्ञान (२) तथा चतुर्थध्यान चित्त (११) से वर्जित (५१) चित्तों में सम्प्रयुक्त होती है ।

छन्द–अहेतुक चित्त (१८) एवं मोमूहचित्त (२) – इस प्रकार (२०) चित्तवर्जित (६९) चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

---

(७८) चित्तों में ही सम्प्रयुक्त होता है[1] ।

१५. पञ्चद्वारावर्जन, द्विपञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन एवं सन्तीरण–आदि चित्त आलम्बन के ग्रहण में अत्यन्त दुर्बल होते हैं, इसके विपरीत वीर्य आलम्बन का अत्यन्त उत्साह से ग्रहण करता है; अतः विपरीतधर्मा होने के कारण वीर्य उपर्युक्त चित्तों में सम्प्रयुक्त नहीं होता[2] ।

१६. प्रीति का स्वभाव हर्षोत्पाद है। दौर्मनस्य वैमनस्यस्वभाव धर्म है, उपेक्षा मध्यस्थस्वभाव (न प्रीति, न द्वेष) धर्म है; अतः प्रीति का दौर्मनस्य से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी तरह प्रीति, उपेक्षा से भी सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती। प्रीति, प्रसन्नता स्वभाववाले सुख चैतसिक से ही सम्प्रयुक्त होती है; अतः यह कायिक सुख से भी सम्प्रयुक्त नहीं होती। चतुर्थध्यान में भावना के बल से प्रीति का प्रहाण कर दिया जाने से यह चतुर्थध्यान चित्त (११) में भी सम्प्रयुक्त नहीं होती। इस प्रकार प्रीति दौर्मनस्यवेदना, उपेक्षावेदना, सुखसहगत कायविज्ञान (दुःखसहगत कायविज्ञान दौर्मनस्यवेदना के अन्तर्गत परिगणित है) एवं चतुर्थध्यान से सम्प्रयुक्त नहीं होती[3] ।

१७. छन्द इच्छास्वभाव है। अतः यह इच्छारहित अहेतुक चित्तों में तथा

---

* विरियं पन – स्या० ।

†-† ०चित्तेसु – स्या०; चित्तेसु लब्भति – ना० ।

१. "सन्निट्ठानसभावत्ता अधिमोक्खो असन्निट्ठानसभावे विचिकिच्छाचित्ते नुप्पज्जति।" –प० दी०, पृ० ९० ।

२. "वीरियं बलनायकत्ता दुब्बलेसु पञ्चद्वारावज्जनादीसु सोळस चित्तेसु नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९१ ।

३. "पीति सम्पियायनसभावत्ता दोमनस्सुपेक्खासहगतेसु नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९१ ।

अकुसलचेतसिक-सम्पयोगनयो

१९. अकुसलेसु पन मोहो, अहिरीकं, अनोत्तप्पं, उद्धच्चञ्चा*ति* चत्तारोमे चेतसिका सब्बाकुसलसाधारणा नाम, सब्बेसु पि द्वादसाकुसलेसु लब्भन्ति।

अकुशल चित्तों में मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य एवं औद्धत्य —इस प्रकार प्रकार ये चार चैतसिक सर्व-अकुशलचित्तसाधारण हैं। ये सभी १२ अकुशल चित्तों में उपलब्ध होते हैं।

दिखलाने में द्वितीय प्रकार (१२१ गणनावाला) का आश्रयण किया गया है; यथा—वितर्क, विचार एवं प्रीति के प्रसङ्ग में। इसका कारण यह है कि ८९ चित्त, ध्यानों के विस्तार के आधार पर ही, १२१ होते हैं।

जो चैतसिक ध्यानाङ्ग नहीं हैं, उनके सम्प्रयोग एवं विप्रयोग नय को दिखलाने में प्रथम प्रकार को आधार बनाया गया है; यथा—अधिमोक्ष, वीर्य एवं छन्द के प्रसङ्ग में।

अन्यसमानचैतसिक-सम्प्रयोगनय समाप्त।

अकुशलचैतसिक-सम्प्रयोगनय

१९. कोई भी अकुशल कर्म इन चार चैतसिकों के विना नहीं हो सकता; अतः ये चारों सभी अकुशल चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं; यथा—यदि कोई प्राणातिपात करता है तो वह मोह के कारण उसमें आदीनव (दोष) न देखने से, आह्रीक्य के कारण अकुशल कर्म में लज्जा या जुगुप्सा न करने से, अनपत्राप्य के कारण अकुशल कर्मों में भय या परगौरव न होने से तथा औद्धत्य के कारण उपशम (मानसिक शान्ति) न होने से ही करता है; अतः ये चारों चैतसिक सम्पूर्ण अकुशल चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं[1]।

- चेति—ना०।

१. "यस्मा पन अकुसलचित्तानि इमेहि चतूहि विना नुप्पज्जन्ति, न हि तानि पापेसु आदीनवं पस्सित्वा ठितानं उप्पज्जन्ति, न च तेहि लज्जाय वा भयेन वा उक्कण्ठितानं, नापि कुसलेसु धम्मेसु समाहितानं ति; तस्मा ते सब्बेसु तेसु लब्भन्तीति।"—प० दी०, पृ० ९१।

"यो हि कोचि पाणातिपातादीसु पटिपज्जति, सो सब्बो पि मोहेन तत्थ आदीनवदस्सावी, अहिरिकेन ततो अजिगुच्छन्तो, अनोत्तप्पेन अनोतप्पन्तो, उद्धच्चेन अवूपसन्तो च होति; तस्मा ते सब्बाकुसलेसु उपलब्भन्ति।"—विभा०, पृ० ८७।

तु०—"क्लिष्टे सदैवाकुशले, त्वाह्रीक्यमनपत्रपा।"—अभि० को० २ : २६, पृ० १२७।

"अशुभे तु द्वे आह्रीक्यमनपत्रपा।"—अभि० दी० ११४ का०, पृ० ७५।

२०. लोभो अट्ठसु लोभसहगतचित्तेस्वेव* लब्भति ।
२१. दिट्ठि चतूसु दिट्ठिगतसम्पयुत्तेसु ।
२२. मानो चतूसु दिट्ठिगतविप्पयुत्तेसु ।

लोभ चैतसिक—लोभसहगत ८ चित्तों में ही उपलब्ध होता है ।

दृष्टि चैतसिक—दृष्टिगतसम्प्रयुक्त ४ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

मान चैतसिक—दृष्टिगतविप्रयुक्त ४ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ।

---

२१. २२. सत्काय-आदि में अभिनिविष्ट पुद्गल का उस सत्काय में ममत्व उत्पन्न हो जाने के कारण 'दृष्टि' लोभसहगत चित्तों में ही प्राप्त होती है। 'मान' पञ्च-स्कन्ध में अस्मिमानवश प्रवृत्त होने के कारण दृष्टि के समान ही प्रवृत्त होता है, अतः दोनों की प्रवृत्ति सदृश होने से, उसकी दृष्टि के साथ एकचित्तोत्पाद में सहप्रवृत्ति नहीं होती; जैसे – केशरी सिंह अपने सदृश दूसरे सिंह के साथ एक गुहा में नहीं रहता।

मान द्वेषमूलचित्तों में भी उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि मान का आधार आत्म-स्नेह होता है ।

लोभ ही एकान्त रूप से इसका कारण होने से यह (मान) दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्तों में ही प्राप्त होता है[1] ।

दृष्टि एवं मान दोनों पञ्चस्कन्ध में आस्वाद का परित्याग न करते हुए उसका अपने अपने ढङ्ग से आमर्शन (ग्रहण या स्पर्श) करके प्रवृत्त होते हैं; अतः ये दोनों लोभमूलचित्तों में ही उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले इन दोनों धर्मों में से 'दृष्टि' पञ्चस्कन्ध में आत्मग्रह का दृढतापूर्वक ग्रहण करके तथा उस गृहीत आत्मा का नित्यता-आदि मिथ्यास्वभावों से परामर्श (ग्रहण) करती हुई प्रवृत्त होती है।

मान तो पञ्चस्कन्ध में 'अहमस्मि' (मैं हूँ) – इस अस्मिमान का दृढतापूर्वक ग्रहण करते हुए तथा इस गृहीत आकार का श्रेष्ठता-आदि भाव से परामर्श करते हुए अर्थात् 'मैं हूँ' तथा 'मैं श्रेष्ठ हूँ' – इस प्रकार ग्रहण करते हुए, प्रवृत्त होता है ।

अतः ये दृष्टि एवं मान, दोनों अपने अपने आमर्शन करने के आकारवश असदृश-वृत्ति ही होते हैं। यही कारण है कि ये दोनों एकचित्तोत्पाद में उत्पन्न नहीं होते ।

जो मिथ्यादृष्टियुक्त पुद्गल दृष्टि से गृहीत आत्मा का ही 'अहमस्मि' (मैं हूँ)– इस भाव से ग्रहण करते हैं उनमें भी दृष्टि एवं मान – दोनों अपने अपने आमर्शन (ग्रहण) करने के आकारवश असदृशवृत्ति ही होते हैं। मान की भाँति दृष्टि का अस्मिमान में कोई व्यापार नहीं होता और न तो मान का ही दृष्टि की भाँति वस्तु के अयथार्थ पक्ष की कल्पना में कोई व्यापार होता है। यही कारण है कि जिन्होंने दृष्टि का

---

* लोभगतचित्तेस्वेव – रो० ।

१. द्र० – विभा०, पृ० ८७-८८ । तु० – प० दी०, पृ० ६१ ।

२३. दोसो, इस्सा, मच्छरियं, कुक्कुच्चञ्चा* ति* , द्वीसु† पटिघसम्पयुत्त-चित्तेसु‡ ।

द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – इस प्रकार ये चार चैतसिक, दोनों प्रतिघसम्प्रयुक्त चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं ।

प्रहाण कर दिया है – ऐसे अनागामी पुद्गलों में भी अस्मिमान उत्पन्न होता है। आत्मग्रहरूपी दृष्टि तो केवल पृथग्जनों में ही उत्पन्न होती है[1] ।

'विभावनी' का यह कथन कि 'मान पञ्चस्कन्ध में अस्मिमानवश प्रवृत्त होने के कारण दृष्टि के समान ही प्रवृत्त होता है, अतः दोनों की प्रवृत्ति सदृश होने से उसकी दृष्टि के साथ एकचित्तोत्पाद में सहप्रवृत्ति नहीं होती; जैसे – केशरी सिंह अपने सदृश दूसरे सिंह के साथ एक गुहा में नहीं रहता" – सुन्दर नहीं हैं; क्योंकि सदृशप्रवृत्ति सहप्रवृत्ति का कारण होती है । जब सदृशप्रवृत्ति होती है तो सहप्रवृत्ति भी अवश्य होनी चाहिये । एक स्थान पर सदृशप्रवृत्ति कहना और दूसरे स्थान पर सहप्रवृत्ति का निषेध करना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता[2] ।

२३. द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – ये चारों चैतसिक दो द्वेषमूलचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं; क्योंकि परसम्पत्ति से जलनेवालों के चित्तों में, अपनी सम्पत्ति का अन्यसाधारणत्व न सह सकनेवालों के चित्तों में, कृत दुश्चरित एवं अकृत सुचरित के विषय में अनुताप करनेवालों के चित्तों में (उन उन स्थानों में), प्रतिघातवश प्रवृत्त होने के कारण उपर्युक्त चारों चैतसिक प्रतिघ (द्वेष) – चित्तों में ही सम्प्रयक्त होते हैं ।

प्रश्न – अपनी सम्पत्ति में कृपणता स्वभाववाले मात्सर्य को तो लोभमूलचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होना चाहिये, क्यों वह द्वेषमूलचित्तों में सम्प्रयुक्त होता है ?

उत्तर – दूसरों को न देने की इच्छावाला मात्सर्य यद्यपि लोभप्रधान होता है, तथापि अपनी सम्पत्ति का दूसरों के साथ साधारणभाव न चाहनेवाला स्वभाव तथा उस साधारण भाव को न सह सकनेवाला स्वभाव – ये दोनों (स्वभाव) मात्सर्य के ही स्वभाव होते हैं, और इस प्रकार की यह असहिष्णुता द्वेष एवं दौर्मनस्य ही है । अतः मात्सर्य के उत्पाद-क्षण में उसके मूलभूत लोभ का निरोध हो जाने के कारण, यह (मात्सर्य) लोभमूल से सम्प्रयुक्त न होकर द्वेष और दौर्मनस्य से ही सम्प्रयुक्त होता है[3] ।

- ०चेति – ना० ; चाति चत्तारोमे चेतसिका – रो० ।

† द्विसु – म० (क) ।

‡ पटिघचित्तेसु – स्या०, ना० ।

१. द्र० – प० दी०, पृ० ६१ ।

२. द्र० – प० दी०, पृ० ६१ ।

३. "मच्छरियं पन अत्तसम्पत्तीसु लगनलोभसमुट्ठितं पि तासं परेहि साधारण-भावं असहनाकारेन पवत्तता एकन्तेन पटिघसम्पयुत्तमेव होती ति वुत्तं ।" – प० दी०, पृ० ६१-६२ ।

२४. थीनमिद्धं* पञ्चसु ससङ्खारिकचित्तेसु ।

२५. विचिकिच्छा विचिकिच्छासहगतचित्ते येवा† ति† ।

२६. सब्बापुञ्ञेसु चत्तारो लोभमूले तयो गता ।
दोसमूलेसु चत्तारो ससङ्खारे द्वयं तथा ॥

२७. विचिकिच्छा विचिकिच्छाचित्ते चा ति चतुद्दस ।
द्वादसाकुसलेस्वेव सम्पयुज्जन्ति पञ्चधा ॥

स्त्यान एवं मिद्ध – पाँच ससंस्कारिक चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं ।

विचिकित्सा – विचिकित्सासहगत चित्तों में ही सम्प्रयुक्त होती है ।

सर्व अकुशल चित्तों में चार (मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य एवं औद्धत्य), लोभमूलचित्तों में तीन (लोभ, दृष्टि एवं मान), द्वेषमूलचित्तों में चार (द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य), ससंस्कारिक पाँच चित्तों में दो (स्त्यान एवं मिद्ध),

तथा विचिकित्साचित्त में (एक) विचिकित्सा चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है । इस प्रकार १४ अकुशल चैतसिक १२ अकुशल चित्तों में पाँच प्रकार से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

सोभनचेतसिक-सम्पयोगनयो

२८. सोभनेसु पन सोभनसाधारणा ताव एकूनवीसतिमे‡ चेतसिका सब्बेसु पि एकूनसट्ठिसोभनचित्तेसु संविज्जन्ति§ ।

शोभन चैतसिकों में से ये सर्वशोभनसाधारण १९ चैतसिक सभी ५९ शोभनचित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं ।

---

२४. आलस्य स्वभाववाले स्त्यान एवं मिद्ध चैतसिकों का तीक्ष्ण स्वभाववाले असंस्कारिक चित्तों से योग करना असम्भव है, अतः ये दोनों ससंस्कारिक चित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं[1] ।

अकुशलचैतसिक-सम्प्रयोगनय समाप्त ।

शोभनचैतसिक-सम्प्रयोगनय

२८. श्रद्धा, स्मृति-आदि शोभनसाधारण १९ चैतसिक सभी शोभनचित्तों में उपलब्ध होते हैं ।

---

* थीनं मिद्धं – ना० ।

†-† येव लब्भतीति – स्या०, ना० ।

‡ एकूनवीसति – स्या०, ना० ।

§ सम्पयुज्जन्ति – स्या० ।

१. द्र० – विभा०, पृ० ८८ ।

२९. विरतियो पन तिस्सो पि* लोकुत्तरचित्तेसु सब्बथा पि नियता एकतो व लब्भन्ति, लोकियेसु पन कामावचरकुसलेस्वेव कदाचि सन्दिस्सन्ति विसुं विसुं।

तीनों विरतियाँ – लोकोत्तर चित्तों में सर्वथा नियतरूप से एक साथ ही सम्प्रयुक्त होती हैं। लौकिक चित्तों में से तो कामावचर कुशलचित्तों में ही कदाचित् (कभी कभी) तथा पृथक् पृथक् दिखाई देती (सम्प्रयुक्त होती) हैं।

---

२९. लोकोत्तर चित्तों (८) में कभी भी विरति चैतसिकों का अभाव नहीं होता; क्योंकि लोकोत्तरमार्ग की प्राप्ति काय-वाग्-दुश्चरितों के समूल समुच्छेद के विना नहीं होती तथा उपर्युक्त तीनों प्रकार के दुश्चरितों का समुच्छेद युगपत् (एक साथ) ही होता है; अतः मार्गचित्तों में तीनों विरतियाँ सर्वथा युगपत् ही उपलब्ध होती हैं। मार्गचित्तों की ही भांति लोकोत्तर फलचित्त भी होते हैं; अतः उनमें भी ये विरतियाँ सर्वथा एवं सर्वदा युगपत् सम्प्रयुक्त रहती हैं।

लौकिक चित्तों में जिस प्रकार ये (विरतियाँ) दुश्चरित, दुराजीव-आदि के एकदेश के प्रहाण से प्राप्त होती हैं; उस प्रकार लोकोत्तर चित्तों में प्राप्त नहीं होतीं। लोकोत्तर चित्तों में तो ये (विरतियाँ) दुश्चरित, दुराजीव-आदि के अनवशेष प्रहाण से उत्पन्न होती हैं। लौकिक चित्तों में एक बार उत्पन्न सम्यग्वाग् विरति, विरमितव्य चारों प्रकार के वाग्-दुश्चरितों का युगपत् प्रहाण करने में असमर्थ है; यथा – मृषावाद-विरति मृषावाद के ही प्रहाण में सक्षम है, अन्य पिशुना वाग्-आदि के प्रहाण में नहीं; उसी प्रकार पिशुनावाग्-विरति पिशुना वाक् का ही प्रहाण कर सकती है, अन्य परुषा वाक्-आदि का नहीं। इसी प्रकार अन्य विरतियों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

लोकोत्तर चित्तों में एक बार उत्पन्न सम्यग्वाग्-विरति तो विरमितव्य सभी चारों प्रकार के वाग्-दुश्चरितों का समूल एवं सानुशय समुच्छेद कर देती है। सम्यक्कर्मान्त (विरति) भी अपने एक बार के उत्पाद से ही अशेष (सम्पूर्ण) काय-दुश्चरितों का समूल एवं सानुशय प्रहाण कर देता है। इसी तरह एक बार उत्पन्न सम्यगाजीव (विरति) भी सम्पूर्ण आजीवहेतुक काय-वाग्-दुश्चरितों का समूल एवं सानुशय प्रहाण कर देता है। अतएव ये तीनों विरतियाँ लोकोत्तर चित्तों में 'सर्वथा' होती हैं।

जिस प्रकार लौकिक चित्तों में ये विरतियाँ उन उन काय-वाग्-दुश्चरितों के प्रहाण से पृथक् पृथक् उपलब्ध होती हैं उस प्रकार लोकोत्तर चित्तों में ये पृथक् पृथक् न होकर एक साथ ही प्राप्त होती हैं; क्योंकि लोकोत्तर चित्तों में आलम्बन भिन्न भिन्न

---

३०. अप्पमञ्ञायो पन द्वादससु पञ्चमज्झानवज्जितमहग्गतचित्तेसु चेव कामावचरकुसलेसु च सहेतुककामावचरक्रियाचित्तेसु चा* ति* अट्ठवीसतिचित्तेस्वेव कदाचि नाना हुत्वा जायन्ति ।

उपेक्खासहगतेसु पनेत्थ करुणामुदिता न सन्तीति केचि वदन्ति ।

अप्रामाण्या (अप्पमञ्ञा = करुणा, मुदिता) चैतसिक – पञ्चमध्यानवर्जित १२ महग्गतचित्त, (८) कामावचर कुशलचित्त तथा (८) सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त – इस प्रकार कुल २८ चित्तों में कदाचित् तथा पृथक् पृथक् उत्पन्न होते हैं।

इन (२८ चित्तों) में भी (८) उपेक्षासहगत चित्तों (= ४ कुशल, ४ क्रिया) में करुणा एवं मुदिता नहीं होतीं – ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

न होकर एक ही होता है। लौकिक चित्तों में जिस प्रकार काय-वाग्-दुश्चरित, दुराजीव-आदि के नाना आलम्बन होते हैं और उन उन दुश्चरितों के प्रहाण से विरतियाँ पृथक्-पृथक् उत्पन्न होती हैं, उस प्रकार लोकोत्तर चित्तों में आलम्बन का नानात्व नहीं होता; अपितु समस्त लोकोत्तर चित्तों का आलम्बन एकमात्र निर्वाण ही होता है। अतः आलम्बन के अनेकत्व से लौकिक चित्तों में विरतियों का उत्पाद पृथक् पृथक् तथा आलम्बन के एकत्व के कारण लोकोत्तर चित्तों में इनका उत्पाद युगपत् होता है।

विरतियाँ लोकोत्तर एवं कामावचर कुशलचित्तों में ही होती हैं। कामावचर विपाक, कामावचर क्रिया तथा महग्गत (रूपावचर-अरूपावचर) चित्तों में ये नहीं होतीं। कामावचर चित्तों में भी ये केवल कामभूमि में ही उत्पन्न होती हैं; रूपभूमि एवं अरूपभूमि में नहीं। कामावचर चित्त न केवल कामभूमि में ही, अपितु रूपावचर एवं अरूपावचर भूमि में भी होते हैं; किन्तु इन भूमियों में इन विरतियों का उत्पाद नहीं होता।

रूपभूमि एवं अरूपभूमि में इनके अनुत्पाद का कारण यह है – क्योंकि इन भूमियों में स्थित ब्रह्मा-आदि देवों में 'काय-दुश्चरित', 'वाग्दुश्चरित' नामक 'विरमितव्य वस्तु' ही नहीं होतीं – अतः उनमें ये विरतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। लौकिक विरतियाँ विरमितव्यवस्तु-वर्जित पुद्गलों में नहीं होतीं और ब्रह्मा-आदि देव विरमितव्य वस्तु से विवर्जित पुद्गल हैं; अतः इन देवों में इन विरतियों का उत्पाद असम्भव है।

कुछ आचार्यों के मत में कामावचर भूमि के चातुर्महाराजिक-आदि ६ देवों में भी इन विरतियों का उत्पाद नहीं होता। इन आचार्यों का यह मत विद्वानों द्वारा विचारणीय है[1]।

३०. करुणा एवं मुदिता (अप्रामाण्या चैतसिक) पञ्चमध्यानवर्जित महग्गतचित्त (१२), कामावचर कुशलचित्त (८) तथा सहेतुक क्रियाचित्त (८) – इस

- चेति – ना०।

१. विरति-सम्बन्धी इस व्याख्यान के लिये तथा एतत्सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ९२-९३। तु० – विभा०, पृ० ८८।

प्रकार कुल २८ चित्तों में सम्प्रयुक्त होती हैं और इस प्रकार सम्प्रयुक्त होने पर भी, वे कदाचित् एवं पृथक् पृथक् ही सम्प्रयुक्त होती हैं; क्योंकि पुद्गल जब सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके भावना करते हैं, तभी ध्यान-प्राप्ति के काल में करुणा एवं मुदिता सम्प्रयुक्त होती हैं। पुद्गल जब सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके पठवी-कसिण (पृथ्वी-कात्स्न्र्य) एवं बुद्धानुस्मृति-आदि 'कम्मट्ठान' का आलम्बन करके भावना करते हैं, तब ध्यान-प्राप्ति-काल में करुणा एवं मुदिता सम्प्रयुक्त नहीं होती। अतएव कहा गया है कि ये 'कदाचित्' सम्प्रयुक्त होती है। सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करने पर भी जब दुःखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन किया जाता है, तभी करुणा का उत्पाद होता है; तथा जब सुखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन किया जाता है तब मुदिता का उत्पाद होता है – इस प्रकार आलम्बन-भेद होने के कारण दोनों अप्पमञ्ञाएँ युगपत् नहीं होतीं; अतएव कहा गया है कि ये 'पृथक् पृथक्' होती हैं[1]।

यहाँ 'कदाचित्' शब्द से करुणा एवं मुदिता का सर्वदा होना (शाश्वतिकत्व) निषिद्ध किया गया है तथा 'नाना' शब्द से दोनों का युगपद्भाव प्रतिषिद्ध किया गया है – ऐसा समझना चाहिये।

'अभिधम्मत्थसङ्गह' की इस (उपर्युक्त) मूलपालि के द्वारा 'मेत्ता' (मैत्री) एवं 'उपेक्खा' (उपेक्षा) नामक अप्पमञ्ञाओं के साथ सम्प्रयुक्त चित्तों का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, अतः उन्हें इस प्रकार जानना चाहिये :

'मेत्ता' (मैत्री) के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त, करुणा एवं मुदिता के समान २८ चित्त ही होते हैं; किन्तु उपेक्षा नीचे के चार ध्यानों में सम्प्रयुक्त नहीं होती, अपितु पञ्चमध्यान (१५) में ही सम्प्रयुक्त होती हैं[2]। अतः 'उपेक्षा' नामक अप्पमञ्ञा के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त महाकुशल ८, महाक्रिया ८ एवं पञ्चमध्यान १५ – इस प्रकार ३१ होते हैं।

[जब उपेक्षा-ब्रह्मविहार होता है तब उसमें करुणा, मुदिता एवं विरति चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होते।]

कुछ आचार्यों का मत है कि इन २८ चित्तों में से भी महाकुशलान्तर्गत उपेक्षा-सहगत (४) चित्तों में तथा महाक्रियान्तर्गत उपेक्षासहगत (४) चित्तों में – इस प्रकार ८ चित्तों में करुणा एवं मुदिता सम्प्रयुक्त नहीं होतीं; क्योंकि द्वेष विहिंसास्वभाव है और विहिंसा का प्रतिपक्ष 'करुणा' होती है; तथा दौर्मनस्य अरतिस्वभाव है और अरति का प्रतिपक्ष 'मुदिता' होती है – इस प्रकार इन द्वेष एवं दौर्मनस्य रूप विहिंसा एवं अरति के प्रतिपक्ष होने के

---

१. "नाना हुत्वा ति – भिन्नारम्मणत्ता अत्तनो आरम्मणभूतानं दुक्खित-सुखित-सत्तानं आपायगमनापेक्खताय विसुं विसुं हुत्वा।" – विभा०, पृ० ८९।

२. "मेत्तादयो तयो चतुक्कज्झानिका, उपेक्खा पञ्चमज्झानिका।" – अभि० स० टी०, पृ० ९।

कारण करुणा एवं मुदिता सोभनस्यसहगत चित्तों से ही सर्वदा सम्प्रयुक्त हो सकती हैं, उपेक्षासहगत चित्तों से कथमपि सम्प्रयुक्त नहीं हो सकतीं[1]।

इन आचार्यों का यह मत 'अट्ठकथा' से विरुद्ध होने के कारण 'केचिवादो' शब्द से अभिहित किया गया है तथा समीक्षण करने पर समीचीन भी प्रतीत नहीं होता।

इन आचार्यों का उपर्युक्त मत – 'करुणा एवं मुदिता नामक कम्मट्ठान के प्रारम्भिक अभ्यास-काल में जब कि ये (कम्मट्ठान) पूर्णतया अभ्यस्त नहीं होते हैं, तब; तथा इन कम्मट्ठानों के सिद्ध हो जाने पर जब कि करुणा एवं मुदिता ध्यान उत्पन्न हो जाते हैं तब – उचित होता है; किन्तु कम्मट्ठान-भावना के निरन्तर अभ्यास से जब वे (कम्मट्ठान) प्रगुण (पूर्ण परिचित) हो जाते हैं, तब अधिक ध्यान न देने पर (करुणा-मुदिता की) अर्पणावीथि के पूर्व, करुणा एवं मुदिता कभी उपेक्षासहगत चित्त से तथा कभी सौमनस्यसहगत चित्त से सम्प्रयुक्त होती हैं; जैसे – किसी ग्रन्थ के पूर्णतया अभ्यस्त (कण्ठस्थ) हो जाने पर, स्वाध्याय करते समय, पाठक के कभी अन्यमनस्क रहने पर भी वह (पाठ) निर्बाध एवं बिना त्रुटि के हो सकता है। तथा जैसे – विपश्यना-कम्मट्ठान, ज्ञान-कृत्य होने के कारण, सर्वप्रथम ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त से आरब्ध किया जाता है; किन्तु परिचित हो जाने पर कभी उसका ज्ञानविप्रयुक्त चित्त से भी अभ्यास किया जा सकता है[2]।

अथवा – सभी (लौकिक एवं लोकोत्तर) ध्यानों के पूर्वभाग नामक 'अर्पणा' के आसन्नकाल में ही सौमनस्यध्यान (प्रथम से चतुर्थ ध्यान) के पूर्वभाग सौमनस्यसहगत तथा उपेक्षाध्यान (पञ्चम) के पूर्वभाग उपेक्षासहगत होते हैं; अनासन्नकाल में तो इन ध्यानों के पूर्वभाग कभी सौमनस्यसहगत तो कभी उपेक्षासहगत होते हैं। अतएव आचार्यों का पूर्वोक्त वाद 'केचिवादो' कहा गया है[3]।

---

१. "यस्मा पनेता दोससमुट्ठितानं विहिंसा-अरतीनं निस्सरणभूता ति सुत्तन्तेसु वुत्ता; दोमनस्सपटिपक्खं च सोमनस्सयोगमेव केचि इच्छन्तीति वुत्तं – 'उपेक्खासहगतेसु...केचि वदन्ती' ति।" – प० दी०, पृ० ९४।

२. "करुणामुदिताभावनाकाले अप्पनावीथितो पुब्बे परिचयवसेन उपेक्खासहगतचित्तेहि पि परिकम्मं होति; यथा तं पगुणगन्थं सज्झायन्तस्स कदाचि अञ्ञविहितस्स पि सज्झायनं, यथा च विपस्सनाय सङ्खारे सम्मसन्तस्स कदाचि ञाणविप्पयुत्तचित्तेहि पि सम्मसनं ति उपेक्खासहगतकामावचरेसु करुणामुदितानं असम्भववादो 'केचिवादो' कतो। अप्पनावीथियं पन एकन्ततो सोमनस्ससहगतेस्वेव सम्भवो दट्ठब्बो।" – विभा०, पृ० ८९।

३. "यस्मा च सब्बेसं पि लोकियलोकुत्तरज्झानानं पुब्बभागभावनानाम-अप्पनासन्नकाले एव सोमनस्सज्झानानं पुब्बभागा सोमनस्ससहगता होन्ति, उपेक्खाझानानं पुब्बभागा उपेक्खासहगता होन्ति। अनासन्नकाले पन सब्बेसं पि तेसं पुब्बभागा कदाचि सोमनस्ससहगता कदाचि उपेक्खासहगता होन्ति। तस्मा सो वादो 'केचिवादो' व कातुं युत्तो ति।" – प० दी०, पृ० ९४।

३१. पञ्ञा पन द्वादससु ञाणसम्पयुत्तकामावचरचित्तेसु चेव सब्बेसु पि* पञ्चतिंसमहग्गतलोकुत्तरचित्तेसु† चा‡ ति‡ सत्तचत्तालीसचित्तेसु§ सम्पयोगं गच्छतीति।

सङ्गहगाथा

३२. एकूनवीसति धम्मा जायन्तेकूनसट्ठिसु§§।
तयो सोळसचित्तेसु अट्ठवीसतियं द्वयं॥

३३. पञ्ञा पकासिता सत्तचत्तालीसविधेसु पि।
सम्पयुत्ता चतुद्धेवं†† सोभनेस्वेव सोभना॥

प्रज्ञा – ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर चित्त १२, सम्पूर्ण (२७) महग्गत चित्त एवं (८) लोकोत्तर चित्त = ३५ – इस प्रकार कुल ४७ चित्तों में सम्प्रयुक्त होती है।

उन्नीस धर्म (चैतसिक) ५६ चित्तों में होते हैं। तीन चैतसिक १६ चित्तों में तथा दो चैतसिक २८ चित्तों में होते हैं।

प्रज्ञा, ४७ प्रकार के चित्तों में कही गयी है – इस प्रकार 'शोभन चैतसिक' शोभन चित्तों में ही चार प्रकार से सम्प्रयुक्त होते हैं।

---

३१. लोकोत्तर चित्तों की प्राप्ति सम्यग्दृष्टि के विना अशक्य है। सम्यग्दृष्टि ही 'प्रज्ञा' है, अतः लोकोत्तर चित्तों में प्रज्ञा का होना अनिवार्य है।

महग्गत (रूपावचर एवं अरूपावचर) ध्यानों के आलम्वन कसिण-आदि यद्यपि अगम्भीर होते हैं; तथापि यौगिक कर्म के वल से, चित्त के समाधान के वल से, तथा क्लेशों के दूरीभाव से – इन कसिणों का आलम्वन करनेवाले ध्यान-चित्तों में ज्ञान एकान्तभाव से सम्प्रयुक्त होता है। ज्ञान के विना चित्त का समाधान या क्लेशों का दूरीभाव अशक्य है और इस तरह ध्यान ही नहीं वन सकेगा; अतः महग्गत चित्तों में ज्ञान अवश्य सम्प्रयुक्त होता है।

कामावचर चित्तों में जो चित्त ज्ञानसम्प्रयुक्त हैं उनमें प्रज्ञा चैतसिक सम्प्रयुक्त होता ही है।

सङ्ग्रहगाथा

३२. ३३. श्रद्धा, स्मृति-आदि १६ शोभनसाधारण चैतसिक, सभी ५६ शोभनचित्तों में होते हैं। तीन विरति चैतसिक १६ चित्तों में तथा दो अप्पमञ्ञा चैतसिक २८ चित्तों (=कामावचर कुशल ८, क्रिया ८ तथा पञ्चमध्यानवर्जित महग्गत १२) में होते हैं। प्रज्ञा, ४७ चित्तों (=ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर १२, महग्गत २७, लोकोत्तर ८) में होती है।

शोभनचैतसिक-सम्प्रयोगनय समाप्त।

---

* ना० में नहीं।
† पञ्चत्तिंस० – म० (क) (सर्वत्र)।
‡-‡ चेति – ना०।
§ सत्तचत्ताळीस० – सी० (सर्वत्र)।
§§ जायन्तेकूनसट्ठियं – स्या०।
†† चतुधेवं – म० (क, ख); स्या०।

नियतानियतभेदो

३४. इस्सा-मच्छेर-कुक्कुच्च-विरति* -करुणादयो।
नाना कदाचि मानो च थीनमिद्धं तथा सह ॥
३५. यथावुत्तानुसारेन सेसा नियतयोगिनो।
सङ्गहञ्च पवक्खामि तेसं दानि यथारहं ॥

उपर्युक्त कथन के अनुसार ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, तीन विरतियाँ, करुणा एवं मुदिता – ये चैतसिक पृथक् पृथक् तथा कदाचित् होते हैं। मान चैतसिक कदाचित्, तथा स्त्यान एवं मिद्ध कदाचित् एवं साथ साथ होते हैं।

शेष चैतसिक नियतयोगी होते हैं, अर्थात् सर्वदा सम्प्रयुक्त होते हैं।

अब उन चैतसिकों के 'सङ्ग्रहनय' का वर्णन यथायोग्य करूँगा।

नियतानियतभेद

३४. ३५. नियतयोगी, अनियतयोगी – 'युज्जन्तीति योगिनो, नियता हुत्वा योगिनो नियतयोगिनो, तब्बिपरीता अनियतयोगिनो' योग करनेवाले धर्मों को 'योगी' तथा एकान्तरूप से योग करनेवालों को 'नियतयोगी' कहते हैं। इसके विपरीत जो कभी तो योग करते हैं, कभी नहीं – वे धर्म, 'अनियतयोगी' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब सम्प्रयुक्तचित्त उत्पन्न होता है तब जो चैतसिक उस चित्त के साथ अवश्यमेव उत्पन्न होते हैं वे 'नियतयोगी', तथा सम्प्रयुक्तचित्त के उत्पन्न होने पर भी जो चैतसिक कभी तो उत्पन्न होते हैं, कभी नहीं – ऐसे चैतसिक 'अनियतयोगी' हैं।

नाना एवं कदाचित् – ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विरतित्रय एवं करुणा-मुदिता – ये चैतसिक 'अनियतयोगी' हैं। अर्थात् जब सम्प्रयुक्तचित्त उत्पन्न होता है, तब ये उसके साथ सर्वदा सम्प्रयुक्त नहीं होते; अर्थात् कभी होते हैं, कभी नहीं। कभी होने पर भी ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – ये तीनों किसी एक चित्त में एक साथ (युगपत्) नहीं होते। इसी प्रकार तीनों विरतियाँ भी एक चित्त में साथ साथ नहीं होतीं। यही नियम करुणा एवं मुदिता के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होता है; अर्थात् ये दोनों कभी भी साथ साथ नहीं होतीं। ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – ये तीनों यद्यपि द्वेषमूलचित्त से सम्प्रयुक्त होते हैं; तथापि जब द्वेषमूलचित्त उत्पन्न होता है तब ये नियत रूप से सर्वदा उत्पन्न नहीं होते; तथा तीनों एक साथ भी नहीं होते।

यथा – प्राणातिपात अथवा – शोक, परिदेव-आदि कर्म होने के काल में हालाँकि द्वेषमूलचित्त उत्पन्न होता है तो भी ये तीनों चैतसिक उस समय उस चित्त के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते; केवल द्वेष चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होता है। परसम्पत्ति से ईर्ष्या-आदि होने के समय उत्पन्न द्वेषमूलचित्त में यद्यपि ये तीनों सम्प्रयुक्त होते हैं तथापि वहाँ पर ईर्ष्या का आलम्बन परसम्पत्ति, मात्सर्य का आलम्बन स्वसम्पत्ति तथा कौकृत्य

---

* विरती – म० (क)।

का आलम्बन कृत दुश्चरित या अकृत सुचरित ही होता है। इस प्रकार तीनों के आलम्बन भिन्न भिन्न होने से तीनों एक साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपितु आलम्बन के अनुसार कोई एक ही सम्प्रयुक्त होता है, यद्यपि तीनों अवस्थाओं में द्वेषमूलचित्त ही होता है।

[करुणा एवं मुदिता के नानात्व (पृथक्त्व) एवं कादाचित्कत्व के सम्बन्ध में सम्प्रयोगनय के वर्णन के प्रसङ्ग में कह दिया गया है[1]।]

'विरति' शब्द से यहाँ लौकिक विरतियों का ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि निर्वाण का आलम्बन करने से लोकोत्तर विरतियाँ यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। लोकोत्तर तीनों विरतियाँ तो एकमात्र निर्वाण का ही आलम्बन करने के कारण सर्वदा एक साथ (युगपत्) ही सम्प्रयुक्त होती हैं।

मानो च – 'दृष्टिगतविप्रयुक्त' में सम्प्रयुक्त मान भी उनमें सर्वदा नहीं होता। जैसे – रूपालम्बन का आलम्बन करके जब राग का उत्पाद होता है तब मान कैसे होगा? वह तो जब 'सेय्योहमस्मि' अर्थात् मैं श्रेष्ठ हूँ – इस प्रकार के अभिमान की प्रवृत्ति होती है तभी उनमें सम्प्रयुक्त होता है। मान के एक ही होने के कारण 'मानो च' में प्रयुक्त 'च' शब्द के द्वारा 'नाना' का समुच्चय नहीं होता, अपितु केवल 'कदाचि' (कदाचित्) का ही समुच्चय होता है।

थीनमिद्धं तथा सह – यहाँ 'तथा' शब्द के द्वारा 'कदाचित्' का ग्रहण होता है। पाँच अकुशल ससंस्कारिक चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले स्त्यान एवं मिद्ध चैतसिक, इनमें सर्वदा सम्प्रयुक्त नही होते। यथा – ससंस्कारिक चित्तों के द्वारा जब चोरी होती है तब अकुशल ससंस्कारिक चित्तों के होने पर भी उनमें स्त्यान एवं मिद्ध उत्पन्न नहीं होते। ये तो चित्त एवं चैतसिक धर्मों की अकर्मण्यता की अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं। 'स्त्यान' चित्त की तथा 'मिद्ध' चैतसिक की अकर्मण्यता है। इसीलिये ये दोनों पृथक् पृथक् भी उत्पन्न नहीं होते; अपितु साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं, और इसी को दिखाने के लिये 'सह' शब्द का उपादान किया गया है[2]।

यथावुत्तानुसारेन – सर्वचित्तसाधारण चैतसिक सभी चित्तों (८९ या १२१) में सम्प्रयुक्त होते हैं; वितर्क चैतसिक ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है – इत्यादि प्रकार से – अर्थात् उपर्युक्त सम्प्रयोगनय के अनुसार किस चित्त में कौन चैतसिक नियत रूप से सम्प्रयुक्त होते है, एवं कौन चैतसिक अनियत रूप से (कदाचित्) सम्प्रयुक्त होते हैं, तथा कौन चैतसिक एक साथ सम्प्रयुक्त होते हैं एवं कौन चैतसिक पृथक् पृथक् सम्प्रयुक्त होते हैं – यह जानना चाहिये।

नियतानियतभेद समाप्त।

सम्प्रयोगनय समाप्त।

सङ्गहं च पवक्खामि – अब आगे उन चैतसिकों के 'सङ्ग्रहनय' का व्याख्यान यथायोग्य किया जायेगा।

---

१. द्र० – अभि० स० २ : ३० की व्याख्या (पीछे पृ० १८७)।

२. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ९५-९६। तु० – विभा०, पृ० ८९-९०।

सङ्गहनयो

३६. छत्तिसानुत्तरे धम्मा पञ्चतिंस महग्गते।
अट्ठतिंसापि लब्भन्ति कामावचरसोभने॥
३७. सत्तवीसत्यपुञ्ञम्हि* द्वादसाहेतुके ति च।
यथासम्भवयोगेन पञ्चधा तत्थ सङ्गहो॥

अनुत्तर (लोकोत्तर) चित्तों में ३६ चैतसिक, महग्गत (रूपावचर-अरूपावचर) चित्तों में ३५ चैतसिक, कामावचर शोभनचित्तों में ३८ चैतसिक; अकुशल चित्तों में २७ चैतसिक तथा अहेतुक चित्तों में १२ चैतसिक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार यथासम्भव योग से चैतसिकों का चित्त में पाँच प्रकार से सङ्ग्रह होता है।

सङ्ग्रहनय

३६. ३७. 'सम्पिण्डेत्वा गय्हन्ति एत्था ति सङ्गहो' उन चित्तों में यथायोग सङ्गृहीत चैतसिकों के 'सङ्ग्रह' को दिखलानेवाला नय 'सङ्ग्रहनय' है; यथा – लोकोत्तर प्रथमध्यान चित्त में – 'सब्बचित्तसाधारणा ताव[1]...' आदि के अनुसार सर्वचित्त-साधारण चैतसिक ७, 'वितक्को ताव द्विपञ्चविञ्ञाण[2]...' के अनुसार प्रकीर्णक चैतसिक ६, 'सोभनेसु पन सोभनसाधारणा ताव[3]...' आदि के अनुसार शोभनसाधारण चैतसिक १६, 'विरतियो पन तिस्सो पि[4]...' के अनुसार विरति चैतसिक ३, तथा 'पञ्ञा पन द्वादससु[5]...' के अनुसार प्रज्ञा चैतसिक १ – इस प्रकार कुल ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार एक एक चित्त में यथायोग प्राप्त चैतसिकों को सङ्गृहीत करके दिखलानेवाला नय 'सङ्ग्रहनय' कहलाता है[6]।

ये दोनों गाथाएँ आगे कहे जानेवाले सङ्ग्रहनय के सङ्क्षिप्त क्रम को दिखलानेवाली गाथाएँ हैं।

चित्त दो प्रकार के हैं; यथा – सहेतुक एवं अहेतुक। सहेतुक चित्त अधिक हैं; अतः यहाँ पहले उन्हीं का वर्णन किया गया है। अहेतुक चित्त केवल १८ हैं; अतः उन्हें अन्त में रखा गया है। सहेतुक चित्तों में भी लोकोत्तर चित्तों का सर्वप्रथम ग्रहण किया है; क्योंकि आचार्य ने सम्पूर्ण सहेतुक चित्तों को उत्कृष्टतम, उत्कृष्टतर, उत्कृष्ट एवं हीन – इन

---

*. सत्तवीसतिपुञ्ञम्हि – सी०, रो०, म० (क, ख)।
१. द्र० – अभि० स० २ : ११ (पीछे पृ० १७८)।
२. द्र० – अभि० स० २ : १२ (पीछे पृ० १७८)।
३. द्र० – अभि० स० २ : २८ (पीछे पृ० १८५)।
४. द्र० – अभि० स० २ : २६ (पीछे पृ० १८६)।
५. द्र० – अभि० स० २ : ३१ (पीछे पृ० १६०)।
६. तु० – विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० ६६।

सोभनचित्त-सङ्गहनयो

लोकुत्तरचित्त-सङ्गहनयो

३८. कथं ? लोकुत्तरेसु ताव अट्ठसु पठमज्झानिकचित्तेसु अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका, अप्पमञ्ञावज्जिता तेवीसति सोभनचेतसिका चेति छत्तिंस-धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति। तथा दुतियज्झानिकचित्तेसु वितक्कवज्जा। ततिय-ज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचारवज्जा। चतुत्थज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचार-पीतिवज्जा। पञ्चमज्झानिकचित्तेसु पि* उपेक्खासहगता ते एव सङ्गय्हन्तीति† सब्बथापि अट्ठसु लोकुत्तरचित्तेसु पञ्चकज्झानवसेन पञ्चधा व सङ्गहो होतीति।

कैसे ? लोकोत्तर चित्तों में से आठ प्रथमध्यान चित्तों में अन्य-समान चैतसिक १३, अप्पमञ्ञा (अप्रामाण्या)-वर्जित शोभन चैतसिक २३ – इस प्रकार ३६ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं। उसी प्रकार आठ द्वितीय-ध्यान चित्तों में वितर्कवर्जित (वे ही ३५ चैतसिक); आठ तृतीयध्यान चित्तों में वितर्क एवं विचार वर्जित (वे ही ३४ चैतसिक); आठ चतुर्थध्यान चित्तों में वितर्क, विचार एवं प्रीति वर्जित (वे ही ३३ चैतसिक); तथा आठ पञ्चमध्यान चित्तों में (सुख के स्थान पर) उपेक्षा से सहगत वे ही (३३ चैतसिक) सङ्गृहीत होते हैं – इस प्रकार आठ लोकोत्तर चित्तों में सर्वथा पाँच ध्यानों के वश से (चैतसिकों का) पञ्चविध सङ्ग्रह ही होता है।

चार भागों में विभक्त किया है। उनमें लोकोत्तर चित्त उत्कृष्टतम हैं, अतः उन्हें ही प्रथम स्थान दिया है।

ऊपर, चित्तों में चैतसिकों का पाँच प्रकार से सङ्ग्रह करके दिखलाया गया है।

यथासम्भवयोगेन – सङ्ग्रहनय के क्रम का सङ्क्षेप करने पर भी लोकोत्तर चित्तों का सङ्ग्रह एक, महग्गत चित्तों का सङ्ग्रह एक, कामशोभन, अकुशल एवं अहेतुक चित्तों का सङ्ग्रह एक-एक प्रकार का होने से चित्तों में चैतसिकों का सङ्ग्रह पाँच प्रकार का होता है।

इस पञ्चविध सङ्ग्रह से भी 'सङ्ग्रहनय' पूर्ण नहीं होता, अतः यथासम्भव सम्प्रयोगत्व दिखलाने के लिये 'यथासम्भवयोगेन' कहा गया है; जैसे – 'छत्तिसानुत्तरे धम्मा' – (लोकोत्तर चित्तों में ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं) के द्वारा लोकोत्तर चित्तों के एकविध सङ्ग्रह को दिखला देने पर भी यथासम्भव प्रथमध्यान में ३६, द्वितीय-ध्यान-आदि में 'पञ्चतिंस' (३५) आदि चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं – ऐसा जानना चाहिये।

शोभनचित्त-सङ्ग्रहनय

लोकोत्तरचित्त-सङ्ग्रहनय

३८. लोकोत्तर चित्तों के आठ प्रथमध्यान चित्तों में 'अप्पमञ्ञा' (करुणा-

* स्या०, ना० में नहीं। † सङ्गय्हन्ति – स्या०।

मुदिता)-वर्जित ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। अकुशल चैतसिक तो लोकोत्तर चित्तों में कथमपि सम्प्रयुक्त हो ही नहीं सकते – यह तो स्पष्ट ही है; शोभन चैतसिकों (२५) में से भी 'अप्पमञ्ञा' नामक दो चैतसिकों को छोड़कर २३ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं। 'अप्पमञ्ञा' लोकोत्तर चित्तों में क्यों सम्प्रयुक्त नहीं होतीं? इसका कारण तो पहले ('अप्पमञ्ञा' के सम्प्रयोगनय के प्रसङ्ग में) दिखलाया जा चुका है कि – करुणा एवं मुदिता का आलम्बन सत्त्व-प्रज्ञप्ति होता है तथा लोकोत्तर चित्तों का आलम्बन निर्वाण होता है; अतः आलम्बन के भिन्न होने से लोकोत्तर चित्तों में करुणा एवं मुदिता नहीं हो सकतीं। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम ध्यान चित्तों में होनेवाले चैतसिकों का सङ्ख्या-परिज्ञान उपर्युक्त मूलपालि को देखकर कर लेना चाहिये।

पञ्चकज्झानवसेन पञ्चधा व सङ्गहो – लोकोत्तर चित्तों में पाँच ध्यान होते हैं, अतः ध्यानों के अनुरोध से चैतसिकों का पांच प्रकार से सङ्ग्रह किया गया है। अभिधर्म-शास्त्र में 'पञ्चकनय' एवं 'चतुष्कनय' – इस प्रकार ध्यानों के दो नय प्रसिद्ध हैं[1]। उनमें से यहाँ 'पञ्चकनय' का ग्रहण किया गया है, 'चतुष्कनय' का नहीं; यदि चतुष्कनय का ग्रहण किया गया होता तो चैतसिक-सङ्ग्रह चार प्रकार का ही होता।

लौकिकध्यानलाभी योगी पाँच अङ्ग (वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता) वाले प्रथमध्यान के लाभ के अनन्तर जब द्वितीयध्यान का लाभ करता है तब जो मन्दप्रज्ञ पुद्गल होता है वह केवल प्रथमध्यान के वितर्क में ही आदीनव (दोष) देखकर उसका प्रहाण कर पाता है और चार अङ्गवाले द्वितीयध्यान का लाभ करता है। तदनन्तर विचार में आदीनव देखकर और उसका प्रहाण करके तीन अङ्गवाले तृतीयध्यान का लाभ करता है। इसके बाद दो अङ्गवाले चतुर्थ और तदनन्तर उपेक्षा एवं एकाग्रतायुक्त पञ्चमध्यान का लाभ करता है – इस तरह पाँच ध्यान होते हैं। किन्तु तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल प्रथम-ध्यान के अनन्तर ही वितर्क एवं विचार दोनों में आदीनव देखकर तथा उन दोनों का एक साथ प्रहाण करके तीन अङ्गवाले द्वितीयध्यान का लाभ करता है। तदनन्तर दो अङ्ग-वाले तृतीय तथा दो अङ्ग (उपेक्षा एवं एकाग्रता)-वाले चतुर्थध्यान का लाभ करता है – इस तरह प्रज्ञा के तीक्ष्ण होने से चार ही ध्यान होते हैं। अतः प्रज्ञा-भेद से उपर्युक्त दो प्रकार के नय प्रसिद्ध हैं।

लौकिक की तरह लोकोत्तरों में भी प्रज्ञा-भेद से चतुष्क एवं पञ्चक नय होते हैं। यहाँ पर अनुरुद्धाचार्य को ध्यानचित्तों की सङ्ख्या मात्र दिखलाना अभीष्ट होने से, वे चतुष्कनय का ग्रहण न कर, पञ्चकनय के ध्यानों के अनुरोध से चैतसिकों का सङ्ग्रह दिखलाते हैं[2]।

चतुष्कनय का ग्रहण करने पर प्रथमध्यान में ३६ चैतसिक, द्वितीयध्यान में वितर्क एवं विचार वर्जित ३४ चैतसिक, तृतीयध्यान में ३३ चैतसिक तथा

---

१. द्र० – ध० स०, पृ० ४५; विसु०, पृ० ११३; अट्ठ०, पृ० १४६।

२. तु० – विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० ६६।

३९. छत्तिंस पञ्चतिंसाथ* चतुत्तिंस† यथाक्कमं ।
तेत्तिंसद्वयमिच्चेवं पञ्चधानुत्तरे ठिता ॥

३६ चैतसिक, ३५ चैतसिक, ३४ चैतसिक, ३३ चैतसिक तथा ३३ चैतसिक – इस प्रकार लोकोत्तर चित्तों में सङ्ग्रहनय यथाक्रम पाँच प्रकार से स्थित है ।

महग्गतचित्त-सङ्गहनयो

४०. महग्गतेसु पन तीसु पठमज्झानिकचित्तेसु ताव अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका विरतित्तयवज्जिता‡ द्वावीसति§ सोभनचेतसिका चेति पञ्चतिंस* धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति । करुणा-मुदिता पनेत्थ पच्चेकमेव योजेतब्बा ।

महग्गत चित्तों में से – तीन प्रथमध्यान चित्तों में अन्यसमान चैतसिक १३ तथा विरतित्रयवर्जित शोभन चैतसिक २२ – इस प्रकार कुल ३५ धर्म (चैतसिक) सङ्गृहीत होते हैं । यहाँ करुणा एवं मुदिता का

चतुर्थध्यान में सुख को वर्जित कर, उसके स्थान पर उपेक्षा को रखकर, ३३ चैतसिक ही होंगे । इस नय के अनुसार 'सङ्गह-गाथा' इस प्रकार होगी :

"छत्तिंस चतुत्तिंस च तेत्तिंसकद्वयं पि च ।
चतुक्कज्झानवसेन चतुधानुत्तरे ठिता[1] ॥"

३९. क. प्रथमध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३६,
ख. द्वितीयध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३५,
ग. तृतीयध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३४,
घ. चतुर्थध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३३,
ङ. पञ्चमध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३३

– इस प्रकार लोकोत्तर चित्तों में पाँच प्रकार से सङ्ग्रहनय होता है ।

[ऊपर सम्प्रयुक्त चैतसिकों की सङ्ख्या मात्र दिखलायी गयी है । नाम-आदि का ज्ञान मूलपालि से करना चाहिये ।]

लोकोत्तरचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त ।

महग्गतचित्त-सङ्ग्रहनय

४०. विरतित्तयवज्जिता – कृत्य एवं आलम्बन विपरीत होने से महग्गत चित्तों में

---

* पञ्चतिंसा च–सी०; रो०; म० (क); पञ्चतिंस च – म० (ख) ।
† चतुतिंस – रो० (सर्वत्र) ।
‡ विरतिवज्जा – स्या० ।
§ वावीसति – स्या० ।
* पञ्चत्तिंस – स्या०, म० (क) ।
१. व० भा० टी० ।

तथा दुतियज्झानिकचित्तेसु वितक्कवज्जा। ततियज्झानिकचित्तेसु वितक्क-विचारवज्जा। चतुत्थज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचारपीतिवज्जा। पञ्चम-ज्झानिकचित्तेसु पन* पन्नरससु† अप्पमञ्ञायो न लब्भन्तीति‡ सब्बथापि सत्तवीसतिमहग्गतचित्तेसु पञ्चकज्झानवसेन पञ्चधा व सङ्गहो होतीति।

पृथक् पृथक् योग करना चाहिये। उसी प्रकार द्वितीयध्यान चित्तों में वितर्कवर्जित (३४ चैतसिक); तृतीयध्यान चित्तों में वितर्क एवं विचार वर्जित (३३ चैतसिक); चतुर्थध्यान चित्तों में वितर्क, विचार एवं प्रीति वर्जित (३२ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं) तथा पन्द्रह पञ्चम ध्यानचित्तों में 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक उपलब्ध नहीं होते – इस प्रकार सर्वथा २७ महग्गत चित्तों में पाँच ध्यानों के वश से चैतसिकों का पांच प्रकार से ही सङ्ग्रह होता है।

तीन विरतियाँ सम्प्रयुक्त नहीं होतीं[1]। विरतियों का कृत्य कायकर्म एवं वाक्कर्म का विशोधन करना है तथा महग्गत ध्यानों का कृत्य सुविशुद्ध कायकर्म एवं वाक्कर्म वाले पुद्गल के चित्त का विशोधन करना है[2]। ध्यान की प्राप्ति के लिये यदि भावना की जाती है तो सर्वप्रथम शीलविशुद्धि के लिये संयम करना होता है। उस शीलविशुद्धि के बल से सभी दुश्चरित एवं दुराजीव का प्रहाण करनेवाले योगी की सन्तान में समाधि होने से ही महग्गत ध्यानचित्त उत्पन्न होते हैं। उन महग्गत ध्यानों के लिये प्रहातव्य कोई दुश्चरित अथवा दुराजीव अवशिष्ट नहीं होता। वे लोकोत्तर धर्मों की तरह दुश्चरित-आदि की आधारभूत अनुशयधातु का भी प्रहाण नहीं कर सकते; अतः विरत होने के लिये दुश्चरित-आदि के सर्वथा न होने से ही उनमें विरतियों के सम्प्रयोग के लिये कोई अवकाश नहीं होता[3]।

विरतियाँ व्यतिक्रमितव्य-वस्तु (कायवाग्दुश्चरित) एवं निर्वाण का आलम्बन करके

---

* स्या० में नहीं।

† पण्णरससु – सी०, स्या०।

‡ लब्भन्ति – स्या०।

१. "किञ्चारम्मणविरुद्धत्ता विरतियो महग्गतेसु नुप्पज्जन्तीति आह – 'विरतित्तय-वज्जिता' ति।" – प० दी०, पृ० ९७।

२. "विरतियो हि कायवचीविसोधनकिच्चा होन्ति, महग्गतज्झानानि पन सुविसुद्ध-कायवचीपयोगस्सेव चित्तविसोधनकिच्चानि।" – प० दी०, पृ० ९७।

३. "सुविसुद्धकायकम्मादिकस्स चित्तसमाधानवसेन रूपारूपावचरकुसलप्पवत्ति, न कायकम्मादीनं सोधनवसेन, नापि दुच्चरितदुराजीवानं समुच्छिन्दनपटिप्पस्स-म्भनवसेना ति महग्गतचित्तुप्पादेसु विरतीनं असम्भवो येव।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४८।

४१. पञ्चतिंस चतुत्तिंस तेत्तिंस* च* यथाक्कमं ।
बत्तिंस† चेव तिंसेति‡ पञ्चधा व महग्गते ।।

३५ चैतसिक, ३४ चैतसिक, ३३ चैतसिक, ३२ चैतसिक तथा ३० चैतसिक – यथाक्रम पाँच प्रकार से ही महग्गत (पाँच ध्यान) चित्तों में सङ्गृहीत होते हैं ।

प्रवृत्त होती है । महग्गत ध्यान, प्रज्ञप्ति एवं महग्गत धर्मों का आलम्बन करके, प्रवृत्त होते हैं – इस प्रकार दोनों के आलम्बनों में भी वैपरीत्य होने से विरतियाँ इनमें सम्प्रयुक्त नहीं होतीं[1] ।

करुणा एवं मुदिता – ये दोनों कभी भी किसी चित्त में एक साथ सम्प्रयुक्त नहीं होतीं; क्योंकि करुणा दुःखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन कर प्रवृत्त होती है तथा मुदिता सुखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके प्रवृत्त होती है – इस प्रकार आलम्बन के वैपरीत्य के कारण, इन दोनों में से कोई एक ही एक बार में किसी ध्यानचित्त से सम्प्रयुक्त होती है । अर्थात् ध्यानचित्त का आलम्बन जब दुःखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति होती है तो करुणा तथा जब सुखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति होती है तब मुदिता का उस ध्यान से सम्प्रयोग होता है । जब करुणा होती है तब मुदिता तथा जब मुदिता होती है तब करुणा – वहाँ (उस समय) नहीं होती ।

अर्पणाप्राप्त अप्पमञ्ञा चैतसिक कभी भी सौमनस्य से विरहित नहीं होते। पञ्चमध्यान चित्त (१५) सर्वदा उपेक्षायुक्त होते हैं । इनके उपेक्षायुक्त होने से इनमें सौमनस्य कभी भी नहीं हो सकता । अतः दोनों 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक कभी भी पञ्चमध्यान से सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते[2] ।

४१. उपर्युक्त सङ्ग्रहनय का प्रतिपादन ध्यानचित्तों के पञ्चकनय के आधार पर किया गया है । यदि चतुष्कनय के आधार पर प्रतिपादन किया गया होता तो उस नय के आधार पर सङ्ग्रह-गाथा का रूप यह होता :

"पञ्चतिंस च तेत्तिंस, बत्तिंस तिंस चेति च ।
चतुक्कज्झानवसेन चतुधा व महग्गते[3] ।।"

क. महग्गत प्रथमध्यान में सम्प्रयुक्त चैतसिक ३५,
ख. महग्गत द्वितीयध्यान में सम्प्रयुक्त चैतसिक ३४,

- तेत्तिंसाथ – स्या० ।
† द्वत्तिंस – सी०; बात्तिंस – म० (क, ख) ।
‡ तिंसाति – स्या० ।
१. द्र० – विभा०, पृ० ९०–९१; प० दी०, पृ० ९७ ।
२. द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४८ ।
३. ब० भा० टी० ।

कामावचरसोभनचित्त-सङ्गहनयो

४२. कामावचरसोभनेसु पन कुसलेसु ताव पठमद्वये* अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका, पञ्चवीसति सोभनचेतसिका चेति अट्ठतिंस† धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति। अप्पमञ्ञा-विरतियो पनेत्थ पञ्च पि पच्चेकमेव योजेतब्बा। तथा दुतियद्वये ञाणवज्जिता, ततियद्वये ञाणसम्पयुत्ता पीतिवज्जिता, चतुत्थ-द्वये ञाणपीतिवज्जिता ते एव सङ्गय्हन्ति।

कामावचर शोभनचित्तों के आठ कुशलचित्तों में से प्रथमद्वय (ज्ञान-सम्प्रयुक्त) में अन्यसमान चैतसिक १३, एवं शोभन चैतसिक २५ – इस प्रकार कुल ३८ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं। 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक २, तथा विरति चैतसिक ३ – इस प्रकार इन ५ चैतसिकोंका पृथक् पृथक् ही योग करना चाहिये।

उसी प्रकार द्वितीय द्विक में ज्ञानवर्जित (३७ चैतसिक), तृतीय द्विक में ज्ञानसम्प्रयुक्त एवं प्रीतिवर्जित (३७ चैतसिक), चतुर्थ द्विक में ज्ञान एवं प्रीति वर्जित वे ही (अन्यसमान+शोभन=३६ चैतसिक) सङ्गृहीत होते हैं।

ग. महग्गत तृतीयध्यान में सम्प्रयुक्त चैतसिक ३३,
घ. महग्गत चतुर्थध्यान में सम्प्रयुक्त चैतसिक ३२,
ङ. महग्गत पञ्चमध्यान में सम्प्रयुक्त चैतसिक ३०
– इस प्रकार महग्गत चित्तों में पाँच प्रकार से सङ्ग्रहनय होता है।

[यहाँ सम्प्रयुक्त चैतसिकों की सङ्ख्या मात्र दिखलायी गयी है, उनके नाम-आदि का ज्ञान मूलपालि से करना चाहिये।]

महग्गतचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त।

कामावचर शोभनचित्त-सङ्ग्रहनय

४२. कामावचर आठ कुशलचित्तों में से प्रथम दो (सौमनस्यसहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक) चित्तों को प्रथम द्विक, तृतीय एवं चतुर्थ (सौमनस्यसहगत ज्ञानविप्रयुक्त असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक) चित्तों को द्वितीय द्विक, पञ्चम एवं षष्ठ (उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक) चित्तों को तृतीय द्विक तथा सप्तम एवं अष्टम (उपेक्षासहगत ज्ञानविप्रयुक्त असंस्कारिक एवं ससंस्कारिक) चित्तों को चतुर्थ द्विक कहा जाता है।

इसी प्रकार क्रिया एवं विपाक चित्तों में भी ४–४ द्विक होते हैं।

---

* पठमद्वये ञाणसम्पयुत्ते – स्या०।

† अट्ठत्तिंस – स्या०, म० (क)।

४३ क्रियाचित्तेसु पि विरतिवज्जिता तथेव चतूसु पि दुकेसु चतुधा व* सङ्गय्हन्ति† ।

क्रियाचित्तों में भी विरतिवर्जित (वे ही अन्यसमान एवं शोभन चैतसिक ३५) उसी प्रकार चारों द्विकों में चार प्रकार से सङ्गृहीत होते हैं ।

'अप्पमञ्ञा' चैतसिक २ एवं विरति चैतसिक ३ – इस प्रकार ये ५ चैतसिक एक चित्त मे कभी भी एक साथ प्रवृत्त नहीं होते । जब इनमें से कोई एक चैतसिक किसी एक चित्त में सम्प्रयुक्त होता है उस समय अन्य शेष चार चैतसिक सम्प्रयुक्त नही होते; क्योंकि 'अप्पमञ्ञा' (करुणा, मुदिता) – चैतसिक सत्त्वप्रज्ञप्ति का तथा विरति चैतसिक व्यतिक्रमितव्य-वस्तु का आलम्बन करके प्रवृत्त होते हैं, अतः इन का एक चित्त में सहावस्थान असम्भव है[1] ।

यद्यपि 'कामावचर शोभनचित्तों के प्रथम द्विक में ३८ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं' – ऐसा कहा गया है; तथापि एक बार में (किसी एक काल में) किसी एक चित्त में ये ३८ चैतसिक कभी भी उपलब्ध नहीं होते; क्योंकि अप्पमञ्ञा एवं विरति – इन पाँच चैतसिकों में से कोई एक चैतसिक ही एक बार में सम्प्रयुक्त होता है, अतः किसी एक काल में या एक बार में अधिक से अधिक ३४ चैतसिक ही उपलब्ध होंगे ।

४३. क्रियाचित्तों में विरतियाँ नहीं होतीं; क्योंकि क्रियाचित्त अर्हत् की सन्तान में ही होते हैं और जिन अर्हत्-पुद्गलों ने अर्हत्-पद की प्राप्ति के पूर्व ही दुश्चरित एवं दुराजीव-आदि का अशेष प्रहाण कर दिया है उन की सन्तान में दुश्चरित दुराजीव-आदि से विरत होनेवाली विरतियाँ भला कैसे हो सकती हैं ! लौकिक विरतियाँ क्रियाचित्तों में सम्प्रयुक्त नहीं होतीं ।

किसी वस्तु से विरत होने के स्वभाववाले न होकर अपितु कुशल के फलमात्र होनेवाले लौकिक विपाकचित्तों में भी विरतियाँ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकतीं । वस्तुतः – सभी विरतियाँ, एकान्त रूप से कुशलस्वभाव होने के कारण, लौकिक-अव्याकृत (विपाक एवं क्रिया) – चित्तों में सम्प्रयुक्त नहीं होतीं[2] ।

---

* स्या० में नहीं ।

† सङ्गहं गच्छन्ति – स्या० ।

१. "अप्पमञ्ञानं हि सत्तारम्मणत्ता विरतीनं च वीतिक्कमितब्बवत्थुविसयत्ता नत्थि तासं एकचित्तुप्पादे सम्भवो ति ।" – विभा०, पृ० ९१ ।

२. "लोकियविरतीनं एकन्तकुसलसभावत्ता नत्थि अब्याकतेसु सम्भवो ति वुत्तं – 'विरतिवज्जिता' ति ।" – विभा०, पृ० ९१ ।

४४. तथा* विपाकेसु च अप्पमञ्ञाविरतिवज्जिता ते एव सङ्ग-य्हन्तीति† सब्बथापि चतुवीसतिकामावचरसोभनचित्तेसु दुकवसेन द्वादसधा व सङ्गहो होतीति ।

सङ्गहगाथा

४५. अट्ठतिंस‡ सत्ततिंसद्वयं§ छत्तिंसकं सुभे ।
पञ्चतिंस चतुत्तिंसद्वयं तेत्तिसकं क्रिये ।।

४६. तेत्तिस पाके बत्तिसद्वयेकतिसकं* भवे ।
सहेतुकामावचरपुञ्ञपाकक्रियामने ।।

उसी प्रकार विपाकचित्तों में भी अप्पमञ्ञा एवं विरति वर्जित वे ही (३३ अन्यसमान एवं शोभन चैतसिक, चारों द्विकों में चार प्रकार से) सङ्गृहीत होते हैं। इस तरह सभी प्रकार से २४ कामावचर शोभनचित्तों में द्विकों के अनुरोध से वारह प्रकार से ही सङ्ग्रह होता है।

कामावचर ८ कुशलचित्तों (के चार द्विकों) में क्रमश: ३८ चैतसिक, ३७ चैतसिक, पुन: ३७ चैतसिक तथा ३६ चैतसिक होते हैं। इसी प्रकार क्रियाचित्तों (के चार द्विकों) में ३५ चैतसिक, ३४ चैतसिक, पुन: ३४ चैतसिक तथा ३३ चैतसिक होते हैं।

विपाकचित्तों (के चार द्विकों) में ३३ चैतसिक, ३२ चैतसिक, पुन: ३२ चैतसिक तथा ३१ चैतसिक होते हैं। इस प्रकार सहेतुक कामावचर कुशल, विपाक एवं क्रिया चित्तों में (वारह प्रकार से सङ्ग्रहनय जानना चाहिये)।

---

४४. विपाकचित्तों में अप्पमञ्ञा एवं विरतियाँ — दोनों प्रकार के चैतसिक नहीं होते; क्योंकि कामावचर विपाकचित्त 'परित्त' नामक काम-धर्मों का ही एकान्त रूप से आलम्बन करते हैं तथा 'अप्पमञ्ञा' सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करती हैं (सभी सत्त्व इनके आलम्बन होते हैं, अत: इनका आलम्बन 'परित्त' नहीं होता) — इस प्रकार अप्पमञ्ञा एवं कामविपाकचित्तों में आलम्बन-भेद होने से, तथा लौकिक विरतियाँ एकान्त रूप से कुशलस्वभाव होती हैं और विपाकचित्त कुशल-अकुशलस्वभाव न होकर अव्याकृत होते हैं — इस प्रकार विरति एवं विपाकचित्तों में स्वभाव-भेद होने से, कामावचर विपाकचित्तों में अप्पमञ्ञा एवं विरतियाँ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकतीं[1]।

सङ्ग्रहगाथाएँ

४५-४६. कुशलचित्तों के सङ्ग्रहनय के अनन्तर विपाकचित्तों के सङ्ग्रहनय

---

* तथापि – रो० ।		† सङ्गय्हन्ति – स्या० ।
‡ अट्ठत्तिंस – म० (क) ।		§ सत्तत्तिंस० – म० (क) ।
* द्वत्तिंस० – सी०, स्या० ।

१. "कामावचरविपाकानं पि एकन्तपरित्तारम्मणत्ता अप्पमञ्ञानं च सत्तारम्मणत्ता, विरतीनं एकन्तकुसलत्ता वुत्तं– 'अप्पमञ्ञाविरतिवज्जिता' ति।"–विभा०, पृ० ९१।

४७. न विज्जन्तेत्थ विरती* क्रियेसु† च महग्गते ।
अनुत्तरे अप्पमञ्ञा कामपाके द्वयं तथा ।।
४८. अनुत्तरे झानधम्मा अप्पमञ्ञा च मज्झिमे ।
विरती ञाणपीती‡ च परित्तेसु विसेसका ।।

शोभनचित्तों में से महाक्रियाचित्त एवं महग्गत चित्तों में विरति-चैतसिक नहीं होते। लोकोत्तर चित्तों में अप्पमञ्ञा चैतसिक नहीं होते। महाविपाकचित्तों में अप्पमञ्ञा एवं विरति – दोनों नहीं होते।

लोकोत्तर चित्तों में ध्यान-धर्म (वितर्क-आदि चैतसिक) विशेषक (भेदक) होते हैं। महग्गत चित्तों में अप्पमञ्ञा एवं ध्यान-धर्म विशेपक होते हैं तथा कामावचर शोभनचित्तों में विरति, ज्ञान, प्रीति एवं अप्पमञ्ञा विशेपक होते हैं।

का वर्णन प्रसङ्गप्राप्त था; किन्तु ऐसा न कर पहले क्रियाचित्तों के सङ्ग्रहनय को कहा गया है; क्योंकि क्रियाचित्तों मे विपाकचित्तों की अपेक्षा अधिक चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं, अतः सङ्ख्या का आधिक्य दृष्टि मे रखकर क्रियाचित्तों के अनन्तर विपाकचित्तों का सङ्ग्रहनय कहा गया है ।

	कुशल	क्रिया	विपाक
प्रथम द्विक	३८	३५	३३
द्वितीय द्विक	३७	३४	३२
तृतीय द्विक	३७	३४	३२
चतुर्थ द्विक	३६	३३	३१

कामावचरशोभनचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त।

४८. इस गाथा में लोकोत्तर, महग्गत एवं कामावचर शोभनचित्तों में परस्पर भेद करने-वाले चैतसिकों को दिखलाया गया है। 'विसेसेन्तीति विसेसका' जो धर्म चित्तों का भेद करते हैं वे विशेपक हैं। जिस प्रकार 'विजानन' – इस लक्षण से चित्त एक ही प्रकार का होता है; और वही भूमि, जाति एवं सम्प्रयोग-आदि भेद से अनेकविध हो जाता है; उसी प्रकार (भूमि, जाति-आदि भेद से भिन्न उन अनेकविध चित्तों में से) लोकोत्तर चित्तों का प्रथमध्यान चित्त, द्वितीयध्यान चित्त-आदि के रूप में पुनः भेद करने के लिये वितर्क-आदि ध्यानाङ्गों को यहाँ भेदक के रूप में दिखलाया गया है[1] ।

अनुत्तरे झानधम्मा – भूमि-भेद से भिन्न लोकोत्तर चित्तों का वितर्क-आदि ध्यानाङ्ग

---

* विरति – रो० । † क्रियासु – सी०, रो०, ना० ।

‡ ञाणपीति – स्या०, रो० । १. विभा०, पृ० ९१; प० दी०, पृ० ९८ ।

पुनः भेद करते हैं, यथा – वितर्क प्रथमध्यान चित्त में ही सम्प्रयुक्त होता है, द्वितीयध्यान चित्त-आदि में नहीं; वितर्क के इस प्रकार के सम्प्रयोग एवं असम्प्रयोग के कारण 'प्रथमध्यान चित्त एक प्रकार का तथा द्वितीयध्यान चित्त (प्रथम से भिन्न) दूसरे प्रकार का है' – ऐसा इन दोनों में 'विशेष' होता है । इस प्रकार 'वितर्क-नामक ध्यानाङ्ग' प्रथमध्यान चित्त एवं द्वितीय-ध्यान चित्त-आदि चित्तों के अन्योन्यभेद का करनेवाला है । इसी प्रकार विचार, प्रीति एवं सुख ध्यानाङ्गों के भेदकत्व को भी, उनके सम्प्रयोग एवं असम्प्रयोग के आधार पर, समझना चाहिये ।

अपने से (ध्यानाङ्ग-आदि से) सम्प्रयुक्त चित्त 'एक' तथा अपने से असम्प्रयुक्त चित्त 'एक' – इस प्रकार परस्पर भिन्न करनेवाले धर्म को यहाँ 'विशेषक' कहा गया है ।

अप्पमञ्ञा च मज्झिमे – लोकोत्तर चित्त 'उत्तम' तथा कामावचर चित्त 'हीन' कहे जाते हैं । इन दोनों के मध्य में होने के कारण, महग्गत चित्तों को 'मध्यम' (मज्झिम) कहा जाता है । इन मध्यम चित्तों में 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक, तथा 'च' शब्द के द्वारा ध्यान-धर्म[1] – ये दोनों 'विशेषक' होते हैं । 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक प्रथम चार ध्यानों में सम्प्रयुक्त होते हैं, पञ्चमध्यान में नहीं – इस प्रकार इनके द्वारा पञ्चमध्यान को प्रथम चार ध्यानों से भिन्न (पृथक्) किया जाता है । अतः ये (अप्पमञ्ञाएँ) महग्गत चित्तों में 'विशेषक' हैं ।

विरती . . . परित्तेसु विसेसका – कामावचर चित्तों को 'परित्त' कहते हैं । इनमें विरतियाँ, ज्ञान (प्रज्ञेन्द्रिय), एवं प्रीति तथा 'च' शब्द से अप्पमञ्ञाएँ – ये धर्म 'विशेषक' हैं । विरतित्रय केवल कामावचर कुशलचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होती हैं, विपाक तथा क्रिया चित्तों में नहीं – इस प्रकार ये विरतियाँ कुशलचित्तों को विपाक एवं क्रिया चित्तों से पृथक् करती हैं, अतः ये कामावचर चित्तों में 'विशेषक' हैं । 'ज्ञान' (प्रज्ञा चैतसिक) ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्तों में ही होता है, ज्ञानविप्रयुक्त चित्तों में नहीं – इस प्रकार यह (ज्ञान) बारह ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्तों को बारह ज्ञानविप्रयुक्त चित्तों से पृथक् (भिन्न) करता है, अतः यह भी कामावचर चित्तों में 'विशेषक' है । प्रीति, बारह सौमनस्यसहगत चित्तों में सम्प्रयुक्त होती है, बारह उपेक्षासहगत चित्तों में नहीं – इस प्रकार यह (प्रीति) बारह सौमनस्यसहगत चित्तों को बारह उपेक्षासहगत चित्तों से पृथक् (भिन्न) करती है, अतः यह (प्रीति) भी कामावचर चित्तों में 'विशेषक' है । इसी तरह 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक कुशल एवं क्रिया चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं, विपाकचित्तों में नहीं – इस प्रकार ये (अप्पमञ्ञा चैतसिक) कुशल एवं क्रिया चित्तों को विपाकचित्तों से पृथक् (भिन्न) करते हैं, अतः ये भी कामावचर चित्तों में 'विशेषक' हैं ।

शोभनचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त ।

---

१. ध्यान-धर्मों (वितर्क-आदि ध्यानाङ्गों) के विशेषकत्व (भेदकरत्व) को उपर्युक्त लोकोत्तर चित्तों के प्रसङ्ग में कथित प्रकार के अनुसार समझना चाहिये ।

अकुसलचित्त-सङ्गहनयो

४९. अकुसलेसु पन लोभमूलेसु ताव पठमे असङ्खारिके अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका, अकुसलसाधारणा चत्तारो चा* ति* सत्तरस लोभदिट्ठीहि सद्धि एकूनवीसति धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति ।

५०. तथेव दुतिये असङ्खारिके लोभमानेन† ।

५१. ततिये तथेव पीतिवज्जिता लोभदिट्ठीहि सह‡ अट्ठारस ।

५२. चतुत्थे तथेव लोभ-मानेन ।

५३. पञ्चमे पन पटिघसम्पयुत्ते असङ्खारिके दोसो, इस्सा, मच्छरियं, कुक्कुच्चञ्चा ति चतूहि सद्धि पीतिवज्जिता ते एव वीसति धम्मा सङ्गय्हन्ति। इस्सा-मच्छरिय-कुक्कुच्चानि§ पनेत्थ पच्चेकमेव योजेतब्बानि ।

अकुशलचित्तों में से (८) लोभमूलचित्तों के प्रथम असंस्कारिक चित्त में अन्यसमान चैतसिक १३, सर्व-अकुशलसाधारण चैतसिक ४ – इस प्रकार १७ चैतसिक, लोभ एवं दृष्टि चैतसिक के साथ, कुल १९ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं ।

उसी प्रकार द्वितीय असंस्कारिक चित्त में भी (उपर्युक्त १७ चैतसिक) लोभ एवं मान के साथ (कुल १९ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं) ।

उसी प्रकार तृतीय असंस्कारिक चित्त में (उपर्युक्त १७ चैतसिकों में से), प्रीति को वर्जित कर तथा लोभ एवं दृष्टि के साथ, कुल १८ चैतसिक (सङ्गृहीत होते हैं) ।

चतुर्थ असंस्कारिक चित्त में भी उसी प्रकार (प्रीतिवर्जित १६ चैतसिक) लोभ एवं मान के साथ (कुल १८ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं) ।

तथा पञ्चम प्रतिघसम्प्रयुक्त असंस्कारिक चित्त में (उपर्युक्त १७ चैतसिकों में से) प्रीति को वर्जित कर तथा द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – इस प्रकार इन चार चैतसिकों के साथ वे ही २० चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं ।

ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – इन तीनों का पृथक् पृथक् ही योग करना चाहिये ।

अकुशलचित्त-सङ्ग्रहनय

४९–५३. इस अकुशल-सङ्ग्रह में यहाँ ४ लोभमूल असंस्कारिक चित्त तथा १ द्वेषमूल असंस्कारिक चित्त – इस प्रकार कुल ५ असंस्कारिक चित्तों का क्रमशः वर्णन किया गया है । ठीक इसी तरह इसके अनन्तर पाँच ससंस्कारिक चित्तों का वर्णन किया गया है । इन दोनों प्रकार के चित्तों के वर्णन के अनन्तर, इनसे अवशिष्ट

- चेति – स्या० । † लोभमानेन सद्धि – स्या० ।

‡ स्या० में नहीं । § ०मच्छेर० – स्या०, रो०, ना० ।

दो मोमूहचित्तों का वर्णन किया गया है । इन दोनों मोमूहचित्तों में से भी औद्धत्यसहगत का पहले तथा विचिकित्सासहगत का उसके अनन्तर वर्णन किया गया है ।

इन सभी चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का ज्ञान मूलपालि के आधार पर करना चाहिये । यदि 'सम्प्रयोगनय' का भली भाँति ज्ञान होगा तो 'विप्रयोग-नय' का ज्ञान भी अनायास ही हो जायेगा ।

प्रथम असंस्कारिक चित्त में १९ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं; यथा – ७ सर्वचित्तसाधारण चैतसिक तो सभी चित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः वे इस चित्त में भी सम्प्रयुक्त होंगे ही । ६ प्रकीर्णक चैतसिक भी सम्प्रयोगनय के अनुसार इसमें सम्प्रयुक्त होते हैं । ४ अकुशलसाधारण चैतसिक सभी अकुशलचित्तों में सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः वे भी इसमें सम्प्रयुक्त होंगे ही – इस तरह इसमें सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों की सङ्ख्या अन्यसमान चैतसिक १३ एवं सर्व-अकुशलसाधारण चैतसिक ४=१७ हुई ।

यह चित्त लोभमूल है, अतः 'लोभ' चैतसिक तथा यह चित्त दृष्टिसम्प्रयुक्त है, अतः 'दृष्टि' चैतसिक – इस प्रकार ये दो चैतसिक भी इस चित्त में सम्प्रयुक्त होते हैं । पूर्वोक्त १७ चैतसिक तथा ये २ चैतसिक – इस तरह कुल १९ चैतसिक इस चित्त में सम्प्रयुक्त होते हैं ।

द्वितीय असंस्कारिक चित्त दृष्टिविप्रयुक्त होता है, अतः उसमें 'दृष्टि' चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं हो सकता; किन्तु इस चित्त में दृष्टि के स्थान में 'मान' चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है, अतः इसमें प्रथम असंस्कारिक चित्त की भाँति १९ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं ।

तृतीय एवं चतुर्थ असंस्कारिक चित्त उपेक्षासहगत होते हैं, अतः इनमें 'प्रीति' सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती । प्रीतिसम्प्रयुक्त न होने से इन दोनों चित्तों में १८ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं ।

दौर्मनस्यसहगत प्रतिघसम्प्रयुक्त असंस्कारिक चित्त को 'पञ्चम असंस्कारिक' कहते हैं । इसमें द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – ये ४ चैतसिक, प्रीतिवर्जित अन्यसमान १२ चैतसिक तथा सर्व-अकुशलसाधारण ४ चैतसिक – इस प्रकार कुल २० चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं ।

इस्सा-मच्छरिय ... पच्चेकमेव योजेतब्बानि – यद्यपि ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य – ये तीनों चैतसिक पञ्चम असंस्कारिक चित्त में सम्प्रयुक्त होते हैं, तथापि इन तीनों के आलम्बन भिन्न भिन्न होने के कारण, ये एक काल में एक साथ इस चित्त में सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपितु कभी कोई चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है तो कभी- कोई । अर्थात् एक काल में इन तीनों में से कोई एक चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होता है ।

[ईर्ष्या का आलम्बन परसम्पत्ति, मात्सर्य का स्वसम्पत्ति तथा कौकृत्य का आलम्बन कृत दुश्चरित एवं अकृत सुचरित होता है । इस प्रकार, इनमें आलम्बन-भेद होने के कारण, ये परस्पर सहानवस्थानस्वभाव होते हैं ।]

यद्यपि ऊपर कहा गया है कि पञ्चम असंस्कारिक चित्त में २० चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं, तथापि उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि किसी एक

५४. ससङ्खारिकपञ्चके पि तथेव थीनमिद्धेन विसेसेत्वा योजेतब्बा।

५५. छन्दपीतिवज्जिता पन अञ्ञसमाना एकादस, अकुसलसाधारणा चत्तारो चा ति पन्नरस धम्मा उद्धच्चसहगते सम्पयुज्जन्ति ।

५६. विचिकिच्छासहगतचित्ते च अधिमोक्खविरहिता विचिकिच्छासहगता तथेव पन्नरस धम्मा समुपलब्भन्तीति* सब्बथापि द्वादसाकुसलचित्तुप्पादेसु पच्चेकं योजियमानापि गणनवसेन सत्तधा व सङ्गहिता भवन्तीति ।

ससंस्कारिकपञ्चक में भी उसी प्रकार (असंस्कारिक चित्तों में सम्प्रयुक्त चैतसिकों को) स्त्यान एवं मिद्ध के साथ सम्मिलित करके युक्त करना चाहिये ।

छन्द एवं प्रीति वर्जित अन्यसमान चैतसिक ११, अकुशलसाधारण चैतसिक ४ – इस तरह कुल १५ चैतसिक औद्धत्यसहगत चित्त में सम्प्रयुक्त होते हैं।

विचिकित्सासहगत चित्त में भी अधिमोक्षवर्जित विचिकित्सासहित उसी प्रकार १५ चैतसिक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार सर्वथा १२ अकुशलचित्तों में पृथक् पृथक् युक्त किये जाते हुए भी गणना की दृष्टि से (वे चैतसिक) सात प्रकार से ही सङ्गृहीत होते हैं ।

काल में १८ से अधिक चैतसिक इस चित्त में सम्प्रयुक्त नहीं रहते; क्योंकि ईर्ष्या, मात्सर्य एवं कौकृत्य में से कोई एक ही इसमें सम्प्रयुक्त होगा ।

अपिच – पूर्वोक्त तीनों चैतसिक अनियतयोगी हैं, अर्थात् इनका योग अनिवार्य नहीं है । जब परसम्पत्ति-आदि आलम्बन होंगे तो ईर्ष्या-आदि होंगे; अन्यथा नहीं – इस तरह, किसी कालविशेष में आलम्बन के उपस्थित न होने पर, ये तीनों चैतसिक इसमें सम्प्रयुक्त न हों – ऐसी स्थिति भी हो सकती है और ऐसी अवस्था में इन तीनों के न होने पर इस चित्त में कभी १७ चैतसिक भी सम्प्रयुक्त रह सकते हैं ।

५४. सौमनस्यसहगत दृष्टिगतसम्प्रयुक्त ससंस्कारिक चित्त-आदि पाँच ससंस्कारिक चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों के सम्प्रयोग का ज्ञान, पूर्वोक्त पाँच असंस्कारिक चित्तों में कथित चैतसिकों के साथ स्त्यान एवं मिद्ध को मिलाकर, करना चाहिये । यथा – प्रथम असंस्कारिक चित्त में सम्प्रयुक्त होनेवाले १९ चैतसिकों में पुनः स्त्यान एवं मिद्ध को मिलाने से – प्रथम ससंस्कारिक चित्त में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक २१ होते हैं । इसी प्रकार द्वितीय ससंस्कारिक-आदि चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों की सङ्ख्या, द्वितीय असंस्कारिक-आदि चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिकों में स्त्यान एवं मिद्ध को मिलाकर, जाननी चाहिये ।

	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पञ्चम
असंस्कारिक	१९	१९	१८	१८	२०
ससंस्कारिक	२१	२१	२०	२०	२२

* लब्भन्ति – स्या० ।

सङ्गहगाथा

५७. एकूनवीसाट्ठारस* वीसेकवीस वीसति ।
द्वावीसा† पन्नरसेति‡ सत्तधाकुसले ठिता ॥

५८. साधारणा च चत्तारो समाना च दसापरे ।
चुद्दसेते पवुच्चन्ति सब्बाकुसलयोगिनो ॥

अकुशलचित्तों में सङ्ग्रहनय – उन्नीस, अठारह, वीस, इक्कीस, वीस, वाईस; तथा पन्द्रह – इस तरह सात प्रकार से स्थित है ।

अकुशलसाधारण चैतसिक ४ तथा छन्द-अधिमोक्ष-प्रीतिवर्जित अन्यसमान चैतसिक १० – इस प्रकार ये १४ चैतसिक 'सर्व-अकुशलयोगी' कहे जाते हैं ।

अहेतुकचित्त-सङ्गहनयो

५९. अहेतुकेसु पन हसनचित्ते ताव छन्दवज्जिता अञ्ञासमाना द्वादस धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति ।

६०. तथा वोट्ठपने छन्दपीतिवज्जिता ।

(१८) अहेतुक चित्तों में से हसनचित्त में छन्दवर्जित अन्यसमान १२ चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं ।

उसी प्रकार वोट्ठपन (व्यवस्थापन) चित्त में छन्द एवं प्रीति वर्जित (वे ही ११ अन्यसमान चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं) ।

सङ्ग्रहगाथा

५७. आठ लोभसहगत चित्तों के प्रथम असंस्कारिक एवं द्वितीय असंस्कारिक चित्त में १९ चैतसिक प्राप्त होते हैं । तृतीय असंस्कारिक एवं चतुर्थ असंस्कारिक चित्त में १८ चैतसिक, पञ्चम असंस्कारिक चित्त में २० चैतसिक; प्रथम ससंस्कारिक एवं द्वितीय ससंस्कारिक चित्त में २१ चैतसिक, तृतीय ससंस्कारिक एवं चतुर्थ ससंस्कारिक चित्त में २० चैतसिक, पञ्चम ससंस्कारिक चित्त में २२ चैतसिक; मोमूहद्वय में १५ चैतसिक – इस तरह अकुशल चित्तों में सात प्रकार से चैतसिकों का सङ्ग्रह होता है ।

[यहाँ चैतसिकों की केवल सङ्ख्या दिखलायी गयी है, सङ्ख्येयों का परिज्ञान मूलपालि से करना चाहिये ।]

अकुशलचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त ।

अहेतुकचित्त-सङ्ग्रहनय

५९–६३. हसितोत्पादचित्त ही 'हसनचित्त' है । मनोद्वारावर्जन को 'वोट्ठपन' कहते हैं । 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'ठा' धातु से 'यु' प्रत्यय होने पर 'वोट्ठपन' शब्द

---

* एकूनवीसट्ठारस – सी०, स्या०, ना० ।

† वावीस – स्या० ।

‡ पण्णरसाति – स्या० ।

६१. सुखसन्तीरणे छन्दवीरियवज्जिता।

६२. मनोधातुत्तिकाहेतुकपटिसन्धियुगले* छन्दपीतिवीरियवज्जिता।

६३. द्विपञ्चविञ्ञाणे† पकिण्णकवज्जिता ते येव‡ सङ्गय्हन्तीति सब्बथापि अट्ठारससु अहेतुकेसु गणनवसेन चतुधा व सङ्गहो होतीति।

सङ्गहगाथा

६४. द्वादसेकादस दस सत्त चा ति चतुब्बिधो।
अट्ठारसाहेतुकेसु चित्तुप्पादेसु सङ्गहो॥

सुखसन्तीरण में छन्द तथा वीर्य वर्जित (वे ही ११ अन्यसमान चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं)।

मनोधातुत्रिक (पञ्चद्वारावर्जन एवं दो सम्पटिच्छन) एवं अहेतुक-प्रतिसन्धियुगल (दो उपेक्षा-सन्तीरण) में छन्द, प्रीति एवं वीर्य वर्जित (वे ही १० अन्यसमान चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं)।

द्विपञ्चविज्ञान में प्रकीर्णक चैतसिकों से वर्जित वे ही (७ अन्यसमान चैतसिक) सङ्गृहीत होते हैं। इस प्रकार सर्वथा १८ अहेतुक चित्तों में, गणना की दृष्टि से, (चैतसिकों का) चार प्रकार से ही सङ्ग्रह होता है।

१८ अहेतुक चित्तोत्पाद में सङ्ग्रहनय – बारह, ग्यारह, दस तथा सात – इस प्रकार चतुर्विध होता है।

निष्पन्न होता है। अहेतुक कुशलविपाक सौमनस्यसहगत सन्तीरण को 'सुखसन्तीरण' कहा गया है। पञ्चद्वारावर्जन एवं दोनों सम्पटिच्छन चित्तों को 'मनोधातुत्रय' कहते हैं। दोनों उपेक्षासहगत सन्तीरण 'अहेतुकप्रतिसन्धियुगल' कहे जाते हैं।

इनमें चैतसिकों के सम्प्रयोग एवं विप्रयोग को मूलपालि से जानना चाहिये।

इन अठारह अहेतुक चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का चतुर्विध सङ्ग्रहनय अग्रिम गाथा से जाना जा सकता है।

सङ्ग्रहगाथा

६४. अहेतुक चित्तों में सम्प्रयुक्त चैतसिकों का चतुर्विध सङ्ग्रहनय इस प्रकार है –

१. हसितोत्पाद से सम्प्रयुक्त	१२
२. वोट्ठपन } ३. सुखसन्तीरण } से सम्प्रयुक्त	११
४. मनोधातुत्रय एवं प्रतिसन्धियुगल से सम्प्रयुक्त	१०
५. द्विपञ्चविज्ञान से सम्प्रयुक्त	७

---

* मनोधातुतिका० – स्या०; ०युगळे – म० (क); ०युगते – रो०।

† द्विपञ्चविञ्ञाणेसु – स्या०। ‡ एव – स्या०।

६५. अहेतुकेसु सब्बत्थ सत्त सेसा यथारहं।
इति वित्थारतो वुत्तो* तेत्तिसविधसङ्गहो* ॥

सभी अहेतुक चित्तों में सर्वचित्तसाधारण ७ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। शेष (छन्दवर्जित ५ प्रकीर्णक चैतसिक) यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार विस्तार से तैंतीस प्रकार का सङ्ग्रहनय कहा गया है।

निगमनं

६६. इत्थं चित्ताविवुत्तानं सम्पयोगञ्च सङ्गहं।
ञत्वा भेदं यथायोगं चित्तेन सममुद्दिसे ॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे चेतसिकसङ्गहविभागो नाम
दुतियो परिच्छेदो।

इस प्रकार चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों के सम्प्रयोग एवं सङ्ग्रह नय को जानकर यथायोग चित्त के समान उनका भेद कहे।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'चैतसिकसङ्ग्रहविभाग' नामक
द्वितीय परिच्छेद समाप्त।

---

६५. अन्यसमान १३ चैतसिकों में से सर्वचित्तसाधारण ७ चैतसिक सब अहेतुक चित्तों में पाये जाते हैं। अवशिष्ट ६ प्रकीर्णक चैतसिकों में से छन्द चैतसिक किसी भी अहेतुक चित्त में सम्प्रयुक्त नहीं होता। छन्दवर्जित ५ प्रकीर्णक चैतसिक अहेतुक चित्तों में यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते हैं। इनके सम्प्रयोग का ज्ञान सम्प्रयोगनय से करना चाहिये।

अहेतुकचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त।

इति वित्थारतो वुत्तो... – यहाँ सम्पूर्ण ८९ चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का सङ्ग्रहनय प्रदर्शित किया गया है। इन चित्तों में चैतसिकों का विस्तार से तैंतीस प्रकार का सङ्ग्रह होता है; यथा –

लोकोत्तर चित्तों में – पाँच प्रकार का; महग्गत चित्तों में – पाँच प्रकार का; सहेतुक कामावचर चित्तों में – बारह प्रकार का; अकुशल चित्तों में – सात प्रकार का; तथा अहेतुक चित्तों में – चार प्रकार का, इस तरह चैतसिकों का विस्तार से तैंतीस प्रकार का सङ्ग्रहनय कहा गया है।

सङ्ग्रहनय समाप्त।

निगमन

६६. इस चैतसिक प्रकरण में दो प्रकार के नय का वर्णन किया गया है; यथा – (क) सम्प्रयोगनय एवं (ख) सङ्ग्रहनय।

- वुत्ता तेत्तिसविधसङ्गहा – स्या०।

(क) सम्प्रयोगनय – इसके द्वारा किसी चैतसिक में सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्तों का वर्णन किया जाता है; यथा – वितर्क चैतसिक के साथ ५५ चित्त सम्प्रयुक्त होते हैं – इत्यादि ।

(ख) सङ्ग्रहनय – इसके द्वारा किसी चित्त में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का वर्णन किया जाता है; यथा – लोकोत्तर प्रथमध्यान चित्त में ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं – इत्यादि ।

चित्तेन सममुद्दिसे – इसका भाव यह है कि सम्प्रयुक्त चित्तों के बराबर (समान सङ्ख्या में) चैतसिकों के भेद को कहना चाहिये; यथा – 'स्पर्श' चैतसिक एक है, एक होने पर भी यह ८९ चित्तों मे सम्प्रयुक्त होता है; अतः स्पर्श चैतसिक भी ८९ है । इसी प्रकार ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त होने के कारण, एक होने पर भी 'वितर्क' चैतसिक सङ्ख्या में ५५ हो जाता है । स्पर्श एवं वितर्क की ही भाँति अन्य चैतसिकों को भी उनमें सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्तों की सङ्ख्या के बराबर जानना चाहिये । इसी अभिप्राय से 'चित्तेन सममुद्दिसे' कहा गया है ।

तदुभयमिश्रकनय

प्रसङ्गवश हम यहाँ चैतसिकों के 'तदुभयमिश्रकनय' का वर्णन करेंगे ।

सम्प्रयोगनय एवं सङ्ग्रहनय – इन दोनों को मिलाकर चित्त एवं चैतसिकों का परिगणन करना – 'तदुभयमिश्रकनय' कहलाता है । इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाता है :

अन्यसमानराशि – इसमें एक 'स्पर्श' चैतसिक है, जो ८९ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है (यह सम्प्रयोगनय है) । ये ८९ चित्त ५२ चैतसिकों में सम्प्रयुक्त होते हैं; (यह सङ्ग्रहनय है) अतः 'स्पर्श' चैतसिक भी ५२ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है । ऐसा होने पर भी उन ५२ चैतसिकों मे परिगणित 'स्पर्श' चैतसिक के साथ इस 'स्पर्श' चैतसिक का सम्प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि स्पर्श के साथ स्पर्श का सम्प्रयोग नहीं होता, अतः निष्कर्ष यह निकला कि 'स्पर्श' चैतसिक, स्पर्शवर्जित ५१ चैतसिकों के साथ सम्प्रयुक्त होता है । यह निष्कर्ष, सम्प्रयोगनय एवं सङ्ग्रहनय – दोनों को मिलाकर देखने से, निकलता है । इस प्रकार उपर्युक्त दोनों नयों को मिलाकर जो निष्कर्ष निकाला जाता है उसे ही 'तदुभय-मिश्रकनय' कहते हैं ।

'स्पर्श' चैतसिक की ही भाँति अन्य – वेदना, संज्ञा, चेतना, जीवितेन्द्रिय, मनसिकार एवं एकाग्रता नामक सर्वचित्तसाधारण चैतसिकों के 'तदुभयमिश्रकनय' को जानना चाहिये ।

'वितर्क' चैतसिक ५५ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है; ये ५५ चित्त ५२ चैतसिकों में सम्प्रयुक्त होते हैं । वितर्क, वितर्क से सम्प्रयुक्त नहीं होता; अतः 'तदुभयमिश्रकनय' से यह निष्कर्ष निकला कि 'वितर्क' चैतसिक ५१ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है । वितर्क की ही भाँति 'विचार' चैतसिक भी ५१ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार 'अधिमोक्ष' चैतसिक अधिमोक्ष एवं विचिकित्सा वर्जित ५०, ('अधिमोक्ष' चैतसिक विचिकित्सासहगत चित्त में सम्प्रयुक्त नहीं होता तथा 'विचिकित्सा' चैतसिक केवल विचिकित्सा-सहगत चित्त में ही सम्प्रयुक्त होता है, अतः 'अधिमोक्ष' विचिकित्सा चैतसिक से कथमपि सम्प्रयुक्त नहीं हो सकता । इसी प्रकार अन्य चैतसिकों के सम्बन्ध में भी जानना

चाहिये।) 'छन्द' चैतसिक छन्द एवं विचिकित्सा वर्जित ५०, 'वीर्य' चैतसिक वीर्यवर्जित ५१, 'प्रीति' चैतसिक प्रीति, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एवं विचिकित्सा वर्जित ४६ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है।

अकुशलराशि – इसके अन्तर्गत विद्यमान 'मोह' चैतसिक १२ अकुशलचित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। १२ अकुशलचित्त २७ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। २७ चैतसिकों में एक 'मोह' चैतसिक भी है तथा 'मोह' चैतसिक 'मोह' चैतसिक से सम्प्रयुक्त नहीं हो सकता, अतः निष्कर्ष यह निकला कि 'मोह' चैतसिक मोहवर्जित २६ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'आह्रीक्य', 'अनपत्राप्य' एवं 'औद्धत्य' नामक सर्व-अकुशलसाधारण चैतसिकों को भी जानना चाहिये।

'लोभ' चैतसिक आठ लोभमूलचित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये ८ लोभमूल-चित्त २२ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। 'लोभ' चैतसिक 'लोभ' चैतसिक के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होता, अतः यह २१ चैतसिकों से ही सम्प्रयक्त होता है।

'दृष्टि' चैतसिक दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चार चित्तों में सम्प्रयक्त होता है। ये ४ चित्त २१ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। इन २१ चैतसिकों में विद्यमान 'दृष्टि' चैतसिक से 'दृष्टि' चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होता। अतः 'दृष्टि' चैतसिक २० चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

'मान' चैतसिक दृष्टिगतविप्रयुक्त चार चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये ४ चित्त २१ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। 'मान' चैतसिक 'मान' के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होता, अतः 'मान' चैतसिक २० चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

'द्वेष' चैतसिक दो द्वेषमूलचित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये दो चित्त २२ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनमें से द्वेष को वर्जित कर 'द्वेष' चैतसिक २१ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

'ईर्ष्या' चैतसिक दो द्वेषमूलचित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये २ चित्त २२ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनमें विद्यमान ईर्ष्या से 'ईर्ष्या' चैतसिक का सम्प्रयोग नहीं होगा तथा ज़ब इनमें 'ईर्ष्या' विद्यमान है तब इनमें मात्सर्य एवं कौकृत्य भी नहीं रहेंगे; क्योंकि यह कहा ही जा चुका है कि ये तीनों परस्पर 'सहानवस्थानलक्षण' हैं, अतः 'ईर्ष्या' चैतसिक के साथ १९ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं।

इसी प्रकार 'मात्सर्य' एवं 'कौकृत्य' को भी समझना चाहिये।

'स्त्यान' (थीन) चैतसिक ५ ससंस्कारिक चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये ५ ससंस्कारिक चित्त २६ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। 'स्त्यान' का 'स्त्यान' के साथ सम्प्रयोग नहीं होता, अतः 'स्त्यान' चैतसिक २५ चैतसिकों के साथ सम्प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'मिद्ध' को भी जानना चाहिये।

'विचिकित्सा' चैतसिक विचिकित्सासहगत चित्त में सम्प्रयुक्त होता है। यह चित्त १५ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है। 'विचिकित्सा' चैतसिक का 'विचिकित्सा' चैतसिक से सम्प्रयोग नहीं होता, अतः 'विचिकित्सा' चैतसिक १४ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

शोभनराशि – इसमें विद्यमान 'श्रद्धा' चैतसिक ५९ शोभनचित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये ५९ चित्त ३८ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनमें 'श्रद्धा' चैतसिक का 'श्रद्धा' चैतसिक से सम्प्रयोग नहीं होता। अतः 'श्रद्धा' चैतसिक श्रद्धावर्जित ३७ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

'श्रद्धा' की ही भाँति अवशिष्ट १८ शोभनसाधारण चैतसिकों के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों के 'तदुभयमिश्रकनय' को भी जानना चाहिये।

'सम्यग्वाक्' (सम्मावाचा) चैतसिक ८ महाकुशल एवं ८ लोकोत्तर चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये १६ चित्त ३८ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। जब 'सम्यग्वाक्' चैतसिक होता है तब वहाँ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक नहीं होते। अतः 'सम्यग्वाक्' चैतसिक ३८ चैतसिकों में से 'सम्यग्वाक्' एवं अप्पमञ्ञा-द्वयवर्जित ३५ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'सम्यक्कर्मान्त' एवं 'सम्यगाजीव' को भी जानना चाहिये।

'करुणा' चैतसिक ८ महाकुशल, ८ महाक्रिया एवं पञ्चमध्यानवर्जित १२ महग्गत – इस प्रकार कुल २८ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये २८ चित्त ३८ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। जब 'करुणा' चैतसिक होता है तब वहाँ विरतित्रय एवं 'मुदिता' चैतसिक नहीं होते; क्योंकि ये परस्पर 'सहानवस्थानलक्षण' हैं, अतः 'करुणा' चैतसिक करुणा, विरतित्रय एवं मुदिता वर्जित ३३ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'मुदिता' को भी समझना चाहिये।

'प्रज्ञा' (पञ्ञा) चैतसिक ४७ चित्तों में सम्प्रयुक्त होता है। ये ४७ चित्त ३८ चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं। 'प्रज्ञा' का 'प्रज्ञा' के साथ सम्प्रयोग नहीं हो सकता, अतः 'प्रज्ञा' चैतसिक प्रज्ञावर्जित ३७ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है।

[यह उपर्युक्त 'तदुभयमिश्रकनय' अभिधर्मशास्त्र को हृदयङ्गम करने में अत्यन्त उपयोगी है, अतः सम्प्रयोगनय एवं सङ्ग्रहनय के साथ इसका पुनः पुनः सम्यग् अभ्यास करना चाहिये।]

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में चैतसिकसङ्ग्रहविभाग नामक

द्वितीय परिच्छेद समाप्त।

❀

ततियो परिच्छेदो

पकिण्णकसङ्गहविभागो

१. सम्पयुत्ता यथायोगं तेपञ्ञास सभावतो।
चित्तचेतसिका धम्मा तेसं दानि यथारहं॥
२. वेदनाहेतुतो किच्चद्वारालम्बनवत्थुतो* ।
चित्तुप्पादवसेनेव सङ्गहो नाम नीयते† ॥

यथायोग सम्प्रयुक्त स्वभावतः ५३ चित्त-चैतसिक (चित्त १+ चैतसिक ५२=५३) धर्मों का पहले निर्देश किया गया है; अब उन (धर्मों) के, यथायोग्य वेदना, हेतु, कृत्य, द्वार, आलम्बन एवं वस्तु भेद से ('वेदनासङ्ग्रह' आदि प्रकीर्णकों के) 'सङ्ग्रह' का, चित्तों के वश से उपन्यास किया जाता है। (अर्थात् चित्तों के वश से वर्णन किया जाता है)।

प्रकीर्णकसङ्ग्रह विभाग

१. २. चित्त एवं चैतसिक धर्मों का पृथक् पृथक् वर्णन करके अब पुनः दोनों का संयुक्त वर्णन करने के लिये 'सम्पयुत्ता यथायोगं...' आदि गाथा के द्वारा प्रकरणारम्भ किया जाता है।

चित्त स्वभाव से अपने 'आलम्बन-विजानन' लक्षण के द्वारा एक प्रकार का ही है। वही भूमि, जाति-आदि भेद से ८९ प्रकार का हो जाता है। इन ८९ चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाला 'स्पर्श' चैतसिक यद्यपि ८९ प्रकार का होता है; किन्तु अपने स्पर्शन-लक्षण से वह भी एक प्रकार का ही है। इसी प्रकार वेदना, संज्ञा-आदि को भी जानना चाहिये। अतः चित्त १ तथा चैतसिक ५२ – इस प्रकार कुल ५३ धर्म होते हैं। इन ५३ धर्मों का यहाँ वेदनासङ्ग्रह, हेतुसङ्ग्रह-आदि भेद से छह प्रकार का सङ्ग्रह करके वर्णन किया जायेगा। 'चित्तुप्पादवसेनेव' – में प्रयुक्त 'एव'-कार के द्वारा इस षड्विध सङ्ग्रह में केवल चित्तों का ही सङ्ग्रह होता है, चैतसिकों का नहीं; अतः 'चित्तुप्पाद' (चित्तोत्पाद) शब्द से 'चित्त' का ही ग्रहण करना चाहिये[1]। ऐसा होने पर भी, चित्तों के आधार पर, उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक-धर्मों को भी जाना जा सकता है।

प्रकीर्णक – कुछ आचार्य चित्त एवं चैतसिक धर्मों का मिश्रित वर्णन होने के कारण 'वेदनासङ्ग्रह' आदि एक एक सङ्ग्रह को 'प्रकीर्णकसङ्ग्रह' कहते हैं, क्योंकि

---

* ०द्वारारम्मण० ना०; ०द्वारालम्बणवत्थुको – रो०; ० द्वारालम्बण० – म० (ख)।

† नीय्यते – सी०; निय्यते – रो०।

१. "चित्तुप्पादवसेनेवा ति – चित्तवसेनेव, निय्यते ति सम्बन्धो। 'एव'-सद्देन चेतसिके निवत्तेति।" – प० दी०, पृ० १००।

वेदनासङ्गहो

३. तत्थ वेदनासङ्गहे ताव तिविधा वेदना – सुखं,* दुक्खं*, अदुक्खम-सुखा चेति† । सुखं, दुक्खं, सोमनस्सं, दोमनस्सं, उपेक्खा ति च भेदेन‡ पन पञ्चधा होति ।

वहाँ (वेदनासङ्ग्रह में) सुखा, दुःखा तथा अदुःखासुखा – इस प्रकार त्रिविध वेदना है । सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा – इस प्रकार के भेद से वेदनाएँ पांच प्रकार की भी होती हैं ।

प्रथम 'चित्त परिच्छेद' मे केवल चित्तो का तथा द्वितीय 'चैतसिक परिच्छेद' में केवल चैतसिकों का वर्णन किया गया है । यहाँ पर दोनों (चित्त-चैतसिकों) का संयुक्त वर्णन होने के कारण वे 'वेदनासङ्ग्रह' आदि एक एक सङ्ग्रह को 'प्रकीर्णकसङ्ग्रह' कहते हैं[1] ।

'सङ्गहो नाम' मे प्रयुक्त 'नाम' शब्द से आचार्य अनुरुद्ध 'वेदनासङ्ग्रह,' 'हेतु-सङ्ग्रह'-आदि संज्ञा करके उन 'वेदनासङ्ग्रह' आदि छह सङ्ग्रहों को प्रकीर्ण रूप में रखकर अन्त में 'इति अभिधम्मत्थसङ्गहे पकिण्णकसङ्गहविभागो नाम ततियो परिच्छेदो' के द्वारा 'प्रकीर्णकसङ्ग्रह' – इस नाम से निगमन करते हैं ।

पुनश्च – ग्रन्थकार के 'नामरूपपरिच्छेद' नामक ग्रन्थ में भी 'समुच्चयसङ्ग्रह' के सदृश सङ्ग्रह के अनन्तर, न कि चित्त-चैतसिकों के अनन्तर –

"इतो परं किच्चतो च द्वारालम्बणवत्थुतो ।
भूमिपुग्गलतो ठाना ... सङ्खिपित्वान निय्यते[2] ॥"

– इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कृत्य, द्वार, आलम्बन, वस्तु, भूमि एवं पुद्गल-आदि को प्रकीर्ण रूप में रखनेवाले परिच्छेद का 'इति नामरूपपरिच्छेदे पकिण्णकसङ्गह-विभागो नाम चतुत्थो परिच्छेदो' – इस प्रकार निगमन किया गया है । अतः कुछ आचार्यों का उपर्युक्त वाद आचार्य के मत से असङ्गत प्रतीत होता है ।

वेदनासङ्ग्रह

३. 'विभावनी' की "सुखादिवेदनानं तंसहगतचित्तुप्पादानं च विभागवसेन सङ्गहो वेदनासङ्गहो[3]" – इस व्याख्या के अनुसार 'वेदनासङ्गहो' इस शब्द का 'वेदनायो च

- सुखा, दुक्खा – सी०, स्या०, ना० ।

† चा ति – ना० । ‡ पभेदेन – स्या० ।

१. "यथायोगं सम्पयुत्ता सभावतो तेपञ्ञास चित्त-चेतसिका ये धम्मा मया विसुं विसुं निद्दिट्ठा, इदानि यथारहं तेसं उभिन्नं सङ्गहो नाम निय्यते – ति योजना ।" – प० दी०, पृ० १०० ।

२. नाम० परि० २१०-२११ का०, पृ० १७ ।

३. द्र० – विभा०, पृ० ९३ ।

दो (दुःखा एवं सुखा) प्रकार की हैं' – ऐसा भी कहा गया है[1]। अनवद्य (कुशल)-उपेक्षा-वेदना तथा अव्याकृत-उपेक्षावेदना, शान्तस्वभाव होने के कारण, उनका सुखावेदना में अन्तर्भाव करके तथा सावद्य (अकुशल)-उपेक्षावेदना का दुःखा वेदना में अन्तर्भाव करके 'सुखा एवं दुःखा' – इस प्रकार भी वेदना का द्वैविध्य कहा गया है[2]।

इस प्रकार का वेदना-भेद मुख्य नहीं होता; अपितु सूत्रान्त का पर्यायमात्र होता है; अतः आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार के भेद का वर्णन नहीं किया है[3]।

आलम्बनानुभवननय – सुखावेदना इष्ट-आलम्बनानुभवनलक्षण है, दुःखावेदना अनिष्ट-आलम्बनानुभवनलक्षण है तथा अदुःखासुखावेदना इष्टमध्यस्थ-आलम्बनानुभवनलक्षण है। इस प्रकार आलम्बन के 'अनुभवनलक्षण' के आधार पर वेदनाएँ तीन प्रकार की कही गयी हैं[4]।

---

१. सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १६८-१६६, २०३; "उपेक्खा पन अकुसल-विपाकभूता अनिट्ठत्ता दुक्खे अवरोधेतब्बा, इतरा इट्ठत्ता सुखेति सा दुक्खं विय सुखं विय च होतीति सक्का वत्तुं ति।" – विभ० मू० टी०, पृ० १२१।

२. "ननु च 'द्वे मा भिक्खवे! वेदना – सुखा, दुक्खा' ति वचनतो द्वे एव वेदना ति? सच्चं; तं पन अनवज्जपक्खिकं अदुक्खमसुखं सुखवेदनायं, सावज्ज-पक्खिकं च दुक्खवेदनायं सङ्गहेत्वा वुत्तं।" – विभा०, पृ० ९३-९४; मणि०, प्र० भा०, पृ० २७६।

३. प० दी० में वेदनाओं का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है, वहाँ वेदना के २, ३, ५, ६, १८, ३६ आदि कई भेद दिखाये गये हैं; अतः उन्हें वहीं देखना चाहिये। द्र० – प० दी०, पृ० १०१-१०२।

तु० – "तज्जाः षड्वेदनाः पञ्च, कायिकी चैतसी परा।
पुनश्चाष्टादशविधा, सा मनोपविचारतः॥"
– अभि० को० ३ : ३२ का०, पृ० ३३५।

"कतमो वेदनास्कन्धः? वेदनानुभवः षड्विधः स्पर्शजः। द्विविधा वेदना – कायवेदना, मनोवेदना च। त्रिविधा वेदना – दुःखा वेदना, सुखा वेदना, अदुःखासुखा वेदना च। चतुर्विधा वेदना – कायव्याकृता, अव्याकृता; मनोव्याकृता, अव्याकृता च। पञ्चविधा वेदना – पञ्च वेदनेन्द्रियाणि (सुखम्, दुःखम्, सौमनस्यम्, दौर्मनस्यमुपेक्षा च)। षोढा वेदना – चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना, श्रोत्र० घ्राण० जिह्वा० काय० मनःसंस्पर्शजा वेदना च। अष्टादशविधा वेदना – चक्षुराद्याः (षड्वेदनाः) ससुखसौमनस्याः (सदुःखदौर्मनस्याः) सोपेक्षाश्च। षट्त्रिंशद्विधा वेदना – अष्टादशविधा वेदना कुशला, अकुशला च। अष्टोत्तरशतविधा वेदना – अतीतानागत-प्रत्युत्पन्नैः प्रविभक्ताः षट्त्रिंशत्। प्रतिसत्त्वं क्षणे क्षणे समुद्यन्त्य-सङ्ख्येया वेदना इति वेदनास्कन्धः।" – अभि० मृ०, पृ० ५३।

४. "तत्थ सभावतो इट्ठानिट्ठफोट्ठब्बानुभवनलक्खणानि सुखदुक्खानि, सभावतो परिकप्पतो वा इट्ठानिट्ठमज्झत्तानुभवनलक्खणानि इतरानीति।" – प० दी०, पृ० १०२; विभा०, पृ० ९४।

४. तत्थ सुखसहगतं कुसलविपाकं कायविञ्ञाणमेकमेव, तथा दुक्खसहगतं अकुसलविपाकं* ।

इन पञ्चविध वेदनाओं में से सुखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाला कुशलविपाक कायविज्ञानचित्त एक ही है; उसी प्रकार दुःखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाला चित्त (भी) अकुशलविपाक कायविज्ञानचित्त (एक ही है) ।

इन्द्रियभेदनय – जब सुख होता है तब जो स्कन्ध में सुख होता है उसे 'कायिक सुख' (कायद्वार में उत्पन्न सुख) कहते हैं। इष्ट स्प्रष्टव्यालम्बन का अनुभव करते समय, उस अनुभव में आधिपत्य होने के कारण, इसे ही 'सुखेन्द्रिय' भी कहते हैं।

जब सुख होता है तब चित्त में जो सुख होता है उसे 'चैतसिक सुख' (चित्त से सम्प्रयुक्त सुख) कहते हैं। सुन्दर मन का भाव होने से इसे ही 'सौमनस्य' तथा स्प्रष्टव्यालम्बन से अतिरिक्त अन्य इष्ट आलम्बनों का अनुभव करते समय, उस अनुभव में आधिपत्य होने के कारण इसे ही 'सौमनस्येन्द्रिय' भी कहते हैं।

दुःखेन्द्रिय एवं दौर्मनस्येन्द्रिय को सुखेन्द्रिय एवं सौमनस्येन्द्रिय से विपरीतरूप में समझना चाहिये।

उपेक्षावेदना उपर्युक्त सुखेन्द्रिय अथवा दुःखेन्द्रिय की भाँति स्कन्ध (काय) से विशिष्ट होने के लिये उस (स्कन्ध) का न तो अनुग्रह (उपकार) ही और न उपघात ही कर सकती है; अतः 'कायिक उपेक्षावेदना' नामक कोई वेदना न होकर केवल 'चैतसिक-उपेक्षा' नामक एक उपेक्षेन्द्रिय ही होती है।

इस प्रकार इन्द्रिय-भेद से वेदनाएँ पञ्चविध होती हैं[1]।

४. सुखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाला अहेतुक कुशलविपाकचित्त एक है। इसके साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' सात हैं; किन्तु इन सात चैतसिकों में ही एक वेदना चैतसिक भी है; और 'वेदना चैतसिक' का वेदना चैतसिक के साथ सम्प्रयोग नहीं होता, अतः सुखावेदना के साथ छह चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं।

---

* अकुसलविपाकं कायविञ्ञाणं – सी०, स्या०।

१. "एत्थ च येसु धम्मेसु आधिपच्चवसेन सुखदुक्खानि इन्द्रियानि नाम होन्ति, तेसं कायिकमानसिकवसेन दुविधत्ता तानि पि सुखिन्द्रियं सोमनस्सिन्द्रियं, दुक्खिन्द्रियं दोमनस्सिन्द्रियं ति द्विधा वुत्तानि। उपेक्खाय पन, आधिपच्चट्ठानभूता धम्मा मानसिका एव होन्तीति सा उपेक्खिन्द्रियं ति एकधा व वुत्ता ति।" – प० दी०, पृ० १०१।

"कायिक-मानसिक-सातासातभेदतो हि सुखं दुक्खं च पच्चेकं द्विधा विभजित्वा, सुखिन्द्रयं सोमनस्सिन्द्रियं दुक्खिन्द्रियं दोमनस्सिन्द्रियं ति देसिता। उपेक्खा पन भेदाभावतो उपेक्खिन्द्रियं ति एकधा व। यथा हि – सुखदुक्खानि अञ्ञथा कायस्स अनुग्गहमुपघातं च करोन्ति, अञ्ञथा मनसो; नेवं उपेक्खा। तस्मा सा एकधा व देसिता।" – विभा०, पृ० ९४। तु० – अभि० को० २:७-८ का०, पृ० ९०-९१।

५. सोमनस्ससहगतचित्तानि पन लोभमूलानि चत्तारि, द्वादस कामावचरसोभनानि, सुखसन्तीरण-हसनानि च द्वे ति अट्ठारस कामावचर-सोमनस्ससहगतचित्तानि* चेव पठम-दुतिय-ततिय-चतुत्थज्झानसङ्खातानि चतु-चत्तालीस† महग्गतलोकुत्तरचित्तानि चेति द्वासट्ठिविधानि भवन्ति।

६. दोमनस्ससहगतचित्तानि पन द्वे पटिघसम्पयुत्तचित्तानेव‡।

७. सेसानि सब्बानि पि पञ्चपञ्ञास उपेक्खासहगतचित्तानेवा ति।

सौमनस्यवेदना के साथ होनेवाले चित्त – लोभमूल ४, कामावचर शोभन १२, सुखसन्तीरण (१) एवं हसितोत्पाद (१)=२ – इस प्रकार (ये) १८ कामावचर सौमनस्यसहगत चित्त एवं प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान नामक महग्गत एवं लोकोत्तर ध्यानचित्त ४४ – इस प्रकार कुल ६२ प्रकार के होते हैं।

दौर्मनस्यवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त प्रतिघसम्प्रयुक्त दो ही होते हैं।

शेष सभी ५५ चित्त उपेक्षावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त ही हैं।

इसी तरह दुःखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त अहेतुक अकुशलविपाक कायविज्ञानचित्त एक है। इसके साथ भी उपर्युक्त क्रम से छह चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं।

५. सौमनस्यवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त कुल ६२ हैं। इन ६२ चित्तों में द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एवं विचिकित्सा वर्जित ४७ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। इनमें विद्यमान वेदना से इस सौमनस्यवेदना का सम्प्रयोग नहीं होता। अतः इस सौमनस्यवेदना से वेदनावर्जित ४६ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं।

६. दौर्मनस्यवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले दो प्रतिघचित्त ही हैं। इनके साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक २२ हैं। इन २२ चैतसिकों के अन्तर्गत विद्यमान वेदना चैतसिक के साथ इस दौर्मनस्यवेदना का सम्प्रयोग नहीं होता; क्योंकि 'वेदना' वेदना के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होती, अतः यह (दौर्मनस्यवेदना) वेदनावर्जित २१ चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होती है।

७. सुखावेदना, दुःखावेदना, सौमनस्यवेदना एवं दौर्मनस्यवेदना के द्वारा गृहीत होनेवाले चित्तों का वर्जन कर अवशिष्ट ५५ चित्त उपेक्षावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। वे ५५ चित्त ये हैं: अकुशलचित्तों में – उपेक्षासहगत ६, अहेतुकचित्तों में – १४, कामावचर शोभनचित्तों में – १२, पञ्चमध्यान (महग्गत एवं लोकोत्तर) चित्त – २३= ५५। इन चित्तों में सम्प्रयुक्त उपेक्षावेदना से द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, प्रीति एवं उपेक्षा वर्जित कुल ४६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं।

---

* कामावचरचित्तानि – स्या०, ना०।
† चतुचत्तालीस – स्या० (सर्वत्र)।
‡ पटिघचित्तानेव – स्या०, ना०।

११. तत्थ पञ्चद्वारावज्जन-द्विपञ्चविञ्ञाण-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन*-हसनवसेन अट्ठारस अहेतुकचित्तानि नाम।

१२. सेसानि सब्बानि पि एकसत्तति चित्तानि सहेतुकानेव।

१३. तत्थापि द्वे मोमूहचित्तानि एकहेतुकानि।

इस हेतुसङ्ग्रह में – पञ्चद्वारावर्जन, द्विपञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन (व्यवस्थापन) एवं हसन चित्तों के वश से अठारह अहेतुक चित्त होते हैं।

शेष सभी ७१ चित्त सहेतुक ही हैं।

उन (इकहत्तर चित्तों) में भी दो मोमूहचित्त 'एकहेतुक' हैं।

अव्याकृत हेतु हैं[1]। यहाँ अद्वेष 'तत्रमध्यस्थता' (तत्रमज्झत्तता) तथा अमोह 'प्रज्ञा' चैतसिक है।

११. यहाँ हेतुओं के द्वारा तत्सम्प्रयुक्त चित्त एवं चैतसिकों के वर्णन से पूर्व, वीथिक्रम से अहेतुक चित्तों का वर्णन किया गया है। इन १८ अहेतुक चित्तों में 'छन्द' को वर्जित कर शेष १२ 'अन्यसमान' चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। इन १८ चित्तों को 'अहेतुक' इसलिये कहते हैं चूँकि इनमें ६ हेतुचैतसिकों में से कोई एक भी हेतुचैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होता। इसका वर्णन विस्तारपूर्वक अहेतुकचित्तप्रकरण (प्रथम परिच्छेद) में किया जा चुका है[2]।

१२. अठारह अहेतुक चित्तों से अतिरिक्त अवशिष्ट ७१ चित्त 'सहेतुक' हैं; क्योंकि ये सब, हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं।

१३. इन ७१ चित्तों में भी जो चित्त केवल एक हेतु से ही सम्प्रयुक्त होते हैं उन्हें 'एकहेतुक चित्त' कहते हैं। दो मोमूहचित्त केवल एक मोहचैतसिक से ही सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः उन्हें 'एकहेतुक' कहा जाता है। इन दो मोमूहचित्तों में सोलह चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं जिनकी गणना चैतसिकपरिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद) में की जा चुकी है[3]।

मोमूहचित्तों से सम्प्रयुक्त सोलह चैतसिकों में 'मोह' भी एक है। यह 'मोह हेतु' सब पन्द्रह चैतसिकों के साथ सम्प्रयुक्त होता है, किन्तु मोह के साथ कोई हेतु सम्प्रयुक्त नहीं होता। अतः जब मोह हेतु मोमूहचित्तों से सम्प्रयुक्त होता है तब वह

---

* ०वोट्ठब्बन० – स्या०; म० (ख) (सर्वत्र); ०वोट्ठप्पन० – रो० (सर्वत्र)।

१. तु० – "कुशलमूलमकुशलमूलमव्याकृतमूलं चेति मूलं त्रिविधम्। कुशलमूलम् – अलोभः, अद्वेषः, अमोहश्च। इति त्रिविधं कुशलमूलम्। अकुशलमूलम् – लोभः, द्वेषः, मोहश्च। चतुर्विधमव्याकृतमूलम् – अव्याकृतं रागः, अव्याकृताऽविद्या, अव्याकृता दृष्टिः, अव्याकृतो मानः।" – अभि० मृ०, पृ० ५०।

२. द्र० – अभि० स० १ : ८, पृ० ४३।

३. द्र० – अभि० स० २ : ५६, पृ० २०६।

८. सुखं दुक्खं उपेक्खा ति तिविधा तत्थ वेदना।
सोमनस्सं दोमनस्समिति भेदेन पञ्चधा ॥

९. सुखमेकत्थ दुक्खं च दोमनस्सं द्वये ठितं।
द्वासट्ठिसु सोमनस्सं पञ्चपञ्ञासकेतरा ॥

इस वेदना-सङ्ग्रह में सुख, दुःख तथा उपेक्षा (आलम्बनानुभवन-लक्षण से) – ये तीन वेदनाएँ होती हैं। सौमनस्य एवं दौर्मनस्य के साथ (इन्द्रियभेद से) ये पाँच प्रकार की होती हैं।

सुखावेदना एक (चित्त) में, दुःखावेदना भी एक (चित्त) में, दौर्मनस्यवेदना दो (चित्तों) में, सौमनस्यवेदना ६२ (चित्तों) में तथा इतर (अन्य) अर्थात् उपेक्षावेदना ५५ (चित्तों) में स्थित है।

हेतुसङ्गहो

१०. हेतुसङ्गहे हेतू* नाम – लोभो, दोसो, मोहो; अलोभो, अदोसो, अमोहो चा ति छब्बिधा भवन्ति।

हेतुसङ्ग्रह म – लोभ, द्वेष, मोह; (तथा) अलोभ, अद्वेष एवं अमोह – इस प्रकार षड्विध हेतु होते हैं।

असम्प्रयुक्त चैतसिक – वेदनाचैतसिक ऐसा चैतसिक है जो पञ्चविध वेदनाओं में किसी एक वेदना के साथ भी सम्प्रयुक्त नहीं होता।

	सम्प्रयुक्त चित्त	चैतसिक
सुखावेदना	१	६
दुःखावेदना	१	६
सौमनस्यवेदना	६२	४६
दौर्मनस्यवेदना	२	२१
उपेक्षावेदना	५५	४६

वेदनासङ्ग्रह समाप्त।

हेतुसङ्ग्रह

१०. यहाँ हेतुओं के भेद से चित्त एवं चैतसिकों का सङ्ग्रह होता है, अतः इसे 'हेतुसङ्ग्रह' कहते हैं। मूल हेतु ६ हैं; यथा – लोभ, द्वेष, मोह; तथा अलोभ, अद्वेष एवं अमोह। इनमें प्रथम तीन अकुशल हेतु तथा अन्तिम तीन कुशल हेतु एवं

* हेतुयो – स्या०।

११. तत्थ पञ्चद्वारावज्जन-द्विपञ्चविञ्ञाण-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन*-हसनवसेन अट्ठारस अहेतुकचित्तानि नाम।

१२. सेसानि सब्बानि पि एकसत्तति चित्तानि सहेतुकानेव।

१३. तत्थापि द्वे मोमूहचित्तानि एकहेतुकानि।

इस हेतुसङ्ग्रह में – पञ्चद्वारावर्जन, द्विपञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन (व्यवस्थापन) एवं हसन चित्तों के वश से अठारह अहेतुक चित्त होते हैं।

शेष सभी ७१ चित्त सहेतुक ही हैं।

उन (इकहत्तर चित्तों) में भी दो मोमूहचित्त 'एकहेतुक' हैं।

अव्याकृत हेतु हैं[1]। यहाँ अद्वेष 'तत्रमध्यस्थता' (तत्रमज्झत्तता) तथा अमोह 'प्रज्ञा' चैतसिक है।

११. यहाँ हेतुओं के द्वारा तत्सम्प्रयुक्त चित्त एवं चैतसिकों के वर्णन से पूर्व, वीथिक्रम से अहेतुक चित्तों का वर्णन किया गया है। इन १८ अहेतुक चित्तों में 'छन्द' को वर्जित कर शेष १२ 'अन्यसमान' चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। इन १८ चित्तों को 'अहेतुक' इसलिये कहते हैं चूँकि इनमें ६ हेतुचैतसिकों में से कोई एक भी हेतुचैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होता। इसका वर्णन विस्तारपूर्वक अहेतुकचित्तप्रकरण (प्रथम परिच्छेद) में किया जा चुका है[2]।

१२. अठारह अहेतुक चित्तों से अतिरिक्त अवशिष्ट ७१ चित्त 'सहेतुक' हैं; क्योंकि ये सब, हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं।

१३. इन ७१ चित्तों में भी जो चित्त केवल एक हेतु से ही सम्प्रयुक्त होते हैं उन्हें 'एकहेतुक चित्त' कहते हैं। दो मोमूहचित्त केवल एक मोहचैतसिक से ही सम्प्रयुक्त होते हैं, अतः उन्हें 'एकहेतुक' कहा जाता है। इन दो मोमूहचित्तों में सोलह चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं जिनकी गणना चैतसिकपरिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद) में की जा चुकी है[3]।

मोमूहचित्तों से सम्प्रयुक्त सोलह चैतसिकों में 'मोह' भी एक है। यह 'मोह हेतु' सब पन्द्रह चैतसिकों के साथ सम्प्रयुक्त होता है, किन्तु मोह के साथ कोई हेतु सम्प्रयुक्त नहीं होता। अतः जब मोह हेतु मोमूहचित्तों से सम्प्रयुक्त होता है तब वह

---

* ०वोट्ठब्बन० – स्या०; म० (ख) (सर्वत्र); ०वोट्ठप्पन० – रो० (सर्वत्र)।

१. तु० – "कुशलमूलमकुशलमूलमव्याकृतमूलं चेति मूलं त्रिविधम्। कुशलमूलम् – अलोभः, अद्वेषः, अमोहश्च। इति त्रिविधं कुशलमूलम्। अकुशलमूलम् – लोभः, द्वेषः, मोहश्च। चतुर्विधमव्याकृतमूलम् – अव्याकृतं रागः, अव्याकृताऽविद्या, अव्याकृता दृष्टिः, अव्याकृतो मानः।" – अभि० मृ०, पृ० ५०।

२. द्र० – अभि० स० १:८, पृ० ४३।

३. द्र० – अभि० स० २:५६, पृ० २०६।

१४. सेसानि दस अकुसलचित्तानि चेव ञाणविप्पयुत्तानि द्वादस कामावचरसोभनानि चेति द्वावीसति द्विहेतुकचित्तानि* ।

१५. द्वादस ञाणसम्पयुत्तकामावचरसोभनानि चेव पञ्चतिंस† महग्गत-लोकुत्तरचित्तानि चेति सत्तचत्तालीस तिहेतुकचित्तानीति‡ ।

शेष (मोमूहवर्जित) १० अकुशलचित्त तथा १२ ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त – इस प्रकार कुल २२ चित्त 'द्विहेतुक चित्त' हैं।

१२ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त तथा ३५ महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त – इस प्रकार कुल ४७ चित्त 'त्रिहेतुक चित्त' हैं।

'अहेतुक चैतसिक' कहा जाता है। अन्य पन्द्रह 'एकहेतुक' (मोहयुक्त) चैतसिक हैं। अतः मोमहचित्तसम्प्रयुक्त मोह चैतसिक तथा अहेतुक चित्तों से सम्प्रयुक्त १२ चैतसिक = १३ चैतसिक 'अहेतुक चैतसिक' कहे जाते हैं।

१४. मोमूहवर्जित १० अकुशलचित्तों में ८ लोभमूल चित्त लोभ तथा मोह नामक हेतुद्वय से, २ द्वेषमूल चित्त द्वेष तथा मोह नामक हेतुद्वय से, तथा १२ ज्ञान-विप्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त अलोभ तथा अद्वेष नामक हेतुद्वय से सम्प्रयुक्त होते हैं। अतः इन २२ चित्तों को 'द्विहेतुक चित्त' कहते हैं। इन २२ चित्तों में विचिकित्सा एवं प्रज्ञा वर्जित ५० चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं।

लोभमूलचित्तों के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिकों में लोभ एवं मोह 'एकहेतुक' चैतसिक हैं; क्योंकि ये हेतु परस्पर संयुक्त होते हैं (लोभ मोह के साथ, तथा मोह लोभ के साथ सम्प्रयुक्त होता है), अतः 'एकहेतुक चैतसिक' कहे जाते हैं। अन्य चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' हैं।

द्वेषमूलचित्तों के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिकों में द्वेष एवं मोह चैतसिक 'एकहेतुक' चैतसिक हैं तथा अन्य चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' हैं।

इसी प्रकार ज्ञानविप्रयुक्त १२ चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिकों में अलोभ एवं अद्वेष 'एकहेतुक चैतसिक' हैं तथा अन्य द्विहेतुक चैतसिक हैं। इस तरह इन २२ चित्तों में सम्प्रयुक्त ५ हेतु चैतसिक तथा मोमहचित्तों से सम्प्रयुक्त होनेवाले १५ चैतसिक = २० चैतसिक 'एकहेतुक' हैं तथा इन २२ चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले ५० चैतसिकों में से ५ हेतुचैतसिकों को वर्जित कर अवशिष्ट ४५ चैतसिक 'द्विहेतुक' हैं।

१५. ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त १२ तथा महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त ३५ – इस प्रकार कुल ४७ चित्त अलोभ, अद्वेष एवं अमोह नामक तीन हेतुओं से सम्प्रयुक्त होने के कारण 'त्रिहेतुक' कहलाते हैं।

इन ४७ चित्तों में ३८ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं; यथा – अन्यसमान

---

* दुहेतुकचित्तानि – स्या०, ना० ।

† पञ्चत्तिंस – स्या०, म० (क) ।

‡ ०चित्तानि – सी०, स्या० ।

१६. लोभो दोसो च मोहो च हेतू अकुसला तयो ।
अलोभादोसामोहा* च कुसलाब्याकता तथा ।।
१७. अहेतुकाट्ठारसेकहेतुका† द्वे द्वुवीसति‡ ।
द्विहेतुका मता सत्तचत्तालीस तिहेतुका ।।

लोभ, द्वेष एवं मोह – ये तीन अकुशल हेतु तथा अलोभ, अद्वेष एवं अमोह – ये तीन कुशल एवं अव्याकृत हेतु हैं ।

अहेतुक चित्त – १८, एकहेतुक चित्त – २, द्विहतुक चित्त – २२, तथा त्रिहेतुकचित्त – ४७ होते हैं ।

चैतसिक १३ तथा शोभनचैतसिक २५=३८ । इन ३८ चैतसिकों में अलोभ, अद्वेप एवं अमोह – ये तीन चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' हैं; जैसे – अलोभ के साथ अद्वेप एवं अमोह – ये दो हेतु, अद्वेप के साथ अलोभ एवं अमोह – ये दो हेतु, तथा अमोह के साथ अलोभ एवं अद्वेप – ये दो हेतु होते हैं । ये 'द्विहेतुक चैतसिक' ३ तथा द्विहेतुक चित्तों में सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक ४५=४८ चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' हैं । इन उपर्युक्त ३८ चैतसिकों में से तीन द्विहेतुक चैतसिकों को वर्जित कर अवशिष्ट ३५ चैतसिक 'त्रिहेतुक चैतसिक' हैं ।

चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का उपर्युक्त वर्णन 'गृहीतग्रहण' नय के अनुसार किया गया है । अब हम 'अगृहीतग्रहण' नय के अनुसार सम्प्रयुक्त चैतसिकों का विचार करते हैं ।

एकहेतुसम्प्रयुक्त चैतसिक – विचिकित्सा, लोभ एवं द्वेप – ये तीन चैतसिक केवल एक 'मोह हेतु' से ही सम्प्रयुक्त होते हैं ।

हेतुद्वयसम्प्रयुक्त चैतसिक – मोह चैतसिक लोभ एवं द्वेप हेतु से; दृष्टि एवं मान चैतसिक लोभ एवं मोह हेतु से; ईर्ष्या, मात्सर्य तथा कौकृत्य चैतसिक द्वेष एवं मोह हेतु से; अलोभ, अद्वेप एवं अमोह चैतसिक स्ववर्जित दो दो हेतुओं से – इस तरह कुल नौ चैतसिक दो हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

हेतुत्रयसम्प्रयुक्त चैतसिक – आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, स्त्यान एवं मिद्ध – ये पाँच चैतसिक लोभ, द्वेष एवं मोह नामक हेतुत्रय से; हेतुत्रयवर्जित बाईस शोभन चैतसिक अलोभ, अद्वेष एवं अमोह नामक हेतुत्रय से – इस प्रकार कुल सत्ताईस चैतसिक तीन हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

हेतुपञ्चकसम्प्रयुक्त चैतसिक – प्रीति चैतसिक लोभ, मोह, अलोभ, अद्वेप एवं अमोह – इन पाँच हेतुओं से सम्प्रयुक्त होता है ।

---

* ०मोहो – रो०; म० (क, ख) ।
† अहेतुकट्ठारसेकहेतुका – सी०, स्या०, ना० ।
‡ द्वावीसति – सी०; म० (क, ख); द्विवीसति – स्या०, रो० ।

किच्चसङ्गहो

१८. किच्चसङ्गहे किच्चानि नाम – पटिसन्धि-भवङ्ग-आवज्जन-दस्सन-सवन*-घायन-सायन-फुसन-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन† - जवन - तदारमण‡ - चुतिवसेन चुद्दसविधानि भवन्ति ।

कृत्यसङ्ग्रह में – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्शन, सम्पटिच्छन सन्तीरण, वोट्ठपन (व्यवस्थापन), जवन, तदालम्बन एवं च्युति के वश से चौदह प्रकार के कृत्य होते हैं ।

हेतुषट्कसम्प्रयुक्त चैतसिक—प्रीतिवर्जित अन्यसमान बारह चैतसिक छह हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

	चित्त	चैतसिक
अहेतुक	१८	१३
एकहेतुक	२	२०
द्विहेतुक	२२	४८
त्रिहेतुक	४७	३५

हेतुसङ्ग्रह समाप्त ।

कृत्यसङ्ग्रह

१८. प्रतिसन्धि-आदि कृत्यों के द्वारा चित्त एवं चैतसिकों को सङ्गृहीत करनेवाले इस सङ्ग्रह को 'कृत्यसङ्गह' कहते हैं । इस सङ्ग्रह में चौदह कृत्यों को दिखलाया गया है[1] ।

जैसे – लोक में गमन, आगमन-आदि व्यापारों को कृत्य कहा जाता है उसी प्रकार एक भव से अपर भव में प्रतिसन्धान करना–आदि को भी 'कृत्य' कहते हैं ।

'करणं किच्चं' करना 'कृत्य' है । सभी धात्वर्थों में 'कर' धातु व्यापक होने से यहाँ 'करणं' (करना) इस शब्द के द्वारा प्रतिसन्धान करना, आवर्जन करना, दर्शन करना – आदि सभी कृत्यों का ग्रहण होता है ।

---

* ०सवण० – सी० (सर्वत्र) ।

† ०वोट्ठवन० – स्या० ।

‡ तदारम्मण० – सी०, रो०, ना०, म० (ख); तदालम्बन० – स्या० (सर्वत्र) ।

१. "चुद्दसन्नं किच्चानं भेदेन तंकिच्चवन्तानं चित्तचेतसिकानं सङ्गहो 'किच्चसङ्गहो' ।" – प० दी०, पृ० १०४ ।

"पटिसन्धादीनं किच्चानं विभागवसेन तंकिच्चवन्तानं च परिच्छेदवसेन सङ्गहो 'किच्चसङ्गहो' ।" – विभा०, पृ० ९५ ।

"पटिसन्धादीनं किच्चानं विभागकिच्चवन्तपरिच्छेदवसेन सङ्गहो 'किच्चसङ्गहो' ।" – अभि० स० टी०, पृ० ३०८ ।

तु० – विसु०, पृ० ३१९ ।

प्रतिसन्धिकृत्य – 'पटिसन्धानं पटिसन्धि' प्रतिसन्धान अर्थात् जोड़ना 'प्रतिसन्धि' है[1]। पूर्व भव के विच्छिन्न होने पर नवीन भव में सर्वप्रथम चित्तोत्पाद पूर्व भव एवं नवीन भव का प्रतिसन्धान करनेवाले की तरह होता है। इस प्रकार के प्रतिसन्धानकृत्य के कारण 'सत्त्व' नामक स्कन्धसन्तति निरुद्ध न होकर नवीन नवीन भव को पुनः पुनः प्राप्त करती हुई संसार-चक्र में प्रवृत्त होती रहती है।

भवङ्गकृत्य – "भवस्स अङ्गं भवङ्गं[2]" भव के अङ्ग को 'भवङ्ग' (भवाङ्ग) कहते हैं। अर्थात् उपपत्तिभव की अविच्छिन्न (निरन्तर) प्रवृत्ति के हेतुभूत चित्त को 'भवङ्ग' कहते हैं[3]।

भव दो प्रकार का होता है; यथा – (क) कर्मभव एवं (ख) उपपत्तिभव।

(क) कर्मभव – चेतना को 'कर्मभव' कहते हैं।

(ख) उपपत्तिभव – 'कम्मतो उपपज्जतीति उपपत्ति' – इस विग्रह के अनुसार कर्म से उत्पन्न लौकिक विपाक नामस्कन्ध एवं 'कटत्तारूप[4]' नामक कर्मज रूपों को 'उपपत्ति-भव' कहते हैं।

कर्मों के अनुसार अतीत भव के निरुद्ध हो जाने पर नवीन भव के उत्पाद के लिये प्रतिसन्धिचित्त के द्वारा प्रतिसन्धानकृत्य कर दिये जाने पर स्वसदृश (अपने समान) विपाक निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। यदि प्रतिसन्धि के अनन्तर अपने सदृश विपाक उत्पन्न नहीं होते हैं तो प्रतिसन्धिचित्त के अनन्तर ही चित्तसन्तति का विच्छेद होकर एक भव (प्राप्त भव) की परिसमाप्ति हो जायेगी। अतः एक भव की समाप्ति न होने देने के लिये, अर्थात् भव के निरन्तर प्रवाह के लिये, प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश विपाकसन्तति (भवङ्गसन्तति) का उत्पाद होता रहता है।

---

१. "भवतो भवस्स पटिसन्दहनं पटिसन्धिकिच्चं।" – विभा०, पृ० ६५।
"तस्मा ततो निब्बत्तभवतो चुतस्स अन्तरा खणमत्तं पि अठत्वा लद्धोकासेन एकेन कम्मेन पुन भवन्तरादिपटिसन्धानवसेन अभिनिब्बत्ति पटिसन्धिकिच्चं।" – प० दी०, पृ० १०४।
"भवन्तरपटिसन्धानतो पटिसन्धि।" – अभि० स० टी०, पृ० ३०८।
"पटिसन्धिविञ्ञाणादीनं किच्चं नाम भवन्तरपटिसन्धादिना आकारेन पवत्ति एव।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३१; विसु०, पृ० ३१६।

२. द्र० – अभि० स० टी०, पृ० ३०८।

३. "अविच्छेदप्पवत्तिहेतुभावेन भवस्स अङ्गभावो भवङ्गकिच्चं।" – विभा०, पृ० ६५।
"तथा निब्बत्तस्स उपपत्तिभवसन्तानस्स याव तं कम्मं न खिय्यति ताव अविच्छेदप्पवत्तिपच्चयङ्गभावेन पवत्ति भवङ्गकिच्चं। तस्स हि तथा पवत्तिया सति आयुपबन्धा च उस्मापबन्धा च पवत्तन्ति येवा ति एते तयो धम्मा इमं कायं अभिज्जमानं रक्खन्तीति। यथाह –
आयु उस्मा च विञ्ञाणं यदा कायं जहन्तिमं।
अपविद्धो तदा सेति निरत्थं व कलिङ्गरं' ति॥"
– प० दी०, पृ० १०४–१०५।
तु० – विसु०, पृ० ३१९–३२०।

४. द्र० – अभि० स० ८ : ३७।

प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रवृत्तिकाल में भी यदि आलम्बन प्रत्युपस्थित होगा तो आलम्बन के अनुसार वीथिचित्तसन्तति का प्रवर्तन होगा; किन्तु यदि वीथि के अनन्तर पुनः भवङ्गचित्त का उत्पाद न होगा तो पूर्वोपात्त चित्तसन्तति, चित्तज रूप एवं कर्मज रूपों का निरोध हो जायेगा। इनका निरोध न हो, एतदर्थ वीथि के अनन्तर पुनः भवङ्गचित्त का उत्पाद होना है और यह भवङ्गचित्त का उत्पाद तबतक होता रहता है जबतक कर्म अवशिष्ट रहते हैं। भवङ्गचित्त के इस उत्पाद को ही 'भवङ्गकृत्य' कहते हैं।

आवर्जनकृत्य – 'आवज्जीयते आवज्जनं' जिसके द्वारा आवर्जन (अभिमुखीकरण) किया जाता है, वह आवर्जन' है। अथवा – 'आवट्टीयते आवज्जनं' अर्थात् जो भवङ्गसन्तति का आवर्तन (विवर्तन) करता है, वह 'आवर्जन' है[1]।

वीथिसन्तति के पहले भवङ्गसन्तति होती है। जब अभिनव आलम्बन अवभासित होता है तब उस भवङ्गसन्तति का पुनः आगे उत्पाद न होने देकर उस भवङ्गसन्तति को प्रतिनिवृत्त करने के लिये उसका अवरोध करना 'आवर्जन' का कृत्य है।

अथवा – यहाँ मूलरूप से 'आवट्टन' शब्द है। व्याकरण के अनुसार उसके 'ट्ट' के स्थान पर 'ज्ज' आदेश हो जाता है और 'आवज्जन' – यह शब्द निष्पन्न होता है[2]।

यह 'आवर्जन' अभिनव आलम्बन उपस्थित होने पर भवङ्गसन्तति को पूर्वगृहीत आलम्बन से विच्छिन्न करता है, और उस नवीन आलम्बन का ग्रहण करके वीथिसन्तति के उत्पाद के लिये चित्तसन्तति को उस नवीन आलम्बन के अभिमुख प्रवृत्त करता है।

चक्षुर्द्वार-आदि पाँच द्वारों में होनेवाले आवर्जन को 'पञ्चद्वारावर्जन' तथा मनोद्वार में होनेवाले आवर्जन को 'मनोद्वारावर्जन' कहते हैं।

दर्शनकृत्य, श्रवणकृत्य, घ्राण (गन्धोपादान) – **कृत्य, आस्वादन** (रस लेना)-**कृत्य** एवं **स्पर्शनकृत्य** – इन कृत्यों के अर्थ स्वतः सुस्पष्ट हैं।

सम्पटिच्छनकृत्य – 'सम्पटिच्छीयते सम्पटिच्छनं' जो आलम्बन का ग्रहण करने की

---

१. "आवज्जनं चित्तसन्तानस्स आवट्टनं, तं वा आवज्जेति आवट्टेति, आवट्टति वा तं एत्थ एतेना ति वा आवज्जनं; भवङ्गवीथितो ओक्कमित्वा आरम्मणन्तराभिमुखं पवत्ततीति अत्थो। आवज्जेति वा आरम्मणन्तरे आभोगं करोतीति आवज्जनं।" – प० दी०, पृ० १०५।

२. "आवट्टना वा ति आदीनि चत्तारि पि आवज्जनस्सेव नामानि, तं हि भवङ्गस्स आवट्टनतो आवट्टना; तस्सेव आभुजनतो आभोगो; रूपादीनं समन्नाहरणतो समन्नाहारो; तेसं येव मनसिकरणतो मनसिकारो ति वुच्चति।" – विभ० अ०, पृ० ४०८।

"आभुजनतो ति आभुग्गकरणतो, विवट्टनतो इच्चेव अत्थो।" – विभ० मू० टी०, पृ० २००।

"आवट्टनभावो आवज्जनकिच्चता।" – विभ० अनु०, पृ० २०१।

विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३२०।

तरह होता है, यह 'सम्पटिच्छन' है। चक्षुविज्ञान-आदि के द्वारा विज्ञात आलम्बन का सम्यग्ग्रहण 'सम्पटिच्छन' का कृत्य है[1]।

सन्तीरणकृत्य – 'सम्मा तीरणं सन्तीरणं, तुलनं वीमंसनं ति अत्थो' सम्पटिच्छन द्वारा गृहीत आलम्बन का सम्यग् विचार या ऊहापोह अर्थात् तुलना या मीमांसा – 'सन्तीरण' का कृत्य है[2]।

वोट्ठपनकृत्य – 'विसुं विसुं अवच्छिन्दित्वा ठपनं वोट्ठपनं' आलम्बन का पृथक् पृथक् अवच्छेद करके व्यवस्थापन करना – 'वोट्ठपन' का कृत्य है। अर्थात् 'सन्तीरण' के द्वारा मीमांसा किये जाने के अनन्तर 'यह आलम्बन इष्ट है', अथवा 'यह आलम्बन अनिष्ट है' – इस प्रकार पृथक् पृथक् अवच्छेद करना – 'वोट्ठपन' का कृत्य है[3]।

'विसुद्धिमग्गमहाटीका' का "पञ्चद्वारे सन्तीरणेन गहितारम्मणं ववत्थपेन्ती विय पवत्तनतो[4]" – यह वचन, तथा 'विभावनी' का "पञ्चद्वारे यथासन्तीरितं आरम्मणं ववत्थापेतीति वोट्ठपनं ति च पवुच्चति[5]" – यह वचन भी उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन करता है।

'परमत्थदीपनी' आदि टीकाओं में कहा गया है कि 'वोट्ठपन के द्वारा आलम्बनों के नील, रक्त, पीत-आदि वर्ण एवं शुभ, अशुभ-आदि स्वभावों का निश्चय होता है[6]।'

किन्तु इन टीकाकारों का उपर्युक्त मत विचार करने पर समीचीन प्रतीत नहीं

---

१. "'चक्खुविञ्ञाणधातुया उप्पज्जित्वा निरुद्धसमनन्तरा उप्पज्जति चित्तं मनो मानसं...तज्जा मनोधातू' ति – आदिवचनतो पन चक्खुविञ्ञाणादीनं अनन्तरा तेसं येव विसयं सम्पटिच्छमाना कुसलविपाकानन्तरं कुसलविपाका, अकुसलविपाकानन्तरं अकुसलविपाका मनोधातु उप्पज्जति – एवं द्विन्नं विपाकविञ्ञाणानं सम्पटिच्छनवसेन पवत्ति वेदितब्बा।" – विसु०, पृ० ३२०।

२. "'मनोधातुया पि उप्पज्जित्वा निरुद्धसमनन्तरा उप्पज्जति चित्तं मनो मानसं... तज्जा मनोविञ्ञाणधातू' ति – वचनतो पन मनोधातुया सम्पटिच्छितमेव विसयं सन्तीरयमाना अकुसलविपाकमनोधातुया अनन्तरा अकुसलविपाका, कुसलविपाकाय अनन्तरा इट्ठारम्मणे सोमनस्ससहगता इट्ठमज्झत्ते उपेक्खासहगता उप्पज्जति विपाकाहेतुकमनोविञ्ञाणधातू ति – एवं तिण्णं विपाकविञ्ञाणानं सन्तीरणवसेन पवत्ति वेदितब्बा।" – विसु०, पृ० ३२०।

३. "सन्तीरणानन्तरं पन तमेव विसयं ववत्थापयमाना उप्पज्जति किरियाहेतुकमनोविञ्ञाणधातु उपेक्खासहगता ति – एवं एकस्सेव किरियविञ्ञाणस्स वोट्ठप्पनवसेन पवत्ति वेदितब्बा।" – विसु०, पृ० ३२०।

४. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२६।

५. विभा०, पृ० ६६।

६. "वोट्ठपनं ति – विसुं अवच्छिन्दित्वा थपनं, इदं नीलं ति वा पीतकं ति वा सुभं ति वा असुभं ति वा असङ्करतो थपनं, नियमनं ति वुत्तं होति।" – प० दी०, पृ० १०५।

होता; क्योंकि इस 'पञ्चद्वारवीथि' में वर्ण-आदि का निश्चय नहीं हो सकता। इनका निश्चय तो वक्ष्यमाण 'तदनुवर्तकवीथि'[1] के क्षण में ही होता है। इस 'पञ्चद्वारवीथि' में तो जवन के द्वारा आलम्बन के रस का अनुभव करने के लिये उसके इष्ट-अनिष्ट आकारमात्र का ही निश्चय किया जा सकता है।

जवनकृत्य – 'जवतीति जवनं' वेग से गमन करना – इसका अर्थ है[2]। 'जवन' बड़े वेग से दौड़ता है; चाहे वह एक बार हो या अनेक बार। 'मार्गजवन' एवं 'अभिज्ञा-जवन' एक वार ही होता है; किन्तु होता है वह अत्यन्त वेगपूर्वक। भवङ्गचित्त यद्यपि वार वार उत्पन्न होता है; किन्तु उसमें कोई वेग नहीं होता। 'जवन' का कृत्य – आलम्बन का अनुभव करना, अर्थात् आलम्बन का रस लेना है[3]।

तदालम्बनकृत्य – 'तस्स आरम्मणं, आरम्मणं यस्सा ति तदारम्मणं' जवन का आलम्बन ही जिसका आलम्बन होता है वह 'तदालम्बन' कहलाता है[4]। अपने पूर्ववर्ती जवनों द्वारा गृहीत आलम्बन का पुनः ग्रहण करनेवाले चित्त को 'तदालम्बन' कहते हैं। जवन के आलम्बन का पुनः ग्रहण इसका कृत्य है।

च्युतिकृत्य – 'चवनं चुति' च्यवन ही 'च्युति' है। प्रत्युत्पन्न भव से च्यवन ही 'च्युति' पद का वाच्य है।

वीथिचित्तों के अन्तराल में जबतक कर्मों का वेग अवशिष्ट रहता है तबतक भवसन्तति का विच्छेद न होने देने के लिये भवङ्गचित्त के द्वारा अनुवन्धनकृत्य किया जाता रहता है। जब कर्मों का वेग अवशिष्ट नहीं रहता तब पुनः अनुवन्ध न किया जा सकने के कारण अन्तिम भवङ्गचित्त को ही, प्रत्युत्पन्न भव से च्युत होने के कारण,

---

१. द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, 'वीथिसमुच्चय'।

२. "आरम्मणे तंतंकिच्चसाधनवसेन अनेकक्खत्तुं एकक्खत्तुं वा जवमानस्स विय पवत्ति जवनकिच्चं।" – विभा०, पृ० ९५।
"जवनं ति वा जवो ति वा वेगो ति वा अत्थतो एकं, असनिनिपातो विय वेगसहितस्स एकेकस्स चित्तस्स पवत्ति जवनकिच्चं।" – प० दी०, पृ० १०५।

३. "जवनं पन रज्जन-विरज्जनादिवसेन इट्ठानिट्ठविभागं करोतीति आलम्बन-रसं जवनमेव अनुभवतीति वुत्तं।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १३०।
विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १०५। तु० – विसु०, पृ० ३२०-३२१; अट्ठ, पृ० २१८, २२०।

४. "तं आरम्मणं एतस्सा ति तदारम्मणं, यं जवनेन गहितं तदेवास्स आरम्मणं ति वुत्तं होति। यं जवनेन गहितारम्मणं तस्सेव गहितत्ता तदारम्मणं नामा ति हि वुत्तं। तस्स वा जवनस्स आरम्मणं अस्स आरम्मणं ति तदारम्मणं।" – प० दी०, पृ० १०५।
"तंतंजवनगहितारम्मणस्स आरम्मणकरणं तदारम्मणकिच्चं।" – विभा०, पृ० ९५-९६। तु० – विसु०, पृ० ३२१; अट्ठ०, पृ० २१८। विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३४।

१६. पटिसन्धि-भवङ्ग-आवज्जन-पञ्चविञ्ञाणट्ठानादिवसेन* पन तेसं दसधा ठानभेदो वेदितब्बो।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन एवं पञ्चविज्ञान-आदि स्थानों के वश से इनका दस प्रकार का स्थान-भेद जानना चाहिये।

'च्युति' कहते हैं। इसलिये एक भव में 'भवङ्ग' एवं च्युतिचित्त समान (एक) होते हैं। यहाँ पर प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव से च्युत होना ही 'च्युति' का कृत्य है[1]।

१६. स्थान (ठानं) – 'तिट्ठति एत्था ति ठानं' जिस क्षणविशिष्ट काल में प्रतिसन्धि-आदि चित्त प्रतिष्ठित होते हैं उस काल को 'स्थान' कहते हैं। अर्थात् प्रतिसन्धि-आदि चित्तों से अवच्छिन्न कालविशेष को 'स्थान' कहा जाता है। इस विग्रह के अनुसार वीथिचित्तों के तीन वारों (चित्तप्रवृत्तियों) में से पूर्व एवं पश्चिम वारों के मध्य में, एक चित्त प्रवृत्त होने के लिये जो कालविशेष होता है उस मध्यवर्ती काल-प्रज्ञप्ति को ही 'स्थान' कहते हैं[2]।

मूलटीकाकार ने भी "कालो हि चित्तपरिच्छिन्नो सभावतो अविज्जमानो पि आधारभावेनेव सञ्ञातो अधिकरणं ति वुत्तो[3]" – ऐसा कहा है। अर्थात् चित्त से परिच्छिन्न काल, स्वभाव से अविद्यमान होते हुए भी आधारभाव से संज्ञात (जाना गया), 'अधिकरण' कहा गया है। 'मूलटीका' के इस वचन के अनुसार 'स्थान' से यहाँ किसी स्थूल या सूक्ष्म आधार से तात्पर्य न होकर 'काल' से तात्पर्य है और वह काल भी परमार्थ-धर्म नहीं है, अपितु चित्त की उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मिका क्रिया ही है। इस प्रकार यह अपरमार्थ काल-प्रज्ञप्ति ही यहाँ 'स्थान' शब्द द्वारा कही गयी है।

कृत्य एवं स्थान में भेद – उपर्युक्त टीकाओं के अनुसार कृत्य एवं स्थान के भेद को इस प्रकार समझा जा सकता है; यथा – प्रतिसन्धिचित्त, आवर्जनचित्त-आदि परमार्थधर्मों का – नवीन भव का प्रतिसन्धान करना, आलम्बन का आवर्जन करना-आदि जो आकार है वह 'कृत्य' है। तथा प्रतिसन्धिचित्त, भवङ्गचित्त – इस क्रम से प्रवृत्त होनेवाली वीथिचित्तसन्तति में से पूर्वस्थ च्युतिचित्त एवं पश्चिमस्थ भवङ्गचित्त के मध्य में एक प्रतिसन्धिचित्त प्रवृत्त होने योग्य जो तीन क्षुद्रक्षणात्मक अर्थात् उत्पाद-स्थिति-भङ्गव्यापी

---

* पञ्चविञ्ञाणठानादिवसेन – म० (ख)।

१. "निब्बत्तभवतो परिगळनं चुतिकिच्चं।" – विभा०, पृ० ६६।
"निब्बत्तमानभवतो चवनं मुच्चनं परिगळनं चुति।" – प० दी०, पृ० १०५।
"एकस्मिं हि भवे यं सब्बपच्छिमं भवङ्गचित्तं तं ततो भवतो चवनत्ता चुतीति वुच्चति।" – विसु०, पृ० ३२१।

२. "तिट्ठति पवत्तति तंतंकिच्चवन्तं चित्तं एत्था ति ठानं, ओकासो, तंतंअन्तरा-कालो ति वुत्तं होति। कालो पि हि कालवन्तानं पवत्तिविसयत्ता ठानं ति वुच्चति।" – प० दी०, पृ० १०६।

३. ध० स० मू० टी०, पृ० ६३।

काल होता है वह 'स्थान' है। यह दो चित्तों का मध्यवर्ती काल, परमार्थ-धर्म न होने के कारण, अथच प्रज्ञप्तिमात्र होने के कारण, 'अन्तरापञ्ञत्ति' (अन्तःप्रज्ञप्ति) भी कहा गया है[1]।

जैसे – न्यायाधीश, न्यायकृत्य एवं न्यायालय – ये तीन होते हैं; उसी प्रकार प्रतिसन्धिचित्त, प्रतिसन्धानकृत्य एवं प्रतिसन्धान करने का काल अर्थात् स्थान – ये भी तीन होते हैं। वह 'काल' नामक स्थान भी अभाव-प्रज्ञप्ति है अतः 'चु ००० – प ००० – भ ००० –' में उस अभाव-प्रज्ञप्ति के प्रतिनिधिरूप में 'काल' नामक 'स्थान' को शून्यों के द्वारा दिखलाया गया है। एक एक शून्यत्रिक, स्थान का सूचक है तथा 'चु – प – भ –' ये तीन उस स्थान में च्यवन, प्रतिसन्धान-आदि कृत्य करनेवाले च्युतिचित्त, प्रतिसन्धिचित्त एवं भवङ्गचित्त के सूचक हैं – इस प्रकार कृत्य एवं स्थान का भेद अत्यन्त स्पष्ट होता है। तथा कृत्य चौदह प्रकार का होने से और स्थान दस प्रकार का होने से भी उनका परस्पर असदृश स्वभाव स्पष्ट होता है।

विभावनीवाद – विभावनीकार का कहना है कि "यद्यपि प्रतिसन्धिकृत्य भी चित्त है और प्रतिसन्धि-स्थान भी चित्त ही है, अतः कृत्य एवं स्थान दोनों अभिन्न हैं; तथापि शिलापुत्रक के शरीर की भाँति, अभेद में भेदोपचार करके, इनका यहाँ पृथक् प्रयोग किया गया है – ऐसा समझना चाहिये[2]"।

परमत्थदीपनीकार का कहना है कि "'विभावनी का कृत्य एवं स्थान को अभिन्न कहना और शिलापुत्र के शरीर की भाँति, अभेद में भेदोपचार करके, इनका प्रयोग किया गया है' – यह कथन ग्रहण करने योग्य नहीं है; क्योंकि यद्यपि 'काल' स्वभाव (परमार्थ) से विद्यमान नहीं है तथापि चित्त से पृथक् अधिकरणभूत एक प्रज्ञप्ति-धर्म है।" अपने मत की पुष्टि के लिये वे अट्ठकथा के इस वचन को उद्धृत करते हैं:

"इमेसं अट्ठन्नं महाविपाकचित्तानं विपच्चनट्ठानं वेदितब्बं। एतानि हि चतूसु ठानेसु विपच्चन्ति – पटिसन्धियं, भवङ्गे, चुतियं, तदारम्मणे ति। कथं?... पटिसन्धिगहणकाले पटिसन्धि हुत्वा विपच्चन्ति।...असङ्ख्येय्यं आयुकालं भवङ्गं हुत्वा...छसु द्वारेसु तदारम्मणं हुत्वा, मरणकाले चुति हुत्वा ति[3]।"

अर्थात् इन आठ महाविपाकचित्तों का विपाकस्थान जानना चाहिये। ये (महाविपाक) चार स्थानों में विपक्व होते हैं; यथा – प्रतिसन्धि में, भवङ्ग में, च्युति में

---

१. "पटिसन्धि-आदिकाले पन चुतिभवङ्गानं अन्तराळं पटिसन्धिया; पटिसन्धिआवज्जनानं, तदारम्मणावज्जनानं, जवनावज्जनानं, वोट्ठपनावज्जनानं च अन्तराळं भवङ्गस्स; तदारम्मणपटिसन्धीनं, जवनपटिसन्धीनं वा अन्तराळं चुतिया ठानं ति वेदितब्बं।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२६।

२. "पटिसन्धिया ठानं पटिसन्धिठानं, कामं पटिसन्धिविनिम्मुत्तं ठानं नाम नत्थि, सुखगहणत्थं पन सिलापुत्तकस्स सरीरं त्यादीसु विय अभेदे पि भेदपरिकप्पना ति दट्ठब्बं।" – विभा०, पृ० ९६।

३. अट्ठ०, पृ० २१५।

तथा तदालम्बन में। कैसे? प्रतिसन्धिग्रहणकाल में प्रतिसन्धिकृत्य होकर, असङ्ख्येय आयुःकाल में भवङ्गकृत्य होकर, छह आलम्बनों में तदालम्बनकृत्य होकर तथा च्युतिकाल में च्युतिकृत्य होकर—इत्यादि। अट्ठकथा के उपर्युक्त वचन का निष्कर्ष यह है कि काल, प्रज्ञप्त ही रहो, चित्त से अतिरिक्त धर्म है। यदि कृत्य एवं स्थान अभिन्न होते तो चौदह कृत्यों की तरह चौदह स्थान भी होते; किन्तु अनुरुद्धाचार्य ने कृत्यों को चौदह तथा स्थानों को दस कहा है। अतः सिद्ध होता है कि स्थान (काल), कृत्य से भिन्न पदार्थ हैं[1]।

स्थानभेद—स्थान दशविध है; यथा—प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, तदालम्बन एवं च्युति।

यह कहा ही जा चुका है कि प्रतिसन्धि-आदि किन्हीं तीन वीथिचित्तों के मध्यवर्ती चित्त से अवच्छिन्न काल को 'स्थान' कहते हैं। उन्हें निम्नलिखित प्रकार से समझना चाहिये:

१. च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धिकृत्यस्थान होता है।

२. प्रतिसन्धि के अनन्तर भवङ्गकृत्यस्थान होता है।

३. भवङ्ग के अनन्तर पञ्चद्वारवीथि में—अहेतुक क्रियामनोधातु का, तथा मनोद्वारवीथि में—अहेतुक क्रियामनोविज्ञानधातु का एक आवर्जनकृत्यस्थान होता है। पृथक् पृथक् वीथि में होने के कारण, भवङ्ग के अनन्तर आवर्जन एक कृत्यस्थान ही है।

४. दर्शन, श्रवण, घ्राण (घायन), आस्वादन (सायन) एवं स्पर्शन कृत्य, कुशल-विपाक एवं अकुशलविपाक भेद से 'द्विपञ्चविज्ञानकृत्य' कहे जाते हैं। किसी एक काल में एक ही कृत्य होगा, अतः द्विपञ्चविज्ञानकृत्यों का पञ्चद्वारावर्जन के अनन्तर एक ही कृत्यस्थान है।

५. ६. ७. द्विपञ्चविज्ञानकृत्य के अनन्तर क्रमशः सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं वोट्ठपन नामक कृत्यस्थानों को जानना चाहिये।

८. जवनकृत्य, पञ्चद्वारवीथि में वोट्ठपनकृत्य के अनन्तर, तथा मनोद्वारवीथि में मनोद्वारावर्जनकृत्य के अनन्तर, अभिप्रवृत्त होता है। पञ्चद्वारवीथि में वोट्ठपन-कृत्य तथा मनोद्वारवीथि में मनोद्वारावर्जनकृत्य—ये दोनों अहेतुक क्रियामनोविज्ञानधातु के कृत्य हैं। आगे कहा भी गया है कि 'मनोद्वारावज्जनमेव पञ्चद्वारे वोट्ठपनकिच्चं साधेति[2] पञ्चद्वारवीथि में मनोद्वारावर्जन ही वोट्ठपनकृत्य सिद्ध करता है अर्थात् पञ्चद्वारवीथि में यह 'वोट्ठपन' कहा जाता है और यह मनोविज्ञानधातु का कृत्य है। अतः अहेतुक क्रियामनोविज्ञानधातु के अनन्तर एक जवनकृत्यस्थान है।

९. जवन का अवसान होने पर एक तदालम्बनकृत्यस्थान है।

१०. भव के अन्त में एक 'च्युति' नामक कृत्यस्थान है[3]।

यह कहा गया है कि दो कृत्यों अर्थात् दो वीथिचित्तों के मध्यवर्ती काल को

---

१. द्र०—प० दी०, पृ० १०६। २. द्र०—अभि० स० ३ : २४, पृ० २३३।

३. इन स्थानों का विस्पष्ट ज्ञान करने के लिये द्र०—अभि० स०, चतु० परि०, 'पञ्चद्वारवीथि' एवं 'मनोद्वारवीथि'।

२०. तत्थ द्वे उपेक्खासहगतसन्तीरणानि चेव अट्ठ महाविपाकानि च नव रूपारूपविपाकानि चेति एकूनवीसति चित्तानि पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-किच्चानि नाम ।

वहाँ (कृत्यसङ्ग्रह में) उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त २, महाविपाक-चित्त ८, तथा रूपावचर एवं अरूपावचर विपाकचित्त ९ – इस प्रकार १९ चित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करनेवाले होते हैं ।

'स्थान' कहते हैं । ये स्थान यद्यपि नाम से १० कहे गये हैं तथापि वीथि के अनुसार इनकी सङ्ख्या २५ होती है । उसे इस प्रकार जानना चाहिये[1] :

१. च्युति एवं भवङ्ग के अन्तराल में एक प्रतिसन्धिस्थान है ।

२–७. प्रतिसन्धि एवं आवर्जन के अन्तराल में, जवन एवं आवर्जन के अन्तराल में, तदालम्बन एवं आवर्जन के अन्तराल में, तथा वोट्ठपन एवं आवर्जन के अन्तराल में, कदाचित् जवन एवं च्युति के अन्तराल में और तदालम्बन एवं च्युति के अन्तराल में भवङ्गस्थान होता है – इस प्रकार भवङ्गस्थान छह हैं ।

८–९. पञ्चद्वारवीथि में भवङ्ग एवं पञ्चविज्ञान के अन्तराल में तथा मनोद्वार-वीथि में भवङ्ग एवं जवन के अन्तराल में दो आवर्जनस्थान होते हैं ।

१०. पञ्चद्वारावर्जन एवं सम्पटिच्छन के अन्तराल में एक पञ्चविज्ञानस्थान होता है।

११. पञ्चविज्ञान एवं सन्तीरण के अन्तराल में एक सम्पटिच्छनस्थान होता है ।

१२. सम्पटिच्छन एवं वोट्ठपन के अन्तराल में एक सन्तीरणस्थान होता है ।

१३-१४. सन्तीरण एवं जवन के अन्तराल में तथा सन्तीरण एवं भवङ्ग के अन्तराल में दो वोट्ठपनस्थान होते हैं ।

१५-२०. वोट्ठपन एवं तदालम्बन के अन्तराल में, वोट्ठपन एवं भवङ्ग के अन्तराल में, वोट्ठपन एवं च्युति के अन्तराल में, मनोद्वारावर्जन एवं तदालम्बन के अन्तराल में, मनोद्वारावर्जन एवं भवङ्ग के अन्तराल में तथा मनोद्वारावर्जन एवं च्युति के अन्तराल में जवनस्थान होता है – इस प्रकार जवनस्थान कुल छह हैं ।

२१-२२. जवन एवं भवङ्ग के अन्तराल में तथा जवन एवं च्युति के अन्तराल में दो तदालम्बनस्थान होते हैं ।

२३-२५. जवन एवं प्रतिसन्धि के अन्तराल में, तदालम्बन एवं प्रतिसन्धि के अन्तराल में तथा भवङ्ग एवं प्रतिसन्धि के अन्तराल में तीन च्युतिस्थान होते हैं ।

इस प्रकार कुल २५ स्थान होते हैं ।

२०. तीन सन्तीरणचित्तों में से दो उपेक्षासहगत सन्तीरण ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करते हैं, सौमनस्यसहगत सन्तीरण नहीं; क्योंकि सौमनस्यचित्त अतिदुर्बल

---

१. सङ्क्षेप०, पृ० २४१; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२६ ।

२१. आवज्जनकिच्चानि पन द्वे।

२२. तथा दस्सन-सवन-घायन-सायन-फुसन-सम्पटिच्छनकिच्चानि च।

२३. तीणि सन्तीरणकिच्चानि।

२४. मनोद्वारावज्जनमेव पञ्चद्वारे वोट्ठपनकिच्चं साधेति।

२५. आवज्जनद्वयवज्जितानि कुसलाकुसल-फल-क्रियाचित्तानि पञ्चपञ्ञास जवनकिच्चानि।

दो चित्त (पञ्चद्वारावर्जन एवं मनोद्वारावर्जन) आवर्जनकृत्य करनेवाले होते हैं।

उसी प्रकार दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्श एवं सम्पटिच्छन कृत्य करनेवाले भी दो दो चित्त होते हैं।

तीन चित्त सन्तीरणकृत्य करनेवाले होते हैं।

मनोद्वारावर्जनचित्त ही पञ्चद्वार में वोट्ठपनकृत्य सिद्ध करता है।

आवर्जनद्वयवर्जित कुशल, अकुशल, फल (लोकोत्तर) एवं क्रिया चित्त – इस प्रकार कुल ५५ चित्त जवनकृत्य करनेवाले होते हैं।

होने के कारण प्रतिसन्धि देने में असमर्थ होता है। हीन द्विहेतुक कुशल स्वयं सौमनस्ययुक्त होने पर भी, दुर्बल होने के कारण सौमनस्यप्रतिसन्धि नहीं दे सकता, अतः सौमनस्यसन्तीरण प्रतिसन्धिस्थान नहीं होता। इसीलिये 'पट्ठान'[1] में भी सौमनस्यसन्तीरण को प्रतिसन्धिस्थान में उद्धृत नहीं किया गया है[2]।

२५. ५५ चित्त जवनकृत्य करते हैं; यथा – कुशलचित्त २१, अकुशलचित्त १२, लोकोत्तर फलचित्त ४ एवं आवर्जनद्वयवर्जित क्रियाचित्त १८=५५ चित्त।

आवज्जनद्वयवज्जितानि – मनोद्वारावर्जनचित्त परित्त-आलम्बन में दो तीन बार प्रवृत्त होने पर भी जवनकृत्य क्यों नहीं करता ?

उत्तर – मनोद्वारावर्जन परित्त-आलम्बन में दो तीन बार प्रवृत्त होने पर भी जवनकृत्य इसलिये नहीं कर पाता; चूंकि वह आलम्बन के रस का अनुभव करने में असमर्थ होता है। 'जवन' यह चित्त का स्वभाव होता है, दो तीन बार प्रवृत्त होने से जवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकोत्तर मार्ग-आदि की एकचित्तक्षण प्रवृत्ति होने

---

१. प०, द्वि० भा०, पृ० १२१-१२४।

२. "यस्मा ओमकं द्विहेतुककुसलं सयं सोमनस्सयुत्तं पि समानं अतिदुब्बलत्ता सोमनस्सपटिसन्धिं दातुं न सक्कोति; तस्मा, सोमनस्ससन्तीरणं पटिसन्धिट्ठानं न गच्छतीति वुत्तं – 'द्वे उपेक्खासहगतसन्तीरणानि चेवा' ति। तथा हि पट्ठाने पीतिसहगतत्तिके पटिच्चवारे हेतुपच्चनिके तं पटिसन्धिट्ठाने न उद्धटं ति।" – प० दी०, पृ० १०६। तु० – विभा०, पृ० ६६।

२६. अट्ठ* महाविपाकानि चेव सन्तीरणत्तयञ्चेति एकादस तदारमणकिच्चानि ।

महाविपाक ८ तथा सन्तीरण ३ – इस प्रकार कुल ११ चित्त तदालम्बनकृत्य करनेवाले होते हैं ।

पर भी वे जवनस्वभाव होने से, 'जवनकृत्य' – इस नाम को प्राप्त करते हैं; जैसे – एक एक विषय (गोचर) को आलम्बन बनाने पर भी 'सर्वज्ञताज्ञान' (सब्बञ्ञुतञाण) समस्त विषयों में अवबोध के सामर्थ्य से युक्त होने के कारण, कभी भी अपने 'सर्वज्ञताज्ञान' इस नाम को नहीं छोड़ता[1] ।

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार कहते हैं कि मनोद्वारावर्जन परित्त-आलम्बन में अथवा अविभूत-आलम्बन में दो तीन वार प्रवृत्त होने पर भी, विपाकसन्तान से प्रत्ययलाभ करनेवाला होने से दुर्बल होने के कारण, जवनवेगरहित ही होता है; अतः यह जवनकृत्य करनेवाला नहीं होता । 'विभावनी' में जो यह कारण बताया गया है – 'चूंकि मनोद्वारावर्जन आलम्बन के रस का अनुभव करने में असमर्थ होता है, अतः जवनकृत्य नहीं कर पाता' – यह कारण नहीं हो सकता; क्योंकि 'आलम्बन के रस का अनुभव करना' जवनकृत्य की सिद्धि में अथवा 'जवन' – इस नाम के लाभ में हेतु नहीं है, वह (आलम्बनरसानुभव) तो जवनकृत्य की सिद्धि का फल है । फल (लोकोत्तर) - चित्त आसेवनभाव (आलम्बनरसानुभव) से रहित होने पर भी, मार्गचेतना के महानुभाव (सामर्थ्य) से तथा परिकर्म-भावना के बल से प्रवृत्त होने के कारण आलम्बन में वेगपूर्वक ही पतित होते हैं और इसीलिये उनका जवनकृत्य करनेवालों में ग्रहण किया गया है । विभावनीकार ने 'मार्ग एवं अभिज्ञाजवनों के एक वार प्रवृत्त होने के कारण उनका जवनकृत्य सम्पन्न नहीं होता; अपितु जवनस्वभाव होने से जवनकृत्य सम्पन्न होता है' – इस अभिप्राय से "एकचित्तक्खणिकं पि हि लोकुत्तरमग्गादिकं तंसभाववन्तताय जवनकिच्चं नाम[2]" – ऐसा कहकर सर्वज्ञताज्ञान की उपमा द्वारा जो उस अर्थ का प्रकाश किया है, वह युक्तियुक्त नहीं है[3] ।

---

* ना० में नहीं ।

१. "मनोद्वारावज्जनस्स परित्तारम्मणे द्वितिक्खत्तुं पवत्तमानस्स पि नत्थि जवनकिच्चं, तस्स आरम्मणरसानुभवनाभावतो ति वुत्तं – 'आवज्जनद्वयवज्जिताना' ति ।... एकचित्तक्खणिकं पि हि लोकुत्तरमग्गादिकं तंसभाववन्तताय जवनकिच्चं नाम । यथा – एकेकगोचरविसयं पि सब्बञ्ञुतञाणं सकलविसयाववोधनसामत्थिययोगतो न कदाचि तं नामं विजहतीति ।" – विभा०, पृ० ९७ ।

२. विभा०, पृ० ९७ ।

३. प० दी०, पृ० १०६-१०७ ।

२७. तेसु पन द्वे उपेक्खासहगतसन्तीरणचित्तानि पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-तदारमण-सन्तीरणवसेन पञ्चकिच्चानि नाम।

२८. महाविपाकानि अट्ठ पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-तदारमणवसेन चतुकिच्चानि नाम* ।

२९. महग्गतविपाकानि नव पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन तिकिच्चानि नाम* ।

उन (तीन सन्तीरणचित्तों) में से २ उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन एवं सन्तीरण के वश से पाँच कृत्य करनेवाले होते हैं।

८ महाविपाक चित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति एवं तदालम्बन के वश से चार कृत्य करनेवाले होते हैं।

९ महग्गत विपाकचित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के वश से तीन कृत्य करनेवाले होते हैं।

---

२७. विपाकाहेतुक मनोविज्ञानधातु 'सन्तीरणकृत्य' है। वह सौमनस्यसहगत सन्तीरण (कुशलविपाक), उपेक्षासहगत सन्तीरण (कुशलविपाक) तथा उपेक्षासहगत सन्तीरण (अकुशलविपाक) – इस प्रकार कुशल-अकुशलविपाक के वश से त्रिविध है। इनमें से कुशल एवं अकुशल विपाकभूत दो अहेतुक मनोविज्ञानधातु (दो उपेक्षासन्तीरण) ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, सन्तीरण एवं तदालम्बन – इन पाँच कृत्यों को सिद्ध करती हैं।

जब वह अकुशलविपाक के रूप में उत्पन्न होती है तब प्रतिसन्धिचित्त होकर चार अपाययोनियों में प्रतिसन्धिकृत्य का सम्पादन करती है तथा वहीं भवङ्गचित्त होकर आयुःपर्यन्त यथासम्भव भवङ्गकृत्य करती है तथा आयु के पर्यवसित होने पर च्युतिकृत्य सिद्ध करती है।

[यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त, नाम से भिन्न भिन्न होने पर भी, स्वरूपतः एक ही होते हैं।]

जब वह (अहेतुक मनोविज्ञानधातु) कुशलविपाक के रूप में प्रवृत्त होती है तब यदि बलवान् कुशलकर्मों का विपाक होती है तो मनुष्ययोनि में श्रीमान् पुरुषों में; तथा दुर्बल कुशलकर्मों का विपाक होती है तो जात्यन्ध, जातिबधिर, मूक-आदि पुद्गलों में प्रतिसन्धि होकर प्रतिसन्धिकृत्य करती है। यहाँ भी वह पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्यों को निष्पन्न करती है। सौमनस्यसहगत विपाकाहेतुक मनोविज्ञानधातु (सौमनस्यसन्तीरण) प्रतिसन्धिकृत्य का सम्पादन नहीं करती।

तीनों अहेतुकविपाक मनोविज्ञानधातु (सन्तीरणत्रय) सन्तीरण एवं तदालम्बनकृत्य का सम्पादन करती हैं।

---

* ना० में नहीं।

३०. सोमनस्ससहगतं* सन्तीरणं* सन्तीरण-तदारमणवसेन दुकिच्चं, तथा वोट्ठपनं† वोट्ठपनावज्जनवसेन ।

३१. सेसानि पन सब्बानि पि जवन-मनोधातुत्तिक-द्विपञ्चविञ्ञाणानि‡ यथासम्भवमेककिच्चानीति ।

३२. पटिसन्धादयो नाम किच्चभेदेन चुद्दस ।
दसधा ठानभेदेन चित्तुप्पादा पकासिता ।।

३३. अट्ठसट्ठि§ तथा द्वे च नवाट्ठ* द्वे यथाक्कमं ।
एक-द्वि-ति-चतु-पञ्चकिच्चट्ठानानि$ निद्दिसे ।।

सौमनस्यसहगत सन्तीरणचित्त सन्तीरण एवं तदालम्बन के वश से दो कृत्य करनेवाला होता है, उसी प्रकार वोट्ठपनचित्त वोट्ठपन एवं आवर्जन के वश से दो कृत्य करनेवाला होता है ।

पूर्ववर्णित चित्तों से अवशिष्ट सभी जवनचित्त, मनोधातुत्रय एवं द्विपञ्चविज्ञानचित्त यथासम्भव एक एक कृत्य करनेवाल होते हैं ।

प्रतिसन्धि-आदि चित्तोत्पादों के कृत्य-भेद से चौदह प्रकार तथा स्थानभेद से दस प्रकार प्रकाशित किये गये हैं ।

एक कृत्य एवं एक स्थान, दो कृत्य एवं दो स्थान, तीन कृत्य एवं तीन स्थान, चार कृत्य एवं चार स्थान तथा पाँच कृत्य एवं पाँच स्थान वाले चित्तों का यथाक्रम ६८, २, ९, ८ एवं २ – इस प्रकार निर्देश करना चाहिये ।

---

३१. **यथासम्भवमेककिच्चानि** – शेष जवन ५५, मनोधातुत्रय (३) तथा द्विपञ्चविज्ञान १० – इस तरह ये ६८ चित्त एक कृत्य करते हैं । जवनचित्त ५५ केवल एक जवनकृत्य करते हैं । मनोधातुत्रय में पञ्चद्वारावर्जनचित्त केवल एक आवर्जनकृत्य तथा सम्पटिच्छनद्वय केवल एक सम्पटिच्छनकृत्य करते हैं । १० द्विपञ्चविज्ञानचित्तों में से चक्षुर्विज्ञानद्वय केवल दर्शनकृत्य, श्रोत्रविज्ञानद्वय केवल श्रवणकृत्य, घ्राणविज्ञानद्वय केवल गन्धग्रहण (घायन)-कृत्य, जिह्वाविज्ञानद्वय केवल आस्वादन (सायन) – कृत्य तथा कायविज्ञानद्वय केवल एक संस्पर्शन (फुसन) – कृत्य करते हैं । इस प्रकार उपर्युक्त चित्त यथासम्भव एक एक कृत्य करनेवाले होते हैं ।

३२. इस कृत्यसङ्ग्रह में प्रतिसन्धि-आदि चित्तोत्पादों का कृत्यभेद से चौदह प्रकार का तथा स्थानभेद से दस प्रकार का विभाग करके वर्णन किया गया है ।

- सोमनस्ससन्तीरणं – रो०; म० (क, ख) । † ०च – ना० ।
‡ ०मनोधातुतिक० – स्या० ('तिक' सर्वत्र) । § अट्ठसट्ठी – स्या० ।
* नवट्ठ – सी०, स्या०, ना० ।
$ ०चतुप्पञ्च० – सी०; ०किच्चठानानि – रो०, म० (ख) ।

विभावनीकार गाथा में कथित 'नाम' शब्द का 'कृत्य' शब्द के साथ अन्वय करके इस प्रकार अर्थ करते हैं – "प्रतिसन्धि-आदि चित्तोत्पादों का नामभेद से तथा कृत्यभेद से चौदह प्रकार का विभाग करके वर्णन किया गया है[1]" ।

किन्तु विभावनीकार का उपर्युक्त अन्वयार्थ युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ग्रन्थकार ने चित्तोत्पादों का नामभेद से चौदह प्रकार का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है[2] ।

३३. पूर्वोक्त विधि से जवनचित्त ५५, मनोधातु ३, तथा द्विपञ्चविज्ञान १० = ६८ चित्त एक कृत्य तथा एक स्थानवाले हैं । सौमनस्यसन्तीरण (सौमनस्यसहगत अहेतुक-विपाक मनोविज्ञानधातु) सन्तीरण एवं तदालम्बन नामक दो कृत्य एवं दो स्थान वाला है तथा 'वोट्ठपन' (उपेक्षासहगत अहेतुकक्रियामनोविज्ञानधातु) भी 'वोट्ठपन' (व्यवस्थापन) एवं 'आवर्जन' नामक दो कृत्य एवं दो स्थान वाला है । इस प्रकार सौमनस्यसन्तीरण एवं 'वोट्ठपन' (मनोद्वारावर्जन) – ये दो चित्त दो कृत्य एवं दो स्थान वाले हैं । ९ चित्त (महग्गतविपाक) तीन कृत्य (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति) एवं तीन स्थान वाले हैं । ८ चित्त (महाविपाक) चार कृत्य (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन) एवं चार स्थान वाले हैं । दो उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त (उपेक्षासहगत अहेतुक विपाकमनोविज्ञानधातु) पाँच कृत्य (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन, सन्तीरण) एवं पाँच स्थान वाले हैं ।

यह गाथा पूर्वोक्त चित्तों का कृत्य एवं स्थान के साथ सङ्ग्रह रूप से वर्णन करती है ।

चैतसिकविभाग – 'गृहीतग्रहणनय' से चैतसिकों का विभाग चैतसिकसङ्ग्रह में उक्त 'सम्प्रयोगनय' एवं 'सङ्ग्रहनय' के आधार पर जानना चाहिये ।

यहाँ अब हम 'अगृहीतग्रहणनय' से चैतसिकों के विभाग का विचार करते हैं ।

(क) एक कृत्य करनेवाले चैतसिक : अकुशल चैतसिक १४, तथा विरति चैतसिक ३ = १७ चैतसिक – केवल एक 'जवनकृत्य' करते हैं ।

(ख) चार कृत्य करनेवाले चैतसिक : २ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति एवं जवन नामक चार कृत्य करते हैं ।

(ग) पाँच कृत्य करनेवाले चैतसिक : ३ विरति चैतसिक एवं २ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक = ५ चैतसिकों को वर्जित कर अवशिष्ट शोभन चैतसिक २० एवं छन्दचैतसिक १ = २१ चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति जवन एवं तदालम्बन नामक पाँच कृत्य करते हैं ।

---

१. "पटिसन्धादयो चित्तुप्पादा नामकिच्चभेदेन पटिसन्धादीनं नामानं किच्चानं च भेदेन; अथ वा – पटिसन्धादयो नाम तंनामका चित्तुप्पादा पटिसन्धादीनं किच्चानं भेदेन चुद्दस, ठानभेदेन पटिसन्धादीनं येव ठानानं भेदेन दसधा पकासिता ति योजना ।" – विभा०, पृ० ९७ ।

२. "पटिसन्धादयो नाम चित्तुप्पादा ति सम्बन्धो । विभावनियं पन 'नामकिच्च-भेदेना' ति पि योजेति, तं न सुन्दरं; नामभेदस्स विसुं वत्तब्बाभावतो ति ।" – प० दी०, पृ० १०७ ।

द्वारसङ्गहो

३४. द्वारसङ्गहे द्वारानि नाम – चक्खुद्वारं, सोतद्वारं, घानद्वारं, जिव्हाद्वारं, कायद्वारं, मनोद्वारञ्चेति छब्बिधानि* भवन्ति।

द्वारसङ्ग्रह में द्वार – चक्षुर्द्वार, श्रोत्रद्वार, घ्राणद्वार, जिह्वाद्वार, कायद्वार एवं मनोद्वार – इस प्रकार षड्विध होते हैं।

(घ) छह कृत्य करनेवाले चैतसिक : प्रीति चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, जवन, तदालम्बन एवं सन्तीरण नामक छह कृत्य करता है।

(ङ) सात कृत्य करनेवाले चैतसिक : वीर्य चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, जवन, तदालम्बन, आवर्जन एवं वोट्ठपन नामक सात कृत्य करता है।

(च) नौ कृत्य करनेवाले चैतसिक : वितर्क, विचार एवं अधिमोक्ष नामक ३ चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, जवन, तदालम्बन, आवर्जन, वोट्ठपन, सन्तीरण एवं सम्पटिच्छन नामक नौ कृत्य करते हैं।

(छ) चौदह कृत्य करनेवाले चैतसिक : ७ सर्वचित्तसाधारण चैतसिक चौदहों कृत्य करते हैं।

कृत्यसङ्ग्रह समाप्त।

द्वारसङ्ग्रह

३४. चक्षुष्-आदि द्वार तथा उन द्वारों में प्रवृत्त चित्त-चैतसिक धर्मो का परिच्छेद करके यहाँ सङ्ग्रह किया गया है; अतः इस सङ्ग्रह को 'द्वारसङ्ग्रह' कहते हैं[1]।

अथवा – चक्षुष्-आदि द्वारों के भेद से चित्त-चैतसिक धर्मों का सङ्ग्रह करने वाले सङ्ग्रह को 'द्वारसङ्ग्रह' कहते हैं[2]।

इस सङ्ग्रह में सर्वप्रथम छह मूलद्वारों का वर्णन किया गया है।

जिससे दो अर्थात् द्विविध जन जाते हैं वह 'द्वार' है। अर्थात् किसी नगर के अन्दर रहनेवाले तथा बाहर रहनेवाले मनुष्य जिस छिद्रमार्ग से नगर से बाहर जाते हैं या उसमें प्रवेश करते हैं उस छिद्रमार्ग को 'द्वार' कहते हैं।

---

* छब्बिधं – रो०।

१. "द्वारानं द्वारप्पवत्तचित्तानं च परिच्छेदवसेन सङ्गहो द्वारसङ्गहो, आवज्जनादीनं अरूपधम्मानं पवत्तिमुखभावतो द्वारानि विया ति द्वारानि।" – विभा०, पृ० ९७।

२. "चक्खादीनं द्वारानं भेदेन चित्तचेतसिकानं सङ्गहो द्वारसङ्गहो।" – प० दी०, पृ० १०७; "चक्खादीहि द्वारेहि द्वारप्पवत्तचित्तपरिच्छेदवसेन सङ्गहो द्वारसङ्गहो, आवज्जनादीनं अरूपधम्मानं पवत्तिमुखभावतो द्वारानि।" – अभि० स० टी०, पृ० ३०९; "द्वारानं च तंद्वारिकानं च सङ्गहो द्वारसङ्गहो।" – सङ्खेप०, पृ० २४१।

अथवा – द्विविध जन जिस स्थान पर जाते हैं उस स्थान को भी 'द्वार' कहते हैं[1]।

'द्वरीयन्ते संवरीयन्ते ति द्वारानि' – इस विग्रह के अनुसार प्राकृतिक द्वार (स्वाभाभाविक छिद्र) को ही 'द्वार' (दरवाजा) कहा जाता है, दरवाजे के पल्लों को नहीं। यहाँ पर 'द्वारानि विया ति द्वारानि' – ऐसा विग्रह करके द्वार की भाँति होने के कारण 'चक्षुःप्रसाद' आदि को भी 'द्वार' कहा गया है। जिस प्रकार यदि किसी घर में द्वार नहीं होता है तो लोग उसमें प्रवेश नहीं कर पाते हैं और इसीलिये घर का द्वार लोगों का प्रवेशस्थान होता है; उसी प्रकार यदि चक्षुःप्रसाद-आदि नहीं होते हैं तो चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त-आदि भी प्रवृत्त नहीं हो पाते हैं। अतएव स्कन्धरूपी गृह के चक्षुःप्रसाद-आदि द्वार चक्षुर्द्वारिक-आदि वीथिचित्तों के 'प्रवृत्तिस्थान' होते हैं[2]। 'मूलटीका' में भी इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है; यथा – "वळञ्जन्ति पविसन्ति एतेना ति वळञ्जनं, तंद्वारिकानं फस्सादीनं वळञ्जनट्ठेन द्वारं[3]।"

वादान्तर – चक्षुर्मांस के भीतर स्थित 'प्रसाद' (स्वच्छभाग) को 'चक्षुःप्रसाद' कहते हैं[4]। श्रोत्रप्रसाद-आदि को भी उसी प्रकार समझना चाहिये। भवङ्ग नामक मनोद्वार भी "पभस्सरमिदं, भिक्खवे ! चित्तं[5]" आदि 'अङ्गुत्तरनिकाय' पालि के अनुसार प्रभास्वर एवं अत्यन्त स्वच्छ होता है। इसीलिये जिस प्रकार बड़े बड़े महलों के कपाट एवं खिड़कियों में लगे शीशों में बाहर स्थित पदार्थों का प्रतिबिम्ब अवभासित होता है और महल के अन्दर स्थित मनुष्य भी बहिःस्थ पदार्थों को देख लेते हैं उसी प्रकार स्कन्ध-शरीर में भी बहिःस्थ नानाविध आलम्बनों का अवभास होने के लिये तथा अन्दर स्थित वीथिचित्तों द्वारा उन (बहिःस्थ आलम्बनों) का ग्रहण करने के लिये चक्षुःप्रसाद-आदि छह द्वार महल के कपाट या खिड़की-आदि के समान होते हैं[6]।

---

१. "द्वे जना अरन्ति गच्छन्ति एतेना ति द्वारं, नगरस्स अन्तोजना बहिजना च येन छिद्दमग्गेन निक्खमन्ति पविसन्ति च तस्सेतं नामं; द्वे जना अरन्ति गच्छन्ति एत्था ति द्वारं ति पि वदन्ति।" – प० दी०, पृ० १०७।

तु० – "द्वे कवाटानि अरन्त्यत्रेति द्वारं, दुज्जने वारयन्त्यस्मा रक्खका ति वा द्वारं; पविसनं निक्खमणं चा ति द्वे किच्चानि एत्था ति वा द्वारं।" – अभि० प० सू०, पृ० २७१।

२. "तं पि हि आरम्मणिकधम्मानं आरम्मणधम्मानं च निग्गमनपविसनमुखपथभावतो द्वारसदिसत्ता द्वारं ति वुच्चतीति।" – प० दी०, पृ० १०७। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १०७-१०८।

३. ध० स० मू० टी०, पृ० १४६।

४. द्र० – अभि० स० ६ : ५ की व्याख्या।

५. अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १०।

६. "यस्मिं चक्खुम्हि चन्दमण्डलादीनि रूपनिमित्तानि पञ्ञायन्ति, आवज्जनादीनि च यम्हि पञ्ञातानि तानि निमित्तानि गण्हन्ति, तस्मा तदेव चक्खु तेसं द्विन्नं विसयविसयिभावुपगमनस्स मुखपथभूतत्ता चक्खुद्वारं नामा ति अत्थो। अथ

३५. तत्थ चक्खुमेव चक्खुद्वारं, तथा सोतादयो सोतद्वारादीनि। मनोद्वारं पन भवङ्गं ति पवुच्चति।

वहाँ (उन छह द्वारों में से) चक्षुःप्रसाद ही चक्षुर्द्वार है तथा श्रोत्रप्रसाद-आदि ही श्रोत्रद्वार-आदि हैं। भवङ्गचित्त 'मनोद्वार' कहा जाता है।

उपर्युक्त वाद में प्रयुक्त वचन यद्यपि अत्यन्त ललित प्रतीत होते हैं तथापि वे (वचन) चक्षुःप्रसाद के विषय में तो कथञ्चित् युक्तियुक्त कहे भी जा सकते हैं; किन्तु श्रोत्रप्रसाद-आदि के विषय में तथा अभाव-प्रज्ञप्ति भी जिसमें प्रतिभासित होती है उस मनोद्वार के विषय में कथमपि युक्तियुक्त नहीं कहे जा सकते।

[आलम्बन के अवभासित होने के सम्बन्ध में चतुर्थ परिच्छेद में पुष्कल वर्णन उपलब्ध होता है, अतः विशिष्ट ज्ञान के लिये उसे वहीं देखना चाहिये।]

३५. चक्षुःप्रसाद ही 'चक्षुर्द्वार' है; इसी प्रकार श्रोत्रप्रसाद-आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये[1]।

मनोद्वारं – मनस् ही 'मनोद्वार' है। यह चक्षुर्द्वार-आदि की भाँति रूप-धर्म नहीं है, अपितु 'भवङ्गचित्त' है। भवङ्गचित्त के सम्मुख जब आलम्बन उपस्थित होता है तब उस आलम्बन का ग्रहण करके मनोद्वारिक वीथिचित्त प्रवृत्त होते हैं; इसलिये सम्पूर्ण भवङ्गचित्तों को 'मनोद्वार' कहा गया है।

विभावनीकार "'भवङ्गं' ति आवज्जनानन्तरं भवङ्गं" – ऐसा कहकर जिसके अनन्तर आवर्जन होता है उस भवङ्गोपच्छेद को 'मनोद्वार' कहना चाहते हैं। उनके अनुसार – 'अतीतभवङ्ग-भवङ्गचलन-भवङ्गोपच्छेद-मनोद्वारावर्जन-जवन' – इस प्रकार की चित्तवीथि में अतीतभवङ्ग एवं भवङ्गचलन – ये दो चित्त 'मनोद्वारावर्जन' आदि वीथिचित्तों का सीधे उपकार नहीं कर सकते, केवल भवङ्गोपच्छेद ही अनन्तरशक्ति से मनोद्वार का सीधे उपकार कर सकता है; अतः भवङ्गोपच्छेद को ही 'मनोद्वार' कहना चाहिये।

अपिच – जिस प्रकार ग्राम के प्रवेशद्वार का ग्राम के साथ अन्तरालरहित सम्बन्ध होता है उसी प्रकार वीथिचित्तों के उत्पत्तिकारणरूप द्वार का वीथिचित्तों के साथ अन्तरालरहित सम्बन्ध होना चाहिये। अतः वीथिचित्तों के उत्पत्तिकारणरूप भवङ्ग को मनोद्वार कहने में भवङ्गोपच्छेद को (अतीतभवङ्ग एवं भवङ्गचलन को नहीं) ही 'मनोद्वार' कहना चाहिये[2]।

वा – येन चक्खुमण्डेन वहिद्धा चन्दमण्डलादीनि रूपानि अन्तो आवज्जनादीनं विसयभावं उपगच्छन्ति, येन च अन्तो आवज्जनादीनं वहिद्धा तेसं रूपानं विसयिभावं उपगच्छन्ति, तमेव यथावुत्तकारणेन चक्खुद्वारं नामा ति अत्थो।"
– प० दी०, पृ० १०७–१०८।

१. "चक्खुमेवा ति – पसादचक्खुमेव।" – विभा०, पृ० ९७।

२. द्र० – विभा०, पृ० ९७।

परमत्थदीपनीकार कहते हैं कि 'विभावनी' में जो यह कहा गया है कि "जिसका अपने परवर्ती वीथिचित्तों से अन्तरालरहित सम्बन्ध होता है, अर्थात् जो उत्तरवर्ती वीथिचित्तों से अव्यवहितपूर्व होता है वही 'द्वार' होता है; जैसे – मनोद्वारवीथि में भवङ्गोपच्छेद 'द्वार' है; क्योंकि मनोद्वारवीथि मनोद्वारावर्जन से प्रारम्भ होती है और उसके अव्यवहितपूर्व भवङ्गोपच्छेद ही होता है, अतः वह मनोद्वार है । तथा पञ्चद्वारवीथि में चक्षुःप्रसाद-आदि पाँच प्रसाद 'द्वार' होते हैं; क्योंकि पञ्चद्वारवीथि पञ्चद्वारावर्जन से प्रारम्भ होती है और उसके अव्यवहितपूर्व चक्षुःप्रसाद-आदि पाँच द्वार ही होते हैं, अतः वे पञ्चद्वारिक वीथिचित्तों की प्रवृत्ति के मुखस्थानीय होने से 'द्वार' हैं" – यह वाद अव्याप्तिदोष से ग्रस्त होने के कारण अग्राह्य है[1] ।

सिद्धान्तपक्ष – यदि वीथिचित्तों के मुख्य उत्पत्तिकारण (चक्षुःप्रसाद-आदि) को ही 'द्वार' कहा जाता है तो सुषुप्तिकाल में अथवा अन्य वीथिचित्तों के उत्पादकाल में अनेक प्रसाद वीथिचित्तों की उत्पत्ति के कारण नहीं हो सकते और इस कारण उनके चक्षुर्द्वार-आदि नाम न हो सकेंगे । वस्तुतः सभी प्रसादरूप, चाहे वे आलम्बन के आभासस्थान हों अथवा न हों, सर्वथा 'द्वार' होते ही हैं । जिस प्रकार 'वळञ्जनट्ठेन द्वारं' इस परिभाषा के अनुसार प्रवेश एवं निष्क्रमण के छिद्र को 'द्वार' कहा ही जाता है, चाहे उससे कोई प्रवेश या निष्क्रमण करे या न करे; उसी प्रकार प्रसादरूप 'द्वार' ही है, चाहे उनमें तत्काल आलम्बन का अवभास हो अथवा न हो । ठीक उसी प्रकार सभी भवङ्ग भी, यदि अवसर प्राप्त होता है तो, वीथिचित्तों की उत्पत्ति के कारण अवश्य होते हैं; अतः उन्हें 'द्वार' कहा जा सकता है, चाहे तत्काल उन से वीथिचित्तों की उत्पत्ति हो रही हो अथवा न हो रही हो । इसीलिये आचार्य अनुरुद्ध भी किसी विशेष भवङ्ग को द्वार न कहकर 'मनोद्वारं पन भवङ्गं ति पवुच्चति' – इस प्रकार भवङ्गमात्र (सभी भवङ्गों) को 'मनोद्वार' कहते हैं ।

मनोद्वार के भेद–

(क) "तत्थ अयं नाम मनोद्वारं न होतीति न वत्तब्बो[2]" – इस पालि के अनुसार सभी पूर्व पूर्व चित्त पश्चिम पश्चिम चित्तों के उत्पाद के लिये अनन्तरशक्ति से उपकार करने के कारण उनके उत्पत्तिकारण होने से 'मनोद्वार' कहे जाते हैं ।

[प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित छह द्वारों में अन्यतम 'मनोद्वार' का इस 'मनोद्वार' से कोई सम्बन्ध नहीं है ।]

(ख) "पटिच्चा ति नाम आगतट्ठाने आवज्जनं विसुं न कातब्बं, भवङ्गनिस्सितकमेव कातब्बं ति; तस्मा इध मनो ति सहावज्जनकं भवङ्गं[3]" अर्थात् "मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति चित्तं[4]"... इत्यादि स्थलों में, जिनमें 'पटिच्च' यह शब्द व्यवहृत हुआ

1. प० दी०, पृ० १०८-१०९ ।
2. अट्ठ०, पृ० ७२ ।
3. विभ० अ०, पृ० ८३ ।
4. विभ०, पृ० ११२ ।

है, भवङ्ग के अनन्तर होनेवाले आवर्जन (मनोद्वारावर्जन) को उस (भवङ्ग) से पृथक् नहीं करना चाहिये; अपितु उसे भवङ्ग में ही आश्रित (परिगणित) करना चाहिये। इसलिये "मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति चित्तं" – इस पालि में 'मनस्' शब्द का अर्थ 'आवर्जन+भवङ्ग' आवर्जन के साथ होनेवाला भवङ्ग है। विभङ्गट्ठकथा के इस निर्वचन के अनुसार आवर्जन के साथ होनेवाला भवङ्ग 'मनोद्वार' कहा गया है।

आवर्जन के साथ भवङ्ग को 'मनोद्वार' कहने में विभङ्गट्ठकथाकार का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'जवन' नामक मनोविज्ञानचित्त के उत्पाद में भवङ्गचित्त उपकार करता है, उसी प्रकार मनोद्वारावर्जनचित्त भी उपकार करता है; अतः 'मनस् की अपेक्षा करके मनोविज्ञान उत्पन्न होता है' – इसमें मनोविज्ञानचित्त अपने उत्पाद के लिये भवङ्ग और मनोद्वारावर्जन दोनों की अपेक्षा करता है, अतः दोनों मिलकर 'मनस्' हैं।

यह नय भी सर्वत्र प्रयुक्त नहीं किया जा सकता; केवल 'मनञ्च पटिच्च...' आदि की तरह के स्थलों में ही इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये 'सच्च-सङ्खेप' के "सावज्जनं भवङ्गन्तु मनोद्वारं ति वुच्चति[1]" आवर्जन के साथ होनेवाला भवङ्ग 'मनोद्वार' कहा जाता है – इस वचन को 'मनञ्च पटिच्च...' इत्यादि स्थलों से ही सम्बद्ध समझना चाहिये। मणिमञ्जूसाकार ने "'सावज्जनं' का अर्थ आवर्जन से 'अनन्तर – अतीत' अर्थात् आवर्जन से अव्यवहितपूर्व निरुद्ध होनेवाला भवङ्ग 'मनोद्वार' है" – यह किया है[2]; किन्तु यह अर्थ अट्ठकथाओं के अर्थों से विपरीत होने के कारण अनुपादेय है।

(ग) कायद्वार, वाग्द्वार, मनोद्वार – इन द्वारों में चित्तों का विभाजन करते समय कुशल एवं अकुशल जवनचित्तों को 'मनोद्वार' कहनेवाला नय भी है[3]।

इस प्रकार 'मनोद्वार' का यथायोग्य नानाविध अर्थ किया जाने पर भी यहाँ "छट्ठस्स पन भवङ्गमनसङ्खातो मनायतनेकदेसो व उप्पत्तिद्वारं[4]" के अनुसार सम्पूर्ण भवङ्गचित्तों को ही 'मनोद्वार' कहना चाहिये[5]।

---

१. विभा०, पृ० ९७। 'परमत्थदीपनी' एवं 'विभावनी' में यह वचन 'सच्चसङ्खेप' के नाम से उल्लिखित है; किन्तु उक्त ग्रन्थ के रोमन संस्करण में यह प्राप्य नहीं है।

२. "अनन्तरं पि सहितं विय वुत्तं – 'सावज्जनं' ति। अथ वा – 'सह' सद्दस्स निपातत्ता निपातानं च अनेकट्ठत्ता तस्स अनन्तरट्ठत्तं सन्धायाह – 'सावज्जनं' ति।" – मणि०, प्र० भा०, पृ० २९१।

३. "तेभूमककुसलाकुसलो एकूनतिंसविधो मनो मनोकम्मद्वारं नाम।" – अट्ठ०, पृ० ७२।

४. विभ० अ०, पृ० ४८।

५. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १०८-१०९।

३६. तत्थ पञ्चद्वारावज्जन - चक्खुविञ्ञाण - सम्पटिच्छन - सन्तीरण-वोट्ठपन - कामावचरजवन - तदारम्मणवसेन* छचत्तालीस चित्तानि चक्खुद्वारे यथारहं उप्पज्जन्ति।

यहाँ (उन छह द्वारों में से) चक्षुर्द्वार में पञ्चद्वारावर्जन (१), चक्षुर्विज्ञान (२), सम्पटिच्छन (२), सन्तीरण (३), वोट्ठपन (१), कामावचरजवन (२९) तथा तदालम्बन (८) के वश से ४६ चित्त यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

---

३६. यहाँ चक्षुर्द्वारवीथि में ४६ चित्त यथायोग्य उत्पन्न होते हैं; यथा – पञ्चद्वारावर्जन १, चक्षुर्विज्ञान २, सम्पटिच्छन २, सन्तीरण ३, वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १, कामावचरजवन २९, तदालम्बन ८ (यद्यपि तदालम्बन चित्त ११ होते हैं; किन्तु उनमें ३ सन्तीरणचित्तों की गणना अन्यत्र कर दी गयी है) – इस प्रकार ये चित्त कुल ४६ होते हैं।

यथारहं उप्पज्जन्ति – यद्यपि यह कहा गया है कि चक्षुर्द्वारवीथि में ४६ चित्त उत्पन्न होते हैं तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक वीथि में ही ये सभी ४६ चित्त प्राप्त होते हैं; अपितु आलम्बन, भूमि, पुद्गल एवं मनसिकार के अनुसार ये उसमें यथायोग्य ही उत्पन्न होते हैं[1]; यथा –

(क) आलम्बन यदि अनिष्टालम्बन होता है तो "अनिट्ठे आरमणे अकुसल-विपाकानेव[2]" – इत्यादि तदालम्बन नियम के अनुसार अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तदालम्बन-आदि होते हैं।

आलम्बन यदि इष्टालम्बन होता है तो 'इट्ठे कुसलविपाकानि[3]" – के अनुसार कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तदालम्बन-आदि होते हैं।

इष्टालम्बनों में भी आलम्बन यदि अति-इष्टालम्बन होता है तो "अतिइट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव सन्तीरण-तदारमणानि[4]" के अनुसार सोमनस्यसहगत सन्तीरण एवं तदालम्बन होते हैं।

तथा आलम्बन यदि इष्ट-मध्यस्थालम्बन होता है तो उपेक्षासहगत चित्त ही होते हैं।

---

* ०तदालम्बन० – सी० स्या०; ०तदारम्मण० – ना०, म० (ख), रो०।

१. "यथारहं ति – आरम्मण-भूमि-पुग्गल-मनसिकारादीनं अनुरूपवसेन।" – प० दी०, पृ० १०९।
तु० – "यथारहं ति – इट्ठादि-आरम्मणे योनिसोअयोनिसोमनसिकारनिरनुसय-सन्तानादीनं अनुरूपवसेन।" – विभा०, पृ० ९८।

२. द्र० – अभि० स० ४ : २८।

३. द्र० – अभि० स० ४ : २९।

४. द्र० – अभि० स० ४ : ३०।

३७. तथा पञ्चद्वारावज्जन-सोतविञ्ञाणादिवसेन सोतद्वारादीसु* पि छचत्तालीसेव भवन्तीति सब्बथापि पञ्चद्वारे† चतुपञ्ञास चित्तानि कामावचरानेव‡ ।

३८. मनोद्वारे पन मनोद्वारावज्जन-पञ्चपञ्ञासजवन-तदारमणवसेन सत्तसट्ठि चित्तानि भवन्ति ।

उसी प्रकार पञ्चद्वारावर्जन एवं श्रोत्रविज्ञान-आदि के वश से श्रोत्र-द्वार-आदि में भी ४६ चित्त ही होते हैं – इस तरह सभी प्रकार से पाँचों द्वारों में ५४ चित्त कामावचर चित्त ही होते हैं ।

मनोद्वार में तो मनोद्वारावर्जन (१), जवन ५५ एवं तदालम्बन (११) के वश से कुल ६७ चित्त होते हैं ।

(ख) यदि कामभूमि होती है तो चक्षुर्द्वारवीथि में उपर्युक्त सभी ४६ चित्त होते हैं तथा यदि रूपभूमि होती है तो उस (चक्षुर्द्वारवीथि) में "कामे जवनसत्ता-लम्बनानं नियमे सति[1]" के अनुसार तदालम्बन नहीं हो सकते ।

(ग) पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान में यदि योनिशोमनसिकार होता है तो कुशलजवन होते हैं तथा यदि अयोनिशोमनसिकार होता है तो अकुशलजवन होते हैं ।

इसी प्रकार यदि संस्कार (सङ्खार) होता है तो ससंस्कारिक (ससङ्खारिक) तथा यदि संस्कार नहीं होता है तो असंस्कारिक (असङ्खारिक) चित्त होते हैं – इत्यादि। इस तरह आलम्बन, भूमि-आदि भेद से ४६ चित्तों की यथायोग्य प्रवृत्ति जाननी चाहिये ।

३७. चक्षुर्द्वारवीथि में जिस क्रम का प्रतिपादन किया गया है, श्रोत्रद्वार-आदि वीथियों में भी उसी क्रम को समझना चाहिये; किन्तु चक्षुर्द्वारवीथि के चक्षुर्विज्ञान-द्वय के स्थान पर वहाँ श्रोत्रद्वारवीथि में श्रोत्रविज्ञानद्वय, घ्राणद्वारवीथि में घ्राणविज्ञान-द्वय, जिह्वाद्वारवीथि में जिह्वाविज्ञानद्वय तथा कायद्वारवीथि में कायविज्ञानद्वय को समझना चाहिये और पूर्वोक्त ४६ चित्तों में इन ८ अतिरिक्त चित्तों को सम्मिलित कर पञ्चद्वारवीथि में कुल ५४ चित्त होते हैं – ऐसा समझना चाहिये ।

[प्रथम परिच्छेद में जिन ५४ कामचित्तों का वर्णन किया गया है, ये वही ५४ चित्त हैं, किन्तु उन्हें यहाँ वीथिक्रम से रखा गया है ।]

---

* सोतद्वारादिसु – सी०, स्या०, ना० ।

† पञ्चद्वारेसु – स्या० ।

‡ कामावचरानेवा ति वेदितब्बानि – स्या०, ना० ।

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३५ ।

३९. एकूनवीसति पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन द्वारविमुत्तानि।

४०. तेसु पन* द्विपञ्चविञ्ञाणानि† चेव महग्गत-लोकुत्तरजवनानि चेति छत्तिंस यथारहमेकद्वारिकचित्तानि नाम।

४१. मनोधातुत्तिकं पन पञ्चद्वारिकं‡।

४२. सुखसन्तीरण-वोट्ठपन-कामावचरजवनानि छद्वारिकचित्तानि।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के वश में १९ चित्त 'द्वारविमुक्त' कहे गये हैं।

उन चित्तों में से द्विपञ्चविज्ञान (१०) तथा महग्गत एवं लोकोत्तर जवन (२६) – इस प्रकार ३६ चित्त यथायोग्य 'एकद्वारिक' (एक द्वार में होनेवाले) चित्त हैं।

मनोधातुत्रय तो 'पञ्चद्वारिक' (पाँचों द्वारों में होनेवाले) चित्त हैं।

सुखसन्तीरण, वोट्ठपन एवं कामावचर जवन – ये चित्त 'षड्द्वारिक' (छह द्वारों में प्रवृत्त होनेवाले) चित्त हैं।

---

३९. प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करनेवाले १९ चित्त जब प्रतिसन्धि-आदि कृत्य करते हैं तब वे किसी द्वार से प्रवृत्त होकर उन कृत्यों को नहीं करते, अतः वे 'द्वारविमुक्त' कहे जाते हैं। अर्थात् चक्षुर्द्वार-आदि द्वारों से प्रवृत्त न होने के कारण, तथा 'मनोद्वार' नामक भवङ्ग से गृहीत आलम्बन से भिन्न किसी अन्य आलम्बन का ग्रहण करके प्रवृत्त न होने के कारण, प्रतिसन्धि-आदि कृत्यों के वश से प्रवृत्त होनेवाले ये १९ चित्त 'द्वारविमुक्त' कहे जाते हैं[1]।

४०. दस द्विपञ्चविज्ञानचित्तों में से चक्षुर्विज्ञानद्वय केवल चक्षुर्द्वार में, श्रोत्रविज्ञानद्वय केवल श्रोत्रद्वार में, इसी तरह घ्राणविज्ञानद्वय-आदि विज्ञानचित्त केवल अपने अपने सम्बद्ध द्वारों में ही प्रवृत्त होने के कारण 'एकद्वारिक चित्त' कहे जाते हैं। उसी प्रकार महग्गत एवं लोकोत्तर जवनचित्त भी केवल 'मनोद्वार' में ही प्रवृत्त होते हैं, अतः वे भी 'एकद्वारिक चित्त' कहे जाते हैं। इस प्रकार द्विपञ्चविज्ञानचित्त १०, महग्गत एवं लोकोत्तर जवनचित्त २६=३६ चित्त 'एकद्वारिक चित्त' हैं[2]।

---

* स्या० में नहीं।

† पञ्चविञ्ञाणानि – सी०, रो०, म० (क, ख)।

‡ पञ्चद्वारिकानि – रो०।

१. "चक्खादिद्वारेसु अप्पवत्तनतो मनोद्वारसङ्खातभवङ्गतो आरम्मणन्तरग्गहणवसेन अप्पवत्तितो च पटिसन्धादिवसेन पवत्तानि एकूनवीसति द्वारविमुत्तानि।" – विभा०, पृ० ९८। तु० – प० दी०, पृ० १०९-११०।

२. द्र० – विभा०, पृ० ९८।

४३. उपेक्खासहगतसन्तीरण-महाविपाकानि छद्वारिकानि चेव द्वार-विमुत्तानि च।

४४. महग्गतविपाकानि द्वारविमुत्तानेवा ति।

४५. एकद्वारिकचित्तानि पञ्चछद्वारिकानि च।
छद्वारिकविमुत्तानि विमुत्तानि च सब्बथा॥

४६. छत्तिंसति तथा तीणि एकतिंस* यथाक्कमं।
दसधा नवधा चेति पञ्चधा परिदीपये॥

उपेक्षासहगत सन्तीरण (२) एवं महाविपाकचित्त (८=१० चित्त) कभी कभी 'षड्द्वारिक' तथा कभी कभी 'द्वारविमुक्त' होते हैं।

महग्गतविपाक चित्त (९ तो) सर्वथा 'द्वारविमुक्त' ही होते हैं।

एकद्वारिक चित्त, पञ्चद्वारिक चित्त, षड्द्वारिक चित्त, कभी कभी षड्द्वारिक एवं कभी द्वारविमुक्त, तथा सर्वथा द्वारविमुक्त चित्त—

क्रमशः ३६, ३, ३१, १० तथा ९ होते हैं। इस तरह चित्तों के सङ्ग्रह को पाँच प्रकार से समझना चाहिये।

---

४३. उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त २ तथा महाविपाक (सहेतुक कामावचरविपाक) चित्त ८=१० ये चित्त जब सन्तीरण एवं तदालम्बन कृत्य करते हैं तब 'षड्द्वारिक' होते हैं तथा जब यही चित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करते हैं तब 'द्वारविमुक्त' होते हैं[1]।

४४. नौ महग्गतविपाकचित्त सर्वदा प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य ही करते हैं, इन कृत्यों से अन्य कोई भी कृत्य कभी नहीं करते; अतः सर्वथा 'द्वारविमुक्त' ही होते हैं।

इन वीथिचित्तों में 'गृहीतग्रहणनय' से सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का ज्ञान चैतसिकसङ्ग्रह (द्वितीय परिच्छेद) के 'सम्प्रयोगनय' एवं 'सङ्ग्रहनय' के आधार पर कर लेना चाहिये।

'अगृहीतग्रहणनय' के अनुसार चैतसिकों का विचार यहाँ नहीं हो सकता; क्योंकि द्वार के अनुसार चैतसिकों के सम्प्रयोग में भेद नहीं होता।

'अप्पमञ्ञा' चैतसिक सत्त्व नामक प्रज्ञप्ति-धर्म का ही आलम्बन करता है तथा चक्षुष्-आदि पाँच द्वार केवल रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन एवं स्प्रष्टव्यालम्बन नामक परमार्थ-धर्मों का आलम्बन करके प्रवृत्त होनेवाले चित्त-चैतसिक-—ों के ही उत्पत्तिस्थान होते हैं, अतः २ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक चक्षुर्द्वार-आदि पाँच

---

* एकतिंस – स्या०, म० (क)।

१. द्र० – विभा०, पृ० ९८।

आलम्बनसङ्गहो

४७. आलम्बनसङ्गहे* आरमणानि† नाम – रूपारमणं, सद्दारमणं, गन्धारमणं, रसारमणं, फोट्ठब्बारमणं, धम्मारमणञ्चेति छब्बिधानि भवन्ति ।

आलम्बनसङ्ग्रह में आलम्बन – रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन, स्प्रष्टव्यालम्बन एवं धर्मालम्बन – इस प्रकार छह प्रकार के होते हैं ।

द्वारों में नहीं हो सकते, ये केवल 'मनोद्वार' में ही हो सकते हैं। शेष चैतसिक सभी (छह) द्वारों में प्रवृत्त हो सकते हैं – इतना विशेष जानना चाहिये ।

द्वारसङ्ग्रह समाप्त ।

आलम्बनसङ्ग्रह

४७. आलम्बन के भेद से चित्त-चैतसिक धर्मों का सङ्ग्रह करनेवाले इस सङ्ग्रह को 'आलम्बनसङ्ग्रह' कहते हैं[1] ।

पालिसाहित्य में आलम्बन शब्द के लिये 'आरमण' 'आरम्मण' 'आलम्बन' 'आलम्बण' आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है; किन्तु व्याकरण के अनुसार विचार करने से इनमें 'आरमण' एवं 'आलम्बन' – ये दो शब्द ही युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है :

(क) 'आ' उपसर्गपूर्वक 'रमु' धातु[2] से 'यु' प्रत्यय करने पर 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश करके तथा 'न' के स्थान पर 'ण' आदेश करके 'आरमण' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है – चित्त-चैतसिक धर्म जहाँ आकर रमण करते हैं वह स्थान 'आरमण' है; जिस प्रकार उद्यान-आदि मनुष्यों के रमणस्थान होते हैं उसी प्रकार रूपालम्बन-आदि छह आलम्बन चित्त-चैतसिक धर्मों के 'रमणस्थान' होते हैं[3] ।

---

* आलम्बणसङ्गहे – म० (ख); आरम्मणसङ्गहे – ना०, रो० ।

† आलम्बनानि – सी०, स्या० (सर्वत्र); आलम्बणानि – म० (ख) (सर्वत्र); आरम्मणानि – ना०, रो० (सर्वत्र) ।

१. "रूपादीनं आरम्मणानं भेदेन चित्तचेतसिकानं सङ्गहो आरम्मणसङ्गहो ।" – प० दी०, पृ० ११० ।
"आरम्मणानं सरूपतो विभागतो तंविसयचित्ततो च सङ्गहो आरम्मणसङ्गहो ।" – विभा०, पृ० ६८ ।

२. धा० म०, का० ५४ ।

३. "आगन्त्वा आभुसो वा चित्त-चेतसिका धम्मा रमन्ति एत्था ति आरम्म यु, रम रमणे, आपुब्बो ।" – अभि० प० सू०, पृ० ६१ ।

४८. तत्थ रूपमेव रूपारमणं, तथा सद्दादयो सद्दारमणादीनि।

४९. धम्मारमणं पन पसाद-सुखुमरूप-चित्त-चेतसिक-निब्बान-पञ्ञत्तिवसेन छधा सङ्गय्हति।

उन (छह आलम्बनों) में से रूप (वर्ण) ही रूपालम्बन तथा शब्द-आदि शब्दालम्बन-आदि हैं।

धर्मालम्बन तो प्रसाद, सूक्ष्मरूप, चित्त, चतसिक, निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति के वश से छह प्रकार के सङ्गृहीत होता है।

(ख) 'आ' उपसर्गपूर्वक 'लवि' धातु[1] से 'यु' प्रत्यय करने पर 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश करके और 'ल' के अनन्तर निगृहीत (निग्गहित=अनुस्वार) का आगम करके तथा उस (निगृहीत) के स्थान पर 'म' कर के 'आलम्बन' शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ है – चित्त-चैतसिक धर्म जहाँ आकर लटकते हैं अर्थात् अपनी प्रवत्ति के लिये सहारा लेते हैं वह स्थान 'आलम्बन' है[2]; जिस प्रकार वृद्ध एवं अपङ्ग-आदि पुरुष लाठी पकड़कर उठते हैं या बैठते हैं, उसी प्रकार चित्त-चैतसिक धर्म भी किसी एक आलम्बन का ग्रहण करके ही प्रवृत्त होते हैं[3]।

४८. 'रूप' शब्द से यहाँ रक्त, पीत-आदि वर्णों से तात्पर्य है[4]। ये वर्ण ही रूपालम्बन हैं। इसी प्रकार शब्द-आदि शब्दालम्बन-आदि हैं। 'आदि' शब्द से गन्ध, रस, स्पर्श-आदि गन्धालम्बन, रसालम्बन, एवं स्प्रष्टव्यालम्बनों का ग्रहण करना चाहिये[5]।

४९. धर्मालम्बन छह प्रकार से सङ्गृहीत होता है; यथा –

(क) प्रसादरूप – ये पाँच हैं; यथा – चक्षुःप्रसाद, श्रोत्रप्रसाद, घ्राणप्रसाद, जिह्वाप्रसाद एवं कायप्रसाद[6]।

(ख) सूक्ष्मरूप – ये सोलह होते हैं; यथा – अब्धातु, स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय,

---

१. स० नी०, द्वि० भा०, पृ० ४०६-४०७।

२. "चित्तचेतसिका एत्थ आगन्त्वा लम्बन्तीति आलम्बनं, लवि अवसंसने, यु।" – अभि० प० सू०, पृ० ६१।

३. "दुब्बलपुरिसेन दण्डादि विय चित्त-चेतसिकेहि आलम्बीयति, अमुञ्चमानेहि गण्हीयतीति आलम्बनं। आरम्मणसद्दे पन सति चित्तचेतसिकानि आगन्त्वा एत्थ रमन्तीति आरम्मणं।" – प० दी०, पृ० ११०।

"तदेव दुब्बलपुरिसेन दण्डादि विय चित्त-चेतसिकेहि आलम्बीयति, तानि वा आगन्त्वा एत्थ रमन्तीति आरम्मणं ति।" – विभा०, पृ० ९८।

विशेष ज्ञान के लिये द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० २९५।

४. "रूपमेवाति – वण्णायतनमेव।" – प० दी०, पृ० ११०।

५. तु० – अट्ठ०, पृ० ५९।

६. द्र० – अभि० स० ६ : ५।

५०. तत्थ चक्खुद्वारिकचित्तानं सब्बेसं पि रूपमेव आरम्मणं, तञ्च पच्चुप्पन्नं*। तथा सोतद्वारिकचित्तादीनं पि सद्दादीनि†, तानि च पच्चुप्पन्नानि येव†।

यहाँ (उन आलम्बनों में) सभी चक्षुर्द्वारिक चित्तों का आलम्बन रूप ही है और वह रूपालम्बन भी प्रत्युत्पन्न ही (आलम्बन) है। तथा श्रोत्रद्वारिक-आदि चित्तों के आलम्बन भी शब्द-आदि ही हैं और वे भी प्रत्युत्पन्न ही (आलम्बन) होते हैं।

हृदय, जीवितेन्द्रिय, आहाररूप, परिच्छेदरूप, कायविञ्ञत्ति, वचीविञ्ञत्ति, रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता[1]।

(ग) चित्त
(घ) चैतसिक } ये तीनों अत्यन्त स्पष्ट हैं।
(ङ) निर्वाण

(च) प्रज्ञप्ति – यह द्विविध है; यथा – नामप्रज्ञप्ति एवं अर्थप्रज्ञप्ति।

इस प्रकार धर्मालम्बन छह प्रकार से सङ्गृहीत होता है[2]।

मणिमञ्जूषाकार कहते हैं कि "यहाँ 'रूपमेव', 'पच्चुप्पन्नमेव' आदि में प्रयुक्त 'एव' शब्द 'निवत्तापनावधारण' अर्थवाला है, अर्थात् यह अन्य का निवारण करनेवाला है। यहाँ पर यह सत्त्व नामक जीव का निवारण करता है"[3]।

किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं; क्योंकि यदि इसे निवारण करनेवाला अवधारण माना जाता है तो 'धम्मो येव' में यह किसका निवारण करेगा?

अथ च – 'सत्त्व' नामक जीव भी प्रज्ञप्ति-धर्म होने से निवार्य (निवारण करने योग्य) अर्थ नहीं है, अतः 'एव' शब्द यहाँ अन्य अर्थ का निवारण करनेवाला 'निवत्तापनावधारण' अर्थक न होकर अपने अर्थ का निश्चय करानेवाला 'सन्निट्ठानावधारण' अर्थवाला है।

५०. प्रत्युत्पन्न रूप ही चक्षुर्द्वारिक चित्तों का आलम्बन होता है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न शब्द श्रोत्रद्वारिक चित्तों का, प्रत्युत्पन्न गन्ध घ्राणद्वारिक चित्तों का, प्रत्युत्पन्न रस जिह्वाद्वारिक चित्तों का एवं प्रत्युत्पन्न स्प्रष्टव्य कायद्वारिक चित्तों का आलम्बन

---

* पच्चुप्पन्नमेव – स्या०, ना०।

†-† सद्दादयो पच्चुप्पन्ना येव – स्या०।

१. द्र० – अभि० स० ६ : २४।

२. "पञ्चारम्मणविमुत्तं यं किञ्चि धम्मजातं विज्जमानं पि अविज्जमानं पि, भूतं पि अभूतं पि, धम्मारम्मणमेव; तं पन सभागकोट्ठासतो सङ्गय्हमानं छब्बिधं होति।" – प० दी०, पृ० १११। तु० – अट्ठ०, पृ० ५६, ६६।

३. द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० २९७–३००।

होता है। ये पञ्चद्वारिक चित्त अतीत या अनागत रूप, शब्द-आदि का आलम्बन नहीं करते ।

प्रत्युत्पन्नकाल-आदि में विशेष – जब कोई आलम्बन उत्पन्न होता है तब उसके उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक विद्यमानक्षण को 'प्रत्युत्पन्न-आलम्बन' कहते हैं। यथा – 'पच्चुप्पन्नं= पति+उप्पन्नं, तं तं कारणं पटिच्च उप्पन्नं पच्चुप्पन्नं' अर्थात् उन उन कारणों की अपेक्षा करके उत्पन्न आलम्बन 'प्रत्युत्पन्न' हैं।

उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्था से गुजरकर निरुद्ध हुए आलम्बन को 'अतीत-आलम्बन' कहते हैं; यथा – 'अतीतं=अति+इतं, अतिक्कमित्वा इतं गतं ति अतीतं' अर्थात् उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्थात्रय का अतिक्रमण कर निरुद्ध आलम्बन 'अतीत' है।

तथा कारणसामग्री के सम्पन्न (पूर्ण) होने पर एकान्त रूप से होनेवाले आलम्बन को 'अनागत-आलम्बन' कहते हैं; यथा – 'अनागतं=न+आगतं अनागतं' अर्थात् उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक विद्यमान अवस्था को अप्राप्त आलम्बन 'अनागत' है।

इन तीनों कालों से सम्बद्ध होनेवाले धर्म चित्त, चैतसिक, एवं रूप ही होते हैं[1]।

इन तीनों कालों से विमुक्त आलम्बन को 'कालविमुक्त-आलम्बन' कहते हैं; यथा – 'कालतो विमुत्तं कालविमुत्तं'। यह कालविमुक्त-आलम्बन प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण हैं[2]।

यथा – प्रज्ञप्ति-धर्म सङ्क्षेपतः नामप्रज्ञप्ति एवं अर्थप्रज्ञप्ति भेद से द्विविध हैं। इनमें से लोक में व्यवहृत होनेवाले नाम (संज्ञा) उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग रूप से विद्यमान नहीं होते; अपितु किसी व्यक्ति द्वारा उद्दिष्ट कर दिये जाने से लोक-व्यवहार के विषयमात्र होते हैं। गृह, मनुष्य, देव, नदी, पर्वत-आदि द्रव्य नामक प्रज्ञप्ति-अर्थ भी यद्यपि सांसारिक पुद्गलों की दृष्टि से विद्यमानवत् प्रतीत होते हैं; किन्तु सूक्ष्मतया यथाभूत दृष्टि से देखने पर केवल रूपकलाप के रूप में ही दृष्टिगोचर

---

१. "तं तं कारणं पटिच्च उप्पन्नं पच्चुप्पन्नं, वत्तमानं ति अत्थो... अतिक्कन्त-भावं इतं गतं पत्तं ति अतीतं, आगच्छति आगच्छितया ति आगतं पच्चुप्पन्नं अतीतं च, न आगतं ति अनागतं।... सब्बे पि सङ्खतधम्मा अनागतभाव-पुब्बका एव होन्ति, तस्मा ते यदा पच्चयसामग्गिं लभित्वा उप्पज्जिस्सन्तीति वत्तब्बपक्खे तिट्ठन्ति तदा 'अनागतं' नाम, यदा पच्चयसामग्गिं लभित्वा उप्पन्ना तदा 'पच्चुप्पन्ना' नाम, यदा निरुद्धा तदा 'अतीता' नाम।" – प० दी० पृ० १११। द्र० – अट्ठ०, पृ० ३६।

२. "उप्पादजातिका सङ्खता धम्मा एव तीसु कालेसु अनुपतन्ति, तस्मा उप्पाद-रहिता असङ्खतभूता निब्बानपञ्ञत्तियो 'कालविमुत्तं' नामा ति वेदितब्बा।" – प० दी०, पृ० १११।

"विनासाभावतो अतीतादिकालवसेन न वत्तब्बत्ता निब्बानं पञ्ञत्ति च 'कालविमुत्तं' नाम।" – विभा०, पृ० ९९।

५२. द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिसङ्खातानं छब्बिधं पि यथासम्भवं येभुय्येन भवन्तरे छद्वारग्गहितं* पच्चुप्पन्नमतीतं पञ्ञत्तिभूतं वा कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मतं आरमणं होति।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति नामक द्वारविमुक्त चित्तों के षड्विध आलम्बन भी यथासम्भव प्रायः भवान्तर (अतीतभव) में छह द्वारों से गृहीत प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं प्रज्ञप्तिभूत; अथवा कर्म, कर्मनिमित्त, एवं गति-निमित्त संज्ञक होते हैं।

---

५२. **द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिसङ्खातानं** – द्वारविमुत्त १९ चित्त ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग (भवाङ्ग) एवं च्युति कृत्य करते हैं। उनमें से किसी एक भव का सर्वप्रथम चित्त प्रतिसन्धिचित्त है। सर्वप्रथम चित्त होने से वह छह द्वारों में से किसी भी द्वार का आधार करके प्रवृत्त नहीं होता। वीथिचित्तों के मध्य मध्य में उत्पन्न होनेवाला भवङ्गचित्त भी किसी द्वार से सम्बद्ध नहीं होता; क्योंकि वह पूर्व कर्म से स्वयं उत्पन्न होनेवाला विपाकचित्त है। तथा च्युतिचित्त भी किसी द्वार से सम्बद्ध नहीं है; क्योंकि वह भी पूर्वभव के कर्मों के क्षीण हो जाने पर मरणासन्न-वीथि के अन्त में स्वयं उत्पन्न होनेवाला अन्तिम विपाकचित्त ही है। इन्हीं कारणों से प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त 'द्वारविमुक्त' कहे जाते हैं।

'द्वारविमुत्तानञ्च' में प्रयुक्त 'च' शब्द पूर्वोक्त मनोद्वारिक चित्तों का सम्पिण्डन करता है, अतः अर्थ होता है कि केवल मनोद्वारिक चित्तों के ही आलम्बन छह प्रकार के नहीं होते; अपितु द्वारविमुक्त चित्तों के आलम्बन भी छह प्रकार के होते हैं।

भवन्तरे – (भव+अन्तरे) अन्तर शब्द 'अन्य' अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः प्रत्युत्पन्न भव से अन्य भव 'भवन्तर' (भवान्तर) है। यहाँ 'भवन्तर' शब्द के द्वारा इस वर्तमान भव से 'अनन्तर अतीत' भव का ग्रहण करना चाहिये[1]।

छद्वारग्गहितं – 'छद्वार' शब्द के द्वारा मुख्यरूप से चक्षुष्-आदि छह द्वारों का ग्रहण होता है; किन्तु यहाँ स्थानभत 'द्वार' – इस नाम का स्थानी जवनचित्तों में उपचार करके स्थानोपचार से मरणासन्न जवनों का ग्रहण करना चाहिये। अतः

---

* छद्वारगहितं – सी०, रो०, ना०।

१. "भवन्तरे ति – अतीतानन्तरभवे, तत्थ च मरणासन्नकाले।" – प० दी० पृ० ११२।
"भवन्तरे ति – एत्थ अतीतानन्तरभवो वाधिप्पेतो, न अतीतान्तरितभवो; कस्मा ? तत्थ छद्वारग्गहितारम्मणस्स इध पटिसन्धादीनमारम्मणभावाभावतो ति आह – 'अतीतानन्तरभवे' ति।" – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३०१।

आदि नामों के अतिरिक्त कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन नामों के द्वारा भी अभिहित होते हैं[1]।

सारांश – पूर्व भव (अतीत भव) के षड्द्वारिक मरणासन्नजवनों द्वारा गृहीत आलम्बनों का ही प्रतिसन्धि-आदि चित्त भी आलम्बन करते हैं।

यथा – जब कोई सत्त्व देवलोक से च्युत होकर मनुष्यलोक में प्रतिसन्धि ग्रहण करता है तब उस देवलोक से होनेवाली च्युति के पूर्ववर्ती मरणासन्नजवनों द्वारा रूप-आदि छह आलम्बनों में से जिस एक आलम्बन का ग्रहण किया जाता है, (देवलोक के मरणासन्नजवनों द्वारा गृहीत) उसी आलम्बन का इस मनुष्यभव के प्रतिसन्धिचित्तों द्वारा भी ग्रहण किया जाता है तथा इस भव के भवङ्ग एवं च्युति चित्त भी उसी (प्रतिसन्धिचित्त द्वारा गृहीत) आलम्बन का ही ग्रहण करते हैं।

यथासम्भवं – 'यथासम्भवं' इस शब्द का 'छद्वारग्गहितं', 'पच्चुप्पन्नमतीतं पञ्ञत्ति-भूतं', 'कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मतं' – इन तीनों पदों से अन्वय करना चाहिये।

इन (पदों) में से 'यथासम्भवं' – इस पद का जब 'छद्वारग्गहितं' – इस पद से सम्बन्ध होता है तब अर्थ यह होता है – 'आलम्बन यदि चक्षुर्द्वार में होने योग्य होता है तो वह चक्षुर्द्वारगृहीत रूपालम्बन, यदि श्रोत्रद्वार में होने योग्य होता है तो श्रोत्र-द्वारगृहीत शब्दालम्बन... यदि मनोद्वार में होने योग्य होता है तो मनोद्वारगृहीत छह आलम्बनों में से कोई एक आलम्बन होता है'।

जब 'यथासम्भवं' – इस पद का 'पच्चुप्पन्नमतीतं पञ्ञत्तिभूतं' से सम्बन्ध होता है तब अर्थ यह होता है – 'आलम्बन यदि प्रत्युत्पन्न होने योग्य होता है तो वह प्रत्यु-त्पन्न-आलम्बन, यदि अतीत होने योग्य होता है तो अतीत-आलम्बन तथा यदि प्रज्ञप्ति होने योग्य होता है तो प्रज्ञप्त अर्थात् कालविमुक्त-आलम्बन होता है'।

जब 'यथासम्भवं' इस शब्द का 'कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मतं' से सम्बन्ध होता है तब अर्थ यह होता है – 'आलम्बन यदि कर्म होने योग्य होता है तो वह

---

१. "यथा च छद्वारिकचित्तानं आरम्मणं आगमसिद्धिवोहारयुत्तं पि तब्बोहार-विनिमुत्तं पि होति, न तथा इमेसं ति दस्सेतुं 'कम्म-कम्मनिमित्त-गति-निमित्तसम्मतं' ति वुत्तं।... मरणासन्नतो पुरिमभागे पि हि सत्ता अत्तना कतकम्मं वा चेतियादीनि कम्मुपकरणानि वा आरम्मणं करोन्ति येव तदापि हि कम्मं कम्ममेव, कम्मुपकरणानि च कम्मनिमित्तानि येव; कम्मसिद्धिया निमित्तं कारणं कम्मनिमित्तं ति कत्वा कम्मस्स निमित्तं आरम्मणं कम्मनिमित्तं ति पि वदन्ति।... सुपिनदस्सनादिवसेन गतिनिमित्तानि पि आरम्मणं करोन्ति येव।" – प० दी०, पृ० ११२।

"नापि मरणासन्नतो पुरिमभागजवनानं विय कम्म-कम्मनिमित्तादिवसेन आगम-सिद्धिवोहारविनिमुत्तं ति आह – 'यथासम्भवं' '... सम्मतं' ति।" – विभा०, पृ० ९९।

कर्म-आलम्बन, यदि कर्मनिमित्त होने योग्य होता है तो कर्मनिमित्त-आलम्बन तथा यदि गतिनिमित्त होने योग्य होता है तो गतिनिमित्त-आलम्बन होता है" । अर्थात् मुमूर्षु पुद्गल के मरणकाल में छह द्वारों में से किसी भी द्वार में अभिमुखीभूत (उपस्थित) आलम्बन यदि अपने द्वारा पहले किये हुए, अथच प्रतिसन्धि देने में समर्थ कुशल (दान, वन्दना-आदि) या अकुशल (हिंसा-आदि) कर्म होते हैं तो ऐसे आलम्बनों को 'कर्म-आलम्बन' कहते हैं । यदि उपस्थित आलम्बन कर्म न होकर इन उपर्युक्त कर्मों की सिद्धि के निमित्त होते हैं; जैसे – दान किये हुए चीवर-आदि या चैत्य-आदि अथवा हिंसा के साधन शस्त्र-आदि, तो ऐसे आलम्बनों को 'कर्मनिमित्त-आलम्बन' कहते हैं । तथा यदि उपस्थित आलम्बन पूर्वोक्त दोनों प्रकार के आलम्बन न होकर अग्रिम भव में उपलब्ध होने योग्य (जैसे – निरय में उपलब्ध होने योग्य, अग्निज्वाला-आदि) अथवा उपभोग के योग्य, (जैसे – स्वर्ग में उपभोग के योग्य नन्दन वन-आदि) आलम्बन होते हैं तो ऐसे आलम्बनों को 'गतिनिमित्त-आलम्बन' कहते हैं ।

'यथासम्भवं' – इस पद से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन यद्यपि पञ्चम परिच्छेद के 'मरणुप्पत्ति'[1] नामक प्रकरण में विस्तारपूर्वक किया जायेगा, तथापि प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से यहाँ भी उसका सङ्क्षेप में निरूपण किया जा रहा है ।

कामप्रतिसन्धि एवं भवङ्ग के आलम्बन यदि रूप, शब्द-आदि पञ्चविध आलम्बन ही होते हैं तो वे अनन्तर-अतीत (समनन्तरनिरुद्ध) पूर्व भव में यथायोग्य छह द्वारों से गृहीत ही होते हैं । तथा यदि वे आलम्बन निरुद्ध नहीं होते हैं तो वे प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग के क्षण में प्रत्युत्पन्न-आलम्बन ही होते हैं । इसके अनन्तर इस वर्तमान भव में जो अनन्त भवङ्ग होते हैं वे सब अतीत-आलम्बन का ही ग्रहण करते हैं । च्युतिकाल में भी च्युतिचित्त के द्वारा अतीत-आलम्बन का ही ग्रहण होता है । यदि वे रूप, शब्द-आदि आलम्बन निरुद्ध हो चुके रहते हैं तो प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति – ये सभी अतीत-आलम्बन का ही ग्रहण करते हैं । यहाँ कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन त्रिविध आलम्बनों में से केवल कर्मनिमित्त आलम्बन ही होता है ।

यदि कामप्रतिसन्धि एवं भवङ्ग का आलम्बन धर्मालम्बन होता है तो वह अनन्तर-अतीत (पूर्व) भव में केवल मनोद्वारिक जवनों द्वारा ही गृहीत होता है । यदि वह धर्मालम्बन 'चेतना' होता है तो वह अतीत कर्म-आलम्बन होता है । यदि वह धर्मालम्बन 'चेतना' नहीं होता है तो वह अतीत कर्मनिमित्त-आलम्बन ही होता है ।

ये कामप्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त अनन्तर-अतीत भव में मनोद्वारिक जवनों द्वारा गृहीत प्रत्युत्पन्न गतिनिमित्त रूपालम्बन का भी आलम्बन करते हैं । अट्ठकथा में उक्त है कि सभी गतिनिमित्त-आलम्बन रूपालम्बन ही होते हैं[3] ।

१. "यथासम्भवं ति – तंतंभूमिकपटिसन्धिभवङ्गचुतीनं तंतंद्वारगहितादिवसेन सम्भवानुरूपतो ।" – विभा०, पृ० ६६ ।
विस्तृत व्याख्या के लिये द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३०१ ।

२. द्र० – अभि० स० ५ : ८०–८३ । ३. अट्ठ०, पृ० ३२४; विभ० अ० पृ० १५६ ।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करने वाले १६ चित्तों में से रूपलोक एवं अरूपलोक में केवल ६ चित्त ही उक्त प्रतिसन्धि-आदि कृत्य करते हैं। उन ६ चित्तों में से भी प्रथम (आकाशानन्त्यायतन) एवं तृतीय (आकिञ्चन्यायतन) अरूपावचर (२), तथा रूपावचर (५) = ७ प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त, अनन्तर-अतीत भव में मनोद्वारिक जवनों द्वारा गृहीत 'कसिण' आदि प्रज्ञप्तिभूत कर्मनिमित्त धर्मालम्बन का ही आलम्बन करते हैं। तथा द्वितीय (विज्ञानानन्त्यायतन) एवं चतुर्थ (नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन) अरूपावचर प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त अनन्तर-अतीत भव में मनोद्वार से ही गृहीत अतीत महग्गतकर्मनिमित्त धर्मालम्बन का ही आलम्बन करते हैं[1]।

येभुय्येन – यह कहा ही जा चुका है कि प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्तों के आलम्बन समनन्तर-अतीत (पूर्व) भव में पड्द्वारिक मरणासन्न जवनचित्तों से गृहीत आलम्बन ही होते हैं। अधिकतर ऐसा ही होता है; किन्तु सर्वदा ऐसा ही हो – ऐसा नहीं। कभी कभी पड्द्वारिक मरणासन्न जवनों से अगृहीत आलम्बन भी होते हैं; अतएव मूलपालि में 'येभुय्येन' अर्थात् 'प्रायशः' – यह कहा गया है।

ध्यान प्राप्त होने के कारण इस कामभूमि से असंज्ञिभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल जब उस असंज्ञिभूमि से च्युत होते हैं तब उन्हें कामसुगतिभूमि में ही प्रतिसन्धि लेनी पड़ती है। असंज्ञिभूमि में चित्त सर्वथा होते ही नहीं, अतः वहाँ च्युति के आसन्न पूर्वकाल में आलम्बनों का ग्रहण करने के लिये मरणासन्न जवनचित्त हो ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थिति में असंज्ञिभव से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में प्रतिसन्धिचित्तों के आलम्बन, अनन्तर-अतीत भव के मरणासन्न जवनों द्वारा गृहीत आलम्बन नहीं होते; अपितु असंज्ञिभव में पहुँचने से पूर्व, पूर्व पूर्व भव (अन्तर-अतीत भव) में किये गये अथच इस कामप्रतिसन्धि-फल को देने के लिये अवसर पाये हुए अपरपर्यायवेदनीय कर्मों[2] द्वारा प्रतिभासित कर्म, कर्मनिमित्त अथवा गतिनिमित्त – इन आलम्बनों में से कोई एक आलम्बन होता है। 'सच्चसङ्क्षेप' नामक ग्रन्थ में भी इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठाया गया है कि 'असंज्ञिभव से च्युत होनेवाले पुद्गलों के (काम) प्रतिसन्धिचित्तों का आलम्बन क्या होता है' ? इसके उत्तर में लिखा है—

"भवन्तरकतं कम्मं यमोकासं लभे ततो।
होति सा सन्धि तेनेव उपट्ठापितगोचरे[3] ॥"

अर्थात् असंज्ञिभव में पहुँचने से पूर्व किसी एक भव में किये हुए अपरपर्याय-वेदनीय कर्म यदि अवकाश (अवसर) प्राप्त करते हैं तो असंज्ञिभव से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले सत्त्वों की वह प्रतिसन्धि, उन अपरपर्यायवेदनीय कर्मों द्वारा उपस्थापित (अवभासित) कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त – इन आलम्बनों में से ही किसी एक आलम्बन में होती है[4]।

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभा०, पृ० ९९–१००। २. द्र० – अभि० स० ५:४३।
३. सच्च० १७१ का०, पृ० १२। ४. द्र० – विभा०, पृ० १००।

५३. तेसु चक्खुविञ्ञाणादीनि यथाक्कमं रूपादि-एकेकारमणानेव*।

५४. मनोधातुत्तिकं पन रूपादिपञ्चारमणं†।

उन (चित्तों) में भी चक्षुर्विज्ञानादि (१० चित्त) यथाक्रम एक एक आलम्बनवाले ही होते हैं।

मनोधातुत्रय तो रूप-आदि पाँच आलम्बनवाले होते हैं।

अरूप-भूमि में रूप-धर्मों से घृणा होती है, अतः इस (अरूप) भूमि से च्युत होकर काम-भूमि में उत्पन्न होनेवाले सत्त्वों की कामप्रतिसन्धि के आलम्बन यदि कर्म होते हैं तब तो वे अरूप-भूमि के मरणासन्नजवनों द्वारा गृहीत हो सकते है; किन्तु यदि वे आलम्बन कर्म न होकर गतिनिमित्त-आलम्बन होते हैं, अथवा रूप-धर्म कर्मनिमित्त आलम्बन होते हैं तब वे उनके आलम्बन नहीं हो सकते–ऐसी परिस्थिति में (अर्थात् कर्मालम्बन न होने पर) फल देनेवाले अपरपर्यायवेदनीय कर्मों के बल से अवभासित आलम्बन ही वहाँ उपस्थित होते हैं[१]।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त, चूंकि भवान्तर (अनन्तर-अतीत भव) में षड्द्वारिक मरणासन्नजवनों द्वारा गृहीत आलम्बन का 'प्रायः' ही ग्रहण करते हैं, अतः 'येभुय्येन भवन्तरे छद्वारग्गहितं'–इस मूलपालि में 'येभुय्येन' पद रखा गया है।

५३. उन पूर्वोक्त चित्तों में से चक्षुर्विज्ञान-आदि दस चित्त यथाक्रम रूप-आदि एक एक आलम्बन को ग्रहण करते हैं; जैसे–चक्षुर्विज्ञानद्वय रूप का, श्रोत्रविज्ञानद्वय शब्द का, इसी तरह घ्राण-जिह्वा-काय विज्ञान क्रमशः गन्ध, रस एवं स्पर्श नामक एक एक आलम्बन का ग्रहण करते हैं[२]।

५४. मनोधातुत्रय[३], पञ्चद्वार में होने के कारण, रूपालम्बन-आदि पाँचों आलम्बनों का ग्रहण कर सकते हैं[४]।

---

* ०एकेकालम्वनानेव–सी०; ०एकेकालम्वनानि एव–स्या०; ०एकेकारम्मणानेव–म० (ख), ना०; ०एकेकालम्वणानेव–रो०।

† ०पञ्चालम्वनं–सी०, स्या०; ०पञ्चारम्मणं–ना०, म० (ख); ०पञ्चालम्वणं–रो०।

१. विस्तार के लिये द्र०–प० दी०, पृ० ११२-११३।

२. "तेसू ति–यथावुत्तेसु आरम्मणिकचित्तेसु। रूपादीसु पञ्चसु एकेकं आरम्मणं एतेसं ति समासो।"–प० दी०, पृ० ११४।

"तेसू ति–रूपादिपच्चुप्पन्नादिकम्मादि-आरम्मणेसु विञ्ञाणेसु। रूपादीसु एकेकं आरम्मणं एतेसं ति रूपादि-एकेकारम्मणानि।"–विभा०, पृ० १०१।

३. सम्पटिच्छनद्वय एवं पञ्चद्वारावर्जन को 'मनोधातुत्रय' कहते हैं।

४. "रूपादीनि पञ्च आरम्मणानि एतस्सा ति विग्गहो।"–प० दी०, पृ० ११४; "रूपादिकं पञ्चविधं पि आरम्मणं एतस्सा ति रूपादिपञ्चारम्मणं।"–विभा०, पृ० १०१।

५५. सेसानि कामावचरविपाकानि हसनचित्तञ्चेति* सब्बथापि कामावचरारमणानेव ।

५६. अकुसलानि चेव ञाणविप्पयुत्तकामावचरजवनानि चेति† लोकुत्तरवज्जितसब्बारमणानि ।

शेष कामावचर विपाकचित्त एवं हसन (हसितुप्पाद) चित्त – ये सर्वथा ही काम-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

अकुशलचित्त (१२) एवं ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त (८=२० चित्त) लोकोत्तरवर्जित सभी धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

---

५५. शेष अर्थात् द्विपञ्चविज्ञान एवं सम्पटिच्छनद्वय वर्जित कामावचर विपाकचित्त (महाविपाक ८ एवं सन्तीरण ३=) ११ एवं हसितोत्पादचित्त १=१२ चित्त सर्वथा काम-धर्मों[1] का ही आलम्बन करते हैं[2]। मूल में प्रयुक्त 'एव' शब्द के द्वारा महग्गत (महद्गत), लोकोत्तर एवं प्रज्ञप्ति-आलम्बनों का प्रतिषेध किया गया है, अर्थात् ये धर्म केवल काम-धर्मों का ही आलम्बन करते हैं, अन्य महग्गत-आदि आलम्बनों का नहीं। 'सब्बथा' शब्द के द्वारा 'ये चित्त अपने प्रतिसन्धि, भवङ्ग-आदि नानाविध कृत्यों द्वारा रूप-आदि नानाविध आलम्बनों में प्रवृत्त होने के कारण सभी प्रकार के आलम्बनों का ग्रहण करनेवाले होते हैं' – यह द्योतित किया गया है।

ये चित्त सर्वज्ञ बुद्ध-आदि की सन्तान में उत्पन्न होने पर भी, उनमें विकल्प करनेवाली शक्ति के न होने से, अविद्यमान प्रज्ञप्ति-धर्म, सूक्ष्म महग्गत-धर्म एवं गम्भीर लोकोत्तर-धर्मों का आलम्बन करने में असमर्थ होते हैं[3]।

५३. ५४. ५५. इनमें कथित २५ चित्त काम-धर्मों का एकान्तेन आलम्बन करते हैं[4]।

५६. आलम्बन सङ्क्षेप से चार प्रकार के होते हैं; यथा – कामालम्बन, महग्गता-

---

* हसनचित्तञ्च – स्या०। † च – स्या०।

१. कामचित्त ५४, उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक एवं रूप-धर्मों को 'कामधर्म' कहते हैं।

२. "सेसानीति – पञ्चविञ्ञाणसम्पटिच्छनद्वयतो सेसानि सन्तीरणमहाविपाकानि।" – प० दी०, पृ० ११४।

"सेसानीति – द्विपञ्चविञ्ञाणसम्पटिच्छनेहि अवसेसानि एकादस कामावचरविपाकानि।" – विभा०, पृ० १०१।

३. "सब्बथापि कामावचरालम्बनानेवा ति – पटिसन्धादीहि नानाकिच्चेहि रूपादीसु नानारम्मणेसु पवत्तेन सब्बप्पकारेन पि कामावचरालम्बनिकानि येव, तानि हि सब्बञ्ञुबुद्धानं उप्पन्नानि पि विकप्पसत्तिरहितत्ता अविज्जमाने पञ्ञत्तिधम्मे च, सुखुमे महग्गतधम्मे च, गम्भीरे लोकुत्तरधम्मे च आलम्बितुं न सक्कोन्तीति।" – प० दी०, पृ० ११४; "सब्बथापि कामावचरारम्मणानीति – सब्बेन पि छद्वारिकद्वारविमुत्तछळारम्मणगोचरानि।" – विभा०, पृ० १०१। विस्तार के लिये द्र० – वहीं, पृ० १०१।

४. अट्ठ०, पृ० ३२४।

लम्बन, लोकोत्तरालम्बन एवं प्रज्ञप्ति-आलम्बन। इनमें से अकुशल चित्त १२ एवं ज्ञान-विप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त (कुशल ४ एवं क्रिया ४=) ८=२० चित्त लोकोत्तरालम्बन[1] को वर्जित कर अवशिष्ट सभी आलम्बनों का ग्रहण करते हैं।

क्योंकि लोकोत्तरालम्बन अतिगम्भीर हैं, अतः मनोद्वारावर्जन को छोड़कर लोकोत्तर-धर्मों का आलम्बन करनेवाले सभी चित्त ज्ञान से सम्प्रयुक्त होने पर ही उनका आलम्बन कर सकते हैं। इसीलिये अकुशलचित्त एवं ज्ञानविप्रयुक्त कामजवनचित्त ज्ञान से विप्रयुक्त (रहित) होने के कारण उन (लोकोत्तर-धर्मों) का आलम्बन नहीं कर सकते। वे लोकोत्तरवर्जित सभी धर्मों का आलम्बन करते हैं[2]।

प्रश्न—क्या १२ अकुशलचित्त एवं ८ ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त लोकोत्तर-धर्मों को छोड़कर अवशिष्ट अन्य सभी (कामावचर, महग्गत-आदि) धर्मों का का सर्वदा आलम्बन करते हैं?

उत्तर—ये उपर्युक्त चित्त लोकोत्तरवर्जित सभी धर्मों का सर्वदा आलम्बन नहीं करते।

इनमें से अकुशलचित्तान्तर्गत ४ दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्त काम-धर्मों (परीत्त-धर्मों) की अपेक्षा करके उनमें मिथ्याविमर्श, आस्वाद एवं अभिनन्दन करते समय कामावचर-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं; इन्हीं मिथ्याविमर्श, आस्वाद-आदि आकारों से २७ महग्गत-धर्मों की अपेक्षा करके प्रवृत्तिकाल में महग्गत-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं; तथा प्रज्ञप्ति-धर्मों की अपेक्षा करके प्रवृत्तिकाल में प्रज्ञप्ति-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

उन्हीं अकुशलचित्तों में से ४ दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्त भी उपर्युक्त काम, महग्गत एवं प्रज्ञप्ति धर्मों की अपेक्षा करके ही केवल आस्वादन एवं अभिनन्दन के वश से प्रवृत्तिकाल में उन उन धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

प्रतिघसम्प्रयुक्त चित्त द्वेष एवं विप्रतिसार (पश्चात्ताप) के वश से प्रवृत्तिकाल में परीत्त, महग्गत एवं प्रज्ञप्ति धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

विचिकित्सासहगत चित्त निश्चयभाव को प्राप्त न होते हुये प्रवृत्तिकाल में परीत्त, महग्गत एवं प्रज्ञप्ति धर्मों का आलम्बन करनेवाला होता है।

---

१. लोकोत्तर चित्त, उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक, एवं निर्वाण को 'लोकोत्तरालम्बन' कहते हैं।

२. "द्वादसाकुसल-अट्ठञाणविप्पयुत्तजवनवसेन वीसति चित्तानि अत्तनो जडभावतो लोकुत्तरधम्मे आरब्भ पवत्तितुं न सक्कोन्तीति नवविधलोकुत्तरधम्मे वज्जेत्वा तेभूमकानि पञ्ञत्तिञ्च आरब्भ पवत्तन्तीति आह—'अकुसलानि चेवा' त्यादि।"—विभा०, पृ० १०१। विस्तार के लिये द्र०—विभा०, पृ० १०१-१०२।

तु०—"लोकुत्तरधम्मा अतिगम्भीरत्ता ञाणस्सेव विसयभूता ति वुत्तं—'अकुसल... लोकुत्तरवज्जितसब्बारम्मणानी' ति।"—प० दी०, पृ० ११४; अट्ठ०, पृ० ३२५।

५७. ञाणसम्पयुत्तकामावचरकुसलानि चेव पञ्चमज्झानसङ्खातं अभिञ्ञाकुसलञ्चेति* अरहत्तमग्गफलवज्जितसब्बारमणानि।

ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशलचित्त ४, एवं पञ्चमध्यान नामक अभिज्ञाकुशल चित्त १ – इस प्रकार ये ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल को छोड़कर शेष सभी धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

औद्धत्यसहगत चित्त, विक्षेप एवं अनुपशम के वश से, प्रवृत्तिकाल में परीत्त, महग्गत, एवं प्रज्ञप्ति धर्मों का आलम्बन करनेवाला होता है।

आठ ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त (महाकुशल ४ एवं महाक्रिया ४), शैक्ष्य, पृथग्जन, एवं क्षीणास्रव (अर्हत्) पुद्गलों के अगौरवपूर्वक दान, अगौरवपूर्वक प्रत्यवेक्षण एवं अगौरवपूर्वक धर्मश्रवण-आदि करते समय कामावचर-धर्मों की अपेक्षा करके प्रवृत्तिकाल में कामावचर-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं; अतिशयभावित ध्यानों का प्रत्यवेक्षण करते समय महग्गत-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं; तथा कसिण-निमित्त-आदि में परिकर्म[1]-आदि करते समय प्रज्ञप्ति-धर्म का आलम्बन करनेवाले होते हैं – इस प्रकार जानना चाहिये[2]।

५७. ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशलचित्त ४ एवं कुशलाभिज्ञा (पञ्चमध्यान) १=ये ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल को छोड़कर अन्य सभी धर्मों का आलम्बन करते हैं। कुशलधर्म पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान में ही होते हैं; क्योंकि पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों को अभी अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल की प्राप्ति नहीं

---

* अभिञ्ञाकुसलञ्च – स्या०।

१. द्र० – अभि० स० ६:२०।

२. "इमेसु हि अकुसलतो चत्तारो दिट्ठिगतसम्पयुत्तचित्तुप्पादा परित्तधम्मे आरब्भ परामसन-अस्सादनाभिनन्दनकाले कामावचरारम्मणा, तेनेवाकारेन सत्तवीसति महग्गतधम्मे आरब्भ पवत्तियं महग्गतारम्मणा, सम्मुतिधम्मे आरब्भ पवत्तियं पञ्ञत्तारम्मणा। दिट्ठिविप्पयुत्तचित्तुप्पादा पि ते येव धम्मे आरब्भ केवलं अस्सादनाभिनन्दनवसेन पवत्तियं। पटिघसम्पयुत्ता च दुस्सनविप्पटिसारवसेन। विचिकिच्छासहगतो अनिट्ठङ्गमनवसेन, उद्धच्चसहगतो विक्खिपनवसेन अवूपसमवसेन च पवत्तियं परित्तमहग्गतपरित्तारम्मणो। कुसलतो चत्तारो क्रियतो चत्तारो ति अट्ठ ञाणविप्पयुत्तचित्तुप्पादा सेक्खपुथुज्जनखीणासवानं असक्कच्चदानपच्चवेक्खणधम्मसवनादीसु परित्तधम्मे आरब्भ पवत्तिकाले कामावचरारम्मणा, अतिपगुणझानपच्चवेक्खणकाले महग्गतारम्मणा, कसिणनिमित्तादीसु परिकम्मादिकाले पञ्ञत्तारम्मणा ति दट्ठब्बा।" – विभा०, पृ० १०१-१०२।

तु० – "तत्थ तानि लद्धसमापत्तीनं उप्पन्नकाले एव महग्गतारम्मणानि, तेसु च द्वे दोसमूलचित्तानि परिहीनज्झानानि आरब्भ उप्पन्नकाले ति दट्ठब्बं।" – प० दी०, पृ० ११४; अट्ठ०, पृ० ३२५, ३२७-३२८।

हुई है। अतः ये पाँच चित्त अर्हत् पुद्गल की सन्तान में होनेवाले अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल का आलम्बन नहीं कर सकते।

निष्कर्ष यह है कि नीचे की भूमि के पुद्गलों को अपने द्वारा अप्राप्त ऊपर की भूमि के धर्मों का ज्ञान नहीं होता; जैसे – सकृदागामी पुद्गल को अनागामी पुद्गल के अनागामी मार्ग एवं अनागामी फल का ज्ञान नहीं होता; इसी प्रकार स्रोतापन्न पुद्गल भी सकृदागामी, अनागामी-आदि मार्ग एवं फल धर्मों का ज्ञान नहीं कर सकता; इसी तरह पृथग्जन भी स्रोतापन्न सकृदागामी-आदि मार्ग एवं फल धर्मों का ज्ञान नहीं कर सकता।

सङ्क्षेप में सभी पुद्गल अपने द्वारा प्राप्त धर्मों से समता रखनेवाले (सदृश) धर्मों का तथा उनसे नीचे के धर्मों का आलम्बन कर सकते हैं।

यह कहा जा चुका है कि उपर्युक्त पाँच चित्त अर्हत्-मार्ग एवं फल वर्जित सभी आलम्बनों का ग्रहण कर सकते हैं, तथा यह भी कहा जा चुका है कि नीचे की भूमि का पुद्गल ऊपर की भूमि के आलम्बनों का ज्ञान नहीं कर सकता; वह केवल अपने द्वारा प्राप्त सीमा तक के आलम्बनों का ही ज्ञान कर सकता है। अतः केवल अनागामी पुद्गल ही अर्हत्-मार्ग एवं फल वर्जित उपर्युक्त सभी धर्मों का आलम्बन कर सकता है; अन्य नहीं – ऐसा जानना चाहिये[1]।

५८. ञाणसम्पयुत्तकामावचरक्रियानि चेव क्रियाभिञ्ञा वोट्ठपनञ्चेति सब्बथापि सब्बारमणानि ।

ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर क्रियाचित्त ४, क्रियाभिज्ञा १, एवं वोट्ठपन-चित्त १ – इस प्रकार ये ६ चित्त सभी प्रकार से सभी धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं ।

परमत्थदीपनीवाद – 'कोई भी पुद्गल यदि महग्गत-ध्यान को प्राप्त नहीं हुआ है तो वह महग्गतचित्त का आलम्बन नहीं कर सकता । नीचे के ध्यानों को प्राप्त पुद्गल भी ऊपर के ध्यानों का आलम्बन नहीं कर सकता । अनेक पुद्गल ध्यान, मार्ग, फल एवं निर्वाण का अभिलाप करते हैं तथा उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी करते हैं, ग्रन्थकार एवं अध्यापक-आदि भी उन ध्यान-आदि के स्वभाव का प्रतिपादन करते हैं । ये सभी पुद्गल ध्यान-आदि का यथाभूत प्रतिपादन नहीं कर सकते । केवल उन ध्यान-आदि की आकार-प्रज्ञप्ति का अनुमान द्वारा निरूपण ही कर सकते हैं' – इस प्रकार परमत्थदीपनीकार कहते हैं ।

वे आगे लिखते हैं कि परचित्तविदू (परचित्तवित्) मार – देवपुत्र, ध्यान की प्राप्ति न करते हुए भी, रूपावचर ध्यान का आलम्बन कर सकते हैं; अतः कुछ प्रभावशाली पुद्गल अपने द्वारा अप्राप्त लौकिक ध्यान का आलम्बन भी कर सकते हैं – इस प्रकार भी जानना चाहिये[1] ।

अभिज्ञा – रूपावचर पञ्चमध्यान जवनचित्त को ही 'अभिज्ञा' कहते हैं । कुशल एवं क्रिया चित्त 'जवन' होते हैं, अतः रूपावचरकुशल पञ्चमध्यान के शक्तिविशेष को 'कुशलाभिज्ञा' तथा रूपावचरक्रिया पञ्चमध्यान के शक्तिविशेष को 'क्रियाभिज्ञा' कहते हैं । 'अभिज्ञा' शब्द में 'अभि' का अर्थ 'विशेष' है, अतः पञ्चमध्यान के शक्तिविशेष को ही 'अभिज्ञा' कहते हैं ।

५८. ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर क्रियाचित्त ४, क्रियाभिज्ञा १ तथा वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १ – इस तरह ये ६ चित्त सभी आलम्बनों का ग्रहण कर सकते हैं । 'सभी' का अर्थ चारों प्रकार के आलम्बनों से है; यथा – कामालम्बन, महग्गतालम्बन, लोकोत्तरालम्बन एवं प्रज्ञप्ति-आलम्बन ।

अज्झत्त, बहिद्धा-आदि, इन्हीं चतुर्विध आलम्बनों के प्रभेद हैं; अतः इन्हीं के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाने से उनका पृथक् नामोल्लेख नहीं किया गया है । इसीलिये आगे सङ्ग्रहगाथा[2] में भी उपर्युक्त कामालम्बन-आदि चार आलम्बनों का ही उल्लेख पाया जाता है ।

जानाति येव । हेट्ठिमो उपरिमस्स चित्तं न जानातीति आदीनि पि मग्गफल-चित्तमेव सन्धाय वुत्तानीति वेदितब्बानि ।" – अ० नि० अ० टी० ।

"एत्थ च पुथुज्जनो सोतापन्नस्स चित्तं न जानाति, सोतापन्नो वा सकदागामिस्सा ति एवं याव अरहत्ता नेतब्बं । अरहा पन सब्बेसं चित्तं जानाति । अञ्ञो पि च उपरिमो हेट्ठिमस्सा ति – अयं विसेसो वेदितब्बो ।" – अट्ठ०, पृ० ३२६ ।

१. विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ११४-११५ ।

२. द्र० – अभि० स० ३ : ६२, पृ० २६७ ।

५९. आरुप्पेसु* दुतियचतुत्थानि† महग्गतारमणानि ।

आरूप्यचित्तों में से द्वितीय एवं चतुर्थ चित्त महग्गत-धर्मों का आलम्वन करनेवाले होते हैं ।

जव 'सव्वञ्ञुतञाणवीथि' होती है तव वोट्ठपनचित्त मनोद्वारावर्जनकृत्य करता है। उस समय 'वोट्ठपन' भी 'सव्वञ्ञुतञाण' के तुल्य हो जाता है, और 'सव्वञ्ञुतञाण' जितने धर्मो का ज्ञान कर सकता है, 'वोट्ठपन' भी उन सभी आलम्वनों का आवर्जन कर सकता है । इसी तरह 'अभिञ्ञा' भी, जव वह पूर्वनिवासानुस्मृति एवं अनागतांश-अभिज्ञा के रूप में प्रवृत्त होती है तव, अपनी एवं दूसरे की अतीत एवं अनागत में होनेवाली सभी घटनाओं को जानती है; अतः 'सव' का आलम्वन कर सकती है । इसीलिये कहा गया है कि 'ये छह चित्त जव भगवान् वुद्ध की सन्तान में होते हैं तव सभी आलम्वनों का ग्रहण कर सकते हैं, तथा जव अन्य पुद्गलों की सन्तान में होते हैं तव सभी आलम्वनों का सर्वथा ग्रहण नहीं कर सकते । यहाँ तक कि प्रत्येकवुद्ध भी सभी प्रज्ञप्तियों का ग्रहण नहीं कर सकते' ।

अर्हत्-मार्ग-ज्ञान के प्रति 'यह सव्वञ्ञुतञाण है' – इस प्रकार के भ्रामक कथन को, अथवा सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रियाचित्त के प्रति 'यह सव्वञ्ञुतञाण है' – इस प्रकार के अपूर्ण कथन को, नहीं मानना चाहिये ।

'सव्वञ्ञुतञाण एक ही वीथि के द्वारा सभी आलम्वनों का युगपत् ज्ञान कर सकता है', अथवा 'सव्वञ्ञुतञाण सभी आलम्वनों का सर्वदा ज्ञान रखता है' – इस प्रकार के मतों को भी नहीं मानना चाहिये ।

वस्तुतः 'सव्वञ्ञुतञाण' जव किसी विशेष आलम्वन को जानने के लिये आवर्जन करता है तव उसे विना किसी वाधा के जान सकता है और इस प्रकार वह सभी आलम्वनों को जान सकता है – यह 'सव्वञ्ञुतञाण' का गुण है ।

५९. आरूप्यचित्तों में से द्वितीय आरूप्यचित्त (विज्ञानानन्त्यायतन कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा चतुर्थ आरूप्यचित्त (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशल-विपाक-क्रिया) ३ = ये ६ चित्त

सव्वं सच्छिकतं, सव्वं फस्सितं पञ्ञाय; अफस्सितं पञ्ञाय नत्थीति 'सव्वञ्ञुतञाणं'। तत्थ आवरणं नत्थीति अनावरणञाणं ।" – पटि० म०, पृ० १४५-१४८ ।
तु० – "तथागतस्य दश वलानि ।" – अभि० को०, पृ० २०६-२०७ ।
अभि० मृ०, पृ० ८९-९३ ।
"मोक्षभव्यानां नानाधातूनां सत्त्वानामनेकधातूनां सर्वक्लेशप्रहाणायौषधविशेषवत् सामान्यप्रतिपक्षविशेषप्रतिपक्षञ्च सर्वत्र जानीते गतिहेतुं चानेन धातुरेकसन्ताने यो यद्गतचित्तस्तद्वशेन तदवतरणभव्योऽभव्यश्च भवति तत्सर्वं यथावत् प्रतिजानातीति सर्वाकारज्ञताऽप्युक्ता भवति । तदेतत् सफलमार्गप्रहाणाद् दशज्ञानात्मकं भवति ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३८५ ।

* अरूपेसु – स्या० ।   † दुतियचतुक्कानि – रो०।

महग्गत-धर्मों का आलम्बन करते हैं। इनमें से विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त, प्रत्युत्पन्न भव एवं अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतनकुशल का आलम्बन करता है। विज्ञानानन्त्यायतन विपाकचित्त अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन का आलम्बन करता है। तथा विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाचित्त प्रत्युत्पन्न भव एवं अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतनकुशल एवं आकाशानन्त्यायतनक्रिया का आलम्बन करता है[1]।

पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल आकाशानन्त्यायतनकुशल की प्राप्ति के अनन्तर, इसी प्रत्युत्पन्न भव में जब फिर विज्ञानानन्त्यायतन कुशल की प्राप्ति करता है तब वह इस भव (प्रत्युत्पन्न भव) की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशल-ध्यान का आलम्बन करता है। च्युति के अनन्तर द्वितीय अरूपभूमि में पहुँचकर जब वह विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति करता है तब वह (विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान) अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का ही आलम्बन करता है। विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर द्वितीय अरूपभूमि में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करनेवाला विज्ञानानन्त्यान्यतन विपाकचित्त, अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतनकुशल कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करता है।

पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल की अवस्था में आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान को प्राप्त करने के अनन्तर इसी प्रत्युत्पन्न भव में ही जब पुद्गल अर्हत् हो जाता है और अर्हत् होने के अनन्तर यदि वह (अर्हत्) फिर विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाध्यान को प्राप्त करता है तो प्रथमतः प्राप्त वह विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाध्यान, इस भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का आलम्बन करता है। इसके अनन्तर आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का, जवतक वह पुनः समावर्जन नहीं करता तवतक, विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाध्यान ही वार वार उत्पन्न होता है और उस समय हर वार वह इस भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का ही आलम्बन करता है।

अर्हत् होने के अनन्तर वह पुद्गल यदि आकाशानन्त्यायतन ध्यान का समावर्जन करता है तो वह समावर्जित ध्यान आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान होता है; अतः इसके वाद समावर्जित सभी विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान इस भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का ही आलम्बन करते हैं। अर्हत् होने के अनन्तर, आकाशानन्त्यायतन ध्यान को प्राप्त कर लेने के पश्चात्, यदि वह पुद्गल विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान को पुनः प्राप्त करता है तो वह (विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान) इस भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का ही आलम्बन करता है।

कामभूमि एवं रूपभूमि में शैक्ष्य पुद्गल की अवस्था में विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान प्राप्त करके यदि वह (शैक्ष्य पुद्गल) च्युति के अनन्तर पुनः विज्ञानानन्त्यायतनभूमि में उत्पन्न होता है और (इस भूमि में) उत्पन्न होकर अर्हत् होता है तो उस अर्हत्

१. तु० – अट्ठ०, पृ० ३२४, ३२८।

६०. सेसानि* महग्गतचित्तानि सब्बानि पि पञ्ञत्तारमणानि।
६१. लोकुत्तरचित्तानि निब्बानारमणानीति† ।

शेष सभी महग्गत चित्त प्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाले होते हैं। लोकोत्तर चित्त निर्वाण का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

की अवस्था में समावर्जित विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का ही आलम्बन करता है।

[विज्ञानानन्त्यायतनभूमि में उत्पन्न होने के अनन्तर, पुद्गल आकाशानन्त्यायतन ध्यान का समावर्जन नहीं कर सकता, अतः वह आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का आलम्बन नहीं कर सकता।]

चतुर्थ आरूप्य (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) ध्यान तृतीय आरूप्य (आकिञ्चन्यायतन ध्यान नामक महग्गत-धर्म) का आलम्बन करता है।

चतुर्थ आरूप्य कुशलचित्त प्रत्युत्पन्न एवं अतीतभव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकिञ्चन्यायतन कुशल का आलम्बन करता है। चतुर्थ आरूप्य विपाकचित्त अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकिञ्चन्यायतन कुशल का ही आलम्बन करता है। चतुर्थ आरूप्य क्रियाचित्त प्रत्युत्पन्न एवं अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकिञ्चन्यायतन कुशल एवं क्रिया का आलम्बन करता है।

चतुर्थ आरूप्य के आलम्बनों के विस्तार को पूर्वकथित द्वितीय आरूप्य के आलम्बनों के विस्तार की भाँति समझना चाहिये। ['आध्यात्मिक सन्तान' शब्द, जो पहले कई बार प्रयुक्त किया गया है, का अर्थ 'स्व (अपनी) आध्यात्मिक सन्तान' लेना चाहिये, 'पर (दूसरे की) आध्यात्मिक सन्तान' नहीं।]

६०. शेष, अर्थात् जब अभिज्ञाकृत्य होता है तब रूपावचरकुशल एवं रूपावचर-क्रिया पञ्चमध्यान, द्वितीय एवं चतुर्थ आरूप्य चित्त वर्जित (२१) महग्गतचित्त, अपने से सम्बद्ध प्रज्ञप्ति-धर्मों का ही आलम्बन करते हैं। वे प्रज्ञप्ति-धर्म 'पठवीकसिण' (पृथ्वीकात्स्न्र्य) आदि कसिण-प्रज्ञप्ति एवं अशुभ-प्रज्ञप्ति-आदि भेद से २८ प्रकार के होते हैं[1]। [इनमें कौन चित्त किस प्रज्ञप्ति-धर्म का आलम्बन करता है, इसका वर्णन नवम परिच्छेद में होगा।]

---

* सेसानि पन – स्या०।

† निब्बाणालम्बनानीति – सी० ('ण' सर्वत्र); निब्बानालम्बनानीति – स्या०; निब्बानारम्मणानीति – ना०, म० (ख०); निब्बानालम्बणानीति – रो०।

१. "सेसानि ... पञ्ञत्तारम्मणानीति – पन्नरस रूपावचरानि, पठमततियारुप्पानि चा ति एकवीसतिकसिणपञ्ञत्तीसु पवत्तनतो पञ्ञत्तारम्मणानि।" – विभा०, पृ० १०२। "सेसानीति – अभिञ्ञाद्वयदुतियचतुत्थारुप्पेहि अवसेसानि सब्बानि पि एकवीसति-विधानि महग्गतचित्तानि कसिणादिपञ्ञत्तारम्मणानीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १०६।

६२. पञ्चवीस परित्तम्हि छ चित्तानि महग्गते ।
एकवीसति वोहारे अट्ठ निब्बानगोचरे ।।

६३. वीसानुत्तरमुत्तम्हि अग्गमग्गफलुज्झिते ।
पञ्च सब्बत्थ छच्चेति* सत्तधा तत्थ सङ्गहो ।।

२५ चित्त कामालम्बन, ६ चित्त महग्गतालम्बन, २१ चित्त प्रज्ञप्ति-आलम्बन तथा ८ चित्त निर्वाणालम्बन होते हैं ।

२० चित्त लोकोत्तरवर्जित सभी आलम्बनों में होते हैं, ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल वर्जित सभी आलम्बनों में होते हैं, ६ चित्त सभी आलम्बनों में होते हैं – इस प्रकार आलम्बनसङ्ग्रह में आलम्बनों का सङ्ग्रह सात प्रकार से होता है ।

६२–६३. उपर्युक्त गाथा-द्वय में से प्रथम के द्वारा एकान्तरूप से आलम्बनों के ग्राहक (ग्रहण करनेवाले) चित्तों का तथा द्वितीय के द्वारा अनेकान्तरूप से आलम्बनों के ग्राहक चित्तों का दिग्दर्शन कराया गया है ।

सङ्क्षेप में आलम्बनों के चार विभाग होते हैं; यथा – काम, महग्गत, लोकोत्तर एवं प्रज्ञप्ति । इनमें से किसी एक विभाग का ही आलम्बन करनेवाले चित्त 'एकान्तेन आलम्बन करनेवाले (एकान्तालम्बन) चित्त' कहे जाते हैं । तथा किन्हीं दो या तीन विभागों का आलम्बन करनेवाले चित्त 'अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले (अनेकान्तालम्बन) चित्त' कहे जाते हैं ।

एकान्तालम्बन चित्त–

(क) २५ चित्त केवल काम-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करते हैं, अन्य महग्गत-आदि धर्मों का आलम्बन नहीं करते, अतः ये 'एकान्तालम्बन चित्त' कहे जाते हैं । वे इस प्रकार हैं; यथा – द्विपञ्चविज्ञान १०, मनोधातु ३, सन्तीरण ३, महाविपाक ८ एवं हसितोत्पाद १=२५ चित्त ।

(ख) ६ चित्त केवल महग्गत-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करते हैं; *यथा – द्वितीय आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया=) ३, तथा चतुर्थ आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया=)* ३=६ चित्त ।

(ग) २१ चित्त केवल प्रज्ञप्ति-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करते हैं; यथा – जब अभिज्ञाकृत्य होता है तब रूपावचरकुशल एवं रूपावचरक्रिया पञ्चमध्यान, द्वितीय आरूप्यचित्त (३), एवं चतुर्थ आरूप्यचित्त (३) वर्जित महग्गत चित्त २१ ।

(घ) ८ लोकोत्तर चित्त केवल निर्वाण-धर्म का ही एकान्तेन आलम्बन करते हैं ।

अनेकान्तालम्बन चित्त–

(क) २० चित्त लोकोत्तरवर्जित सभी आलम्बनों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं, अतः ये 'अनेकान्तालम्बन चित्त' कहे जाते हैं । वे इस प्रकार हैं; यथा – अकुशल

---

* छ चेति – स्या० ।

चित्त १२, तथा ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त ८ (ज्ञानविप्रयुक्त कुशल ४+ क्रिया ४=८)=२० चित्त।

(ख) ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल वर्जित सभी आलम्बनों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं; यथा–ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशल ४ तथा पञ्चमध्यान नामक अभिज्ञाकुशल १=५ चित्त।

(ग) ६ चित्त सभी आलम्बनों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं; यथा– ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचरक्रिया ४, क्रियाभिज्ञा १ तथा वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १=६ चित्त।

यह 'आलम्बनसङ्ग्रह' अभिधम्मपिटक के समझने में अत्यन्त उपयोगी एवं बड़ा सहायक है, अतः एकान्त-अनेकान्त-भेद को हम यहाँ जरा और विस्तार से कहेंगे।

सर्वप्रथम हम समस्त आलम्बनों का कई विभागों (श्रेणियों) में वर्गीकरण करेंगे, तदनन्तर उन आलम्बनों के ग्राहक (ग्रहण करनेवाले) चित्तों को कहेंगे। एक विभाग में भी कभी कभी दो तथा कभी कभी तीन या इससे अधिक छोटे छोटे उप-विभाग होंगे। एक विभाग के अन्तर्गत अनेक उपविभागों में से जो चित्त केवल एक उपविभाग का ग्रहण करते हैं वे एकान्तालम्बन चित्त, तथा जो अनेक उपविभागों का ग्रहण करते हैं वे अनेकान्तालम्बन चित्त होंगे; यथा–

१. नाम-रूप। (यह आलम्बनों का एक विभाग है, इसमें 'नाम' तथा 'रूप' ये दो उपविभाग हैं; इनमें से केवल नाम-धर्मों का ही या केवल रूप-धर्मों का ही जो चित्त आलम्बन करते हैं वे 'एकान्तालम्बन' तथा जो चित्त नाम एवं रूप–दोनों प्रकार के धर्मों का आलम्बन करते हैं वे 'अनेकान्तालम्बन' कहे जाते हैं। इसी प्रकार अन्य विभागों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।)

२. प्रत्युत्पन्न-अतीत-अनागत-कालविमुक्त।

३. प्रज्ञप्ति-परमार्थ।

४. अध्यात्म (अज्झत्त), बाह्य (बहिद्धा), अध्यात्मबाह्य (अज्झत्तबहिद्धा)।

५. रूपालम्बन-आदि छह आलम्बन।

६. एकालम्बन, द्व्यालम्बन, पञ्चालम्बन, द्वादशालम्बन, चतुर्दशालम्बन, पञ्च-विंशत्यालम्बन।

इन छह विभागों में विभक्त आलम्बनों को एकान्तेन एवं अनेकान्तेन ग्रहण करने-वाले चित्तों के वर्णन से पूर्व हम यहाँ कामालम्बन, महग्गतालम्बन-आदि चतुर्विध आलम्बनों को एकान्तेन एवं अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्तों का वर्णन करते हैं; तदनन्तर उपर्युक्त छह विभागों में विभक्त आलम्बनों को एकान्तेन एवं अनेकान्तेन ग्रहण करनेवाले चित्तों का वर्णन करेंगे।

कामादि चतुर्विध आलम्बनों के एकान्तालम्बन एवं अनेकान्तालम्बन चित्त–

१. (क) काम-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २५ होते हैं; यथा–कामविपाक[1] २३, पञ्चद्वारावर्जन १ तथा हसितोत्पाद १=२५ चित्त।

---

१. द्र०–अभि० स० १:१७, पृ० ६१।

(ख) काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ होते हैं; यथा – हसितोत्पादवर्जित कामजवन[1] २८, वोट्ठपन १ तथा अभिज्ञाद्वय=३१ चित्त।

२. (क) महग्गत-धर्मों का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६ होते हैं; यथा – द्वितीय आरूप्य (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, तथा चतुर्थ आरूप्य (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=६ चित्त।

(ख) महग्गत-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ होते हैं; यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

३. (क) निर्वाण-धर्म का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ८ होते हैं; यथा – ८ लोकोत्तर चित्त।

(ख) निर्वाण-धर्म का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ११ होते हैं; यथा – ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशल ४ एवं क्रिया ४=८, अभिज्ञा २ एवं वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १=११ चित्त।

[प्रज्ञप्ति-धर्म का एकान्तेन एवं अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्तों का वर्णन उपर्युक्त ६ विभागों में विभक्त आलम्बनों के तृतीय विभाग के वर्णन-प्रसङ्ग में करेंगे।]

अब यहाँ उपर्युक्त ६ विभागों में विभक्त आलम्बनों को एकान्तेन एवं अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्तों का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है; यथा–

१. (क) केवल नाम-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १४ हैं, यथा – द्वितीय एवं चतुर्थ आरूप्य चित्त ६, तथा लोकोत्तर चित्त ८=१४ चित्त।

(ख) नाम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ हैं; यथा— तदालम्बन[2] चित्त ११, कामजवनचित्त २९, वोट्ठपन १ एवं अभिज्ञा २=४३ चित्त।

(ग) केवल रूप-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १३ हैं; यथा – द्विपञ्चविज्ञानचित्त १० एवं मनोधातु ३=१३ चित्त।

(घ) रूप-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ हैं; यथा – वे ही ४३ चित्त, जो नाम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

२. (क) केवल प्रत्युत्पन्न का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १३ हैं; यथा – द्विपञ्चविज्ञान १० तथा मनोधातु ३=१३ चित्त।

(ख) केवल अतीत का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६ हैं; यथा – द्वितीय आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, तथा चतुर्थ आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=६ चित्त।

---

१. जवनचित्त ५५ होते हैं, उनमें अकुशलचित्त १२, महाकुशल ८, महाक्रिया ८ एवं हसितोत्पाद १=२९ चित्त 'कामजवन' कहलाते हैं। द्र० – अभि० स० ३ : २५, पृ० २३३।

२. सन्तीरण ३ एवं महाविपाक ८=११ चित्त 'तदालम्बन' कहलाते हैं। द्र० – अभि० स० ३ : २६, पृ० २३३।

(ग) केवल अनागत का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाला चित्त कोई नहीं है।

(घ) प्रत्युत्पन्न, अतीत एवं अनागत का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ है; यथा – वे ही ४३ चित्त, जो नाम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

(ङ) केवल कालविमुक्त-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २९ हैं; यथा रूपावचरचित्त १५, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, आकिञ्चन्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा लोकोत्तर चित्त ८=२९ चित्त।

(च) कालविमुक्त-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ हैं; यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

३. (क) केवल प्रज्ञप्ति का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २१ हैं; यथा – रूपावर चित्त १५, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा आकिञ्चन्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=२१ चित्त।

(ख) प्रज्ञप्ति-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ हैं; यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

(ग) केवल परमार्थ-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३९ हैं; यथा – केवल काम-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २५, केवल महग्गत-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६, तथा केवल निर्वाणका ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ८=३९ चित्त।

(घ) परमार्थ-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ हैं; यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

४. (क) केवल अध्यात्म-(अज्झत्त) धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६ हैं; यथा – द्वितीय आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा चतुर्थ आरूप्य चित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=६ चित्त।

(ख) अध्यात्म-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ५६ हैं; यथा – कामचित्त[1] ५४, तथा अभिज्ञा २=५६ चित्त।

(ग) केवल वाह्य (वहिद्धा)-धर्मो का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २६ हैं; यथा – रूपावचरचित्त १५, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा लोकोत्तर चित्त ८=२६ चित्त।

(घ) वाह्य-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ५६ हैं; यथा – वे ही ५६ चित्त, जो अध्यात्म-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

['नास्तिभावप्रज्ञप्ति' (नत्थिभावपञ्ञत्ति) – यह प्रथम आरूप्यविज्ञान नामक अध्यात्म-धर्म की अभावप्रज्ञप्ति होने से न तो अध्यात्म (अज्झत्त) धर्म ही है और न वाह्य (वहिद्धा)-धर्म ही है, अतः इस 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' का आलम्बन करनेवाले आकिञ्चन्यायतन (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ चित्त, न तो अध्यात्म-धर्मो का आलम्बन करनेवाले चित्तों में सङ्गृहीत होते हैं और न वाह्य-धर्मो का आलम्बन करनेवाले चित्तों में ही सङ्गृहीत होते हैं।]

१. द्र० – अभि० स० १ : ३०, पृ० ८६।

(ङ) अध्यात्म-बाह्य (अज्झत्त-बहिद्धा)-धर्मों का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त नहीं होते।

(च) अध्यात्म-बाह्य-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ५६ हैं; यथा – वे ही ५६ चित्त, जो अध्यात्म-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

५. (क) रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनों का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १० हैं; यथा – चक्षुर्विज्ञान-आदि द्विपञ्चविज्ञान चित्त १०। (ये चक्षुर्विज्ञानद्वय-आदि द्विपञ्चविज्ञानचित्त क्रमशः रूप-आदि आलम्बनों का एकान्तेन आलम्बन करते हैं।

(ख) रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४६ हैं; यथा – नाम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ तथा मनोधातु ३=४६ चित्त।

(ग) केवल धर्मालम्बन का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३५ हैं; यथा – महग्गत चित्त[1] २७ तथा लोकोत्तर चित्त ८=३५ चित्त।

(घ) धर्मालम्बन का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ हैं; यथा – वे ही ४३ चित्त, जो नाम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

६. (क) एकालम्बन चित्त – जो चित्त केवल एकविध आलम्बन का ही ग्रहण करते हैं उन्हें 'एकालम्बनचित्त' कहते हैं। ये २८ होते हैं; यथा – द्विपञ्चविज्ञान-चित्त १०, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, आकिञ्चन्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, विज्ञानानन्त्यायतनचित्त (क्रियावर्जित) २, नैवसंज्ञानासंज्ञायतनचित्त (क्रियावर्जित) २ तथा लोकोत्तर चित्त ८=२८ चित्त।

(ख) द्वयालम्बन चित्त – जो चित्त द्विविध आलम्बनों का ग्रहण करते हैं उन्हें 'द्वयालम्बन चित्त' कहते हैं। वे चित्त २ हैं; यथा – विज्ञानानन्त्यायतनक्रियाचित्त १ तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतनक्रियाचित्त १=२ चित्त।

विज्ञानानन्त्यायतनक्रियाचित्त, आकाशानन्त्यायतनकुशल एवं आकाशानन्त्यायतन-क्रिया – इन दो आलम्बनों का ग्रहण करता है; तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतनक्रियाचित्त, आकि-ञ्चन्यायतनकुशल एवं आकिञ्चन्यायतनक्रिया – इन दो आलम्बनों का ग्रहण करता है।

(ग) पञ्चालम्बन चित्त – जो चित्त पाँच प्रकार के आलम्बनों का ग्रहण करते हैं वे 'पञ्चालम्बन चित्त' कहलाते हैं। वे चित्त ३ हैं; यथा – मनोधातुत्रय[2]। ये रूपालम्बन-आदि पाँचों आलम्बनों का ग्रहण करते हैं।

(घ) द्वादशालम्बन चित्त – जो चित्त १२ प्रकार के आलम्बनों का ग्रहण

---

१. कुशल-विपाक-क्रियाभेद से रूपावचर १५ तथा अरूपावचर १२=२७ महग्गत चित्त हैं।

२. पञ्चद्वारावर्जन एवं सम्पटिच्छनद्वय – ये ३ चित्त 'मनोधातुत्रय' कहलाते हैं।

करते हैं वे 'द्वादशालम्बन चित्त' कहलाते हैं। वे चित्त ३ होते हैं; यथा – रूपावचर पञ्चमध्यानचित्त ३।

ये काम, महग्गत, निर्वाण, नाम, रूप, प्रत्युत्पन्न, कालविमुक्त, प्रज्ञप्ति, परमार्थ, आध्यात्मिक (अज्झत्तिक), बाह्य (बहिद्धा) एवं धर्म – इस प्रकार १२ आलम्बनों का ग्रहण करते हैं।

(ङ) चतुर्दशालम्बन चित्त – जो चित्त चौदह प्रकार के आलम्बनों का ग्रहण करते हैं वे 'चतुर्दशालम्बन चित्त' कहलाते हैं। वे चित्त ९ हैं; यथा – द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अरूपावचरध्यान चित्त ९।

(च) पञ्चविंशत्यालम्बन चित्त – जो चित्त २५ प्रकार के आलम्बनों का ग्रहण करते हैं वे 'पञ्चविंशत्यालम्बन चित्त' कहलाते हैं। ये ३ हैं; यथा – रूपावचर प्रथमध्यानचित्त[1] ३।

चैतसिकगणना

दो 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनों का ग्रहण नहीं करते; अपितु ये प्रज्ञप्ति-धर्मालम्बन का ही ग्रहण करते हैं। अतः रूपालम्बन का ग्रहण करनेवाले चैतसिक 'अप्पमञ्ञा' नामक चैतसिकद्वयवर्जित ५० चैतसिक ही होते हैं। इसी प्रकार शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य आलम्बन का ग्रहण करनेवाले चैतसिकों को भी ५०–५० ही जानना चाहिये। सभी ५२ चैतसिक धर्मालम्बन का ग्रहण करते हैं। अकुशल चैतसिक लौकिक आलम्बनों का ही ग्रहण करते हैं, ये लोकोत्तर आलम्बन का ग्रहण नहीं करते। ईर्ष्या एवं अप्पमञ्ञा चैतसिक २ – इस प्रकार ये ३ चैतसिक आध्यात्मिक (अज्झत्तिक) आलम्बनों का ग्रहण नहीं करते, अतः इन तीनों चैतसिकों का वर्जन करके अवशिष्ट ४९ चैतसिक अध्यात्मिक आलम्बन का ग्रहण करते हैं। लौकिक विरतित्रय चैतसिक 'वीतिक्कमितब्बवत्थु' (व्यतिक्रमितव्यवस्तु) नामक कामचित्त-चैतसिक नाम-धर्मों एवं रूप-धर्मों का ग्रहण करते हैं; तथा इनके द्वारा गृहीत ये नाम-रूप-आलम्बन प्रत्युत्पन्न ही होते हैं, अनागत नहीं। लोकोत्तर विरतित्रय चैतसिक 'निर्वाण' नामक कालविमक्त अप्रमाण धर्म का आलम्बन करते हैं। 'अप्पमञ्ञा' नामक चैतसिकद्वय कालविमुक्त नामक सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करते हैं। उपर्युक्त चैतसिकों के अतिरिक्त अवशिष्ट ३३ चैतसिक सर्वालम्बन होते हैं।

कुछ आचार्य 'मात्सर्य चैतसिक बाह्य धर्म का आलम्बन नहीं करते तथा लौकिक विरतित्रय चैतसिक अनागत का भी आलम्बन करते हैं' – ऐसा कहते हैं। उनके इस मत के सम्बन्ध में हमने चैतसिक परिच्छेद में विचार किया है[2]।

आलम्बनसङ्ग्रह समाप्त।

---

१. इनके द्वारा गृहीत २५ प्रकार के आलम्बनों के ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स० ९ : २३-२५।

२. द्र० – अभि० स० २ : ४, पृ० १३६; २ : ६, पृ० १६९।

वत्थुसङ्गहो

६४. वत्थुसङ्गहे वत्थूनि नाम—चक्खु*-सोत-घान-जिव्हा-काय-हदयवत्थु* चेति छब्बिधानि भवन्ति।

६५. तानि† कामलोके सब्बानि पि लब्भन्ति।

वस्तुसङ्ग्रह में चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं हृदय नामक छह प्रकार की वस्तुएँ होती हैं।

वे सभी (६) वस्तुएँ कामलोक में पायी जाती हैं।

वस्तुसङ्ग्रह

६४. वस्तु-भेद से चित्त-चैतसिकों का विभाग इस सङ्ग्रह में किया गया है, अतः इस सङ्ग्रह को 'वस्तुसङ्ग्रह' कहते हैं[1]।

'वसन्ति एत्था ति वत्थु' जिन चक्षुष्-आदि में चित्त-चैतसिक धर्म आश्रित होकर प्रवृत्त होते हैं, उन आश्रयभूत चक्षुष्-आदि को 'वस्तु' कहते हैं। जैसे – किसी भवन के आधार को 'वस्तु' कहा जाता है; उसी प्रकार चक्षुष्, श्रोत्र-आदि रूपी धर्मों को भी, चित्त-चैतसिक धर्मों का आधार होने के कारण, 'वस्तु' कहा जाता है[2]। वस्तु छह हैं; यथा – चक्षुर्वस्तु, श्रोत्रवस्तु, घ्राणवस्तु, जिह्वावस्तु, कायवस्तु एवं हृदयवस्तु।

अथवा जिन चक्षुष्-आदि में चित्त-चैतसिक धर्म प्रतिष्ठित होते हैं, उन चक्षुष्-आदि को 'वस्तु' कहते हैं[3]।

६५. चक्षुरिन्द्रिय (चक्षुःप्रसाद), श्रोत्रेन्द्रिय (श्रोत्रप्रसाद) आदि इन्द्रियों से परिपूर्ण पुद्गल कामभूमि में ही उत्पन्न होते हैं; अतः कामभूमि में सभी वस्तुरूप उपलब्ध होते हैं।

वस्तु, आलम्बन एवं कामगुणों का अभिलाष करनेवाली कामतृष्णा ही कामावचर कुशल कर्मों का मूल है, अतः जब ये कर्म फल देते हैं तब अपनी मूलभूत तृष्णा के अनुसार रूप, शब्द-आदि पाँच विषयों (आलम्बनों) का सम्यग् भोग करने के लिये चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय नामक कर्मजरूप इन्द्रियों को अभिनिर्वृत्त (उत्पन्न) करते

---

* चक्खु सोतं घानं जिव्हा कायो हदयवत्थु – स्या०।

† तानि पन – स्या०।

1. "वत्थुविभागतो तब्बत्थुकचित्तपरिच्छेदवसेन च सङ्गहो वत्थुसङ्गहो।" – विभा०, पृ० १०३; द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३१२।
तु० – "चक्खादीनं वत्थूनं भेदेन तब्बत्थुकानं चित्तचेतसिकानं सङ्गहो वत्थुसङ्गहो।" – प० दी०, पृ० ११६।

2. "वसन्ति एतेसु चित्तचेतसिका तन्निस्सयत्ता ति वत्थूनि।" – विभा०, पृ० १०३।

3. "वसन्ति पतिट्ठहन्ति चित्तचेतसिका एतेसू ति वत्थूनि।" – प० दी०, पृ० ११६।

६६. रूपलोके पन घानादित्तयं नत्थि।

रूपलोक में घ्राण-आदि तीन वस्तुएँ नहीं होतीं।

है। इस प्रकार परिपूर्णेन्द्रिय पुद्गल कामतृष्णा की गोचर (क्षेत्र) कामभूमि में ही उत्पन्न होने के कारण, ये ६ वस्तुएं कामभूमि में उपलब्ध होती हैं।

'सब्बानि पि' में प्रयुक्त 'अपि' शब्द के द्वारा 'अन्ध, बधिर-आदि कुछ पुद्गल छह इन्द्रियों को प्राप्त नहीं होते' – यह द्योतित किया गया है[1]।

६६. रूपलोक में घ्राण, जिह्वा एवं काय – ये तीन वस्तुएं नहीं होतीं; क्योंकि रूपभूमि की प्राप्ति के कारणभूत रूपावचरध्यान वस्तु, आलम्बन एवं कामगुणों से घृणा करनेवाली कामविरागभावना ही हैं; अतः रूपभूमि में कामगुणों का भोग करनेवाली पाँच इन्द्रियाँ (प्रसाद-रूप[2]) नहीं होतीं।

रूप-आदि पाँच गोचर-रूपों[3] को ही 'वस्तु' एवं 'आलम्बन' कहते हैं, अतः इनका प्रहाण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार स्वभाव से सुन्दर रूपालम्बन को असुन्दर मानकर उसका प्रहाण नहीं किया जा सकता और वह प्रहाण करने के योग्य भी नहीं है; उसी प्रकार मधुर शब्द, सुगन्ध, सुन्दर रस एवं सुन्दर स्प्रष्टव्यालम्बन-आदि का भी प्रहाण नहीं किया जा सकता। यदि बलवान् अकुशल कर्मों के कारण इन (आलम्बनों) के प्रति घृणा होती है तो उन उन आलम्बनों से सम्बद्ध प्रसाद-रूपों का ही प्रहाण हो सकता है। इसी प्रकार कामगुणों के प्रति अत्यन्त घृणा होने से, भावना करनेवाले योगियों की कामविरागभावना जब विपाक (फल) देती है तब प्रहाण के योग्य पाँच प्रसाद-रूपों का ही प्रहाण होता है; किन्तु योगी भगवान् बुद्ध के दर्शन एवं धर्मश्रवण-में उपकारक चक्षुष् एवं श्रोत्र नामक प्रसाद-रूपों की अपेक्षा घ्राण, जिह्वा एवं काय प्रसाद का ही प्रहाण चाहते हैं, अतः कामविरागभावना के बल से इन्हीं का प्रहाण करते हैं। अतएव रूपभूमि में ६ वस्तुओं में से घ्राण-आदि ३ तीन वस्तुरूप उपलब्ध नहीं होते[4]।

---

१. "परिपुण्णिन्द्रियस्स तत्थेव उपलब्भनतो। 'पि' सद्देन पन अन्धबधिरादिवसेन केसञ्चि असम्भवं दीपेति।" – विभा०, पृ० १०३।

"तानि कामलोके सब्बानि पि लब्भन्तीति कामतण्हाधिनकम्मनिब्बत्तानं अत्तभावानं एव परिपुण्णिन्द्रियता सम्भवतो सब्बानि पि तानि छ वत्थूनि कामलोके एव लब्भन्ति।" – प० दी०, पृ० ११६।

तु० – "कामधात्वाप्ताः सर्वे।" – अभि० को० १ : ३०, पृ० ४५।

"कामधात्वाप्ताः सर्व एवेत्यवधार्यते, अष्टादशधातुत्वमात्रसङ्ग्रहात्; न तु प्रत्येकं साकल्यतः।" – स्फु०, पृ० ६०।

२. द्र० – अभि० स० ६ : ५।

३. द्र० – अभि० स० ६ : ६।

४. "ब्रह्मानं कामविरागभावनावसेन गन्धरसफोट्ठब्बेसु विरत्तताय तब्बिसयप्पसादेसु पि विरागसब्भावतो (घानादित्तयं नत्थि); बुद्धदस्सन-धम्मसवनादिअत्थं पन चक्खु-सोतेसु अविरत्तभावतो चक्खादिद्वयं तत्थ उपलब्भति।" – विभा०, पृ० १०३।

'घानादित्तयं नत्थि' एवं अहीनेन्द्रिय – त्रिपिटक में रूपभूमि के ब्रह्माओं की 'रूपी' एवं 'अहीनेन्द्रिय' शब्दों द्वारा बहुशः स्तुति की गयी है[1]। यहाँ यह प्रश्न होता है कि रूपभूमि में जब घ्राण-आदि तीन वस्तुएँ नहीं हैं, तब रूपी ब्रह्मा कैसे रूपी एवं अहीनेन्द्रिय हैं ?

समाधान – 'अहीनेन्द्रिय' – इस शब्द से 'प्रसाद-रूपों' से तात्पर्य नहीं है, अपितु उन (चक्षुःप्रसाद-आदि) के संस्थानों (आकारों) से तात्पर्य है; तथा 'घानादित्तयं नत्थि' इस वचन से घ्राण जिह्वा एवं काय प्रसाद से तात्पर्य है, अतः दोनों वचनों में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यही है कि रूपी ब्रह्माओं में यद्यपि घ्राण, जिह्वा एवं काय प्रसाद नहीं होते तथापि उनमें घ्राण, जिह्वा एवं काय के संस्थान होते हैं[2]।

"ब्रह्मपारिषद्या (ब्रह्मपारिसज्जा) भमि से लेकर सोलह भूमियाँ रूपभूमि कही जाती हैं[3]। इन भूमियों में सभी ब्रह्मा पुरुष-संस्थान (पुरुषाकृति) ही होते हैं, फिर भी उनमें पुम्भाव या स्त्रीभाव के व्यञ्जक निमित्त नहीं होते। चक्षुःप्रसाद एवं श्रोत्रप्रसाद होते हैं, अतः वे रूप को देखते हैं और शब्दों का श्रवण करते हैं। घ्राणपिण्ड (इन्द्रिय का आकार) है; किन्तु घ्राणप्रसाद (घ्राणेन्द्रिय) एवं घ्राणविज्ञान नहीं होते, अतः उन्हें गन्धज्ञान नहीं होता। सम्यक्सञ्चालन योग्य जिह्वा है, अतः वे बातचीत करते हैं; किन्तु उन्हें जिह्वाविज्ञान नहीं होता, इसलिये वे किसी रस को नहीं जानते तथा

"यथा च दस्सनसवनानुत्तरियधम्मभूतानि चक्खुसोतानि बुद्धदस्सन-धम्मसवनादिवसेन सत्तानं विसुद्धियापि होन्ति, न तथा घानादित्तयं; तं पन केवलं कामपरिभोगत्थाय एव होति; तस्मा तं कामविरागभावनाकम्मनिब्बत्तेसु ब्रह्मत्तभावेसु न उपलब्भतीति वुत्तं – 'रूपलोके पन घानादित्तयं नत्थी' ति।" – प० दी०, पृ० ११६–११७।

तु०– "......................रूपे चतुर्दश।
विना गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञानधातुभिः॥"
– अभि० को० १ : ३०, पृ० ४५।

द्र० – अभि० समु०, पृ० १४।

१. द्र० – दी० नि०, प्र० भा०, 'ब्रह्मजालसुत्त' एवं 'पोट्ठपादसुत्त'।

२. "इदञ्च पसादरूपत्तयं सन्धाय वुत्तं, ससम्भारघानजिव्हाकायसण्ठानानि पन सुट्ठु परिपुण्णानि एव होन्तीति।" – प० दी०, पृ० ११७।

तु०– "तथा हि भगवता रूपावचराः सत्त्वा अविकला अहीनेन्द्रिया इति उक्ताः; काण-कुण्ठत्वाभावत्वात्; अहीनेन्द्रियाश्चक्षुरादिभिरहीनत्वात्। आचार्य आह – 'यानि तत्रे' ति विस्तरः – यानि तत्र रूपधातौ घ्राणेन्द्रियादिरहितानि चक्षुरादीनि तैरहीनेन्द्रिया इति सूत्रार्थपरिग्रहादविरोधः।" – स्फु०, पृ० ६२।

३. द्र० – अभि० स० ५ : ७-१०।

६७. अरूपलोके पन सब्बानि पि न संविज्जन्ति।

अरूपलोक में तो सभी (६ वस्तुएँ) नहीं होतीं।

न खाते हैं न कुछ पीते ही हैं, ध्यानप्रीति ही उनका आहार होता है। काय है; किन्तु कायप्रसाद एवं कायविज्ञान नहीं होते; अतः वे कुछ भी स्पर्श नहीं जानते, फिर भी परिधान के लिये शाटक-आदि (वस्त्र) होते हैं। ब्रह्मविमान, शयनासन (बिस्तर-आदि) एवं सब आभूषण भी होते हैं। केश, नख एवं दन्त भी होते हैं। शेष २६ कोट्ठास (प्रत्यङ्ग) पृथक् पृथक् नहीं होते[1]। दीपशिखा की भाँति शरीर होता है, उसमें मल एवं मूत्र मार्ग नहीं होते। उनमें स्त्रियाँ (स्त्री-विग्रह) भी नहीं होतीं, और स्त्रीसेवन भी नहीं होता। वहाँ नृत्य, गीत, वादित्र-आदि नहीं होते। कोई ब्रह्मा आर्यविहार से कोई दिव्यविहार से तो कोई ब्रह्मविहार से कालयापन करते (विहरते) हैं[2]।

६७. अरूपभूमि में प्रतिसन्धि देनेवाले अरूप-ध्यान सम्पूर्ण रूपों (रूपमात्र) से अत्यन्त घृणा करनेवाली रूपविरागभावना से सम्पन्न होते हैं, अतः अरूपभूमि में कोई

---

१. कोट्ठास कुल बत्तीस होते हैं; द्र० – खु० नि०, प्र० भा० (खु० पा०) पृ० ४। अथवा पीछे पृ० ६ (टि०)।

२. "तत्थ ब्रह्मपारिसज्जतो पट्ठाय इमानि सोळस रूपावचरानि नाम। ते सब्बे पुरिससण्ठाना, इत्थिपुरिसब्यञ्जनं पि नत्थि। चक्खुसोतानि अत्थि, रूपं पस्सन्ति, सद्दं सुणन्ति। घाणं अत्थि, घाणप्पसादो च घाणविञ्ञाणं च नत्थि, तस्मा गन्धं न जानन्ति। सम्परिवत्तकजिव्हा अत्थि, तस्मा भासन्ति, जिव्हाप्पसादो च जिव्हाविञ्ञाणं च नत्थि, तस्मा किञ्चि रसं न जानन्ति, न खादन्ति, न पिवन्ति, झानरतियेव तेसं आहारं होति। कायो अत्थि, कायप्पसादो च कायविञ्ञाणं च नत्थि, तस्मा ते किञ्चि फस्सं न जानन्ति, एवं सन्ते पि निवासन-पारुपनसाटकानि अत्थि। ब्रह्मविमानसयनासनानि अत्थि, सब्बाभरणानि अत्थि, केसनखदन्ता अत्थि; सेसकोट्ठासानि विसुं विसुं नत्थि; दीपसिखा विय सरीरं होति, मलमुत्तमग्गा नत्थि, इत्थियो नत्थि, इत्थिसेवनं पि नत्थि, नच्चगीतादीनि नत्थि। केचि अरियविहारेन, केचि दिब्बविहारेन, केचि ब्रह्मविहारेन विहरन्तीति।" – जिना० व०, पृ० ७७-७८।

तु० – "कामाप्तममलं हित्वा रूपाप्तं स्त्रीपुमिन्द्रिये।
दुःखे च हित्वा................॥"

–अभि० को० २ : १२, पृ० ११२।

द्र० – "मैथुनस्पर्शवीतरागाश्च रूपावचराः सत्त्वाः, तस्मात्तत्र न तृष्णापूर्वकं कर्म भवति। तस्माद् अहेतुकत्वात् तत्र पुरुषेन्द्रियं नास्ति, निर्हेतुकाङ्कुरादिवद् – इति सिद्धं 'रूपधातौ चतुर्दशैव धातवः' इति।" – स्फु०, पृ० ६३; १०९।

७३. छवत्थुं* निस्सिता* कामे सत्त रूपे चतुब्बिधा।
तिवत्थुं† निस्सितारूपे† धात्वेकानिस्सिता मता॥

७४. तेचत्तालीस निस्साय द्वेचत्तालीस जायरे।
निस्साय‡ च अनिस्साय‡ पाकारुप्पा अनिस्सिता॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे पकिण्णकसङ्गहविभागो नाम
ततियो परिच्छेदो।

११ कामभूमियों में ६ वस्तुओं का आश्रय करके ७ धातुएँ, असंज्ञि-वर्जित १५ रूपभूमियों में तीन वस्तुओं का आश्रय करके चतुर्विध धातुएँ तथा ४ अरूपभूमियों में सर्वथा निश्रय न करनेवाली एक धातु मानी गयी हैं।

४३ चित्त आश्रय करके तथा ४२ चित्त आश्रय करके एवं विना आश्रय के भी उत्पन्न होते हैं। पाकारूप्य (अरूपविपाक) अनिश्रित ही उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'प्रकीर्णकसङ्ग्रहविभाग' नामक
तृतीय परिच्छेद समाप्त।

---

७३. ग्यारह कामभूमियों में छह वस्तुओं का आश्रय करनेवाली ७ धातुएँ होती हैं; यथा – चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु, मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु।

असंज्ञिवर्जित १५ रूपभूमियों में चक्षुष्, श्रोत्र एवं हृदय – इन तीन वस्तुओं का आश्रय करके चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु – इस प्रकार ये ४ धातुएँ प्रवृत्त होती हैं[1]।

चार अरूपभूमियों में केवल एक मनोविज्ञानधातु ही, विना किसी का आश्रय किये, प्रवृत्त होती है।

७४. पञ्चवोकारभूमि[2] (कामभूमि एवं रूपभूमि) में ही उत्पन्न होनेवाले पञ्चविज्ञानधातु १०, मनोधातु ३, सन्तीरण ३, महाविपाक ८, द्वेषमूल २, स्रोतापत्ति-

---

- छवत्थुनिस्सिता – स्या०।
†-† तिवत्थुं निस्सितारुप्पे – सी०, म० (ख); तिवत्थुनिस्सितारुप्पे – स्या०।
‡-‡ अनिस्साय च निस्साय – स्या०।

१. द्र० – विभा०, पृ० १०४।
२. "वोकारो लामके खन्धे...।" अभि० प० सू० ११२८ का० के अनुसार 'वोकार' शब्द स्कन्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः 'पञ्चवोकारभूमि' का अर्थ होता है जहाँ पाँच स्कन्ध होते हैं; यथा – काम एवं रूपभूमि। 'चतुवोकारभूमि' का अर्थ होता है जहाँ चार स्कन्ध होते हैं; यथा –

मार्ग १, हसितोत्पाद १ तथा रूपावचर १५ – इस प्रकार ये ४३ चित्त एकान्तेन 'वस्तु' का आश्रय करके ही प्रवृत्त होते हैं।

पूर्वोक्त ४२ चित्त[1] जब पञ्चवोकारभूमि में उत्पन्न होते हैं तब 'वस्तु' का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं; तथा जब चतुवोकारभूमि (अरूपभमि) में उत्पन्न होते हैं तब 'वस्तु' का आश्रय नहीं करते।

चतुवोकारभूमि में ही उत्पन्न होनेवाले ४ अरूपावचर विपाकचित्त किसी 'वस्तु' का आश्रय नहीं करते।

चैतसिकविभाग

'गृहीतग्रहणनय' के अनुसार चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिकों का परिज्ञान चैतसिकसङ्ग्रह में कथित 'सम्प्रयोगनय' एवं 'सङ्ग्रहनय' के अनुसार कर लेना चाहिये। 'अगृहीत-ग्रहणनय' के अनुसार 'वस्तु' का आश्रय करनेवाले चैतसिकों को इस प्रकार जानना चाहिये; यथा –

सात सर्वचित्तसाधारण चैतसिक जब पञ्चवोकारभूमि में होते हैं तब छहों (सभी) वस्तुओं का आश्रय करते हैं। जब ये चैतसिक चतुवोकारभूमि में होते हैं तब किसी भी वस्तु का आश्रय नहीं करते।

द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एवं अप्पमञ्ञाद्वय – इस प्रकार ये ६ चैतसिक हृदयवस्तु का ही एकान्तेन आश्रय करते हैं। इन ६ चैतसिकों में से द्वेष-आदि प्रथम ४ चैतसिक तो काम-भूमि में ही उत्पन्न होने के कारण केवल हृदयवस्तु का ही आश्रय करनेवाले होते हैं। तथा केवल सत्त्व-प्रज्ञप्ति का ही आलम्बन करनेवाले अप्पमञ्ञा नामक २ चैतसिक भी सर्वप्रथम संस्थान (आकार) को देखने पर ही सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाले होते हैं और अरूपावचरभूमि में, चूंकि संस्थान नहीं होते, अतः ये दोनों चैतसिक केवल कामावचरभमि एवं रूपावचर-भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण एकान्तेन हृदयवस्तु का ही आश्रय करनेवाले होते हैं।

उपर्युक्त १३ चैतसिकों के तिरिक्त अवशिष्ट ३९ चैतसिक जब पञ्चवोकारभूमि में उत्पन्न होते हैं तब हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं। तथा जब चतुवोकारभूमि में उत्पन्न होते हैं तब हृदयवस्तु का आश्रय नहीं करते।

धातुत्रय में विशेष

प्रसङ्गवश हम यहाँ मनोधातु, पञ्चविज्ञानधातु तथा मनोविज्ञानधातु के पारस्परिक भेदों का वर्णन करते हैं:

मनोधातु – 'मनो एव धातु मनोधातु' अर्थात् जाननामात्र धातु ही 'मनोधातु' है। अथवा – 'मननमत्ता धातु मनोधातु' अर्थात् मननमात्र धातु ही 'मनोधातु' है[2]। 'मनोधातु' नामक तीन चित्तों में से पञ्चद्वारावर्जनचित्त अभिनव आलम्बन का सर्व-

---

अरूपभूमि। तथा 'एकवोकारभूमि' का अर्थ होता है जहाँ एक ही स्कन्ध होता है; यथा – असंज्ञिभूमि।

१. द्र० – अभि० स० ३ : ७१, पृ० २७९।

२. द्र० – विभा०, पृ० १०३। तु० – "विजाननकिच्चाभावतो मननमत्ता धातू ति मनोधातु, पञ्चद्वारे आवज्जनमत्त-सम्पटिच्छनमत्तकिच्चानि हि विसेस-जाननकिच्चानि न होन्तीति।" – प० दी०, पृ० ११७।

प्रथम तथा एक वार ही ग्रहण करता है, अतः अन्य चित्तों द्वारा गृहीत आलम्बनों का पुनः ग्रहण करनेवाले चित्तों की भाँति, अथवा आलम्बनों का अनेक वार (पुनः पुनः) ग्रहण करनेवाले चित्तों की भांति यह दृढ नहीं होता। तथा इसे अपने से असमान निश्रयवस्तुवाले पञ्चविज्ञानचित्तों का अनन्तरशक्ति से उपकार करना पड़ता है, अतः अपने से समान निश्रयवाले चित्तों का उपकार करनेवाले चित्तों की भाँति इसे विश्राम भी नहीं होता।

सम्पटिच्छनद्वय भी, अपने से असमान निश्रयवाले पञ्चविज्ञानचित्तों से अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त करते हैं, अतः समाननिश्रयवाले चित्तों से उपकार प्राप्त करनेवाले चित्तों की भाँति ये वलवान् नहीं होते। अतएव जाननामात्र-धातु होने के कारण पञ्चद्वारावर्जन एवं सम्पटिच्छनद्वय - ये तीनों 'मनोधातु' कहे जाते हैं।

पञ्चविज्ञानधातु - 'पञ्चविज्ञानधातु' नामक चित्त अपनी निश्रयवस्तु में सीधे अवभासित होनेवाले आलम्बनों का आसानी से ग्रहण करनेवाले होते हैं, अतः इनका मनोधातु की अपेक्षा कुछ अधिक 'जानना' होता है। अतएव 'विसेसेन जानाति' के अनुसार 'विज्ञानधातु' कहे जाते हैं। किन्तु अपने से असमान निश्रयवाले आवर्जनचित्त से अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त करने के कारण, तथा इन्हें अपने से असमान निश्रयवाले सम्पटिच्छन का उपकार करना पड़ता है - इस कारण, ये (पञ्चविज्ञान) चित्त, समान निश्रयवाले चित्तों से उपकार प्राप्त करनेवाले तथा समान निश्रयवाले चित्तों का उपकार करनेवाले 'मनोविज्ञान धातु' नामक चित्तों की भाँति वलवान् नहीं होते[1]।

मनोविज्ञानधातु - इसमें 'मनस्' शब्द भी 'जानना' अर्थ में तथा 'विज्ञान' शब्द भी 'विशेषतया जानना' अर्थ में होता है, अतः 'मनोविज्ञानधातु' अन्य चित्तों (मनोधातु एवं पञ्चविज्ञान चित्तों) की अपेक्षा विशेषरूप से जाननेवाली होती है। उपर्युक्त चित्तों की भाँति, अभिनव आलम्बन का सर्वप्रथम ग्रहण न करने के कारण, समान निश्रयवाले चित्तों से अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त करने के कारण, तथा अपने से समान निश्रयवाले चित्तों का अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार करने के कारण, आलम्बन के 'जानने' में इसका 'विशेष रूप से जानना' होता है[2]।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में प्रकीर्णकसङ्ग्रहविभाग नामक
तृतीय परिच्छेद समाप्त।

❀

---

१. "पञ्चविञ्ञाणानेव निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन धातुयो ति पञ्चविञ्ञाणधातुयो।" - विभा०, पृ० १०३। "पञ्चविञ्ञाणानि पन पच्चक्खतो दस्सनादिवसेन थोकं विसेसजाननकिच्चानि।" - प० दी०, पृ० ११७।

२. "मनो येव विसिट्ठविजाननकिच्चयोगतो विञ्ञाणं, निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन धातु चा ति मनोविञ्ञाणधातु, मनसो विञ्ञाणधातू ति वा मनोविञ्ञाणधातु।" - विभा०, पृ० १०३।
"अवसेसा पन सन्तीरणादयो आरम्मणसभावविचारणादिवसेन अतिरेकविसिट्ठजाननकिच्चयुत्तत्ता न मनोधातुयो विय मननमत्ता होन्ति, नापि पञ्चविञ्ञाणधातुयो विय विजाननमत्ता; अथ खो मननट्ठेन मनो च तंविजाननट्ठेन विञ्ञाणञ्चाति कत्वा मनोविञ्ञाणधातुयो नाम। अतिसयविसेसजाननधातुयो ति अत्थो।" - प० दी०, पृ० ११७।

चतुत्थो परिच्छेदो

वीथिसङ्गहविभागो

१. चित्तुप्पादानमिच्चेवं कत्वा सङ्गहमुत्तरं ।
भूमिपुग्गलभेदेन पुब्बापरनियामितं ॥

२. पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धिपवत्तियं* ।
पवक्खामि समासेन यथासम्भवतो कथं ॥

पूर्वोक्त प्रकार से चित्त, चैतसिकों के उत्तम प्रकीर्णकसङ्ग्रह को कर के (अव) भूमि-भेद एवं पुद्गल-भेद के साथ पूर्वचित्तों एवं अपरचित्तों से नियमित (परिच्छिन्न), प्रतिसन्धिकाल एवं प्रवृत्तिकाल में (चित्त-चैतसिकों के) प्रवृत्तिसङ्ग्रह को यथासम्भव सङ्क्षेप से कहूँगा । कैसे ?

वीथिसङ्ग्रह विभाग

१. २. अनुसन्धि – चित्त-चैतसिक धर्मों का वेदना-आदि द्वारा विभाजन करके प्रतिपादन करनेवाले 'प्रकीर्णकसङ्ग्रह' को कहने के अनन्तर अब उन चित्त-चैतसिक-धर्मों की उत्पत्ति को कहनेवाले 'प्रवृत्तिसङ्ग्रह' नामक वीथिसङ्ग्रह एवं वीथिमुक्तसङ्ग्रह को दिखलाने के लिये आचार्य 'चित्तुप्पादानमिच्चेवं...' आदि दो गाथाओं द्वारा प्रकरण का आरम्भ करते हैं । ये गाथाएँ 'वीथिपरिच्छेद' एवं 'वीथिमुत्तपरिच्छेद' – इन दोनों परिच्छेदों की प्रतिज्ञा की प्रदर्शिका हैं । 'पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धि-पवत्तियं' इस पालि में, (क) 'पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धियं' तथा (ख) 'पवत्तिसङ्गहं नाम पवत्तियं' – इस प्रकार दो वाक्य बनाने चाहिये । इनमें से प्रथम वाक्य द्वारा 'वीथिमुत्तपरिच्छेद' की तथा द्वितीय वाक्य द्वारा 'वीथिपरिच्छेद' की प्रतिज्ञा की गयी है[1] ।

---

* पटिसन्धिप्पवत्तियं – स्या० ।

१. "एवं चित्तप्पभेदसङ्गहो, चेतसिकप्पभेदसङ्गहो, उभयप्पभेदसङ्गहो ति चित्त-चेतसिकानं तयो पभेदसङ्गहे दस्सित्वा इदानि वीथिचित्तप्पवत्तिसङ्गहो, वीथिमुत्तचित्तप्पवत्तिसङ्गहो ति तेसं तेसञ्ञेव द्वे पवत्तिसङ्गहे दस्सेतुं 'चित्तुप्पादानमिच्चेवं' ति-आदिमाह ।" – प० दी०, पृ० १२० ।

"इच्चेवं यथावुत्तनयेन चित्तुप्पादानं चतुन्नं खन्धानं उत्तरं वेदनासङ्गहादि-विभागतो उत्तमं पभेदसङ्गहं कत्वा पुन कामावचरादीनं तिण्णं भूमीनं द्विहेतुकादिपुग्गलानञ्च भेदेन लक्खितं इदं एत्तकेहि परं, इमस्स अनन्तरं एत्तकानि चित्तानीति एवं पुब्बापरचित्तेहि नियामितं पटिसन्धि-पवत्तीसु चित्तुप्पादानं पवत्तिसङ्गहं नाम तंनामकं सङ्गहं यथासम्भवतो समासेन पवक्खामीति योजना ।" – विभा०, पृ० १०५ ।

चित्तुप्पादानं – 'उप्पज्जति एतेना ति उप्पादो' अर्थात् जिस चैतसिकसमूह के द्वारा चित्त उत्पन्न होते हैं उस चैतसिकसमूह को 'उप्पाद' (उत्पाद) कहते हैं। 'चित्तं च उप्पादो च चितुप्पादा'' – इस विग्रह के अनुसार चित्त एवं चैतसिक, दोनों को चित्तुप्पाद (चित्तोत्पाद) कहा गया है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में 'चित्तुप्पादा', 'चित्तुप्पादानं', 'चित्तुप्पादेसु', 'चित्तुप्पादवसेन' – इत्यादि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है, तथापि उन उन स्थलों पर 'चित्तोत्पाद' शब्द द्वारा चित्त एवं चैतसिक – दोनों धर्मों का ग्रहण न कर केवल 'चित्त' का ही ग्रहण किया गया है। अतः यहाँ भी 'चित्तुप्पाद' शब्द द्वारा चित्तमात्र का ग्रहण ही आचार्य को अभिप्रेत होगा; क्योंकि उन्होंने तृतीय परिच्छेद में 'चित्तुप्पादवसेनेव सङ्गहो नाम नीयते' – इस प्रकार ('चित्तुप्पाद' शब्द) कहकर भी वेदना-आदि सङ्ग्रहों को दिखलाते समय वहाँ चैतसिक धर्मों का बिलकुल उल्लेख न कर केवल चित्तों का ही प्रधानरूप से वर्णन किया है। प्रस्तुत परिच्छेद में भी चित्त का ही प्रधानरूप से वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार चित्त को प्रधानरूप से कहने पर भी उसमें सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक-धर्मों का भी प्रधाननय एवं उपलक्षणनय के अनुसार सङ्ग्रह हो ही जाता है। 'अट्ठसालिनी' में भी 'चित्तुप्पाद' शब्द के द्वारा चित्तमात्र का ही ग्रहण करने के लिये उसका 'उप्पज्जतीति उप्पादो, चित्तमेव उप्पादो चित्तुप्पादो' – ऐसा विग्रह किया गया है[2]।

टीकाओं में 'चित्तुप्पाद' शब्द के द्वारा चित्त एवं चैतसिक – दोनों धर्मों का ग्रहण किया गया है[3]।

"एवं वेदनादीनं छन्नं विभागवसेन च तंभेदभिन्नानं चित्तुप्पादानं विभागवसेन च उत्तमं पभेदसङ्गहं दस्सेत्वा पुन कामावचरादीनं तिण्णं भूमीनं पभेदेन च अहेतुकादीनं द्वादसन्नं पुग्गलानं पभेदेन च एत्तकानि चित्तानि इतो पुब्बकानि, एत्तकानि इतो परानीति पुब्बापरनियामितं पटिसन्धि-पवत्तीसु वत्थुद्वारादीनं छन्नं पभेदानं वसेन वीथिमुत्तचित्तुप्पादानं पवत्तिसङ्गहं दस्सेतुं 'चित्तुप्पादानमिच्चेवं' त्यादिमाह।" – सङ्खेप०, पृ० २४४–२४५।

"इच्चेवं वुत्तनयेन चित्तुप्पादानं वेदनादिसम्पयोगविभागतो किच्चद्वारारम्मणवत्थुविभागतो च उत्तरं उत्तमं सङ्गहं पभेदसङ्गहं कत्वा इदानि कामावचरादिभूमिभेदेन च, सेक्खपुथुज्जनसङ्खातानं पुग्गलानं भेदेन च लक्खितं, इमस्स चित्तस्स अनन्तरं एत्तकानि चित्तानि उप्पज्जन्ति, इदं पन चित्तं तेहि परं हुत्वा उप्पज्जतीति एवं पुब्बापरठानेन नियामितं परिच्छिन्नं पवत्तिसङ्गहं चित्तुप्पादानं छद्वारवीथिसङ्गहं पटिसन्धियं च पवत्तियं च यथासम्भवतो समासेन पवक्खामीत्यत्थो।" – अभि० स० टी०, पृ० ३१२।

१. विभा०, पृ० ८६।

२. अट्ठ०, पृ० ३२४।

३. "'चित्तुप्पादा' ति एत्थ उप्पज्जति एत्था ति उप्पादो। किं उप्पज्जति? चित्तं, 'चित्तस्स उप्पादो चित्तुप्पादो' ति एवं अवयवेन समुदयोपलक्खणवसेन अत्थो सम्भवति। एवं हि सति चित्तचेतसिकरासि चित्तुप्पादो ति सिद्धो

भूमिपुग्गलभेदेन – 'भूमिपुग्गलभेद' शब्द द्वारा न केवल वीथिपरिच्छेद के अन्तिम भाग में वर्णित पुद्गलभेद एवं भूमि-विभाग से सम्बद्ध विषयों का ही ग्रहण होता है, अपितु वीथिपरिच्छेद एवं वीथिमुत्तपरिच्छेद – इन दोनों परिच्छेदों में प्रतिपादित भूमि एवं पुद्गल से सम्बद्ध सभी विषयों का ग्रहण अभिप्रेत है[1]। अत एव आचार्य ने अपने 'परमत्थविनिच्छय' नामक ग्रन्थ में भी :

"इतो परं पवक्खामि भूमिपुग्गलभेदतो ।
चित्तानं पन सब्बेसं कमतो सङ्गहं कथं ॥
निरयं च तिरच्छानयोनिपेतासुरा तथा ।
चतुरापायभूमीति कामे दुग्गतियो मता[2] ॥"

इन दो गाथाओं द्वारा प्रतिज्ञा करके तदनन्तर भूमिपुग्गल, चित्तपवत्ति एवं भूमिपुग्गलसम्भव – इन तीन परिच्छेदों में विभाग कर सम्बद्ध विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इन परिच्छेदों में वर्णित विषयों का वीथिपरिच्छेद एवं वीथिमुत्तपरिच्छेदों में वर्णित पुग्गलभेद, भूमिविभाग, भूमिचतुक्क एवं पटिसन्धिचतुक्क – आदि विषयों से अत्यधिक साम्य है; अतः यहाँ भी 'पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धिपवत्तियं' – इसके द्वारा वीथिपरिच्छेद एवं वीथिमुत्तपरिच्छेद – इन दोनों की प्रतिज्ञा दिखायी गयी है, यह सिद्ध होता है। तथा उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त 'चित्तानं पन सब्बेसं' – इस वाक्यांश के द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि यहाँ 'चित्तुप्पादानमिच्चेवं' में प्रयुक्त 'चित्तुप्पाद' शब्द चित्तमात्र का वाची है।

होति। अट्ठकथायं पन – 'चित्तमेव उप्पादो चित्तुप्पादो' ति अञ्ञस्सुप्पज्जनकस्स निवत्तनत्थं चित्तग्गहणं कतं, चित्तस्स अनुप्पज्जनकभावनिवत्तनत्थं उप्पादगहणं। चित्तुप्पादकण्डे वा – 'चित्तं उप्पन्नं होती' ति चित्तस्स उप्पज्जनकभावो पाकटो ति कत्वा 'चित्तमेव उप्पादो' ति वुत्तं। चित्तस्स अनुप्पज्जनकस्स निवत्तेतब्बस्स सब्भावा उप्पादग्गहणं कतं ति वेदितब्बं। अयञ्चत्थो 'द्वे पञ्चविञ्ञाणानी' ति आदिसु विय चित्तप्पधानो निद्देसो ति कत्वा वुत्तो ति दट्ठब्बो।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १६०।

"उप्पज्जति एत्था ति उप्पादो, चेतसिका। ते हि चित्तस्स सब्बथापि निस्सयादिपच्चयभावतो एत्थ च उप्पत्तिया आधारभावेन अपेक्खिता। यथा च चेतसिका चित्तस्स, एवं चित्तं पि चेतसिकानं निस्सयादिपच्चयभावतो आधारभावेन वत्तब्बतं अरहतीति यथावुत्तं उप्पादसद्दाभिधेय्यतं न विनिवत्तति।" – ध० स० अनु०, पृ० २०६–२०७।

"तत्थ उप्पज्जन्तीति उप्पादा, कत्थ उप्पज्जन्ति ? अञ्ञस्स असुतत्ता, चित्ते इच्चेव लब्भति। इति चित्तञ्च चित्ते उप्पादा चा ति चित्तुप्पादा, चित्तचेतसिका ति वुत्तं होति, तेसं चित्तुप्पादानं।" – प० दी०, पृ० १२०।

१. "भूमिपुग्गलभेदेना ति – सहत्थे करणवचनं, कामावचरादिभूमिभेदेन द्विहेतुकादिपुग्गलभेदेन सद्धिं ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १२०।

२. परम० वि०, पृ० २२।

३. छ वत्थूनि, छ द्वारानि, छ आरम्मणानि*, छ विञ्ञाणानि, छ वीथियो, छधा विसयप्पवत्ति† चेति† वीथिसङ्गहे छ छक्कानि वेदितब्बानि।

६ वस्तुएँ, ६ द्वार, ६ आलम्बन, ६ विज्ञान, ६ वीथियाँ एवं ६ प्रकार की विषयप्रवृत्ति – इस प्रकार वीथिसङ्ग्रह में ६ षट्क ज्ञातव्य हैं।

पुब्बापरनियामितं – 'नियमीयन्ति ववत्थापीयन्ति एत्थ एतेन वा ति नियमितो, पुब्बापरानं नियमितो पुब्बापरनियमितो' – इस प्रवृत्तिसङ्ग्रह में अथवा इस प्रवृत्तिसङ्ग्रह के द्वारा नियमित (व्यवस्थापित) सङ्ग्रह को 'नियमित' कहते हैं; पूर्व एवं अपर चित्तों को व्यवस्थापित करनेवाला यह सङ्ग्रह 'पूर्वापरनियामित' है। अर्थात् वीथिपरिच्छेद एवं वीथिमुत्तपरिच्छेद नामक – इन दो परिच्छेदों में पूर्व चित्त एवं अपर चितों को नियम के अनुसार उत्पाद के क्रम से रखा गया है।

['नियामितं' इस शब्द में मूल शब्द 'नियमितं' ही होना चाहिये; प्रतीत होता है कि गाथा की दृष्टि से इसे ही 'नियामितं' करके रखा गया है।]

'पुब्बापरनियामितं' – इस वचन द्वारा वीथिपरिच्छेद में आनेवाले वीथिचित्तों के क्रम, तदालम्बननियम एवं जवननियम-आदि तथा वीथिमुत्तपरिच्छेद में 'आरुप्पचुतिया होन्ति हेट्ठिमारुप्पवज्जिता'[1] आदि द्वारा कहे जानेवाले च्युतिनियम-आदि दिखलाये गये हैं[2]।

पटिसन्धिपवत्तियं—इस वचन के द्वारा वीथिपरिच्छेद एवं वीथिमुत्तपरिच्छेद – इन दोनों का निर्देश (सङ्केत) किया गया है[3]।

३. ये ६ षट्क इस परिच्छेद में जानने योग्य विषय हैं; क्योंकि किसी एक वीथि में—'चित्त अमुक वस्तु का आश्रय करता है, अमुक द्वार में होता है, अमुक आलम्बन को आलम्बन बनाता है, यह विज्ञान किस वीथि से लक्षित है, यह कौन वीथि है, यह विषय कैसे प्रवृत्त हुआ?' – इत्यादि ज्ञान आवश्यक होता है और इस प्रकार के ज्ञान से वीथि से सम्बद्ध सभी प्रकार का विषय स्पष्ट हो जाता है। अतएव कहा गया है कि इस वीथिपरिच्छेद में ६ षट्क ज्ञातव्य हैं।

---

* आलम्बनानि – सी० (सर्वत्र); छालम्बनानि – स्या० ('लम्ब' सर्वत्र); आलम्वणानि – रो० (सर्वत्र); आरम्मणानि – म० (ख) एवं ना० (सर्वत्र)।

†-† ०पवत्तीति – स्या०।

१. द्र० – अभि० स० ५ : ६१।

२. "पुब्बापरनियामितं' ति – आवज्जनादिचक्खुविञ्ञाणादिपुब्बचित्तापरचित्तानुक्कमेन नियामितं ववत्थितं; 'पवत्तिसङ्गहं नामा' ति पि जातिनिद्देसो येव।" – प० दी०, पृ० १२०।
वीथिचित्तों के क्रम एवं नियम-आदि के विस्पष्ट तथा विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – परम० वि०, चतु० परि०, 'वीथिपरिकम्म' पृ० १५-२१।

३. "पटिसन्धिपवत्तियं ति – पटिसन्धिपवत्तीसु... पटिसन्धिकाले पवत्तिकाले चा ति अत्थो। पटिसन्धिकाले पवत्तिसङ्गहं च, पवत्तिकाले पवत्तिसङ्गहं चा ति द्वे पवत्तिसङ्गहे पवक्खामीति वुत्तं होति।" – प० दी०, पृ० १२०।

४. वीथिमुत्तानं पन कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तवसेन तिविधा होति विसयप्पवत्ति* ।

५. तत्थ वत्थुद्वारारम्मणानि पुब्बे वुत्तनयानेव ।

६. चक्खुविञ्ञाणं, सोतविञ्ञाणं, घानविञ्ञाणं, जिव्हाविञ्ञाणं, कायविञ्ञाणं, मनोविञ्ञाणञ्चेति छ विञ्ञाणानि ।

७. छ वीथियो पन चक्खुद्वारवीथि, सोतद्वारवीथि, घानद्वारवीथि†, जिव्हाद्वारवीथि, कायद्वारवीथि, मनोद्वारवीथि चेति द्वारवसेन वा; चक्खुविञ्ञाणवीथि, सोतविञ्ञाणवीथि, घानविञ्ञाणवीथि, जिव्हाविञ्ञाणवीथि, कायविञ्ञाणवीथि, मनोविञ्ञाणवीथि चेति विञ्ञाणवसेन वा द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो योजेतब्बा ।

वीथिमुक्त चित्तों की कर्म, कर्मनिमित्त, एवं गतिनिमित्त भेद से तीन प्रकार की विषयप्रवृत्ति होती है ।

उपर्युक्त ६ षट्कों में से वस्तु-षट्क, द्वार-षट्क एवं आलम्बन-षट्क पूर्ववर्ती प्रकीर्णकसङ्ग्रह में कथित नय के अनुसार ही होते हैं ।

चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान – इस प्रकार ६ विज्ञान होते हैं ।

चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि, कायद्वारवीथि, मनोद्वारवीथि – इस प्रकार 'द्वार' के सम्बन्ध से; तथा चक्षुर्विज्ञानवीथि, श्रोत्रविज्ञानवीथि, घ्राणविज्ञानवीथि, जिह्वाविज्ञानवीथि, कायविज्ञानवीथि एवं मनोविज्ञानवीथि – इस प्रकार 'विज्ञान' के सम्बन्ध से, द्वार में प्रवृत्त चित्तों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) नामक ६ वीथियों की योजना करनी चाहिये ।

---

४. ऊपर जो 'छधा विसयप्पवत्ति' – कहा गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिये कि सर्वत्र विषयप्रवृत्ति छह प्रकार की ही होती है । 'वीथिमुक्त' नामक प्रतिसन्धिचित्त, भवङ्गचित्त एवं च्युतिचित्तों की विषयप्रवृत्ति कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त भेद से केवल तीन प्रकार की ही होती है[1] ।

७. छह वीथियाँ—मूल में उक्त 'छ वीथियो' एवं 'द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो' –

---

* विसयपवत्ति – रो० । † घाणद्वारवीथि – सी०, रो० ।

१. "कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तानं ति – एत्थ कम्मं नाम कतूपचितं कामावचरकुसलकम्मं, तञ्च खो विपाकदानाय लद्धोकासं; तेनाह – पच्चुपट्ठितं ति । कम्मनिमित्तं – कम्मायूहनक्खणे चेतनाय पच्चयभूतं देय्यधम्मादि । गतिनिमित्तं – यं गतिं उपपज्जति तप्परियापन्नं रूपायतनं ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३१ ।

ये दोनों वचन एकार्थक हैं, अतः वीथि का अर्थ 'चित्तप्रवृत्ति' ही होता है तथा चित्तप्रवृत्ति का अर्थ होता है – 'नियम के अनुसार चित्तों का होना'। नियम के अनुसार होनेवाले उन चित्तों को ही 'वीथि' कहते हैं। इस प्रकार चित्तप्रवृत्ति को ही 'वीथि' कहने पर भी उन उन द्वारों से असम्बद्ध या 'द्वारविमुक्त' कहे जानेवाले प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्तों की प्रवृत्ति को 'वीथि' नहीं कहा जा सकता; बल्कि उन उन द्वारों में होनेवाली चित्तप्रवृत्ति को ही 'वीथि' कहा जा सकता है। इस भाव को दिखलाने के लिये ही 'द्वार पवत्ता' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अतः 'द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो' इसका अर्थ 'उन उन द्वारों की अपेक्षा करके उत्पन्न चित्तसन्तति' होता है[1]।

द्वारवसेन, विञ्ञाणवसेन – उन वीथियों का नामकरण द्वार के सम्बन्ध से भी किया जा सकता है तथा विज्ञान के सम्बन्ध से भी किया जा सकता है।

द्वार के सम्बन्ध से; यथा – चक्षुर्द्वार में अवभासित रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली चित्तसन्तति 'चक्षुर्द्वारवीथि' कही जाती है। अतः इसका 'चक्खुद्वारे पवत्ता वीथि चक्खुद्वारवीथि' – यह विग्रह करना चाहिए। इसी प्रकार श्रोत्रद्वारवीथि – आदि को भी जानना चाहिये।

विज्ञान के सम्बन्ध से; यथा – 'पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एवं तदालम्बन' – यह चक्षुर्द्वारवीथि की प्रवृत्ति का क्रम है। इसी प्रकार 'पञ्चद्वारावर्जन, श्रोत्रविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एवं तदालम्बन' – यह श्रोत्रद्वारवीथि का प्रवृत्तिक्रम है। घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि एवं कायद्वारवीथि को भी इसी प्रकार समझना चाहिये। इन उपर्युक्त वीथियों में चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान-आदि पञ्चविज्ञान विशेष (असाधारण) चित्त हैं, पञ्चद्वारावर्जन, सम्पटिच्छन – आदि चित्त विशेष नहीं है; अतः विशेष अर्थात् असाधारण विज्ञान के द्वारा उपलक्षित इन वीथियों को चक्षुर्विज्ञानवीथि – आदि कहा जाता है। अतः इनका 'चक्खुविञ्ञाणेन उपलक्खिता वीथि चक्खुविञ्ञाणवीथि' – इत्यादि प्रकार से विग्रह करना चाहिये।

मनोद्वारवीथि में चूंकि कोई विशेष विज्ञान नहीं होता, अपितु सभी चित्त मनोविज्ञान ही हैं; अतः इसका 'मनोविञ्ञाणमेव वीथि मनोविञ्ञाणवीथि' – ऐसा विग्रह करना चाहिये[2]।

---

१. "द्वारप्पवत्ता ति द्वारे उप्पन्ना, तं तं द्वारविकारं पटिच्च उप्पन्ना ति अत्थो। चित्तप्पवत्तियो ति चित्तपबन्धा" – प० दी०, पृ० १२१।

२. "चक्खुद्वारे पवत्ता वीथिचित्तपरम्परा चक्खुद्वारवीथित्यादिना द्वारवसेन; चक्खुविञ्ञाणसम्बन्धिनी वीथि तेन सह एकारम्मण-एकद्वारिकत्ताय सहचरणभावतो चक्खुविञ्ञाणवीथित्यादिना विञ्ञाणवसेन वा वीथीनं नामयोजना कातब्बा ति दस्सेतुं चक्खुद्वारवीथित्यादि वुत्तं।" – विभा०, पृ० १०५।

"छ वीथियो पन द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो योजेतब्बा ति सम्बन्धो। चक्खुद्वारे पवत्ता वीथि चक्खुद्वारवीथि, चक्खुद्वारविकारं पटिच्च पवत्तो चित्तप्पबन्धो ति अत्थो; एवं सेसेसु। असाधारणेन चक्खुविञ्ञाणेन उपलक्खिता वीथि चक्खुविञ्ञाणवीथि। सुद्धो पन मनोविञ्ञाणपबन्धो मनोविञ्ञाणवीथि।" – प० दी०, पृ० १२१।

८. अतिमहन्तं, महन्तं, परित्तं, अतिपरित्तञ्चेति पञ्चद्वारे; मनोद्वारे पन* विभूतमविभूतञ्चेति छधा विसयप्पवत्ति वेदितब्बा ।

अतिमहद्-आलम्बन, महद्-आलम्बन, परीत्त-आलम्बन एवं अतिपरीत्त-आलम्बन – इस प्रकार पञ्चद्वार में; विभूत आलम्बन एवं अविभूत आलम्बन – इस प्रकार मनोद्वार में – इस तरह षड्विध (छह प्रकार की) विषय-प्रवृत्तियों को जानना चाहिये ।

---

८. षड्विध विषयप्रवृत्ति – महत् (महन्त) शब्द 'अनेक', 'उत्तम', 'बड़ा' – आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है; इसी प्रकार परीत्त शब्द भी 'छोटा' 'थोड़ा' – आदि अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। इन अर्थों में से आलम्बन का उत्तम होना या बड़ा होना, उसके महद्-आलम्बन (महन्त-आलम्बन) कहलाने में निमित्त नहीं है; क्योंकि रूपालम्बन के कितने ही उत्तम या बड़े होने पर भी, यदि देखनेवाले का चक्षुःप्रसाद दुर्बल होता है या आलोक की न्यूनता होती है तो ऐसी परिस्थिति में उस आलम्बन को महद्-आलम्बन नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार सूक्ष्म होने से ही कोई आलम्बन परीत्त-आलम्बन नहीं कहलाता, क्योंकि चक्षुःप्रसाद के प्रबल एवं आलोक के समीचीन होने पर, वह सूक्ष्म आलम्बन भी महद्-आलम्बन हो सकता है और यही कारण है कि आलम्बन के महत्त्व (बड़े होने) या सौक्ष्म्य (छोटे होने) को उसके महद्-आलम्बन या परीत्त-आलम्बन कहलाने में निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) नहीं माना जाता; अपितु आलम्बन के अभिनिपात (चक्षुःप्रसाद-आदि में प्रादुर्भाव) से लेकर (उसके) निरोध तक होनेवाले चित्तक्षणों की गणना के आधार[1] पर ही उसे अति महत्, महत्, परीत्त या अतिपरीत्त कहा जाता है[2] ।

---

* सी०, ना० में नहीं ।

१. चित्तक्षणों की न्यूनता एवं अधिकता का परिज्ञान, आगे वीथियों का वर्णन देखने से स्पष्ट होगा ।

२. "अतिमहन्तादिभावो चेत्थ आलोकादिपच्चयवसेन वा वत्थु-अतिमहन्तादिवसेन वा वेदितब्बो।...आलोकादिपच्चयानं पन अधिट्ठानवत्थूनं च दुब्बल-दुब्बलतर-दुब्बलतमानुक्कमेन महन्तादिभावो वत्तब्बो ति । यानि पन पञ्चालम्बनानि एकचित्तक्खणं अतिक्कम्म आपातं आगच्छन्ति, तानि अतिमहन्तारम्मणानि नाम । यानि द्वत्तिचित्तक्खणानि अतिक्कम्म, तानि महन्तारम्मणानि । यानि चतु-पञ्च-छ-सत्त-अट्ठ-नवचित्तक्खणानि अतिक्कम्म, तानि परित्तारम्मणानि । यानि पन दसेकादस-द्वादस-तेरस-चुद्दस-पन्नरसचित्तक्खणानि अतिक्कम्म आपातं आगच्छन्ति, तानि अतिपरित्तारम्मणानीति ।" – प० दी०, पृ० १२२ ।

"अतिमहन्तन्त्यादीसु एकचित्तक्खणातीतं हुत्वा आपाथागतं सोळसचित्तक्खणायुकं अतिमहन्तं नाम । द्वि-तिचित्तक्खणातीतं हुत्वा पन्नरस-चुद्दसचित्तक्खणायुकं महन्तं नाम । चतुचित्तक्खणतो पट्ठाय याव नवचित्तक्खणातीतं हुत्वा तेरसचित्तक्खणतो पट्ठाय याव अट्ठचित्तक्खणायुकं परित्तं नाम । दसचित्तक्खणतो पट्ठाय याव पन्नरसचित्तक्खणातीतं हुत्वा सत्तचित्तक्खणतो पट्ठाय याव द्विचित्तक्खणा-

९. कथं ?

उप्पादट्ठितिभङ्गवसेन* खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम। तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मानमायु†।

कैसे विषयप्रवृत्ति षड्विध होती है ?

उत्पाद-स्थिति-भङ्ग के भेद से इन तीन क्षुद्रक्षणों के समूह को 'एकचित्तक्षण' कहते हैं। वे (इस प्रकार के) १७ चित्तक्षण (२ विज्ञप्तिरूप एवं ४ लक्षणरूप वर्जित २२) रूप-धर्मों की आयु है।

चित्त में भलीभाँति प्रकट (सुपाकट) आलम्बन को विभूतालम्बन तथा अविस्पष्ट आलम्बन को अविभूतालम्बन कहते हैं[1]।

विसयप्पवत्ति – 'विसयस्स पवत्ति विसयप्पवत्ति' आलम्बन की प्रवृत्ति को 'विषय-प्रवृत्ति' कहते हैं। यहाँ 'प्रवृत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्ति नहीं है; अपितु उन उन द्वारों में आलम्बन का अभिनिपात (प्रादुर्भाव=गोचरभाव को प्राप्त होना) है[2]। अतः इसका 'विसयानं द्वारेसु पवत्ति विसयप्पवत्ति' – ऐसा विग्रह करना चाहिये। यहाँ 'आलम्बन का अभिनिपात' – इस विग्रहार्थ पर विचार करने से 'अभिनिपात' आलम्बन से अतिरिक्त 'निपात' नामक कोई पृथक् धर्म प्रतीत नहीं होता, अतः 'छधा विसयप्पवत्ति' द्वारा उन्हीं अतिमहद्-आलम्बन-आदि छह आलम्बनों को ही दिखाया गया है। इस प्रकार आलम्बन एवं विषयप्रवृत्ति समानार्थक ही हैं। इसीलिये आचार्य अनुरुद्ध ने भी स्वयं आगे "चतुन्नं वारानं यथाक्कमं आरमणभूता विसयप्पवत्ति चतुधा वेदितब्बा[3]" – ऐसा कहा है।

९. चित्त की आयु – प्रत्येक चित्त की उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – ये तीन अवस्थाएँ

युकं अतिपरित्तं नाम।" – विभा०, पृ० १०५।

"चुद्दसचित्तक्खणायुकं हि आरम्मणमिध 'महन्तं' ति दीपितं, तञ्च उप्पज्जित्वा द्वि-तिचित्तक्खणातीतं हुत्वा आपाथागमनवसेन वेदितब्बं... अतिमहन्तं ति सोळसचित्तक्खणायुकं। तत्थ हि तदारम्मणचित्तं उप्पजति, न अञ्ञत्थ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३।

* ० भवंगवसेन – रो०; उप्पादठिति० – म० (ख)। †. रूपधम्मानमायू – म० (ख)।

१. "विभूतं ति सुपाकटं।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३।
"विभूतं पाकटं, अविभूतं अपाकटं।" – विभा०, पृ० १०५।
"विभूतस्सा ति पाकटस्स, अविभूतस्सा ति अपाकटस्स।" – प० दी०, पृ० १२२।

२. "विसयानं द्वारेसु पवत्ति 'विसयप्पवत्ति'। एत्थ च पवत्तीति आपातागमनमेव वुच्चति।...कम्मादीनं विसयानं द्वारेसु पवत्ति, पच्चुपट्ठानं, आपातागमनं विसयप्पवत्ति। वक्खति हि – कम्मं वा, कम्मनिमित्तं वा, गतिनिमित्तं वा कम्मबलेन छन्नं द्वारानं अञ्ञतरस्मिं पच्चुपट्ठातीति।" – प० दी०, पृ० १२१।
तु० – "विसयानं द्वारेसु, विसयेसु च चित्तानं पवत्ति 'विसयप्पवत्ति'।" – विभा०, पृ० १०५।

३. द्र० – अभि० स० ४ : १७।

होती हैं। चित्त का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव 'उत्पाद', उत्पाद के अनन्तर एवं विनाश से पूर्व उसका अपने स्वभाव में अवस्थान 'स्थिति' तथा अपने स्वभाव से ही नष्ट हो जाना 'भङ्ग'[1] है। काल के सबसे सूक्ष्म अंश को 'क्षण' कहते हैं। प्रत्येक चित्त में उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग नामक तीन क्षण होते हैं तथा इन्हें 'क्षुद्रक्षण' कहा जाता है। इन तीन क्षुद्रक्षणों को ही सम्मिलित रूप से 'एकचित्तक्षण' कहा जाता है। तीन क्षुद्रक्षणों से सम्पन्न इस एकचित्तक्षण में ये उत्पाद-स्थिति-भङ्ग इतनी शीघ्रता से प्रवृत्त होते हैं कि एक 'अच्छरा' (चुटकी बजाने जितने या पलक झपने जितने) काल में ये लाखों करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं[2]।

रूप की आयु – पूर्वोक्त प्रकार के १७ चित्तक्षणों का काल रूप-धर्म की आयु है। जिस प्रकार मनुष्य का आयुःप्रमाण शतवर्ष माना जाता है; उसी प्रकार रूप-धर्मों का आयुःप्रमाण १७ चित्तक्षणों के काल के बराबर माना जाता है। रूप-धर्मों में भी उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग – ये तीनों अवस्थाएँ होती हैं। इनमें से रूप-धर्मों का उत्पाद-क्षण (उत्पादकाल) एवं भङ्गक्षण (भङ्गकाल) तो चित्त के उत्पादक्षण एवं भङ्गक्षण के बराबर ही होता है; किन्तु उनका स्थितिक्षण (स्थितिकाल) चित्त के ४९ क्षुद्रक्षणों के बराबर होता है[3]।

---

१. "उप्पज्जनं उप्पादो, अत्तपटिलाभो। भञ्जनं भङ्गो, सरूपविनासो। उभिन्नं वेमज्झे अङ्गाभिमुखप्पवत्ति ठिति नाम।" – विभा०, पृ० १०५।
"उप्पज्जनं उप्पादो, सभावपटिलाभो ति अत्थो। ठानं ठिति, यथालद्ध-सभावस्स अनिवत्तीति अत्थो। भञ्जनं भङ्गो, तस्स परिहायित्वा अन्तरधानं ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १२३।

२. "एकच्छरक्खणे कोटिसतसहस्ससङ्खा उप्पज्जित्वा निरुज्झति।" – विभ० अ०, पृ० ३४।
"एकचित्तक्खणं नामा ति – एकस्स चित्तस्स खणो नाम। सो पन खणो अच्छरासङ्घाटक्खणस्स अक्खिनिमीलनक्खणस्स च अनेककोटिसतसहस्सभागो दट्ठब्बो। अच्छरासङ्घाटक्खणे अनेककोटिसतसहस्ससङ्खा वेदना उप्पज्जन्तीति हि अट्ठकथायं वुत्तं।" – प० दी०, पृ० १२३।

३. "अरूपं लहुपरिणामं, रूपं गरुपरिणामं गाहकगाहेतब्बभावस्स तंतंखणवसेन उप्पज्जनतो ति आह – तानित्यादि। तानीति तादिसानि। सत्तरसन्नं चित्तानं खणानि विय खणानि सत्तरसचित्तक्खणानि। तानि चित्तक्खणानि सत्त-रसा ति वा सम्बन्धो। विसुं विसुं पन एकपञ्ञास चित्तक्खणानि होन्ति।" – विभा०, पृ० १०६।
"अरूपं अरूपिसभावत्ता लहुपरिणामं, रूपं पन रूपिधम्मत्तायेव दन्धपरिणामं ति वुत्तं – 'तानि पन...रूपधम्मानमायू' ति।...तानि तादिसानि सत्तरसन्नं चित्तानं खणानि, सत्तरस वा तानि चित्तक्खणानि रूपधम्मानमायू ति योजना।" – प० दी०, पृ० १२६।

स्पष्टीकरण – उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक एक रूपक्षण में उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक १७ चित्तक्षण होते हैं, तथा एक एक चित्तक्षण में तीन तीन क्षुद्रक्षण होने के कारण, उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक एक रूपक्षण में चित्त के (१७×३=)५१ क्षुद्रक्षण होते हैं। उन १७ चित्तों में से प्रथम चित्त का उत्पादक्षण (उत्पादकाल) एवं रूप का उत्पादक्षण (उत्पादकाल) तथा अन्तिम चित्त (१७ वें चित्त) का भङ्गक्षण एवं रूप का भङ्गक्षण वरावर होता है; परन्तु रूप का स्थितिकाल चित्त के (५१–२=) ४९ क्षुद्रक्षणों के वरावर होता है। जैसे – किसी एक चित्त के साथ रूप का उत्पाद होता है तो उन दोनों का उत्पादकाल समान ही होता है; किन्तु अब चित्त के १७ वार प्रवृत्त होने तक, रूप का स्थितिकाल रहेगा और अन्त में चित्तसन्तति के सत्रहवें चित्त के भङ्गकाल में रूप का भी भङ्ग होगा – इस प्रकार सत्रहवें चित्त का भङ्गकाल एवं रूप का भङ्गकाल भी समान ही होता है।

[यह अट्ठकथाचार्य एवं आधुनिक आचार्य सम्मत मत है[1]। चित्त के स्थितिक्षण के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं; जैसे वह (स्थितिक्षण) होता है कि नहीं? – इत्यादि। इस विषय पर हम रूपपरिच्छेद (षष्ठ परिच्छेद) में विचार करेंगे।]

रूपधम्मानमायु – यहाँ प्रयुक्त 'रूपधम्म' (रूप-धर्म) शब्द द्वारा सभी २८ प्रकार के रूपों का ग्रहण नहीं होता; अपितु उनमें से विज्ञप्तिरूप[2] २ एवं लक्षणरूप[3] ४=६ रूपों को वर्जित कर केवल २२ रूपों का ही ग्रहण होता है। इसका कारण यह है कि विज्ञप्तिद्वय 'चित्तानुपरिवत्तिनो धम्मा[4]' – इस मातिका के अनुसार 'चित्तानुपरिवर्त्ती' धर्मों में गृहीत होने के कारण, सत्रह चित्तक्षण-आयुवाले न होकर चित्त के साथ ही उत्पन्न एवं चित्त के साथ ही निरुद्ध होने के स्वभाववाले होते हैं। इसी प्रकार चार लक्षण-रूपों में परिगणित उपचय एवं सन्तति रूप के उत्पादक्षण के तुल्य (वरावर), जरता रूप के स्थितिक्षण के तुल्य तथा अनित्यता रूप के भङ्गक्षण के तुल्य होती है। इस प्रकार विज्ञप्तिद्वय एवं लक्षणरूपों की आयु सत्रह चित्तक्षण के तुल्य (वरावर)

---

१. "रूपं गरुपरिणामं दन्धनिरोधं, अरूपं लहुपरिणामं खिप्पनिरोधं। रूपं धरन्ते येव सोळस चित्तानि उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति। तं पन सत्तरसमेन चित्तेन सद्धिं निरुज्झति।...तत्थ किञ्चापि रूपं दन्धनिरोधं गरुपरिणामं, चित्तं खिप्पनिरोधं लहुपरिणामं। रूपं पन अरूपं, अरूपं वा रूपं ओहाय पवत्तितुं न सक्कोन्ति। द्विन्नं पि एकप्पमाणा व पवत्ति।" – विभ० अ०, पृ० २६-२७।
विभ० अ० में इस विषय का उपमाओं द्वारा अति विशद एवं विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। द्र० – विभ० अ०, पृ० २६-२९।

२. द्र० – अभि० स० ६ : १३।

३. द्र० – अभि० स० ६ : १५।

४. द्र० – ध० स०, पृ० ११, २६५।

न होने से 'रूपधम्मानं' पद से गृहीत होनेवाले रूपों में से इनका परिवर्जन किया गया है[1]।

आकाशधातु एवं लघुता (लहुता) आदि रूप मुख्यरूप से परमार्थस्वभाव न होने पर भी परमार्थस्वभाव रूपकलापों से सम्बद्ध रहने के कारण, सत्रह चित्तक्षण आयु-वाले माने जाते हैं। अर्थात् जब दो रूपकलाप परस्पर संयुक्त होते हैं तब उनके मध्यवर्ती अवकाश के रूप में परिच्छेदकरूप आकाशधातु का प्रादुर्भाव होता है और जबतक रूपकलाप जीवित रहते हैं तबतक अर्थात् सत्रह चित्तक्षण तक यह आकाशधातु भी जीवित रहती है। अतएव आकाशधातु की आयु भी सत्रह चित्तक्षणपर्यन्त मानी जाती है। लघुता-आदि रूपों को भी इसी प्रकार समझना चाहिये। इसी कारण 'रूपधम्म' द्वारा गृहीत होनेवाले रूपों में से आकाशधातु एवं लघुता-आदि का वर्जन नहीं किया जा सकता; फिर भी निष्पन्न[2] एवं अनिष्पन्न द्विविध रूपों में से अनिष्पन्न रूप परमार्थ या सत्स्वभाव नहीं होते; अपितु वे केवल प्रज्ञप्ति-स्वभाव की तरह ही होते हैं। अतः उनका मुख्यरूप से उत्पाद-स्थिति-भङ्ग नहीं हो सकता। अतएव 'रूपधम्मानं' – इस वचन द्वारा सभी अनिष्पन्न रूपों का ग्रहण नहीं करना चाहिये।

कुछ लोग 'पटिच्चसमुप्पादविभङ्गट्ठकथा' के "एत्तावता एकादस चित्तक्खणा अतीता होन्ति। अथावसेसपञ्चचित्तक्खणायुके[3]" – इस वचन से "रूप-धर्मों की आयु सोलह चित्तक्षण होती है" – ऐसा मानते हैं[4], तथा यह भी मानते हैं कि उत्पद्यमान रूप-धर्म भवङ्गचलन के प्रत्यय होते हैं; किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं है; क्योंकि 'प्रति-सन्धिचित्त के साथ उत्पन्न रूप अपने उत्पाद से लेकर सत्रहवें चित्त के साथ निरुद्ध हो जाता है, तथा प्रतिसन्धिचित्त के स्थितिक्षण में उत्पन्न रूप अठारहवें चित्त के उत्पाद-क्षण में निरुद्ध हो जाता है[5]' – ऐसा अट्ठकथा में वर्णित होने के कारण उपर्युक्त मत समीचीन नहीं है[6]।

परमत्थदीपनीकार का कथन है कि मूलटीकाकार ने जो रूप-धर्मों की आयु सोलह चित्तक्षण कही है वह 'पटिच्चसमुप्पादविभङ्ग' में आये हुए महा-अट्ठकथा के वचन को प्रतिष्ठापित करने के लिये है। 'खन्धविभङ्ग' में रूप-धर्मों के उत्पाद-निरोध का विधान करनेवाले महा-अट्ठकथावाद का 'सङ्गहकार' के द्वारा भी यमक से विरोध दिखलाकर प्रतिषेध

१. "'रूपधम्मानं' ति विञ्ञत्ति-लक्खणरूपवज्जानं रूपधम्मानं। विञ्ञत्तिद्वयं हि एकचित्तक्खणायुकं; तथा हि - तं चित्तानुपरिवत्तिधम्मेसु वुत्तं। लक्खण-रूपेसु च जाति चेव अनिच्चता च चित्तस्स उप्पाद-भङ्गक्खणेहि समानायुका। जरता पन एकूनपञ्ञासचित्तक्खणायुका। एवं च कत्वा वदन्ति –
'तं गतक्खणिताय विना विञ्ञत्तिग्गहणं'।"
– विभा०, पृ० १०६-१०७।

पञ्चद्वारवीथि

१०. एकचित्तक्खणातीतानि वा बहुचित्तक्खणातीतानि वा ठितिप्पत्तानेव* पञ्चारमणानि पञ्चद्वारे आपातमागच्छन्ति† ।

एकचित्तक्षण अतीत होनेपर अथवा बहुचित्तक्षण अतीत होनेपर (किन्तु) स्थितिक्षण को प्राप्त होकर ही पाँच आलम्बन पाँच द्वारों में अभिनिपात (प्रादुर्भाव=गोचरभाव) को प्राप्त होते हैं ।

किया जाने से उसका प्रतिष्ठापन अशक्य है। उस वाद के प्रतिषिद्ध हो जाने पर, उसमें आये हुए सोलह चित्तक्षण-आयु अथवा उससे अधिक चित्तक्षण-आयु का वाद भी सुतरां अपने आप प्रतिषिद्ध हो जाता है। ग्रन्थकार (अनुरुद्धाचार्य) का सत्रह चित्तक्षण-आयु कहनेवाला वचन मूलटीकाकार द्वारा भी अनुमत होने से टीकाकार के वचन का प्रतिषेध करना युक्तियुक्त नहीं है[1] ।

प्रश्न – नाम-धर्म एवं रूप-धर्म – दोनों के समान रूप से अनित्य एवं संस्कृत होने पर भी क्यों नाम-धर्मो की आयु अल्प और रूप-धर्मो की आयु दीर्घ होती है ?

उत्तर – नाम-धर्मो में चित्त प्रधान होता है और वह (प्रधान) चित्त आलम्बनों का ग्रहणस्वभावमात्र है। जब वह आलम्बन का ग्रहण करता है तभी (ग्रहणक्षण में ही) चित्त नामक स्वभावधर्म निरुद्ध हो जाता है और जब चित्त निरुद्ध होता है तभी उसमें सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं। अतएव नाम-धर्मो की आयु अल्प होती है। रूप-धर्मो में महाभूत प्रधान होते हैं और उन महाभूतों का स्वभाव गुरु होता है; अतः उनके साथ उत्पन्न होनेवाले सहभू रूपों का स्वभाव भी गुरु होता है। यही कारण है कि रूप-धर्मों की आयु नाम-धर्मों की अपेक्षा दीर्घ (लम्बी) होती है[2] ।

पञ्चद्वारवीथि

१०. चक्षुष्-आदि पाँच द्वारों में प्रादुर्भूत आलम्बन की अपेक्षा कर उत्पन्न होने-

---

* ठितिपत्तानेव – रो० ।

† आपाथमागच्छन्ति – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (ख) ।

१. प० दी०, पृ० १२६-१२७ ।
रूपधर्मो की आयु के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान के लिये द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० १९-२३ ।

२. "कस्मा पनेत्थ रूपमेव समाने पि अनिच्चसङ्खतादिभावे चिरायुकं जातं ति ? दन्धपरिवत्तिभावतो। अरूपधम्मा हि सारम्मणा चित्तपुब्बङ्गमा, ते यथाबलं अत्तनो आरम्मणविभावनवसेन पवत्तन्तीति तदत्थनिप्फत्तिसमनन्तरमेव निरुज्झनतो लहुपरिवत्तिनो। तेनाह भगवा – 'नाहं भिक्खवे ! अञ्ञं एकधम्मं पि समनुपस्सामि यं एवं लहुपरिवत्तं यथयिदं चित्तं' (अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १०) ।" – विभ० अनु०, पृ० १९ ।

वाली चित्तसन्तति को 'पञ्चद्वारवीथि' कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में पाँचों द्वारों का विस्तृत वर्णन न कर केवल चक्षुर्द्वार का ही सविस्तर वर्णन किया जायेगा।

सत्त्वों की सन्तान में जब वीथिचित्त प्रवृत्त नहीं होते रहते, उस समय भवङ्गचित्तसन्तति ही निरन्तर अविच्छिन्नरूप से प्रवर्तमान होती रहती है और जब भवङ्गचित्त प्रवृत्त होते रहते हैं उस समय किसी भी प्रकार का कोई ज्ञान नहीं होता। वे (भवङ्गचित्त) पूर्वभव (अतीतभव) के मरणासन्न जवनों द्वारा गृहीत कर्म, कर्म-निमित्त या गतिनिमित्त – इन त्रिविध आलम्बनों में से किसी एक का आलम्बन कर प्रवृत्त होते रहते हैं। सुषुप्तिकाल में भी भवङ्ग ही होते रहते हैं तथा जागरणकाल में भी वहुलतया भवङ्ग-चित्तसन्तति ही होती है। इन भवङ्गों के वीच वीच में, प्रादुर्भूत नये नये आलम्बनों की अपेक्षा करके यथायोग्य चित्तसन्ततियाँ उत्पन्न होती हैं। इन चित्तसन्ततियों के उत्पाद को ही 'वीथिपात' कहते हैं। इन वीथिचित्तों के निरुद्ध (भङ्ग) हो जाने पर भी पुन: भवङ्गपात ही होते रहते हैं।

आपातमागच्छन्ति – 'आपात' शव्द का अर्थ 'अभिनिपात' है, इसका भावार्थ 'प्रादुर्भाव' है; अत: 'आपातमागच्छन्ति' – इस वाक्य का अर्थ हुआ – 'अभिनिपात को प्राप्त होते हैं,' अर्थात् गोचरभाव को प्राप्त होते हैं।

यहाँ 'अभिनिपात' शव्द का अर्थ 'अभिमुख (सम्मुख=समीप) निपात (सम्प्राप्त) होना' नहीं है; अपितु आलम्बन चाहे सम्मुखस्थ (समीपस्थ) हो, चाहे दूरस्थ; अथवा भित्ति, प्राचीर-आदि से अन्तरित (परोक्ष) हो, उसका अपने सम्वद्ध द्वार में 'घट्टित होना' ही 'अभिनिपात' शव्द का अभिप्रेतार्थ है। सम्वद्ध द्वार में होनेवाले इस प्रकार के घट्टन को ही 'सम्वद्ध द्वार में आलम्वन का प्रादुर्भाव' कहा जाता है[1]।

वादान्तर – कुछ आचार्य – "दर्पण में प्रतिविम्वित होने की तरह, जल में प्रति-च्छाया पड़ने की तरह अथवा मोहर (सील) से प्रतिलिखित (मुद्रित) होने की तरह, उन उन द्वारों में अपने अपने सम्वद्ध आलम्वनों के प्रतिविम्वित होने आदि को 'प्रादुर्भूत

---

१. "'आपायमागच्छन्ती' ति रूपसद्दारम्मणानि सकसकट्ठाने ठत्वा व गोचरभावं गच्छन्तीति आभोगानुरूपं अनेककलापगतानि आपाथं आगच्छन्ति।" – विभा०, पृ० १०७।

"'पञ्चालम्वनानि पञ्चद्वारे आपातमागच्छन्तीति – एत्थ रूपसद्दारम्मणानि असम्पत्तवसेन, इतरानि च सम्पत्तवसेन गोचरभावं उपगच्छन्ति। अयं च विसेसो घट्टनविसेसेन वेदितव्वो। पुरिमानि हि द्वे निमित्तवसेनेव घट्टेन्ति, न वत्थुवसेन; पच्छिमानि पन तीणि वत्थुवसेन घट्टेन्ति, न निमित्तवसेन। निमित्तघट्टनं च नाम असम्पत्तानञ्ञेव होति, न सम्पत्तानं; वत्थुघट्टनं पन सम्पत्तानञ्ञेव, नो असम्पत्तानं ति।" – प० दी०, पृ० १२७।

"आपाथागमनं नाम पसादवत्थारम्मणानं घट्टनं, तञ्च सकट्ठाने ठत्वा अभिमुखी-हुत्वा भवङ्गचलनस्स पच्चयो होति; न पटादीनं घट्टनं विय अल्लीनं हुत्वा पच्चयो।" – सङ्खेप०, पृ० २४८।

होना' कहते हैं"। इन आचार्यों का यह मत विचारणीय है; क्योंकि प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का प्रादुर्भाव चक्षुर्द्वार में भी तथा दिव्यचक्षुष् अभिज्ञाप्राप्त पुद्गल के मनोद्वार में भी होता है। पाषाण-गुहा में द्वार बन्द करके स्थित योगी के द्वारा दिव्यचक्षुष् अभिज्ञा के द्वारा देखे जाने पर देवभूमि एवं ब्रह्मभूमि के रूपालम्बन भी पुनः पुनः प्रादुर्भूत होते हैं। इनका यह प्रादुर्भाव दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति कैसे होगा!

अपिच – यद्यपि चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है, तथापि यह 'प्रादुर्भाव' दर्पण में होनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति नहीं ही होता। तथा श्रोत्रद्वार-आदि द्वारों एवं मनोद्वार में होनेवाले 'प्रादुर्भाव' पर विचार करने पर तो 'यह दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति प्रादुर्भाववाली' धारणा (कल्पना) कथमपि नहीं घटती। जब 'निर्वाण' नामक अमृतधातु और अभाव-प्रज्ञप्ति भी मनोद्वार में प्रादुर्भूत होती है – ऐसी स्थिति में आचार्यों का उपर्युक्त वाद विचारणीय है।

दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति आलम्बन के प्रादुर्भाव का समर्थन करनेवाले आचार्य कहते हैं कि 'रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन प्रादुर्भूत होने योग्य प्रदेश में पहुँचकर उस समय चाहे वह सुषुप्तिकाल हो, चाहे मूर्च्छाकाल हो या आलम्बनान्तरों के ग्रहण में व्यासक्ति का काल हो, वे (पञ्चालम्बन) अपने सम्बद्ध द्वार में प्रायः युगपत् (एक साथ) प्रादुर्भूत हो सकते हैं; जैसे – किसी दर्पण के सम्मुख स्थित सभी पदार्थ उसमें युगपत् प्रतिबिम्बित हो सकते हैं।'

इस वाद के प्रसङ्ग में 'आपातगमन' शब्द के द्विविध प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है। कुछ स्थलों पर सम्बद्ध द्वारों में अभिनिपात न होने पर भी अभिनिपात होने योग्य प्रदेश के उपचार (समीप) तक पहुँचने को ही 'आपातगमन' कहा गया है। यथा –

"तस्मिं पन आपाथं आगच्छन्ते पि आलोकसन्निस्सये असति नुप्पज्जति[१]।"

अर्थात् उस रूपालम्बन के अभिनिपात (सम्मुखभाव) को प्राप्त होने पर भी 'आलोक' नामक निश्रयप्रत्यय के न होने से चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद नहीं होता। यहाँ आलोक के अभाव अर्थात् अन्धकार में भी अपने उपचार-प्रदेश में प्राप्त रूपालम्बन के लिये 'आपात' (आपाथ) शब्द का प्रयोग किया गया है। वह रूपालम्बन चक्षुःप्रसाद के उपचार (समीप) प्रदेश में पहुँच जाने पर भी, आलोक के अभाव के कारण, चक्षुःप्रसाद में घट्टन नहीं कर पाता या उसका चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। ऐसे स्थलों पर 'आपात' शब्द का अर्थ 'अभिनिपात' मात्र होना चाहिये; प्रादुर्भाव नहीं। इस निरूपण के अनुसार जब स्वाभाविक जागरणकाल में भी आलोक के अभाव में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव नहीं हो पाता तो ऐसी स्थिति में उपर्युक्त आचार्यों का यह वाद कि 'सुषुप्ति-आदि काल में भी पाँचों आलम्बनों का युगपत् प्रादुर्भाव हो सकता है' – कथमपि युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता।

---

१. अट्ठ०, पृ० २२८।

कुछ स्थलों पर केवल उपचार तक पहुंचने मात्र को ही नहीं, अपितु उन उन वीथिचित्तों के आलम्बन होने में समर्थ या भवङ्ग को भी कम्पित (क्षुब्ध) करने में समर्थ आलम्बन के उन उन द्वारों में होनेवाले 'प्रादुर्भाव' को 'आपातगमन' शब्द के द्वारा कहा गया है; यथा –

"एकेकं आरम्मणं द्वीसु द्वीसु द्वारेसु आपाथमागच्छति[1]।" "'आपाथमागच्छति' – मनसा पञ्चविञ्ञाणेहि च गहेतब्बभावूपगमनेन[2]।" "'गहेतब्बभावूपगमनेन' – न आपातगमनमत्तेन[3]।"

इन अट्ठकथा, टीकाओं में 'आपात शब्द का अर्थ कहीं उपचार में पहुंचना मात्र न ले लिया जाय' – इस भय से उसकी व्याख्या 'मनसा पञ्चविञ्ञाणेहि च गहेतब्बभावूपगमनेन' – आदि कहकर सुस्पष्टतया की गयी है। अर्थात् मनोविज्ञान एवं पञ्चविज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य या आलम्बन करने योग्य भाव तक पहुँचने (उपगमन करने) से ही 'आपात' सम्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रादुर्भाव' के अर्थ में 'आपात' शब्द का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर 'आपात' शब्द का प्रयोग 'अभिनिपात' एवं 'प्रादुर्भाव' – इन दोनों अर्थों में किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'आपात' शब्द का प्रयोग 'प्रादुर्भाव' अर्थ में किया गया है।

शब्दविनिश्चय – 'आपातमागच्छति' में 'अबाध, आबाध, आपाथ एवं आपात – इस प्रकार चार पाठ उपलब्ध होते हैं।

उनमें से "अबाधं तु निरग्गलं[4]" के अनुसार 'अबाध' शब्द 'निरर्गल' (अनिवारित=वेरोक टोक) अर्थ में प्रयुक्त होता है। अथवा – 'नत्थि बाधा निसेधो यस्स तं अबाधं[5]' के अनुसार 'अबाध' शब्द अबाधित (अप्रतिषिद्ध) अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ इन दोनों अर्थों का कोई सम्बन्ध न होने से 'अबाधं' यह पाठ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

"आबाधति चित्तं विलोळेतीति आबाधो[6]" के अनुसार 'आबाध' शब्द का प्रयोग चित्त का विलोडन करनेवाले के अर्थ में या सङ्घट्टन करनेवाले के अर्थ में है; किन्तु यह (सङ्घट्टन) अर्थ, सप्रतिघ रूप, पञ्चवस्तु एवं पञ्चालम्बन के लिये समीचीन होने पर भी मनोद्वार के लिये समीचीन नहीं होता; क्योंकि अभाव-प्रज्ञप्ति एवं अमृतधातु 'निर्वाण' का मनोद्वार में कैसे सङ्घट्टन होगा ? अतः 'आबाधं' यह पाठ भी इस स्थान में अनुरूप प्रतीत नहीं होता।

---

१. अट्ठ०, पृ० ६०।

२. ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

३. मधुटीका।

४. अभि० प०, ७१७ का०।

५. अभि० प० सू०, पृ० ३२।

६. अभि० प० सू०, पृ० ५६।

'आपाथं' इस शब्द का प्रयोग 'पथाभिमुख' (पथ=द्वार के अभिमुख)–इस अर्थ में, अथवा 'पथ विख्याते' इस धातु के आधार पर 'सुप्रकट' (विभूत)–इस अर्थ मे होता है, किन्तु मार्ग (द्वार) के अर्थ में 'पथ' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'पाथ' का नहीं। यदि किसी तरह 'पाथ' शब्द का अर्थ भी मार्ग हो जाये तो भी पथाभिमुख होने मात्र से या उपचार में पहुँचने मात्र से उन उन द्वारों में प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। अतः 'आपाथं'–यह पाठ भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

"ठपेत्वा रूपादीनं अभिनिपातमत्तं[२]।" "'आपाथमागते' ति योग्यदेसावट्ठिते[३]।" "अञ्ञमञ्ञपतनं अञ्ञमञ्ञस्स योग्यदेसे अवट्ठानं[४]।"

–आदि के अनुसार यहाँ 'आपातं'–यह शब्द ही अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। अट्ठकथाचार्य ने भी 'अभिनिपातमत्तं'–कहकर 'आपात' शब्द के अन्तर्गत पठित 'आ' उपसर्ग के प्रतिनिधिरूप में 'अभि' उपसर्ग को तथा 'पात' शब्द के प्रतिनिधिरूप म 'निपात' शब्द को दिखाया है। अनुटीकाकार ने भी 'अञ्ञमञ्ञपतनं' में 'पत' धातु का अर्थ 'योग्यदेश में अवस्थान' किया है तथा महाटीकाकार ने भी 'योग्यदेसावट्ठिते' यह व्याख्या करके उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन किया है।

पञ्च आलम्बन एवं पञ्च प्रसाद–एक एक रूपकलाप इतना सूक्ष्म होता है कि उसकी सूक्ष्मता का वर्णन नहीं किया जा सकता। प्राकृत चक्षु से वह देखा नहीं जा सकता। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी जो कीटाणु दिखायी पड़ते हैं, उनमें से एक एक कीटाणु में भी कर्मज, चित्तज, ऋतुज एवं आहारज रूपकलापों के अनेक समूह होते हैं। जब उन समूह के समूह रूपकलापों को भी प्राकृतचक्षु से नहीं देखा जा सकता तो एक रूपकलाप के दर्शन के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है! अतः चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने में एक रूपकलाप (रूपालम्बन) का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, अपितु अनेक रूपकलापों के सङ्घात (समूह) का ही प्रादुर्भाव हो सकता है[५]।

यदि अनेक रूपालम्बनों का सङ्घात (समूह) होने पर ही प्रादुर्भाव होता है तो प्रश्न होता है कि क्या चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त रूपालम्बनों की समूहप्रज्ञप्ति का आलम्बन करते हैं? यदि समूहप्रज्ञप्ति का आलम्बन करते हैं तो आलम्बनसङ्ग्रह में जो परमार्थ का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले धर्मों में चक्षुर्विज्ञान-आदि को कहा गया है[६],

---

१. द्र०–अभि० प० सू०, पृ० २१९।

२. विभ० अ, पृ० ४०८।

३. विसु०, महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२।

४. ध० स० अनु०, पृ० ५२।

५. "'वत्थुपरित्तताया ति–एतेन अनेककलापगतानि बहूनि येव रूपायतनानि समुदितानि संहच्चकारिताय सिविकुब्वहनञायेन चक्खुविञ्ञाणस्स आरम्मण-पच्चयो; न एकं कतिपयानि वा ति दस्सेति।"–ध० स० अनु०, पृ० ७४। तु०–प० दी०, पृ० १२८; विभा०, पृ० १०७।

६. द्र०–अभि० स० ३ : ६२-६३ की व्याख्या (पृ० २६७)

उस कथन से इसका विरोध नहीं होता ? और इस प्रकार क्या आपके कथन में पूर्वापरविरोध नहीं होता ?

उत्तर – रूपालम्बनों के बिना रूपालम्बनों की समूहप्रज्ञप्ति भी नहीं हो सकती, तथा रूपालम्बनों का वह समूह भी पुञ्जीभूत रूपालम्बनों की परमार्थ-राशि ही है और इस प्रकार अनेक रूपालम्बन परमार्थ-धर्मों का ही चक्षुर्विज्ञान के द्वारा आलम्बन किया जाने से कोई पूर्वापरविरोध नहीं होता।

प्रसाद एक हैं या अनेक – उपर्युक्त नय के अनुसार चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने के सम्बन्ध में टीकाकारों का अभिमत यह है कि 'चक्षुःप्रसाद के एक होने पर ही यह (प्रादुर्भाव) कृत्य सम्पन्न हो सकता है'। चक्षुःप्रसाद का कृत्य द्विविध है; यथा – (क) रूपालम्बन का प्रादुर्भावकृत्य एवं (ख) चक्षुर्विज्ञान का निश्रयकृत्य। ये दोनों कृत्य चक्षुःप्रसाद के एक होने पर ही सिद्ध हो सकते हैं। अपने इस प्रकार के कथन का वे "चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं[1]" – इस पालि को आधार बनाते हैं। वे कहते हैं कि चक्षुःप्रसाद के लिये 'चक्खुं' – इस एकवचन-प्रयोग का तथा रूप के लिये 'रूपे' – इस बहुवचन-प्रयोग का यही रहस्य है। अतः उनके अनुसार चक्षुःप्रसाद एक होने पर ही अपने कृत्य को सिद्ध कर सकता है तथा रूपालम्बन अनेक होने पर ही प्रादुर्भूत हो सकते हैं।

इसी प्रकार शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य आलम्बनों के प्रादुर्भाव में भी समझना चाहिये[2]।

उपर्युक्त टीकाकारों के इस प्रकार के मत पर तथा उनके द्वारा प्रमाणरूप में प्रस्तुत पालि पर विचार करना चाहिये।

अविनष्ट चक्षुःप्रसाद के दुर्बल हो जाने पर उसके द्वारा योग्य देश में अवस्थित भी रूपालम्बन दिखायी नहीं पड़ते; किन्तु चश्मे (उपनेत्र) की सहायता से चक्षुःप्रसाद के प्रबल हो जाने पर पहले अस्पष्टरूप में अवभासित भी वे रूपालम्बन दिखायी पड़ने लगते हैं। चश्मे की सहायता से रूपालम्बन का चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार दूरदर्शक यन्त्र की सहायता से अत्यन्त दूरस्थ रूपालम्बन भी दिखायी पड़ने लगता है। यहाँ चश्मा एवं दूरदर्शक यन्त्र आदि चक्षुःप्रसाद के सहायक होते हैं। चक्षुःप्रसाद एक न होकर अनेक होंगे तभी वे चश्मा एवं दूरदर्शक यन्त्र-आदि द्वारा दी हुई सहायता का ग्रहण कर सकेंगे और अपने कृत्य के सम्पादन में समर्थ हो सकेंगे। पुनश्च – अनेक होने पर भी जब उन्हें दुर्बल होने पर रूपालम्बन का ग्रहण करने के लिये चश्मे की सहायता लेनी पड़ती है और दूरस्थ रूपालम्बन का ग्रहण करने के लिये दूरदर्शक यन्त्र की सहायता लेनी पड़ती

---

1. सं० नि०, तृ० भा०, पृ० ६३।
2. "कस्मा पनेत्थ वचनभेदो कतो ति ? एकं पि चक्खुविञ्ञाणस्स पच्चयो होति, रूपं पन अनेकमेव संहतं ति इमस्स विसेसस्स दस्सनत्थं। ... सोतञ्च पटिच्च सद्दे चा ति आदीसु पि एसेव नयो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२८-१२९। द्र० – विभ० अनु०, पृ० ५६-५८।

है, तब यदि चक्षुःप्रसाद एक होगा तो वह उस सहायता का ग्रहण करने में समर्थ ही कैसे होगा ? और कैसे अपने कृत्य के सम्पादन में समर्थ ही हो सकेगा ? इस प्रकार विचार करने से चक्षुःप्रसाद का अनेकत्व ही सिद्ध होता है।

अपिच – उपर्युक्त टीकाकारों ने जिस पालि को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है वह पालि भी इस स्थल के अनुरूप नहीं है। उनके मतानुसार चूंकि रूपालम्बन सङ्घात (समूह) रूप में होने पर ही प्रादुर्भूत हो सकते हैं, अतः उनका बहुवचन में प्रयोग किया गया है। यदि बात ऐसी ही है तो "मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति मनोविञ्ञाणं[1]" – यहाँ भी 'धर्म' शब्द का बहुवचन में प्रयोग होने के कारण समूहरूप में होने पर ही धर्मालम्बन का प्रादुर्भाव होगा – ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि 'चित्त' नामक धर्मालम्बन एक एक ही प्रादुर्भूत हो सकते हैं। इसी प्रकार चैतसिक, प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण नामक धर्मालम्बन भी एक एक ही प्रादुर्भूत हो सकते हैं। अतएव कहा गया है कि टीकाकारों द्वारा प्रमाणरूप में प्रस्तुत पालि इस स्थल के अनुरूप नहीं है। इस प्रकार टीकाकारों की युक्ति एवं प्रमाण – दोनों के निरस्त हो जाने से सिद्ध होता है कि रूप-आदि पाँच आलम्बनों के प्रादुर्भाव में अनेक प्रसाद एवं अनेक आलम्बनों का सङ्घट्टन होने पर ही 'प्रादुर्भाव' हो सकता है।

पालि का अभिप्राय – टीकाकारों (महाटीकाकार, अनुटीकाकार-आदि) के उपर्युक्त मत से यदि सहमत नहीं हुआ जा सकता है तो 'चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाणं' – आदि पालि का सही अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये :

चक्षुःप्रसाद एवं रूपालम्बन की अपेक्षा करके चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में चक्षुःप्रसाद एक सत्त्व की सन्तान में प्रतिष्ठित होकर उस एक सन्तान में प्रतिष्ठित विज्ञान का ही उपकार करता है। रूपालम्बन स्वसन्तान एवं परसन्तान – इस प्रकार नाना सन्तानों में प्रतिष्ठित होकर पूर्वोक्त चक्षुर्विज्ञान का उपकार करता है। एक सत्त्व की सन्तान में चक्षुःप्रसाद की सङ्ख्या अनेक होने पर भी, वह एकविध (एक प्रकार का) ही होता है; तथा उस चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भूत होनेवाले रूपालम्बन नील, पीत-आदि भेद से अनेकविध (अनेक प्रकार के) होते हैं। इस प्रकार चक्षुःप्रसाद का एक ही सन्तान में प्रतिष्ठित होना, एक ही प्रकार का होना; तथा रूपालम्बन का नाना सन्तानों में प्रतिष्ठित होना, एवं नाना प्रकार का होना – ये ही वे कारण हैं जिनकी वजह से 'प्रसाद' के लिये 'चक्खुञ्च' – इस प्रकार एकवचन का प्रयोग तथा आलम्बन के लिये 'रूपे च' – इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया गया है। 'सोतञ्च पटिच्च सद्दे च उपज्जति सोतविञ्ञाणं' – आदि में भी इसी प्रकार समझना चाहिये[2]।

---

१. सं० नि०, तृ० भा०, पृ० ६४।

२. "चक्खुञ्च पटिच्च रूपे चाति आदिना द्वारारम्मणेसु एकवचन-बहुवचननिद्देसा, एकनानासन्तानगतानं एकसन्तानगतविञ्ञाणपच्चयभावतो एकनानाजातिकत्ता च।" – विभ० मू० टी०, पृ० ४८।

विभावनीवाद—विभावनीकार का कथन है कि "गन्धालम्बन, रसालम्बन एवं स्प्रष्टव्यालम्बन सङ्घातरूप में प्रादुर्भूत नहीं होते; अपितु एककलापगत एक गन्धालम्बन, इसी प्रकार एक रसालम्बन एवं एक स्प्रष्टव्यालम्बन भी एक एक कलाप में अवस्थित हो कर ही अपने अपने सम्बद्ध प्रसाद में प्रादुर्भूत होते हैं[1] ।"

"विभावनी' का यह वाद "सोतञ्च पटिच्च सद्दे चाति आदीसु पि एसेव नयो[2]" —इत्यादि प्रकार की टीकाओं से न केवल विरुद्ध ही होता है; अपितु अयुक्तिपूर्ण भी है । इसकी असारता अत्यन्त स्पष्ट स्प्रष्टव्यालम्बन के उदाहरण में मीमांसा करके देखी जा सकती है ।

यह ज्ञात ही है कि सूर्य की किरणों में प्राकृत चक्षुष् से भी दिखायी पड़नेवाले सूक्ष्म रजःकणों का शरीर पर निरन्तर पात होता रहता है। ये रजःकण अनेक रूप-कलापों के पुञ्जीभूत द्रव्य होते हैं । इस प्रकार के अनेक रजःकणों का शरीर के साथ निरन्तर घट्टन होते रहने पर भी उनसे कायविज्ञानवीथि का उत्पाद नहीं होता । जब अनेक रूपकलापों के समूहभूत रजःकणों के स्पर्श का भी बोध नहीं हो पाता तब एक स्प्रष्टव्यालम्बन से कायविज्ञानवीथि का उत्पाद कैसे होगा ?—इस पर स्वयं विचार किया जा सकता है । अतः 'विभावनी' के उपर्युक्त वाद को स्वीकार न कर 'गन्ध-आदि आलम्बन भी सङ्घातरूप में ही अपने सम्बद्ध द्वारों में प्रादुर्भूत हो सकते हैं'—ऐसा मानना चाहिये ।

अनेकविध आलम्बन होने पर भी एक का ही प्रादुर्भाव—एक ऐसे उत्सव में जहाँ सुन्दर नृत्य, मधुर सङ्गीत एवं वाद्यवादन हो रहा है, शीतल मन्द सुगन्धित वायु वह रही है तथा मिष्टान्न भोजन हो रहा है; यहाँ पाँचों आलम्बन अपने सम्बद्ध प्रसादों के उपचार में उपस्थित हैं । यह तो मान्य है कि उस समय चित्त एक काल में एक ही आलम्बन का ग्रहण करता है; किन्तु प्रश्न यह है कि वह पहले किस आलम्बन का ग्रहण करेगा तथा आलम्बन से आलम्बनान्तर में कैसे सङ्क्रमण करेगा ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रकार की परिस्थिति में चित्त पुद्गल के अध्याशय के अनुसार तथा आलम्बन की शक्ति के आधिक्य के अनुसार आलम्बन का 'प्रथम ग्रहण' भी करता है तथा आलम्बन से आलम्बनान्तर में सङ्क्रमित भी होता है[3] ।

स्पष्टीकरण—यदि पुद्गल का अध्याशय (रुचि) रूपालम्बन में होता है तो सर्वप्रथम रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है तथा चित्त सर्वप्रथम रूपालम्बन का ही

१. "सेसानि पन घानादिनिस्सयेसु अल्लीनानेव विञ्ञाणुप्पत्तिकारणानीति एकेककलापगतानि पि, एकेककलापगता पि हि पसादा विञ्ञाणस्स आधार-भावं गच्छन्ति ।"—विभा०, पृ० १०७ ।

२. द्र०—विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२४-१२५; विभ० मू० टी०, पृ० ४८; विभ० अनु०, पृ० ५६-५८ ।

३. "कथं पन चित्तस्स आरम्मणतो सङ्कन्ति होतीति ? द्वीहाकारेहि होति—अज्झासयतो वा, विसयाधिमत्ततो वा ।"—अट्ठ०, पृ० २६८ ।

आलम्बन करता है। नानाविध रूपालम्बनों के उपस्थित होने पर भी जिस रूपालम्बन में अध्याशय प्रबल होता है, सर्वप्रथम उसी रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है। शब्दालम्बन-आदि में भी अध्याशय के अनुसार ही इष्ट आलम्बन का सर्वप्रथम ग्रहण होता है। तथा – अध्याशय के अनुसार ही आलम्बन से आलम्बनान्तर में सङ्क्रमण होता है। यदि किसी आलम्बन के प्रति विशेष अध्याशय नहीं होता है तो आलम्बन-शक्ति की तीक्ष्णता-मन्दता के अनुसार प्रबल शक्तिवाले आलम्बन का पहले तथा मन्द शक्तिवाले आलम्बन का पीछे ग्रहण होता है। इसी प्रकार (विशेष अध्याशय न होने पर आलम्बन की शक्ति के अनुसार ही) आलम्बन से आलम्बनान्तर में सङ्क्रमण भी होता है।

एकचित्तक्खणातीतानि...ठितिप्पत्तानेव – रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन जब अपने सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत होते हैं तब उनका उत्पाद अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक होने के कारण वे अपने उत्पादक्षण में ही प्रादुर्भूत नहीं हो पाते; अपितु स्थितिक्षण को प्राप्त होकर ही प्रादुर्भूत हो पाते हैं।

कुछ विद्वान् कहते है, चूंकि रूपी धर्म स्थिति-क्षण में ही 'पच्छाजातपच्चय' (पश्चाज्जातप्रत्यय) द्वारा उपकार प्राप्त करते हैं तथा उस प्रत्यय की वजह से प्रबल होते हैं अतः रूपी धर्मों में सङ्गृहीत होनेवाले पञ्चालम्बन स्थितिक्षण को प्राप्त होकर ही सम्बद्ध द्वार में प्रादुर्भूत हो पाते हैं।

यह ठीक है कि रूपी धर्म स्थितिक्षण में 'पच्छाजातपच्चय' द्वारा उपकार प्राप्त कर प्रबल होते हैं; किन्तु उनके इस प्राबल्य का आलम्बन के प्रादुर्भाव में कोई उपयोग नहीं है। वह (प्राबल्य) तो केवल स्थितिक्षण में रूपालम्बन को दृढ करके रूपसन्तति का उपकार करने में सामर्थ्यमात्र है। अविज्ञानक (अचेतन=निर्जीव) आलम्बन एवं असंज्ञिभूमि के ब्रह्माओं के रूपालम्बन 'पच्छाजातपच्चय' के उपकार को प्राप्त न करके भी अपने सम्बद्ध प्रसाद में भलीभाँति प्रादुर्भूत हो सकते हैं। 'विपस्सनाकम्मट्ठान' करनेवाले योगी के मनोद्वार में, उत्पादक्षण में भी रूपधर्मो का प्रादुर्भाव हो सकता है[1]। अतः आलम्बन के प्रादुर्भाव में 'पच्छाजातपच्चय' का उपकार उपयोगी शक्ति नहीं है[2]।

आलम्बन एवं द्वार से अतिरिक्त अन्य कारण – पञ्चद्वार में इन पाँच आलम्बनों के प्रादुर्भूत होने में आलम्बन एवं द्वार मात्र होने से ही प्रादुर्भाव नहीं हो जाता; अपितु अन्य कारण भी अपेक्षित होते हैं। चक्षुर्द्वार में, आलोक होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है। श्रोत्रद्वार में, आकाश होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है; क्योंकि आकाश न होने पर अथवा अङ्गुलि द्वारा कर्णच्छिद्र को बन्द कर देने पर शब्द का श्रवण नहीं होता। गन्धद्वार में, वायु होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है; वायु के अभाव में गन्ध उपस्थित होने पर भी वह घ्राणप्रसाद तक पहुँच नहीं पाता। जिह्वाप्रसाद में, अप्-धातु होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है; किसी शुष्क पदार्थ को जिह्वा पर रख देने पर भी, जबतक जिह्वा से तरल पदार्थ का निःसरण नहीं होता तबतक, उसके रस की अनुभूति नहीं होती। कायद्वार में, पृथ्वीधातु होने पर ही

१. द्र० – अभि० स० ६ : ५५ की व्याख्या। २. तु० – प० दी०, पृ० १२६।

प्रादुर्भाव होता है। जब स्प्रष्टव्यालम्बन का कायद्वार में सङ्घट्टन होता है तब उसका न केवल कायप्रसाद में ही; अपितु कायप्रसाद के आश्रयभूत महाभूतों में भी सङ्घट्टन होता है। आश्रयभूत उन महाभूतों में पृथ्वीधातु प्रधान होती है; अतः कायद्वार में स्प्रष्टव्यालम्बन के प्रादुर्भूत होने में पृथ्वीधातु आवश्यक (महत्वपूर्ण) उपकार प्रदान करती है[1]।

चक्षुःप्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एवं मनसिकार – इन चतुर्विध प्रत्ययों के सम्पन्न होने पर ही चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार श्रोत्रप्रसाद, शब्दालम्बन, आकाश एवं मनसिकार होने पर श्रोत्रविज्ञान की; घ्राणप्रसाद, गन्धालम्बन, वायु एवं मनसिकार होने पर घ्राणविज्ञान की; जिह्वाप्रसाद, रसालम्बन, अप्-धातु एवं मनसिकार होने पर जिह्वाविज्ञान की; तथा कायप्रसाद, स्प्रष्टव्यालम्बन, पृथ्वीधातु एवं मनसिकार होने पर कायविज्ञान की उत्पत्ति होती है।

यहाँ चक्षुर्विज्ञान-आदि विज्ञानों के उत्पत्ति-कारणों को दिखाया गया है। इनमें से 'मनसिकार' नामक आवर्जन केवल चक्षुर्विज्ञान आदि के उत्पाद की कारण-सामग्री में ही सम्मिलित होता है; वह पञ्चद्वार में पञ्च-आलम्बनों के प्रादुर्भूत होने में कारण नहीं होता।

उपर्युक्त कथन के अनुसार अपने उत्पाद से सम्बद्ध सभी कारणों के प्रबल होने पर, रूपालम्बन एकचित्तक्षण (तीन क्षुद्रक्षण) अतीत होने पर ही प्रादुर्भूत होता है। प्रसाद, आलोक आलम्बन-आदि कारणों में से कोई एक, दो या सभी दुर्बल होते हैं तो दो, तीन, चार, पाँच-आदि अनेक चित्तक्षण अतीत होनेपर, स्थितिक्षण को प्राप्त रूपालम्बन का ही प्रादुर्भाव होता है[2]।

मूलटीकाचार्य ने 'उत्पादक्षण में भी आलम्बन का प्रादुर्भाव हो सकता है'[3] –

---

१. "एत्थ च चक्खुस्स असम्भिन्नता, आलोकसन्निस्सयप्पटिलाभो, रूपानं आपातागमनं, मनसिकारो ति चत्तारो पच्चया चक्खुविञ्ञाणस्स उप्पत्तिकारणानि। सोतस्स असम्भिन्नता, आकाससन्निस्सयप्पटिलाभो, सद्दानं आपातागमनं, मनसिकारो ति सोतविञ्ञाणस्स। घानस्स असम्भिन्नता, वायुसन्निस्सयप्पटिलाभो, गन्धानं आपातागमनं, मनसिकारो ति घानविञ्ञाणस्स। जिव्हाय असम्भिन्नता, आपोसन्निस्सयप्पटिलाभो, रसानं आपातागमनं, मनसिकारो ति जिव्हाविञ्ञाणस्स। कायस्स असम्भिन्नता, पठवीसन्निस्सयप्पटिलाभो, तिण्णं फोट्ठब्बानं अञ्ञतरस्स आपातागमनं, मनसिकारो ति कायविञ्ञाणस्सा ति। एत्थ च आलोक-आकासादीनं सन्निस्सयानं गहणं, तेहि विना रूपादीनं पसादेसु आपातागमनस्सेव अभावतो ति दट्ठब्बं। न हि आलोके असति रूपानि सन्निहितानि पि चक्खुम्हि आपातमागच्छन्ति। एस नयो सेसेसुपीति।" – प० दी०, पृ० ३४-३५। द्र० – अट्ठ०, पृ० २२७-२२८।

२. "रूपधम्मानं पन रूपधम्मेस्वेव आपातागमने थोकं बलवन्ता इच्छितब्बा, ते च ठितिक्खणे येव परिपुण्णपच्चयुप्पन्ना हुत्वा बलवन्ता होन्तीति वुत्तं – 'ठितिप्पत्तानेवा' ति।" – प० दी०, पृ० १२७।

३. विभ० मू० टी०, पृ० २१।

अतिमहन्तारमणवीथि

११. तस्मा, यदि एकचित्तक्खणातीतकं* रूपारमणं चक्खुस्स आपातमागच्छति, ततो द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते भवङ्गसोतं वोच्छिन्दित्वा† तमेव रूपारमणं आवज्जन्तं‡ पञ्चद्वारावज्जनचित्तं उप्पज्जित्वा निरुज्झति। ततो

इसलिये, जिसका एक चित्तक्षण अतीत हो गया है – ऐसा रूपालम्बन यदि चक्षुःप्रसाद में अभिनिपात (प्रादुर्भाव) को प्राप्त होता है तो इस प्रकार अभिनिपतित (प्रादुर्भूत) होने से दो वार भवङ्ग के चलित होने पर भवङ्गस्रोत को विच्छिन्न करके उसी रूपालम्बन का आवर्जन करते हुए की तरह पञ्चद्वारावर्जनचित्त उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। उसके निरुद्ध

ऐसा माना है, फिर भी यहाँ मूलपालि में जो 'एकचित्तक्खणातीतानि वा बहुचित्तक्खणातीतानि वा' – ऐसा कहा गया है, वह विषय को सर्वजनवेद्य (बोधगम्य) बनाने के लिये ही कहा गया है – ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि स्वभाव (परमार्थ) धर्मों की उत्पत्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ अतिप्रवल महद्-आलम्बन (महन्तालम्बन) अपने उत्पाद के अव्यवहित अनन्तर ही अर्थात् एकचित्तक्षण (तीन क्षुद्रक्षण) अतीत होने के पूर्व ही, लगभग द्वितीय क्षुद्रक्षण के काल में भी प्रादुर्भूत हो सकते हैं।

[किसी एक रूपालम्बन को ध्यानपूर्वक बहुत देर तक देखते समय दर्शनकाल में भी वह (रूपालम्बन) उत्पाद-स्थिति-भङ्ग रूप में पुनः पुनः प्रवृत्त होता रहता है। इस अवस्था में उस रूपालम्बन का अपने उत्पाद या भङ्गक्षण में प्रादुर्भाव न हो सकने पर भी स्थितिक्षण में तो उसका प्रादुर्भाव होना ही चाहिये। अतः चक्षुःप्रसाद एवं आलोक-आदि कारणों के सम्पन्न होने पर अतिप्रवल महद्-आलम्बन का अपने उत्पाद के अनन्तर ही द्वितीय क्षुद्रक्षण के काल में प्रादुर्भाव होगा ही[1]।]

पञ्चारमणानि पञ्चद्वारे– रूपालम्बन चक्षुर्द्वार में, शब्दालम्बन श्रोत्रद्वार में, गन्धालम्बन घ्राणद्वार में, रसालम्बन जिह्वाद्वार में तथा स्प्रष्टव्यालम्बन कायद्वार में – इस प्रकार पञ्च आलम्बन पञ्च द्वारों में यथाक्रम प्रादुर्भूत होते हैं।

तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक
अतिमहद्-आलम्बनवीथि

११. **ततो द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते** – चक्षुर्द्वार में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव हो जाने पर भवङ्ग का दो वार चलन होता है। यहाँ 'चलन' शब्द द्वारा 'भवङ्ग कम्पित

---

* एकचित्तक्खणातीतं – स्या०। † विच्छिन्दित्वा – स्या०, रो०।

‡ आवज्जेन्तं – सी० ना०।

१. "'एव' सद्देन टीकाकारस्स वादं नीवारेति; सो हि उप्पज्जमानमेव रूपं पसादे घट्टेतीति इच्छतीति।" – प० दी०, पृ० १२७।

तस्सानन्तरं तमेव रूपं पस्सन्तं चक्खुविञ्ञाणं, सम्पटिच्छन्तं सम्पटिच्छनचित्तं, सन्तीरयमानं* सन्तीरणचित्तं, ववत्थपेन्तं† वोट्ठपनचित्तञ्चेति‡ यथाक्कमं उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति ।

हो जाने से उस पञ्चद्वारावर्जनचित्त के अनन्तर उसी रूपालम्बन को देखता हुआ चक्षुर्विज्ञानचित्त, सम्यग् ग्रहण करते हुए की तरह सम्पटिच्छनचित्त, सम्यग् विचार करते हुए की तरह सन्तीरणचित्त, सम्यग् व्यवस्थापन करते हुए की तरह वोट्ठपनचित्त – इस प्रकार (ये चित्त) यथाक्रम उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं ।

होता है' – ऐसा नहीं समझना चाहिये । भवङ्गचित्त पहले से ही कर्म, कर्मनिमित या गतिनिमित्त – इनमें से किसी एक का आलम्बन कर रहा होता है, उसी समय चक्षुर्द्वार में अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भूत हो जाने पर 'इस अभिनव आलम्बन का ग्रहण करूँ या पूर्वगृहीत आलम्बन का ही दृढतापूर्वक ग्रहण किये रहूँ' – इत्यादि रूप से उसमें द्वैविध्य, अशान्ति या विकार उत्पन्न होता है और इसी को 'भवङ्गचलन' कहा गया है[1] ।

भवङ्गचलनसम्बन्धिनी परिपृच्छा – रूपालम्बन का चक्षुःप्रसाद में सङ्घट्टन होने पर हृदयवस्तु का आश्रय करनेवाला भवङ्गचित्त क्यों चलित हो जाता है ? चक्षुःप्रसाद चक्षुःपिण्ड में अवस्थित रहता है और हृदयवस्तु हृदयप्रदेश में अवस्थित रहती है – इस प्रकार ये दोनों परस्पर दूर दूर अवस्थित रहते हैं । भवङ्गचलन भी, जिस काल में रूपालम्बन-आदि का प्रादुर्भाव होता है, उसी काल में (तत्समकाल) होता है – ऐसी

---

* सन्तीरणमानं – रो० ।

† ववत्थपेन्तं – सी०, रो०, ना०, म० (ख०) ।

‡ वोत्थपन० – सी० (सर्वत्र); वोट्ठब्बन० – म० (ख) (सर्वत्र) ।

१. "चलनञ्चेत्थ यथागहितं कम्मादि-आरम्मणं मुञ्चित्वा इदानि अत्तनि आपातं आगच्छन्तं अभिनवारम्मणं गहेतुं उस्साहजातस्स विय भवङ्गसन्तानस्स विकारुप्पत्ति दट्ठब्बं ।" – प० दी०, पृ० १३० ।

"एवं पवत्ते पन भवङ्गसन्ताने, यदा सत्तानं इन्द्रियानि आरम्मणगहणक्खमानि होन्ति, तदा चक्खुस्सापाथगते रूपे रूपं पटिच्च चक्खुपसादस्स घट्टना होति, ततो घट्टनानुभावेन भवङ्गचलनं होति ।" – विसु०, पृ० ३२० ।

"'भवङ्गचलनं' ति भवङ्गचित्तस्स पकम्पनं, तथा द्विक्खत्तुं पवत्तिया विसदिसस्स कारणभावूपगमनं ति अत्थो । तं हि चित्तसन्तानस्स पुरिमावत्थाय भिन्नावत्थाहेतुताय चलनं विया ति चलनं ति अत्थो ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२ ।

"'द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते' ति विसदिसविञ्ञाणुप्पत्तिहेतुभावसङ्खातभवङ्गचलनवसेन पुरिमग्गहितारम्मणम्हि येव द्विक्खत्तुं भवङ्गे पवत्ते ।" – विभा०, पृ० १०३ ।

स्थिति में, चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन के प्रादुर्भाव से हृदयवस्तु में आश्रित भवङ्ग कैसे चलित हो जाता है ?

उत्तर – चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का सङ्घट्टन होने पर 'मनोद्वार' नामक भवङ्गचित्त में भी तत्समकाल ही उस आलम्बन का प्रादुर्भाव हो जाता है; जैसे – किसी वृक्ष पर किसी पक्षी के बैठने के काल में उसका वृक्ष-शाखा-आदि में घट्टन भी होता है तथा उसी काल में पृथ्वी पर उसकी छाया का भी प्रादुर्भाव होता है; उसी प्रकार चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का सङ्घट्टन होने पर तत्समकाल ही भवङ्गचित्त में भी उसका प्रादुर्भाव होने से 'भवङ्गचलन' होता है[1]; यथा –

"एकेकं आरम्मणं द्वीसु द्वीसु द्वारेसु आपाथमागच्छति। रूपारम्मणं हि चक्खुप्पसादं घट्टेत्वा तङ्खणं येव मनोद्वारे आपाथमागच्छति; भवङ्गचलनस्स पच्चयो होतीति अत्थो[2]।"

[रूप-आदि पाँच आलम्बनों के दो दो द्वारों (पञ्चद्वार एवं मनोद्वार) में प्रादुर्भूत होने पर भी, प्रस्तुत ग्रन्थ में मनोद्वार के, सभी आलम्बनों से सम्बद्ध होने के कारण, 'आलम्बन मनोद्वार में प्रादुर्भूत होता है' – ऐसा विशेषरूप से न कहा जाकर असाधारण द्वार से परिच्छिन्न करके, असाधारण नय से 'रूपालम्बन चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत होता है' – इस प्रकार कहा गया है ।]

दूसरी उपमा – जैसे किसी भेरी (वाद्यविशेष) के तल पर शर्करा के दो कण दूर दूर पड़े हुए हैं उनमें से एक कण के ऊपर मक्खी के बैठने पर यदि दूसरे कण का अङ्गुलि-आदि द्वारा ताडन किया जाता है तो भेरी-तल से सम्बद्ध होने के कारण दूरस्थ दूसरे कण पर स्थित मक्खी उड़ जाती है; उसी प्रकार प्रसाद एवं (भवङ्ग की आश्रयभूत) हृदयवस्तु के परस्पर समीपस्थ न होने पर भी, धातु-स्वभाव से एक साथ सम्बद्ध होने के कारण, प्रसाद में आलम्बन का सङ्घट्टन होने पर हृदय में आश्रित भवङ्ग भी चलित हो जाता है; यथा –

"भेरीतले ठपितासु सक्खरासु एकिस्सा सक्खराय घट्टिताय तदञ्ञसक्खरायं ठितमक्खिकाचलनञ्चेत्थ उदाहरणं ति[3] ।"

'सच्चसङ्खेप' नामक ग्रन्थ में भी यही आशय व्यक्त है । यथा –

"घट्टिते अञ्ञवत्थुम्हि अञ्ञनिस्सितकम्पनं ।
एकाबद्धेन होतीति सक्खरोपमया वदे[4] ।।"

---

१. द्र० – "तथा हि सकुणो आकासेनागन्त्वा रुक्खग्गे निलीयमानो व रुक्खसाखञ्च घट्टेति, छाया चस्स पठवियं पटिहञ्ञति । साखाघट्टनछायाफरणानि अपुब्बं अचरिमं एकक्खणे येव भवन्ति; एवं पच्चुप्पन्नरूपादीनं चक्खुप्पसादादिघट्टनञ्च भवङ्गचलनसमत्थताय मनोद्वारे आपातागमनञ्च अपुब्बं अचरिमं एकक्खणे येव होती ति ।" – प० दी०, पृ० १३१; अट्ठ०, पृ० ६० ।

२. अट्ठ०, पृ० ६० । ३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२ ।

४. सच्च० १७६ का०, पृ० १३ ।

विभावनीवाद – रूपालम्बन-आदि का जब चक्षुःप्रसाद-आदि में सङ्घट्टन होता है तब उनका उन चक्षुःप्रसाद-आदि के आश्रयभूत महाभूतों से भी सङ्घट्टन होता है। उन महाभूतों से सङ्घट्टन होने पर, उनसे सन्निकृष्ट स्थित (सटी हुई) अन्य महाभूतसन्तति से भी सङ्घट्टन होता है और इस प्रकार महाभूत-परम्परा से घट्टन होते होते यह (घट्टन) हृदयवस्तु के आश्रयभूत महाभूतों तक पहुँच जाता है। हृदयवस्तु के आश्रयभूत महाभूतों के घट्टित होने पर उस (हृदयवस्तु) में आश्रित भवङ्ग का भी चलन हो जाता है; जैसे – भेरी-चर्म के तल पर पड़े हुए शर्करा-कण पर मक्खी के बैठने पर यदि उसके दूसरे तल पर दण्ड-आदि से प्रहार किया जाता है तो भेरी के चर्म, आरत्त (रज्जु)-आदि के कम्पित (चलित) हो जाने से और अनुक्रम से उस कम्पन के मक्षिका द्वारा अधिष्ठित प्रदेश तक चले जाने पर मक्षिका का 'उड़ जाना' होता है; उसी प्रकार रूपालम्बन-आदि द्वारा प्रसाद के घट्टित होने पर, उन प्रसादों के आश्रयभूत महाभूत भी घट्टित हो जाते हैं। उन महाभूतों चलित हो जाने पर अनुक्रम से उनसे सम्बद्ध शेष सभी रूपों के चलित हो जाने से (महाभूत सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं, अतः) हृदयवस्तु का भी चलन हो जाता है और हृदयवस्तु के चलित हो जाने से उसमें आश्रित भवङ्ग की चलनाकार प्रवृत्ति होती है[1]।

विभावनीकार ने अपनी यह उपमा 'सच्चसङ्खेप' नामक ग्रन्थ से ली है और उपमा के अन्त में उन्होंने 'सच्चसङ्खेप' की गाथा का उल्लेख भी किया है। 'सच्चसङ्खेप' और 'विसुद्धिमग्ग-महाटीका' के रचयिता एक ही आचार्य हैं। इन दोनों ग्रन्थों में स्पष्टतया उल्लिखित है कि 'भेरी के जिस पृष्ठ (तल) पर शर्करा-कण के ऊपर मक्षिका बैठी है, उसी पृष्ठ पर किसी अन्य जगह दण्ड-आदि से प्रहार करने पर जैसे मक्षिका उड़ जाती है...' – इत्यादि। किन्तु आचार्य (विभावनीकार) यहाँ भेरीचर्म के दो पृष्ठों का उल्लेख कर, एक पृष्ठ पर प्रहार से दूसरे पृष्ठ पर स्थित मक्षिका के उड़ने का उल्लेख करते हैं; जो आचार्य की असावधानी ही कही जायेगी। अपिच – अपने उदाहरण द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है कि 'रूपालम्बन-आदि का चक्षुःप्रसाद-आदि में सङ्घट्टन होने पर उनके (प्रसाद के) आश्रयभूत महाभूतों के भी घट्टित हो जाने से और अनुक्रम से महाभूतों की घट्टन-परम्परा से हृदयवस्तु के भी घट्टित हो जाने पर उस (हृदयवस्तु) में आश्रित भवङ्ग का चलन होता है' – उनका यह कथन

---

१. "ननु च रूपादिना पसादे घट्टिते तंनिस्सितस्सेव चलनं युत्तं, कथं पन हदयवत्थुनिस्सितस्स भवङ्गस्सा ति ? सन्ततिवसेन एकाबद्धत्ता; यथा हि – भेरिया एकस्मिं तले ठितसक्खराय मक्खिकाय निसिन्नाय अपरस्मिं तले दण्डादिना पहटे अनुक्कमेन भेरीचम्मारत्तादीनं चलनेन सक्खराय चलिताय मक्खिकाय उप्पतित्वा गमनं होति। एवमेव रूपादीनं पसादे घट्टिते तंनिस्सयेसु महाभूतेसु चलितेसु अनुक्कमेन तंसम्बन्धानं सेसरूपानं पि चलनेन हदयवत्थुम्हि चलिते तंनिस्सितस्स भवङ्गस्स चलनाकारेन पवत्ति होति। वुत्तञ्चेतं –

'घट्टिते अञ्ञवत्थुम्हि, अञ्ञनिस्सिकम्पनं।
एकाबद्धेन होतीति, सक्खरोपमया वदे ॥'" – विभा०, पृ० १०८।

भी परमाथ-स्वभाव से बहुत दूर है; क्योंकि पलकमात्र में जब वीथिचित्त कोटिशतसहस्र वार प्रवृत्त हो जाते है तो महाभूत-परम्परा से, घट्टन के, हृदयवस्तु तक पहुँचने में कितने वीथिचित्त उत्पन्न हो जायेंगे ! अतः विभावनीकार का महाभूत-परम्परा से भवङ्गचलन का सिद्धान्त युक्तिसिद्ध प्रतीत नहीं होता ।

प्रश्न – उपर्युक्त कथन के अनुसार 'मनोद्वार' नामक भवङ्ग में आलम्बन के प्रादुर्भूत होने से 'भवङ्गचलन' होता है तो क्यों एक वार भवङ्गचलन होकर नहीं; अपितु दो वार (भवङ्गचलन) होकर भवङ्गसन्तति विच्छिन्न होती है ?

अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भाव से पूर्व विद्यमान भवङ्गसन्तति, जब नव आलम्बन का प्रादुर्भाव होता है तब, एकाएक विच्छिन्न होने में असमर्थ होती है; अतः पूर्वगृहीत आलम्बन में ही दो वार भवङ्गचलन होने के अनन्तर भवङ्गसन्तति का विच्छेद होता है; जैसे – वेग से दौड़नेवाले पुरुष का, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर भी, एकाएक अवरोध न हो सकने के कारण 'एक दो कदम आगे दौड़ना' होता है । यथा –

"यथा वेगेन धावन्तो ठातुकामो न तिट्ठति ।
एवं द्विक्खत्तुं भवङ्गं उप्पज्जित्वा व छिज्जति[1] ।।"

भवङ्गचलन एवं भवङ्गोपच्छेद – "द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते" तथा "द्वे भवङ्ग-चलनानि" – इस प्रकार कहनेवाले आचार्य, अट्ठकथाचार्य की भाँति, चलित होनेवाले दोनों भवङ्गों (भवङ्गचलन और भवङ्गोपच्छेद) को 'भवङ्गचलन' तथा आवर्जन को 'भवङ्गोपच्छेद' – यह नाम देना चाहते हैं[2] ।

यह ठीक है कि "भवङ्गसोतं वोच्छिन्दित्वा तमेव रूपारमणं आवज्जन्तं पञ्चद्वाराव-ज्जनचित्तं" – इस मूलपालि में 'वोच्छिन्दित्वा' का कर्त्ता पञ्चद्वारावर्जनचित्त है तथा "पञ्च रूपावचरानि चत्तारि च अरूपावचरानि अत्तना दिन्नपटिसन्धितो उद्धं असति भवङ्गुपच्छेदके चित्तुप्पादे भवङ्गकिच्चं, अन्ते चुतिकिच्चञ्चा ति किच्चद्वयं साधयमानानि पवत्तन्ति[3]" – इसमें 'असति भवङ्गुपच्छेदके चित्तुप्पादे' द्वारा आवर्जन को ही 'भवङ्गो-पच्छेद' कहा गया है; क्योंकि आवर्जनचित्त ही भवङ्गसन्तति का उपच्छेद करता है,

१. विभा०, पृ० १०७।

२. "तदा चक्खुस्सापाथगते रूपे रूपं पटिच्च चक्खुपसादस्स घट्टना होति । ततो घट्टनानुभावेन भवङ्गचलनं होति । अथ निरुद्धे भवङ्गे, तदेव रूपं आरम्मणं कत्वा, भवङ्गं विच्छिन्दमाना विय आवज्जनकिच्चं साधयमाना किरिय-मनोधातु उप्पज्जति । सोतद्वारादिसु पि एसेव नयो । मनोद्वारे पन छब्बिधे पि आरम्मणे आपाथगते भवङ्गचलनानन्तरं भवङ्गं विच्छिन्दमाना विय आवज्जनकिच्चं साधयमाना अहेतुककिरियमनोविञ्ञाणधातु उप्पज्जति उपेक्खासहगता ति – एवं द्विन्नं किरियविञ्ञाणानं आवज्जनवसेन पवत्ति वेदितब्बा ।" – विसु०, पृ० ३२० ।

विस्तार के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० २१७–२१८ ।

३. विभ० अ०, पृ० १५६ ।

१२. ततो परं एकूनतिसकामावचरजवनेसु* यं किञ्चि लद्धपच्चयं† येभुय्येन

उस वोट्ठपनचित्त के अनन्तर २९ कामावचर जवनचित्तों में से कोई एक जवन (योनिशोमनसिकार-आदि) प्रत्ययों को प्राप्त होकर प्रायः सात

अतः वही 'भवङ्गोपच्छेद' है (अट्ठकथा के अनुसार 'भवङ्गं उपच्छिन्दतीति भवङ्गुपच्छेदो' –ऐसा विग्रह करना चाहिये) तथापि अर्थात् अट्ठकथाओं में चलित होनेवाले दोनों भवङ्गों का 'भवङ्गचलन' एवं आवर्जन का 'भवङ्गोपच्छेद' यह नामकरण किया जाने पर भी टीकाकारों से लेकर प्रारब्ध आचार्यपरम्परा द्वारा द्वितीय भवङ्गचलन का ही 'भवङ्गोपच्छेद'–यह नाम दिया जाने से, तथा आज कल भी वही नाम प्रचलित होने से, यहाँ वीथि में द्वितीय भवङ्गचलन का ही 'भवङ्गोपच्छेद'–इस नाम से व्यवहार किया जायेगा[1]।

'चलतीति चलनं, भवङ्गञ्च तं चलनञ्चाति भवङ्गचलनं' चलनेवाले भवङ्ग को ही 'भवङ्गचलन' कहते हैं। 'उपच्छिज्जतीति उपच्छेदो, भवङ्गञ्च तं उपच्छेदो चा ति भवङ्गुपच्छेदो' उच्छिन्न होनेवाले भवङ्ग को ही 'भवङ्गोपच्छेद' कहते हैं। (आवर्जन, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एवं तदालम्बन के शब्दार्थ एवं अभिप्राय तृतीय परिच्छेद में कहे जा चुके हैं।)

ववट्ठपेन्तं वोट्ठपनचित्तं–इस स्थल पर कहीं 'वोट्ठपन' कहीं 'वोत्थपन' और कहीं 'वोट्ठब्बन'–इस प्रकार तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। यहाँ 'ववट्ठपेन्तं' या 'ववत्थपेन्तं'–ये दो शब्द वोट्ठपन-आदि शब्दों के मूल को दिखानेवाले हैं। यदि 'ववट्ठपेन्तं'–यह मूल होता है तो 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'ठा' धातु में 'णापे' और 'यु' प्रत्यय के योग से 'वोट्ठपन' शब्द सिद्ध होता है। तथा यदि 'ववत्थपेन्तं'–यह मूल होता है तो 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'थप' धातु में 'यु' प्रत्यय के योग से 'वोत्थपन' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार ये दोनों शब्द सिद्ध हो जाते हैं। 'वोट्ठब्बन' में 'थप' धातु के 'थ' के स्थान में 'ठ' आदेश करके तथा उसका द्वित्व करके और 'प' के स्थान में 'व' आदेश करके और उसका भी द्वित्व करके किसी तरह 'वोट्ठब्बन' शब्द भी सिद्ध किया जा सकता है, तथापि यह पाठ प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता।

१२. एकूनतिंस... लद्धपच्चयं–वोट्ठपनचित्त का निरोध होने के अनन्तर जब जवनचित्तों का वेग से गमन (जवन) होता है तब चूंकि रूपालम्बन, कामालम्बन होता है अतः कामजवन ही वेग से जवित होते हैं। महग्गत एवं लोकोत्तर जवनों द्वारा

---

* एकूनतिंस०–म० (क)।

† लद्धप्पच्चयं–सी०, ना०।

१. "तत्थ पठमचित्तं भवङ्गसन्ततिं चालेन्तं विय उप्पज्जतीति भवङ्गचलनं। दुतियं तस्स ओच्छिज्जनाकारेन उप्पज्जनतो भवङ्गुपच्छेदो ति वोहरन्ति। इध पन अविसेसेन वुत्तं–'द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते' ति।"–विभा०, पृ० १०७-१०८; प० दी०, पृ० १३०।

सत्तक्खत्तुं जवति*, जवनानुबन्धानि च द्वे तदारमणपाकानि† यथारहं पवत्तन्ति। ततो परं भवङ्गपातो‡।

वार वेगपूर्वक गमन (जवन) करता है। उस जवन का ही अनुगमन करनेवाले तदालम्बनचित्त दो वार यथायोग्य प्रवृत्त होते हैं। उस (द्वितीय तदालम्बन) के अनन्तर भवङ्गपात होता है।

कामधर्मों का आलम्बन न किया जा सकने के कारणों का ज्ञान 'आलम्बनसङ्ग्रह' में कथित विधि से करना चाहिये[1]; अतः वे (महग्गत एवं लोकोत्तर जवन) यहाँ (पञ्चद्वारवीथि में) जवित नहीं होते। कामजवनों के वेग से जवित होने में भी यहाँ सभी २९ कामजवनों का वेग से गमन नहीं होता; अपितु उनमें से यथानुकूल किसी एक का ही जवन होता है।

"योनिसो भिक्खवे! मनसिकरोतो अनुप्पन्ना चेव कुसला धम्मा उप्पज्जन्ति उप्पन्ना च कुसला धम्मा भावनाय पारिपूरिं गच्छन्ति[2]।"

—इस पालि के अनुसार यदि योनिशोमनसिकार होता है तो कुशलजवन, यदि अयोनिशोमनसिकार होता है तो अकुशलजवन तथा योनिशोमनसिकार होने पर भी यदि वह निरनुशय (अर्हत् की) सन्तान में होता है तो 'क्रियाजवन' ही जवित होते हैं। उस योनिशोमनसिकार का उत्पन्न होना या न होना भी 'अत्तसम्मापणिधि' (आत्मसम्यक्प्रणिधि), 'सद्धम्मसवन' (सद्धर्मश्रवण), 'सप्पुरिसूपनिस्सय' (सत्पुरुषोपनिश्रय), 'पटिरूपदेसवास' (प्रतिरूपदेशवास) एवं 'पुब्बे च कतपुञ्ञता' (पूर्वे च कृतपुण्यता)—आदि सम्पत्तिचक्रों के होने या न होने पर निर्भर करता है[3]।

पूर्व पूर्व भव में कृत कुशलकर्म (पुब्बे च कतपुञ्ञता) सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल का प्रतिरूप (अनुकूल) देश में वास (पटिरूपदेसवास) होता है। प्रतिरूपदेशवास सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल का सत्पुरुषों से समागम (सप्पुरिसूपनिस्सय) होता है। सत्पुरुपोपनिश्रय सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल को सद्धर्म का श्रवण (सद्धम्मसवन) होता है। सद्धर्मश्रवण सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल को अपने काय-वाग् में संयम (अत्तसम्मापणिधि) होता है तथा आत्मसम्यक्प्रणिधि सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल को सभी आलम्बनों में योनिशोमनसिकार होता है। इस क्रम का सम्यग् अनुवर्तन

---

* जवनं जवति—स्या०, रो०।

† ०पाकाणि—रो०।

‡ भवङ्गपातो व—स्या०।

१. द्र०—अभि० स० ३ : ५९-६१, पृ० २६४-२६६।

२. द्र०—सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ८६; अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १४।

३. तु०—खु० नि०, खु० पा० (मङ्गलसुत्त), पृ० ५। अट्ठ०, पृ० ४९ एवं ६२।

न होने पर अयोनिशोमनसिकार-आदि होते हैं। इस कथन के अनुसार प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव में कुशल जवनों के जवित होने में योनिशोमनसिकार आसन्नकारण होता है। आत्मसम्यक्प्रणिधि-आदि पूर्वोक्त कारण दूरस्थ कारण हैं। उन जवनों के सौमनस्य-सहगत, उपेक्षासहगत; असंस्कारिक, ससंस्कारिक-आदि होने में भी अपने अपने कारण होते हैं। उन कारणों के सम्बन्ध में चित्तपरिच्छेद में कहा जा चुका है[1]। इस प्रकार २६ कामजवनों में से अनुरूप किसी एक जवन का ही वेग से जवन होने के कारण 'यं किञ्चि लद्धपच्चयं' कहा गया है[2]।

येभुय्येन सत्तक्खत्तुं जवति—उपर्युक्त प्रकार से वेगपूर्वक गमन करने योग्य जवन भी एक वीथि में सात वार ही प्रवृत्त होता है और यह सात वार प्रवृत्ति भी प्रायिक ही है; क्योंकि सामान्यकाल में जवन कभी कभी छह वार भी प्रवृत्त होते हैं। अतएव आचार्य ने 'जवन नियम' में 'परित्तजवनवीथियं कामावचरजवनानि सत्तक्खत्तुं छक्खत्तुमेव वा जवन्ति[3]'—ऐसा प्रतिपादन किया है। 'विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा' में भी "वोट्ठपनानन्तरं पन सचे महन्तं होति रूपादि-आरम्मणं...छ वा सत्त वा जवनानि जवन्ति[4]"—इस प्रकार कहा गया है। मरणासन्न काल में, वृक्ष-आदि से गिरने या जल में डूबने-आदि की वजह से मूर्च्छाकाल में, अथवा स्वप्नकाल-आदि में जवन पाँच वार भी प्रवृत्त होते हैं। अतएव आचार्य ने 'जवन नियम' में 'मन्दप्पवत्तियं पन मरणकालादीसु पञ्चवारमेव[5]'—ऐसा कहा है। तथा विसुद्धिमग्ग-महाटीकाकार ने भी "'छ वा सत्त वा' ति 'वा' सद्देन 'पञ्च वा' ति इदं पि वुत्तमेवा ति दट्ठब्बं। सुत्तमुच्छितादिकाले हि पञ्च पि जवनानि जवन्तीति[6]"—ऐसा प्रतिपादन किया है।

जवनानुबन्धानि च द्वे तदारमणपाकानि—जवन के द्वारा आलम्बन के रस का अनुभव कर चुकने के कारण जवन के अन्त में विपाकविज्ञान (तदालम्बनचित्त) को भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होना चाहिये; फिर भी जैसे—जलधारा की स्वभावतः

---

१. द्र०—अभि० स० १:४ की व्याख्या।

२. "योनिसोमनसिकारादिवसेन लद्धो पच्चयो येना ति लद्धपच्चयं; यं किञ्चि जवनं जवतीति सम्बन्धो।"—प०दी०, पृ० १३१।
"योनिसोमनसिकारादिवसेन लद्धो पच्चयो एतेना ति लद्धपच्चयं; यं किञ्चि जवनं ति सम्बन्धो।"—विभा०, पृ० १०८।
तु०—"लद्धप्पच्चयं योनिसो आवज्जनं उप्पन्नं द्वे कुसलजवनं, अयोनिसो द्वे अकुसलजवनं; खीणासवसन्तानेसु क्रियजवनं जवति।"—अभि० स० टी०, पृ० ३१३।
द्र०—विसु०, पृ० ३२१।

३. द्र०—अभि० स० ४:३६।

४. विसु०, पृ० ३२०।

५. द्र०—अभि० स० ४:३७।

६. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३।

निम्नाभिमुख प्रवृत्ति होने पर भी उस (जलधारा) का कुछ अंश प्रतिस्रोतोगामी नाव या पोत का कुछ दूर तक अनुगमन करता है, उसी प्रकार वेगवान् जवन के पीछे विपाकविज्ञान दो बार तदालम्बन कृत्य करते हुए अनुप्रवृत्त होता है। अतएव विपाक-विज्ञानचित्त स्वभावतः अपने आलम्बनभूत कर्म, कर्मनिमित या गतिनिमित्त का ग्रहण करते हुए जवन का अनुगामी न होकर, जवन द्वारा गृहीत आलम्बन का ही ग्रहण करते हुए प्रवृत्त होता है और इसीलिये 'तदालम्बन' शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है[1]।

यथारहं – काम-जवन, काम-सत्त्व, अतिमहद्-आलम्बन या विभूत कामालम्बन – इन तीन प्रत्ययों के सम्पन्न होने पर ही तदालम्बन का उत्पाद होता है[2]। इन त्रिविध कारणों में से 'एकूनतिंसकामावचरजवनेसु' के द्वारा कामावचरजवनों के कारणत्व को तथा 'एकचित्तक्खणातीतकं रूपारमणं' के द्वारा अतिमहद्-आलम्बन के कारणत्व को स्पष्टतः दिखलाकर, पुद्गल के अनुसार तदालम्बन के होने या न होने को अर्थात् पुद्गल के कारणत्व को दिखलाने के लिये 'यथारहं' शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा – यदि कामभूमि का सत्त्व होगा तो तदालम्बन का उत्पाद होगा, यदि कामभूमि का सत्त्व न होगा तो तदालम्बन का उत्पाद नहीं होगा।

पूर्वाचार्यों ने 'यथारहं' की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'यथारहं ति आरम्मणजवन-

---

१. "जवनावसाने पन सचे पञ्चद्वारे अतिमहन्तं, मनोद्वारे च विभूतमारम्मणं होति, अथ कामावचरसत्तानं... तीसु विपाकाहेतुकमनोविञ्ञाणधातुसु च अञ्ञतरं, पटिसोतगतं नावं अनुबन्धमानं किञ्चि अन्तरं उदकमिव, भवङ्गस्सारम्मणतो अञ्ञस्मिं आरम्मणे जवितं जवनमनुबन्धन्तं द्विक्खत्तुं सकिं वा विपाकविञ्ञाणं उप्पज्जति। तदेतं जवनावसाने भवङ्गस्स आरम्मणे पवत्तनारहं समानं तस्स जवनस्स आरम्मणं आरम्मणं कत्वा पवत्तत्ता तदारम्मणं ति वुच्चति।" – विसु०, पृ० ३२१।

"यथा हि चण्डसोते तिरियं नावाय गच्छन्तिया उदकं छिज्जित्वा थोकं ठानं नावं अनुबन्धित्वा यथासोतमेव गच्छति; एवमेव छसु द्वारेसु बलवारम्मणे पलोभयमाने आपाथगते जवनं जवति।... इदं पन चित्तं भवङ्गस्स वारं अदत्वा जवनेन गहितारम्मणं गहेत्वा एकं द्वे चित्तवारे पवत्तित्वा भवङ्गमेव ओतरति।" – अट्ठ०, पृ० २१४।

"जवनानुबन्धानी ति – पटिसोतगामिनावं नदीसोतो विय किञ्चि कालं जवनं अनुगतानि। तस्स जवनस्स आरम्मणं आरम्मणमेतेसं ति तदारम्मणानि।" – विभा०, पृ० १०८–१०९।

"जवनानुबन्धानी ति – यथा पटिसोतं गच्छन्तं नावं उदकं थोकं अनुबन्धति अनुगच्छति; एवं जवनं अनुबन्धानि। द्वे तदारम्मणपाकानी ति – द्विक्खत्तुं तदारम्मणकिच्चानि विपाकचित्तानि पवत्तन्ति।" – प० दी०, पृ० १३१।

२. द्र० – अभि० स० ४:३५।

सत्तानुरूपं' के द्वारा आलम्बन, जवन एवं सत्व – इन तीनों कारणों के होने या न होने के वश से तदालम्बन के होने या न होने का व्याख्यान किया है[1]। किन्तु आचार्य अनुरुद्ध ने जब मूल में ही जवन एवं आलम्बन के कारणत्व का कथन कर दिया है तो ऐसी हालत में पूर्वाचार्यों के उपर्युक्त व्याख्यान पर विचार करना चाहिये।

ततो परं भवङ्गपातो – अट्ठकथाओं एवं टीकाओं में भवङ्गसन्तति की प्रवृत्ति के समय अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भाव से होनेवाली वीथिचित्तों की 'उत्पत्ति' को "भवङ्गतो उत्तरणं" अर्थात् अभिनव आलम्बन का ग्रहण करके भवङ्गस्रोत से ऊपर उठना; तथा वीथिचित्तों के उच्छिन्न हो जाने पर पुनः भवङ्ग की 'उत्पत्ति' को "भवङ्गोतरणं" भवङ्ग की ओर अवतरण या "भवङ्गपात" भवङ्ग की ओर चित्तसन्तति का पतन या "भवङ्गपवेसनं" अर्थात् भवङ्ग की ओर चित्तसन्तति का प्रवेश – आदि शब्दों द्वारा कहा गया है[2]।

वस्तुतः वीथिचित्तों का उत्पन्न होना – पाषाण-आदि के पतन से शान्त जल के चलित (अशान्त) होकर ऊपर उठने की भाँति, अभिनव आलम्बन के अभिनिपात से शान्त भवङ्गसन्तति का चलित (अशान्त) होकर (वीथिचित्तों के रूप में) ऊपर उठना है। तथा भवङ्गसन्तति का उत्पन्न होना – उस उत्थित जल के (सतह की ओर) उतर कर या प्रवेश कर पुनः शान्त होने की भाँति उत्थित चित्तसन्तति का (भवङ्ग की ओर) उतर कर या प्रवेश कर पुनः शान्त होना है। अतएव इसे 'भवङ्गपात' कहते हैं।

परमत्थदीपनीकार का कथन है कि "चित्तसन्तति आवर्जन से लेकर चतुर्थ जवन-पर्यन्त उद्गमन करती (ऊपर उठती) रहती है तथा पञ्चम जवन से लेकर धीरे धीरे नीचे की ओर गमन करती हुई द्वितीय तदालम्बन के भङ्गक्षण में वेग समाप्त हो जाने से पूर्णतः अवपतित हो जाती है, अतः इसे 'भवङ्गपात' कहते हैं[3]"। यह विचारणीय हैं।

चित्त का प्रादुर्भाव – उपर्युक्त चित्त उपयुक्त अवसर प्राप्त होने पर योग्य स्थान में उत्पन्न होने की प्रतीक्षा में स्कन्ध के भीतर सामूहिक रूप से कहीं तैयार होकर

---

१. विभा०, पृ० १०९; प० दी०, पृ० १३१।

२. विभ० अ०, पृ० ४११; अट्ठ०, पृ० २१८; ध० स० मू० टी०, पृ० १२९; प० दी०, पृ० १३२; विभा०, पृ० १०९।

३. "भवङ्गपातो ति इमस्मिं अतिमहन्तारम्मणे आवज्जनतो पठमभवङ्गचलनतो येव वा पट्ठाय उट्ठितं समुट्ठितं चित्तसन्तानं याव चतुत्थजवना समुट्ठहित्वा, पञ्चमजवनतो पट्ठाय पतितमेव होति। एवं सन्ते पि समुट्ठितवेगस्स सब्बसो अपरिक्खीणताय पतितं ति न वुच्चति। दुतियतदारम्मणतो परं पन समुट्ठित-वेगस्स सब्बसो परिक्खीणत्ता तदा एव तं चित्तसन्तानं पतितं नाम होति; तस्मा – पतनं पातो, भवङ्गभावेन चित्तसन्तानस्स पातो भवङ्गपातो। 'भवङ्गं हुत्वा पातो' ति अत्थो दट्ठब्बो। 'भवङ्गकिच्चे भवङ्गट्ठाने भवङ्गारम्मणे च पातो भवङ्गपातो' ति वा।" – प० दी०, पृ० १३१-१३२।

बैठा नहीं रहता और न तो बाहर ही कहीं उन (चित्तों) को सङगृहीत करके रखनेवाली कोई (ईश्वर, महेश्वर, ब्रह्मा-आदि) शक्ति ही होती है। वस्तुतः वस्तु, आलम्बन एवं मनसिकार-आदि सम्बद्ध कारणों के सन्निपतित होने पर उस (चित्त) का एकाएक (अपूर्व) उत्पाद होता है; जैसे – सूर्य, मणि, एवं इन्धन के संयोग से अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। जैसे अपने उत्पाद से पूर्व अग्नि न तो सूर्य में, न मणि में और न इन्धन में ही विद्यमान होती है; अपितु इन तीनों कारणों के समागम से धातु-स्वभाव के अनुसार वह एकाएक उत्पन्न हो जाती है; उसी प्रकार जब प्रसाद, आलम्बन एवं मनसिकार-आदि कारणों का समागम होता है तो चित्त का अपने आप उत्पाद हो जाता है।

"मणिन्धनातपे अग्गि असन्तो पि समागमे।
यथा होति तथा चित्तं वत्थालम्बादिसङ्गमे[1] ॥"

वीथिसन्तति की आम्रोपमता–चित्त वीथि को सरलता से स्पष्टतः समझाने के लिये आम्रफल इक्षुनाडीयन्त्र, दौवारिक, मकड़े-आदि की अनेकविध उपमाएँ दी जाती हैं[2]। उनमें से यहाँ आम्र की उपमा प्रस्तुत की जाती है।

यथा – एक पुरुष फलदार आम्रवृक्ष के नीचे सिर से पैर तक ढककर सो रहा है। पास गिरे एक आम के फल के शब्द को सुनकर जागता है। सिर से कपड़े को हटाकर आँख खोलता है, देखता है, उसे उठा लेता है। मलकर, सूँघकर, पका जान उसे खाता है। मुख में पड़े रस को लारसहित निगल कर फिर उसी तरह सो जाता है। यहाँ पुरुष के निद्रित रहने के काल के समान भवङ्गकाल है। फल के पतनकाल के समान आलम्बन का प्रसाद में सङ्घट्टनकाल है। उस (आम्रफल) के गिरने से जाग उठने के काल के समान आवर्जनकाल है। आँख खोलकर देखने के काल के समान चक्षुर्विज्ञान की प्रवृत्ति का काल है। (आम्रफल के ग्रहणकाल के समान सम्पटिच्छन का काल है। मर्दन करने (मलने) के समान सन्तीरण का काल है। सूंघकर निश्चय करने के काल के समान वोट्ठपन (व्यवस्थापन) का काल है। परिभोग (खाने) के काल के समान जवन का काल है। मुख में पड़े रस को लारसहित निगल जाने के काल के समान तदालम्बन का काल है। पुनः (दुबारा) सो जाने के काल के समान पुनः भवङ्ग का काल है[3]।

इस उपमा से यह ज्ञात होता है कि आलम्बन का कृत्य प्रसादघट्टन ही है। इस प्रकार आलम्बन द्वारा प्रसाद के घट्टित हो जाने पर, आवर्जन का, भवङ्ग को अभिनव आलम्बन की ओर अभिमुख करना ही, कृत्य है। चक्षुर्विज्ञान का दर्शनमात्र कृत्य है। इसी प्रकार सम्पटिच्छन का आलम्बन का ग्रहणमात्र, सन्तीरण का आलम्बन का विचारमात्र तथा वोट्ठपन का आलम्बन का निश्चयमात्र कृत्य है। आलम्बन के

१. सच्च० ३११ का०, पृ० २१।
२. "सुत्तं दोवारिको च गामिल्लो अम्बो कोलियकेन च।" – अट्ठ०, प० २२५।
३. विभा०, पृ० १०६; अट्ठ०, पृ० २१६।

रस का अनुभव तो एकान्तरूप से जवन ही करता है। जवन द्वारा अनुभूत आलम्बन का ही पुनः अनुभव करना तदालम्बन का कृत्य है। इस प्रकार कृत्यों के वश से चित्त-धर्मों का परस्पर असङ्कीर्ण स्वभाव ज्ञात होता है[1]।

उपर्युक्त प्रकार से होनेवाली चित्तों की प्रवृत्ति में – 'तुम भवङ्ग हो जाओ, तुम भवङ्ग के अनन्तर आवर्जन के रूप में हो जाओ' – इत्यादि प्रकार से चित्तों को अभिसंस्कृत (प्रेरित) करनेवाली ईश्वर, ब्रह्मा-आदि नामक कोई प्रभुतासम्पन्न सत्ता नहीं है। पूर्वोक्त उपमा के अनुसार आलम्बन का प्रसाद में सङ्घट्टनकृत्य, आवर्जन का, भवङ्ग-सन्तति का विच्छेदकृत्य एवं चक्षुर्विज्ञान-आदि का दर्शनकृत्य – आदि का स्वभावतः नियम के अनुसार होना, चित्तनियम की आश्चर्यजनक विचित्रता है[2]।

यहाँ चित्तों के उत्पाद के प्रसङ्ग में पाँच नियमों (धर्मताओं) को जानना चाहिये; यथा – (क) बीजनियम, (ख) ऋतुनियम, (ग) कर्मनियम, (घ) धर्म-नियम एवं (ङ) चित्तनियम[3]।

(क) कुलत्थ के क्षुप (पौधे) का उत्तराग्र (उत्तराभिमुख) होना, दक्षिणलता का दक्षिण की ओर से वृक्ष का ग्रहण करना, सूरजमुखी का सूर्य की ओर अभिमुख रहना, मालुवलता का वृक्ष की ओर अनुगमन, नारिकेल के मस्तक पर छिद्र का होना – इस प्रकार उन उन बीजों का अपने सदृश फल देना 'बीजनियम' है।

(ख) उस उस काल में उन उन वृक्षों का पत्र, पुष्प या फल देना – आदि 'ऋतुनियम' है।

(ग) त्रिहेतुक कर्म त्रिहेतुक, द्विहेतुक या अहेतुक विपाक देता है। द्विहेतुक कर्म द्विहेतुक या अहेतुक विपाक देता है, त्रिहेतुक विपाक कभी नहीं देता – इस प्रकार उस उस कर्म का अपने सदृश विपाक देना 'कर्मनियम' है।

---

१. "आरम्मणस्स पसादघट्टनमेव किच्चं, आवज्जनस्स विसयवुज्झनमेव, चक्खुविञ्ञाणस्स दस्सनमत्तमेव, सम्पटिच्छनादीनञ्च पटिग्गण्हनादिमत्तमेव, जवनस्सेव पन आरम्मणरसानुभवनं, तदारम्मणस्स च तेन अनुभूतस्सेव अनुभवनं ति – एवं किच्चवसेन धम्मानं अञ्ञमञ्ञं असङ्किण्णता दीपिता होति।" – विभा०, पृ० १०९; अट्ठ०, पृ० २१९-२२०।

२. "एवं पवत्तमानं पन चित्तं 'त्वं आवज्जनं हुत्वा भवङ्गानन्तरं होहि, त्वं दस्सनादीसु अञ्ञतरं हुत्वा आवज्जनानन्तरं' त्यादिना नियुञ्जके कारके असति पि उतुबीजनियामादि विय चित्तनियामवसेनेव पवत्ततीति वेदितब्बं।" – विभा०, पृ० १०९।

"एत्थ च 'त्वं भवङ्गं नाम होहि, त्वं आवज्जनं नाम, त्वं दस्सनं नाम, त्वं सम्पटिच्छनं नाम, त्वं सन्तीरणं नाम, त्वं वोट्ठपनं नाम, त्वं जवनं नाम, त्वं तदारम्मणं नाम होही' ति कोचि कत्ता वा कारेता वा नत्थि।" – अट्ठ०, पृ० २२०।

३. द्र० – अट्ठ०, पृ० २२०।

१३. एत्तावता, चुद्दस वीथिचित्तुप्पादा, द्वे भवङ्गचलनानि, पुब्बे वातीतकमेकचित्तक्खणं ति कत्वा सत्तरस चित्तक्खणानि परिपूरेन्ति, ततो परं निरुज्झति। आरमणमेतं अतिमहन्तं नाम गोचरं।

इस (कथित) क्रम से – चौदह वीथिचित्तोत्पाद, दो भवङ्गचलन (यहाँ भवङ्गोपच्छेद को भी भवङ्गचलन कहा गया है), पहले ही अतीत एक चित्तक्षण – इस प्रकार करके, सत्रह चित्तक्षण (रूपधर्मों की आयु) परिपूर्ण होते हैं। इस तरह सत्रह चित्तक्षण परिपूर्ण होने के अनन्तर (वीथिचित्तसन्तति) निरुद्ध होती है। यह आलम्बन 'अतिमहद्' नामक गोचर (विषय) होता है।

(घ) बोधिसत्वों के प्रतिसन्धिग्रहण करने के काल में, मातृ-कुक्षि से निष्क्रमणकाल में, अभिसम्बोधि के काल में; तथागत के धर्मचक्रप्रवर्तन करने के काल में तथा महापरिनिर्वाण के काल में दस सहस्र चक्रवालों का कम्पित होना 'धर्म नियम' है।

(ङ) आलम्बन द्वारा प्रसाद के घट्टित हो जाने पर 'तुम भवङ्ग के रूप में हो जाओ,... तुम जवन के रूप में हो जाओ' – इस प्रकार कोई करनेवाला (कर्त्ता) या करानेवाला (कारयिता) नहीं है। अपनी धर्मतावश ही आलम्बन द्वारा प्रसाद के घट्टनकाल से लेकर आवर्जन भवङ्ग का विच्छेदकृत्य, चक्षुर्विज्ञान दर्शनकृत्य, सम्पटिच्छन आलम्बन का ग्रहणकृत्य, इसी प्रकार सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, एवं तदालम्बन अपने अपने कृत्य सिद्ध करते हैं – यह 'चित्तनियम' है[1]।

१३. रूपालम्बन के उत्पाद से लेकर यदि गणना की जाये तो द्वितीय तदालम्बन के भङ्गपर्यन्त चित्तक्षणों की सङ्ख्या सत्रह पूर्ण होती है (यह गणना पालि देखकर जाननी चाहिये)। रूप-धर्मों की आयु सत्रह चित्तक्षण ही होती है, अतः उत्पन्न रूपालम्बनों का जीवन (आयु) सत्रह चित्तक्षणकाल में परिपूर्ण हो जाने से वे निरुद्ध हो जाते हैं। एक चित्तक्षण अतीत होने के अनन्तर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन की, उसके प्रादुर्भाव से लेकर गणना की जाये तो सोलह चित्तक्षणों तक जीवित रहनेवाला यह आलम्बन सबसे दीर्घायु होता है। इससे अधिक आयुवाला कोई आलम्बन नहीं होता, अतः इसे 'अतिमहद्-आलम्बन' कहते हैं।

तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बनवीथि – रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद दोनों के युगपद् (एक साथ) उत्पाद से लेकर एक भवङ्गचित्त को अतीत करके रूपालम्बन का चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भाव (अभिनिपात) होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, सात वार जवन, तथा दो वार तदालम्बन होने के अनन्तर (इस प्रकार) रूपालम्बन एवं चक्षुः-

---

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० २२०, २२१।

प्रसाद दोनों की सत्रह चित्तक्षण आयु को पूर्ण करके द्वितीय तदालम्बनचित्त के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बनवीथि' कहलाती है। इसके अनन्तर यथासम्भव भवङ्गपात होता है। (अन्तिम तदालम्बनचित्त तक होनेवाले चित्तवार को 'तदालम्बनवार' कहते हैं।)

वीथि

उदाहरणस्वरूप यहाँ उपर्युक्त वीथि का प्रारूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें एक एक चित्त के नीचे जो तीन तीन शून्य (विन्दु) चिह्नित हैं, वे उन (चित्तों) के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग के सूचक हैं। उन (शून्यों) के ऊपर प्रयुक्त चित्तों के ज्ञापक एकाक्षर चिह्नों को इस प्रकार समझना चाहिये, यथा–ती=अतीतभवङ्ग, न=भवङ्गचलन, द=भवङ्गोपच्छेद, प=पञ्चद्वारावर्जन, च=चक्षुर्विज्ञान, स=सम्पटिच्छन, ण=सन्तीरण, वो=वोट्ठपन, ज=जवन, त=तदालम्बन, भ=भवङ्ग।

ती	न	द	'प	च	स	ण	वो	ज	ज	ज	ज	ज	ज	ज	त	त'
०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००

इस प्रारूप में ' ' इस चिह्न के अन्तवर्ती चित्त वीथिचित्त हैं। इस चिह्न से बाहर के चित्त 'भवङ्गचित्त' हैं। भवङ्गचित्त कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन त्रिविध आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन का आलम्बन करते हैं। पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त सभी वीथिचित्त प्रादुर्भूत (गोचरभाव को प्राप्त) प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करते हैं। इनमें से चक्षुर्विज्ञानचित्त चक्षुर्वस्तु का आश्रय करता है तथा शेष भवङ्ग एवं वीथिचित्त अपने अपने पूर्ववर्त्ती चित्तों के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं[1]।

[विस्तार के लिये इस परिच्छेद के अन्त में 'वीथिसमुच्चय' देखें।]

श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, एवं काय द्वारिक अतिमहद्-आलम्बनवीथियों को भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक
अतिमहद्-आलम्बनवीथि समाप्त।

---

१. "यत्थ हि रूपारम्मणं घट्टेति तं चक्खुवत्थुं निस्साय तत्थ घट्टितं रूपारम्मणं आरब्भ चक्खुविञ्ञाणं उप्पज्जति। इतरानि पन आवज्जनादीनि मनोविञ्ञाणानि अत्तनो अत्तनो अतीतानन्तरचित्तेन सहुप्पन्नं हदयवत्थुं निस्साय तमेवारम्मणं आरब्भ उप्पज्जन्ति।...अयञ्च वीथि चक्खुद्वारे उप्पन्नत्ता 'चक्खुद्वारवीथी' ति, चक्खुविञ्ञाणेन उपलक्खितत्ता 'चक्खुविञ्ञाणवीथी' ति च वुच्चति; एकचित्तक्खणं अतिक्कम्म घट्टनसमत्थे अतिबलवारम्मणे उप्पन्नत्ता 'अतिमहन्तारम्मणवीथी' ति च वुच्चतीति।" –प० दी०, पृ० १३२।

महन्तारमणवीथि

१४. याव तदारमणुप्पादा पन अप्पहोन्तातीतकमापातमागतं आरमणं महन्तं नाम। तत्थ जवनावसाने भवङ्गपातो व होति, नत्थि तदारमणुप्पादो।

तदालम्बन के उत्पाद (दो बार होने) तक भी स्थित होने में असमर्थ होते हुए (कुछ चित्तक्षण) अतीत होने पर अभिनिपात (प्रादुर्भाव= गोचरभाव) को प्राप्त आलम्बन 'महद्-आलम्बन' है। वहाँ (महद्-आलम्बन-वीथि में) जवन के अन्त में भवङ्गपात ही होता है, (यहाँ) तदालम्बन का उत्पाद नहीं है।

जवनवार, चक्षुर्द्वारिक
महद्-आलम्बनवीथि

१४. याव...अतीतकं – (इस वीथि में) प्रादुर्भूत आलम्बन, तदालम्बन के उत्पाद तक भी प्रवृत्त होने में (स्थितिक्षण में विद्यमान रहने में) असमर्थ होता है। अर्थात् वह (महद्-आलम्बन) तदालम्बन की उत्पत्ति के पूर्व ही निरुद्ध हो जाता है। शीघ्र प्रादुर्भूत न हो सकने के कारण कुछ चित्तक्षण अतीत होने पर सम्बद्ध द्वार में प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन को 'अतीतक' कहा जाता है। यह 'अतीतक' भी 'पहोन्तातीतक' (समर्थ-अतीतक) एवं 'अप्पहोन्तातीतक' (असमर्थ-अतीतक) – इस प्रकार द्विविध होता है। पूर्वोक्त अतिमहद्–आलम्बन भी एकचित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होने से 'अतीतक' है; किन्तु वह 'अतीतक' तदालम्बन के उत्पाद तक स्थित रहने में समर्थ होने के कारण 'पहोन्तातीतक' कहा जाता है। यह महद्-आलम्बन दो, तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होने से तदालम्बन के उत्पाद तक स्थित रहने में असमर्थ होने के कारण 'अप्पहोन्तातीतक' कहा जाता है[1]।

प्रश्न – यह महद्-आलम्बन अपने उत्पाद के अनन्तर दो या तीन चित्तक्षण अतीत होने पर ही सम्बद्ध द्वार में प्रादुर्भूत हो सकने में क्यों समर्थ होता है ?

उत्तर – रूपालम्बन के प्रादुर्भाव में कारणभूत रूपालम्बन, चक्षुःप्रसाद एवं आलोक – इन तीनों में से किसी एक कारण के दुर्बल होने से (अतिमहद्-आलम्बन की भाँति

---

१. " 'याव तदारम्मणुप्पादा पन अप्पहोन्तातीतकं ति' द्विक्खत्तुं याव तदारम्मणुप्पादा पवत्तितुं अप्पहोन्तं हुत्वा अतीतद्वत्तिचित्तक्खणिकं। यस्स हि द्वे वा तीणि वा चित्तक्खणानि अतीतानि होन्ति, तं याव तदारम्मणुप्पादा पवत्तितुं नप्पहोति, न सक्कोति। एवं अप्पहोन्तं हुत्वा अतीतकं ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १३३।

" 'अप्पहोन्तातीतकं' ति – अप्पहोन्तं हुत्वा अतीतं। 'नत्थि तदारम्मणुप्पादो' ति – चुद्दसचित्तक्खणायुके ताव आरम्मणस्स निरुद्धत्ता व तदारम्मणं नुप्पज्जति।" – विभा०, पृ० ११०।

इन त्रिविध कारणों के प्रबल न होने से) यह महद्-आलम्बन अपने उत्पाद के अनन्तर दो या तीन चित्तक्षण अतीत होने पर ही सम्बद्ध द्वार में प्रादुर्भूत हो सकने में समर्थ हो पाता है।

प्रश्न–सभी महदालम्बन समान होने पर भी क्यों कुछ दो चित्तक्षण अतीत होने पर और कुछ तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होने में समर्थ होते हैं?

उत्तर–आलम्बन, प्रसाद एवं आलोक–इन कारणों के बल के अनुसार ऐसा होता है। यदि आलम्बन-आदि कारण प्रबल होते हैं तो दो चित्तक्षण अतीत होने पर और यदि क्षीणबल होते हैं तो तीन चित्तक्षण अतीत होनेपर प्रादुर्भूत होते हैं।

दो चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन एवं तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन–ये दोनों प्रकार के आलम्बन जवनवार वीथि के आलम्बन होने के कारण 'महद्-आलम्बन' (महन्तालम्बन) कहे जाते हैं।

नत्थि तदारमणुप्पादो–यहाँ (इस वीथि में) जवन के अन्त में भवङ्गपात ही हो जाता है, तदालम्बन नहीं होता; क्योंकि रूपालम्बन की सत्रह चित्तक्षण आयु तदालम्बन के उत्पाद से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। अर्थात् तदालम्बन के उत्पाद तक आलम्बन विद्यमान नहीं रहता।

तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन की आयु सप्तम जवन के भङ्ग के साथ सत्रह चित्तक्षण पूर्ण हो जाने से, परिसमाप्त हो जाती है; अतः इस प्रकार के आलम्बन में तदालम्बन का उत्पाद नहीं हो सकता–यद्यपि यह ठीक है; किन्तु दो चित्तक्षणमात्र अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन की आयु सप्तम जवन के अनन्तर भी एक चित्तक्षण अवशिष्ट रहने के कारण, एक वार तदालम्बन होने के लिये अवसर उपस्थित होने पर भी ऐसे आलम्बन में क्यों तदालम्बन एक वार (एक चित्तक्षण) प्रवृत्त नहीं होता?

समाधान—यदि तदालम्बन प्रवृत्त होगा तो वह दो वार ही प्रवृत्त होगा और यदि नहीं होगा तो एक वार भी प्रवृत्त नहीं होगा; तदालम्बन की यही चित्तधर्मता है; अतः पूर्वोक्त प्रकार के आलम्बन की एक चित्तक्षण आयु अवशिष्ट होने पर भी उस निरोधाभिमुख आलम्बन का आलम्बन करके तदालम्बन एक वार भी प्रवृत्त नहीं होता[1]।

---

१. "द्विक्खत्तुमेव हि तदारम्मणुप्पत्ति पाळियं नियमिता। चित्तप्पवत्तिगणनायं सब्बवारेसु तदारम्मणानि द्वे ति द्विन्नमेव चित्तवारानं आगतत्ता।"–विभा०, पृ० ११०।

"यस्स पन द्वे चित्तक्खणानि अतीतानि, तस्मिं सत्तमजवनतो परं एकचित्तक्खणायुकावसेसे एकेन तदारम्मणेन उप्पज्जितब्बं ति चे? न; न हि तादिसं निरोधासन्नं आरम्मणं एकवारं पि तदारम्मणुप्पत्तिया पच्चयो भवितुं सक्कोतीति। तथा हि–महा-अट्ठकथायं विपाकुद्धारे चित्तप्पवत्तिगणनायं तदारम्मणानि द्वे ति द्वे एव तदारम्मणवारा आगता ति।"–प० दी०, पृ० १३३।

आलम्बन-नानात्व अनभीष्ट – यदि तदालम्बन का 'दो वार होना' स्वभाव (धर्मता) है तो प्रथम तदालम्बन अनिरुद्ध प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करके तथा द्वितीय तदालम्बन निरुद्ध अतीत रूपालम्बन का आलम्बन करके – इस प्रकार तदालम्बन दो वार प्रवृत्त क्यों नहीं होता ?

समाधान – यदि मार्गवीथि या फलवीथि नहीं होती है तो अन्यविध किसी एक वीथि के भीतर ही 'एक प्रत्युत्पन्न आलम्बन और एक अतीत आलम्बन' – इस प्रकार आलम्बन का भेद अस्वाभाविक है। अतः प्रथम तदालम्बन प्रत्युत्पन्न आलम्बन का आलम्बन करके तथा द्वितीय तदालम्बन अतीत आलम्बन का आलम्बन करके – इस प्रकार तदालम्बन दो वार प्रवृत्त नहीं हो सकता[1]। कहा भी है –

"द्विवारत्ता निरुद्धत्ता तदालम्बं न जायति ।
अतीते पि च आलम्बे नानारमणभावतो ।
न हि मग्गफलाञ्ञत्र नानारमणसम्भवो[2] ।।"

उपर्युक्त कथन के अनुसार महद्-आलम्बन का आलम्बन करके तदालम्बन के अनुत्पादवाली वीथि को जानना चाहिये।

इसके अनन्तर 'विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरितं[3]' – के अनुसार विभूत-आलम्बन एवं अतिमहद्-आलम्बन में ही तदालम्बन की प्रवृत्ति को कहेंगे। यही आचार्य-परम्परा का मत है[4]।

"सकिं द्वे वा तदालम्बं सकिमावज्जनादयो[5] ।"

इस कथन के अनुसार तथा मज्झिमभाणकथेर एवं मूलटीका के अनुसार तदालम्बन एक वार भी हो सकता है[6]।

यह महद्-आलम्बन दो या तीन चित्तक्षण अतीत होने पर ही चक्षुःप्रसाद-आदि में प्रादुर्भूत हो पाता है और चूंकि यह सात वार जवन होने तक ही विद्यमान (स्थित) रहता है; अतः इसे तीन चित्तक्षण से अधिक चित्तक्षण-अतीत नहीं होना चाहिये। प्रादुर्भाव से पूर्व ही तीन चित्तक्षण अतीत हो जाने से यह चौदह चित्तक्षण तक ही स्थित

---

१. "न हि एकवीथियं केसुचि पच्चुप्पन्नारम्मणेसु कानिचि अतीतारम्मणानि होन्ति ।" – विभा०, पृ० ११० ।

२. व० भा० टी० । तु० – विभा०, पृ० ११०; प० दी०, पृ० ११३-१३४ ।

३. द्र० – अभि० स० ४ : ३५ ।

४. अतिमहन्तं ति – सोळसचित्तक्खणायुकं । तत्थ हि तदारम्मणचित्तं उप्पज्जति, न अञ्ञत्थ । विभूतं ति – सुपाकटं, तञ्च कामावचरमेव । तत्थ हि तदारम्मणस्स उप्पत्ति ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३ ।

५. परम० वि०, पृ० १४ ।

६. विसु०, पृ० ३२१; अट्ठ०, पृ० ३३०; ध० स० मू० टी०, पृ० १३४ । द्र० – प० दी०, पृ० १३४; विभा०, पृ० ११० ।

परित्तारमणवीथि

१५. याव जवनुप्पादा पि अप्पहोन्तातीतकमापातमागतं आरमणं

जवन के (सात वार) उत्पाद तक भी स्थित होने में असमर्थ होते हुए (कुछ चित्तक्षण) अतीत होने पर अभिनिपात को प्राप्त आलम्बन

रहता है। इसी प्रकार दो चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन उसके प्रादुर्भाव-काल से गणना करने पर पन्द्रह चित्तक्षणपर्यन्त ही स्थित रहता है। इस प्रकार यह (महद्-आलम्बन) अतिमहद्-आलम्बन की भांति इससे अधिक चित्त-क्षणपर्यन्त स्थित न रह सकने के कारण 'महद्-आलम्बन' कहा जाता है[1]।

रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों के एक साथ उत्पाद से लेकर गणना करने पर, अतीतभवङ्ग दो वार होने पर, रूपालम्बन चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भूत होता है और तदनन्तर भवङ्गचलन-भवङ्गोपच्छेद-पञ्चद्वारावर्जन-चक्षुर्विज्ञान-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन-जवन (सात वार) एवं भवङ्गनिपात (एक वार) होने पर, रूपालम्बन और चक्षुःप्रसाद – दोनों की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि को प्रथम 'महद्-आलम्बनवीथि' कहते हैं। द्वितीय 'महद्-आलम्बनवीथि' भी इसी प्रकार होती है। प्रथम की अपेक्षा इसमें इतना विशेष है कि इस वीथि में अतीत भवङ्ग तीन वार होने पर आलम्बन का चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भाव होता है, अतः रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों सप्तम जवन के भङ्ग के साथ ही (अपनी सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से) निरुद्ध हो जाते हैं।

प्रथम महद्-आलम्बनवीथि

"ती ती न द 'प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज' भ"

द्वितीय महद्-आलम्बनवीथि

"ती ती ती न द 'प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज'"

श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय द्वार में होने वाली वीथियों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये[2]।

जवनवार, चक्षुर्द्वारिक
महद्-आलम्बनवीथि समाप्त।

वोट्ठपनवार, चक्षुर्द्वारिक

परीत्त-आलम्बनवीथि

१५. यह परीत्त-आलम्बन जवन के उत्पाद तक भी (स्थितिक्षण में) विद्यमान रहने में असमर्थ होता है, तदालम्बन तक स्थित रहने की तो कथा ही दूर है!

१. "इदं जवनपरियोसानाय चित्तप्पवत्तिया वुच्चमानत्ता वुत्तं। चुद्दसचित्तक्खणायुकं हि आरम्मणमिध 'महन्तं' ति अधिप्पेतं। तञ्च उप्पज्जित्वा द्वितिचित्तक्खणातीतं हुत्वा आपाथागमनवसेन वेदितब्बं।"– विसु० महा०, द्वि०, भा०, पृ० १३३।

२. द्र० – चतु० परि० (वीथिसमुच्चय)।

परित्तं नाम। तत्थ जवनं पि अनुप्पज्जित्वा द्वत्तिक्खत्तुं* वोट्ठपनमेव पवत्तति, ततो परं भवङ्गपातो व होति।

'परीत्त आलम्बन' हैं। वहाँ (परीत्त आलम्बनवीथि में) जवन का भी उत्पाद न होकर दो, तीन वार वोट्ठपन ही प्रवृत्त होता है और उस (वोट्ठपन) के अनन्तर भवङ्गपात ही होता है।

अर्थात् यह जवन के उत्पाद के पूर्व ही निरुद्ध हो जाता है। चक्षुःप्रसाद, रूपालम्वन एवं आलोक – इन तीन कारणों में से दो या तीनों कारणों के दुर्वल होने से जवन के सात वार होने तक स्थित रहने में असमर्थ होते हुए, कुछ चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन, महद्-आलम्वन के वरावर भी स्थित न रहने से उससे भी कम आयुवाला होने के कारण 'परीत्त-आलम्वन' कहा जाता है।

यह वीथि जवन के सात वार होने तक भी विद्यमान रहने में असमर्थ होने के कारण कम से कम चार चित्तक्षण अतीत होने पर प्रवृत्त होती है। तथा वोट्ठपन दो वार प्रवृत्त होने के कारण नौ वार से अधिक चित्तक्षण इसमें अतीत नहीं होने चाहिये। इसमें जवन न होने के कारण वोट्ठपनचित्त ही जवन की भाँति दो, तीन वार प्रवृत्त होता है[1]। यह परीत्त-आलम्बनवीथि छह प्रकार की होती है; यथा –

(१) चार चित्तक्षण अतीत होने पर उत्पन्न होकर तृतीय वोट्ठपन के अनन्तर चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली प्रथम 'परीत्त-आलम्बनवीथि'।

(२) पाँच चित्तक्षण अतीत होने पर उत्पन्न होकर तृतीय वोट्ठपन के अनन्तर तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली द्वितीय 'परीत्त-आलम्बनवीथि'।

(३) छह चित्तक्षण.. द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली तृतीय 'परीत्त-आलम्बनवीथि'।

(४) सात चित्तक्षण... प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली चतुर्थ 'परीत्त-आलम्बनवीथि'।

(५) आठ चित्तक्षण... तृतीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली पञ्चम 'परीत्त-आलम्बनवीथि'।

(६) नौ चित्तक्षण... द्वितीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली षष्ठ 'परीत्त-आलम्बनवीथि'।

---

* द्वित्तिक्खत्तुं – स्या०, द्वतिक्खत्तुं रो०, द्वितिक्खत्तुं – म० (ख)।

१. "याव जवनुप्पादा पि पवत्तितुं अप्पहोन्तातीतकं ति सम्बन्धो। यस्स हि चत्तारि, पञ्च, छ, सत्त, अट्ठ, नव वा चित्तक्खणानि अतीतानि होन्ति, तं याव जवनुप्पादा पवत्तितं नप्पहोति; एवं अप्पहोन्तं हुत्वा अतीतकं ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १३४।

"वोट्ठपनुप्पादतो परं छचित्तक्खणावसिट्ठायुकं पि आरम्मणं अप्पायुकभावेन परिदुब्बलत्ता जवनुप्पत्तिया पच्चयो न होति।" – विभा०, पृ० ११०।

इस प्रकार 'परीत्त-आलम्बनवीथि' छह होती हैं[1] ।

रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों के एक साथ उत्पाद से लेकर गणना करने पर अतीतभवङ्ग कम से कम चार वार होने पर रूपालम्बन चक्षुःप्रसाद में प्रादुर्भूत होता है । और तदनन्तर भवङ्गचलन-भवङ्गोपच्छेद-पञ्चद्वारावर्जन-चक्षुर्विज्ञान-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन (तीन वार) एवं भवङ्ग चार वार होने पर रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि प्रथम 'परीत्त-आलम्बनवीथि' है । (द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, एवं षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथियों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये ।)

इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण-आदि द्वारों में होनेवाली परीत्त-आलम्बनवीथियों को भी जानना चाहिये ।

नीचे केवल प्रथम एवं षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथियों का प्रारूप दिया जा रहा है । शेष वीथियों के ज्ञान के लिये 'वीथिसमुच्चय' (चतु० परि०) देखें ।

प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि

"ती ती ती ती न द 'प च स ण वो वो वो' भ भ भ भ"

षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथि

"ती ती ती ती ती ती ती ती ती न द 'प च स ण वो वो'"

मूलटीकावाद – इस परीत्त-आलम्बनवीथि में जवन की प्रवृत्ति के लिये अवसर नहीं है, वोट्ठपन ही दो या तीन वार प्रवृत्त होता है – इस विषय में सभी अट्ठकथाचार्य एकमत हैं[2] । किन्तु मूलटीकाकार का कथन है कि जवन सात वार प्रवृत्त नहीं हो हो सकता है तो उसे कम से कम मूर्च्छाकाल या स्वप्नकाल की तरह वोट्ठपन के अनन्तर चार वार या पाँच वार तो अवश्य प्रवृत्त होना चाहिये । जो आलम्बन चार या पाँच वार भी जवन के उत्पाद में उपकार नहीं कर सकता, उसे पहले से ही पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान-आदि की प्रवृत्ति में भी उपकार नहीं करना चाहिये; अर्थात् उसे पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान-आदि का भी प्रत्यय नहीं होना चाहिये । वे पुनः कहते हैं कि वोट्ठपन, जवन के स्थान में उसके प्रतिनिधिरूप में दो या तीन वार प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह आसेवनप्रत्यय से उपकार प्राप्त करनेवाले जवन की भाँति पुनः पुनः उत्पन्न होने में समर्थ नहीं हैं । अतः दो, तीन वार उत्पन्न होनेवाले 'वोट्ठपनवार' का विचार करना चाहिये[3] ।

---

1. द्र० – चतु० परि० (वीथिसमुच्चय) ।
2. तु० – अट्ठ०, पृ० २१७–२१८ ।
3. "तस्मा वोट्ठपनतो चतुण्णं वा पञ्चन्नं वा जवनानं आरम्मणपुरेजातं भवितुं असक्कोन्तं रूपादि आवज्जनादीनं पच्चयो भवितुं न सक्कोतीति ।" – प० म० मू० टी०, पृ० १३० ।

परमत्थदीपनीकार के मतानुसार परीत्त-आलम्बन में वोट्ठपन ही दो या तीन वार प्रवृत्त होता है। उनका कहना है कि अट्ठकथा में जो यह कहा गया है—

"वोट्ठपने पन ठत्वा एकं वा द्वे वा चित्तानि पवत्तन्ति; ततो आसेवनं लभित्वा जवनट्ठाने ठत्वा पुन भवङ्गं ओतरति[1] ।"

अर्थात् वोट्ठपन में स्थित होकर एक या दो चित्त प्रवृत्त होते हैं, तदनन्तर आसेवन का लाभ करके जवनस्थान में स्थित होकर वीथिसन्तति पुनः भवङ्ग में उतरती है—इस वचन में अट्ठकथाचार्य 'ततो आसेवनं लभित्वा जवनट्ठाने ठत्वा'—इस वाक्यांश द्वारा तृतीय वोट्ठपन की प्रवृत्ति ही दिखलाते हैं; अन्यथा वे 'एकं वा द्वे वा चित्तानि पवत्तन्ति; ततो भवङ्गं ओतरति'—एतन्मात्र ही कहते[2] ।

विभावनीकार कहते हैं—"मूलटीकार का यह कथन कि चूंकि आवर्जनचित्त कुशल, अकुशल धर्मों के अनन्तरप्रत्यय कहे गये हैं और आवर्जन तथा वोट्ठपन अभिन्न हैं, अतः जब वोट्ठपन प्रवृत्त होता है तो वह कामावचर कुशल, अकुशल एवं क्रिया जवनों का एकान्तरूप से प्रत्यय होगा ही और यदि परीत्तालम्बन में जवन पूर्ण वेग से (सात वार) नहीं होते हैं तो उन्हें कम से कम मूर्च्छा-आदि काल की तरह मन्द वेग से (४–५ वार) तो अवश्य होने चाहियें। पुनश्च—जैसे त्रिहेतुक विपाकचित्त अनन्तर-प्रत्यय कहे जाने पर भी क्षीणास्रव की च्युति के वश प्रवृत्त होने पर वे किसी के भी अनन्तरप्रत्यय नहीं होते; वैसे वोट्ठपन भी प्रत्ययविकल होने से कुशल, अकुशल-आदि जवनों का प्रत्यय नहीं होगा—ऐसा नहीं; अपितु वह (वोट्ठपन) तो जवनों का अवश्य प्रत्यय होगा"—यह ठीक नहीं कहा जा सकता, अतः अट्ठकथा में कथित नय के अनुसार ही परीत्त-आलम्बन का नियम होता है। अर्थात् परीत्त-आलम्बन में जवन प्रवृत्त नहीं होते, वोट्ठपन ही दो या तीन वार प्रवृत्त होता है[3]।

परीत्त-आलम्बन का आलम्बन करनेवाली यह वीथि, जिस समय 'देखने की की तरह' या 'सुनने की तरह' की प्रतीति होती है उस समय प्रवृत्त होती है। अर्थात् इस (वीथि) में रूपालम्बन या शब्दालम्बन अपने अपने सम्बद्ध द्वारों में प्रादुर्भूत तो होते हैं; किन्तु प्रसाद, आलम्बन, आलोक-आदि कारणों के अतिदुर्बल होने से उन (आलम्बनों) का स्पष्ट परिज्ञान नहीं हो पाता। रूप का केवल दर्शनमात्र, शब्द का केवल श्रवणमात्र-आदि ही हो पाता है, इसीलिये कहा है कि 'देखने की तरह, सुनने की तरह' होनेवाली प्रतीति के काल में यह वीथि उत्पन्न होती है[4] ।

वोट्ठपनवार, चक्षुर्द्वारिक
परीत्त-आलम्बनवीथि समाप्त।

---

१. अट्ठ०, पृ० २१८ । २. प० दी०, पृ० १३५ ।

३. विभा०, पृ० ११०–१११ । विस्तार के लिये द्र०—विभा०, पृ० ११०–१११; प० दी०, पृ० १३४–१३५ ।

४. "अयं पन वारो 'दिट्ठं विय मे, सुतं विय मे' ति आदीनि वदनकाले लब्भति ।"—अट्ठ०, पृ० २१८ ।

अतिपरित्तारमणवीथि

१६. याव वोट्ठपनुप्पादा च पन* अप्पहोन्तातीतकमापातमागतं निरोधासन्नमारमणं† अतिपरित्तं नाम । तत्थ भवङ्गचलनमेव होति, नत्थि वीथिचित्तुप्पादो ।

वोट्ठपन के उत्पाद तक भी स्थित होन में असमर्थ होते हुए (अत्यधिक चित्तक्षण) अतीत होने पर अभिनिपात (प्रादुर्भाव) को प्राप्त निरोधासन्न आलम्वन 'अतिपरीत्त-आलम्वन' है । वहाँ (अतिपरीत्त-आलम्वन वीथि में) केवल भवङ्गचलन ही होता है, वीथिचित्त का उत्पाद नहीं होता ।

मोघवार

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

१६. यह अतिपरीत्त आलम्वन वोट्ठपन के उत्पाद तक भी स्थित रहने में असमर्थ होता है, जवन या तदालम्वन के उत्पादपर्यन्त स्थित रहने की तो बात ही दूर है ! यहाँ आलम्वन, वस्तु एवं आलोक नामक उत्पादक कारण परीत्त आलम्वन के उत्पादकाल जितने भी वलवान् न होकर इतने अधिक दुर्वल होते हैं कि सम्बद्ध द्वार में इस (अतिपरीत्त-आलम्वन) का प्रादुर्भाव निरोध के आसन्नकाल में ही हो पाता है । अतः इसके प्रादुर्भावकाल से गणना करने पर इसकी अत्यन्त न्यून चित्तक्षण आयु होने के कारण इसे 'अतिपरीत्त-आलम्बन' कहा जाता है ।

रूपालम्वन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों के एक साथ उत्पाद से लेकर १० भवङ्ग अतीत होने पर ही रूपालम्वन का प्रादुर्भाव हो पाता है, अतः रूपालम्वन के प्रादुर्भाव के अनन्तर केवल दो भवङ्गचलन ही होते हैं और भवङ्गचलन के पश्चात् वीथिचित्त (आवर्जन-आदि) प्रवृत्त न होकर भवङ्ग ही उत्पन्न होते हैं[1] ।

इस परीत्त-आलम्वन का आलम्वन करके वीथिचित्तों का उत्पाद न होने के कारण, इस वीथि को 'अतिपरीत्त-आलम्वनवीथि' भी नहीं कहा जाना चाहिये; किन्तु वन्ध्यापुत्र की भांति इसका व्यवहार होता है – ऐसा समझना चाहिये ।

इस परीत्त-आलम्वन के प्रादुर्भूत होने के अनन्तर केवल भवङ्गचलन ही होता है, वीथिचित्तों का उत्पाद नहीं होता । चूंकि केवल भवङ्गचलन ही होता है, इसलिये 'द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते' के अनुसार दो वार भवङ्गचलन ही होगा, अतः इसे (अतिपरीत्त-आलम्वन को) अपने सम्वद्ध द्वार में प्रादुर्भूत होने से पहले पन्द्रह चित्तक्षण से

---

* स्या० में नहीं ।

† आलम्वनं निरोधासन्नं – स्या० ।

१. "यं पन आरम्मणं द्वत्तिक्खत्तुं वोट्ठब्बनुप्पत्तिया अप्पहोन्तं होति, तं आवज्जनुप्पत्तिया पि पच्चयो न होतीति वुत्तं – 'तत्थ भवङ्गचलनमेव होति' ।" – प० दी०, पृ० १३५ । द्र० – विभा०, प० १११ ।

अधिक चित्तक्षण-अतीत नहीं होना चाहिये – इस प्रकार आचार्यों का मत है। इन आचार्यों के मतानुसार, दस वार अतीत भवङ्ग होने पर प्रारम्भ होनेवाली वीथि, ११ वार, १२ वार, १३ वार, १४ वार अथवा १५ वार अतीत भवङ्ग होने पर प्रारम्भ होनेवाली वीथि – इस प्रकार अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि छह प्रकार की होती है[1]।

रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों के एक साथ उत्पाद से लेकर गणना करने पर, अतीतभवङ्ग दस वार होने पर रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है और तदनन्तर दो वार भवङ्गचलन होने पर (इस वीथि में) वीथिचित्तों (आवर्जन-आदि) का उत्पाद न होने से भवङ्ग ही पाँच वार प्रवृत्त होकर रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाती है, अतः द्वितीय भवङ्गचलन के अनन्तर पञ्चम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि को प्रथम 'अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' कहते हैं। [द्वितीय, तृतीय-आदि सभी अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियों को इसी प्रकार जानना चाहिये। श्रोत्र, घ्राण-आदि द्वारों में प्रवृत्त होने वाली अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये। नीचे प्रथम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि का प्रारूप दिया जा रहा है, शेष वीथियों को 'वीथिसमुच्चय' (चतु० परि०) में देखें।]

प्रथम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

"ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ भ भ"
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

वादान्तर – कुछ आचार्यों का कथन है कि 'भवङ्गचलनमेव' – ऐसा सामान्य वचन होने के कारण इस वीथि में जवतक आलम्बन का निरोध नहीं होता तवतक भवङ्ग-चलन को ही प्रवृत्त होते रहना चाहिये। जैसे – १० वार अतीतभवङ्ग होने पर प्रारम्भ होने-वाली वीथि में ७ वार भवङ्गचलन होना चाहिये। इसी प्रकार ११ वार अतीतभवङ्ग होने पर प्रारम्भ होनेवाली वीथि में ६ वार भवङ्गचलन होना चाहिये – इत्यादि।

निराकरण – भवङ्गचलन के होने (उत्पाद) का आलम्बन का निरोध न होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भूत होनेमात्र से ही भवङ्ग-चलन दो वार होता है, अतः भवङ्गचलन (दो वार) होने के अनन्तर यदि भवङ्गो-पच्छेद नहीं होता है तो यथागृहीत कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त आलम्बन का ही (भवङ्ग द्वारा) शान्तभाव से ग्रहण होना चाहिये। नव प्रादुर्भूत आलम्बन भी, जवतक उसका निरोध नहीं होता तवतक, भवङ्ग में सङ्घट्टन करके रहनेवाला नहीं होता, अतः सात वार भवङ्गचलन को माननवाले वाद में कोई युक्ति एवं प्रमाण नहीं है।

'द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते' – यह वाक्य भवङ्गोपच्छेद होने पर पुनः वीथिचित्तों के उत्पादवाली वीथि के प्रसङ्ग में प्रयुक्त वाक्य है। जहाँ पुनः वीथिचित्त उत्पन्न नहीं होते वहाँ भवङ्गचलन एक वार भी हो सकता है; क्योंकि आलम्बन, वस्तु एवं आलोक-आदि कारणसामग्री के पूर्ण होने पर आलम्बन के प्रादुर्भाव को कोई रोक नहीं सकता, वह नियमतः प्रादुर्भूत होगा ही; तथा (उसके) प्रादुर्भूत होने में भी वह (आलम्बन) आलम्बन, वस्तु, आलोक-आदि कारणों की शक्ति के अनुरूप एक, दो तीन-आदि चित्त-

१. द्र० – चतु० परि० (वीथिसमुच्चय)।

क्षणों के अतीत होने पर ही प्रादुर्भूत होगा । अतः १६ चित्तक्षण अतीत होने पर वह प्रादुर्भूत नहीं होगा – ऐसा कौन कह सकता है ? इस प्रकार १६ चित्तक्षण अतीत होने पर यदि उसका प्रादुर्भाव होगा तो एक वार भवङ्गचलन होने मात्र से ही उस (आलम्वन) की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से उसका निरोध हो जायेगा । अतः इस प्रकार के आलम्वन में भवङ्गचलन एक वार भी हो सकता है। भवङ्ग के दो वार चलित होने से ही आलम्वन का प्रादुर्भाव होगा, एक वार चलित होने की अवस्था में प्रादुर्भाव नहीं होगा – ऐसा उल्लेख अट्ठकथा, टीका-आदि ग्रन्थों में कहीं लेशमात्र भी नहीं है । आचार्य (अनुरुद्ध) भी 'भवङ्गचलनमेव होति' – ऐसा सामान्य वचन ही कहते हैं, अतः १६ चित्तक्षण अतीत होने पर आलम्वन के प्रादुर्भाव के पश्चात् एक वार भवङ्गचलन के अनन्तर निरुद्ध होनेवाली सप्तम 'अतिपरीत्त-आलम्वनवीथि' भी होनी चाहिये ।

वोट्ठपन के अनुत्पाद से आवर्जन-आदि का भी अनुत्पाद – १५ चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्वन में अवकाश न होने के कारण यदि आवर्जन-आदि वीथिचित्त उत्पन्न न हो पाते हों तो न हों, कोई वात नहीं; इसी तरह १०, ११ आदि चित्तक्षणों के अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्वनों में भी दो वार वोट्ठपन के उत्पाद के किये चित्तक्षणों के अवशिष्ट न होने से उनमें भी भले ही वोट्ठपन का उत्पाद न हो; किन्तु आवर्जन-आदि वीथिचित्तों की उत्पत्ति के लिये अवकाश होने से, उनमें आवर्जन से लेकर सन्तीरण तक के चित्तों का उत्पाद तो हो ही सकता है तो फिर ऐसे आलम्वनों में क्यों इन (आवर्जन-आदि सन्तीरणपर्यन्त) चित्तों का उत्पाद न होकर केवल भवङ्गचलन ही होता है ?

उत्तर – यदि भवङ्ग का आवर्तन (विच्छेद) करनेवाला पञ्चद्वारावर्जनचित्त उत्पन्न हो जाता है तो वोट्ठपन तक विना पहुँचे, वीच में ही अर्थात् चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन या सन्तीरण के क्षण में चित्तसन्तति के निवृत्त (निरुद्ध) हो जाने का कोई नियम नहीं है; वह वोट्ठपन तक अवश्य पहुँचेगी – यही चित्तधर्मता है । चित्तों के इस नियम (स्वभाव) को केवल भगवान् बुद्ध ही जान सकते हैं, अट्ठकथाचार्य उन्हीं (भगवान् बुद्ध) के ज्ञान का प्रकाश करते हैं; अतः इस विषय में अट्ठकथाचार्यों के मत ही अन्तिम प्रमाण हैं । अट्ठकथा में उक्त है –

"किरियमनोधातुया भवङ्गे आवट्टिते, वोट्ठपनं अपापेत्वा व, अन्तरा, चक्खुविञ्ञाणे वा सम्पटिच्छने वा सन्तीरणे व ठत्वा निवत्तिस्सतीति नेतं ठानं विज्जति[1] ।"

अर्थात् क्रियामनोधातु (पञ्चद्वारावर्जन) द्वारा भवङ्ग आवर्तित (विच्छिन्न) होने पर वोट्ठपन को विना प्राप्त किये, वीच में अर्थात् चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन या सन्तीरण के क्षण में, चित्तसन्तति रुककर निवृत्त हो जायेगी – इसके लिये अवकाश

१७. इच्चेवं चक्खुद्वारे, तथा सोतद्वारादीसु* चेति सब्बथापि पञ्चद्वारे तदारमण-जवन-वोट्ठपन-मोघवारसङ्खातानं† चतुन्नं वारानं यथाक्कमं आरमणभूता विसयप्पवत्ति चतुधा वेदितब्बा ।

पूर्वोक्त नय से जिस प्रकार चक्षुर्द्वार में, उसी प्रकार श्रोत्र-आदि द्वारों में भी (चित्त-प्रवृत्ति) जाननी चाहिये। इस तरह सभी प्रकार से पञ्चद्वार में तदालम्बन, जवन, वोट्ठपन एवं मोघवार नामक चारों वारों की आलम्बनभूत चतुर्विध विषयप्रवृत्ति जाननी चाहिये।

आवर्जन-आदि वीथिचित्तों का उत्पाद नहीं होगा और इस प्रकार के आलम्बन में (जिसमें वोट्ठपन उत्पन्न नहीं होता है) वीथिचित्त उत्पन्न न होकर, भवङ्गचलन दो वार होने के अनन्तर, जबतक आलम्बन और चक्षुःप्रसाद निरुद्ध नहीं हो जाते तबतक, भवङ्ग ही यथागृहीत आलम्बन में शान्तभाव से प्रवृत्त होता रहता है।

मोघवार

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि समाप्त।

१७. यह चक्षुर्द्वारवीथि के निगमन को कहनेवाली पालि है। श्रोत्र-द्वार-आदि में भी उसी प्रकार जानना चाहिये। जैसे – चक्षुर्द्वार में अतिमहद्-आलम्बनवीथि १, महद्-आलम्बनवीथि २, परीत्त-आलम्बनवीथि ६, एवं अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि ६ – इस प्रकार १५ वीथियाँ होती हैं। उसी प्रकार श्रोत्रद्वार-आदि में भी १५-१५ वीथियाँ होती हैं। इस तरह पञ्चद्वार में कुल ७५ वीथियाँ होती हैं।

'यथाक्कमं' के अनुसार वार एवं आलम्बन –

१. तदालम्बनवार	–	अतिमहद्-आलम्बन
२. जवनवार	–	महद्-आलम्बन
३. वोट्ठपनवार	–	परीत्त-आलम्बन
४. मोघवार	–	अतिपरीत्त-आलम्बन

प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्तिम वार को 'मोघवार' कहा गया है; किन्तु 'अट्ठसालिनी' में तदालम्बन से शून्य होने के कारण 'जवनवार' को तथा जवन से शून्य होने के कारण 'वोट्ठपनवार' को भी मोघवार कहा गया है[1]।

मोघवार का आलम्बन – 'चतुन्नं वारानं आरमणभूता' – इस वचन के अनुसार 'तदालम्बनवार का आलम्बन, जवनवार का आलम्बन' – आदि कहा जाना तो उन

---

* सोतद्वारादिसु – सी०, रो०, ना०।

† ०मोघसङ्खातानं – स्या०।

१. "सब्बसो वीथिचित्तुप्पत्तिया अभावतो पच्छिमवारो विध मोघवारवसेन वुत्तो, अञ्ञत्थ पन दुतियततियवारा पि तदारम्मणजवनेहि सुञ्ञत्ता 'मोघवारा' ति वुत्ता।" – विभा०, पृ० १११। द्र० – अट्ठ०, पृ० २१७-२१८।

उन वारों द्वारा उस उस आलम्बन का आलम्बन (ग्रहण) किया जाने से समीचीन कहा जा सकता है; किन्तु 'मोघवार का आलम्बन' – यह कथन तो मोघवार द्वारा उस आलम्बन का ग्रहण न किया जाने से कैसे उचित कहा जा सकता है?

समाधान – 'मोघवार का आलम्बन' – इस शब्द का अर्थ 'मोघवार द्वारा किया गया आलम्बन' – इस प्रकार नहीं समझना चाहिये; अपितु 'मोघवार होने के लिये प्रादुर्भूत आलम्बन' – इस प्रकार समझना चाहिये । अतः मोघवार द्वारा उस आलम्बन का आलम्बन (ग्रहण) न किया जाने पर भी वह 'मोघवार का आलम्बन' कहा जा सकता है[1] ।

विभावनीकार का कथन है कि जिस प्रकार "लच्छति (लभति) मारो आरम्मणं[2]" इस पालि में 'आलम्बन' शब्द प्रत्यय (=कारण) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार यहाँ 'आरमणभूता' इस स्थल में जब उस (आलम्बन शब्द) का सम्बन्ध प्रथम तीन वारों से होता है तब तो वह 'आलम्बन' (=विषय) – इस अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु जब उसका सम्बन्ध मोघवार से होता है तब वह प्रत्यय (=कारण) अर्थ में प्रयुक्त होता है – ऐसा समझना चाहिये । अतः 'मोघवार' – इस नामव्यवहार का कारणभूत होने से इसे (अतिपरीत्त-आलम्बन को) 'मोघवार का आलम्बन' कहा जाता है[3] ।

छह षट्कों (छक्कों) का सम्बन्ध – छह वस्तु, छह द्वार-आदि छह षट्क, इस वीथिपरिच्छेद के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अपरिहार्य एवं ज्ञातव्य विषय हैं – ऐसा कहा गया है[4]। यहाँ इन छह षट्कों का सङ्क्षेपतः पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया जा रहा है ।

चक्षुर्द्वार में रूपालम्बन, अतिमहद् (अतिमहन्त) विषयप्रवृत्ति के रूप में अथवा महद् (महन्त), परीत्त-आदि विषयप्रवृत्ति के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं; तथा चक्षुर्विज्ञान-चित्त चक्षुर्वस्तु का आश्रय करके एवं पञ्चद्वारावर्जनचित्त हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं, अतः चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत आलम्बन की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण इस वीथि को 'चक्षुर्द्वारवीथि' तथा इसमें चक्षुर्विज्ञान प्रधान होता है अतः इस विज्ञान की अपेक्षा से इसे 'चक्षुर्विज्ञानवीथि' भी कहते हैं । इस प्रकार इस चक्षुर्द्वारवीथि में चक्षुर्वस्तु, हृदयवस्तु, चक्षुर्द्वार, रूपालम्बन, चक्षुर्विज्ञान तथा चक्षुर्द्वार के साथ अतिमहद् (अतिमहन्त)-आदि चतुर्विध विषयप्रवृत्ति के ज्ञान से ही – इस (चक्षुर्द्वारवीथि के) सम्बन्ध में ज्ञान की परिपूर्णता होती है । श्रोत्रद्वारवीथि-आदि को भी इसी प्रकार जानना चाहिये । इस तरह वीथिविषयक सम्यग्ज्ञान के लिये इन षट्कों का ज्ञान अपरिहार्य (अत्यावश्यक) होता है ।

---

१. "अतिपरित्तारम्मणं पि आपातगतमत्तेन मोघवारस्स आरम्मणं नाम होति, न आरम्मणकरणवसेन । इतरानि पन उभयथापि इतरेसं वारानं आरम्मणानि नाम होन्तीति वुत्तं – 'चतुन्नं वारानं यथाक्कमं आरम्मणभूता' ति ।" – प० दी०, पृ० १३६ ।

२. सं० नि०, चतु० भा०, पृ० १२७ ।

३. विभा०, पृ० १११ ।

४. द्र० – अभि० स० ४ : ३, पृ० २८६ ।

गर्भस्थ की वीथि—'मातृकुक्षि में पञ्चद्वारवीथि होती है कि नहीं?'—इस विषय पर प्रायः विचार किया जाता है, अतः हम यहाँ 'परमत्थसरूपभेदनी'[1] के आधार पर इस विषय से सम्बद्ध विचार सङ्क्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

चक्षुःप्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एवं मनसिकार—इन चार कारणों के सन्निपात से ही चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न हो सकता है[2]। मातृगर्भ में आलोक न होने से शिशु की सन्तान में चक्षुर्द्वारिकवीथि नहीं हो सकती। जैसे कहा भी गया है—'न हि अन्तोकुच्छियं चक्खुविञ्ञाणं उप्पज्जति[3]।" अर्थात् मातृकुक्षि में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

जिस प्रकार १००-२०० गज लम्बी लकड़ी के एक सिरे पर कान लगाये हुए व्यक्ति को उस लकड़ी के दूसरे सिरे पर किये जानेवाले आघात का शब्द उस लकड़ी के माध्यम (सम्बन्ध) से सुनाई पड़ जाता है, उसी प्रकार जब गर्भस्थ शिशु का श्रोत्रप्रसाद सम्पन्न हो जाता है तब उसके समीप होनेवाले मातृकुक्षि के शब्द का तथा माता की कुक्षि पर किये गये आघात से उत्पन्न शब्द का आलम्बन करके उस शिशु की सन्तान में श्रोत्रद्वारिकवीथि का उत्पाद हो सकता है।

गर्भकाल में आश्वास-प्रश्वास नहीं होते, अतः गर्भस्थ शिशु के घ्राणप्रसाद में गन्धालम्बन का प्रवेश न हो पाने के कारण, उसकी सन्तान में घ्राणद्वारिकवीथि नहीं हो पाती।

जब जिह्वाप्रसाद सम्पन्न हो जाता है तब शिशु के मुख में स्थित अप्-धातु के सहयोग से उसकी सन्तान में जिह्वाद्वारिकवीथि उत्पन्न हो सकती है।

कायद्वारिकवीथि के उत्पाद के लिये अपेक्षित स्प्रष्टव्यालम्बन की मातृकुक्षि में प्रचुरता होने के कारण, कायद्वारिकवीथि के उत्पन्न होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है।

इस प्रकार श्रोत्रद्वारिक, जिह्वाद्वारिक एवं कायद्वारिक वीथियाँ गर्भावस्था में भी, तथा चक्षुर्द्वारिक एवं घ्राणद्वारिक वीथियाँ गर्भ से बाहर निकल जाने के पश्चात् (शिशु को चारों ओर से घेरे रहनेवाली झिल्ली एवं इन्द्रिय-छिद्रों में प्रविष्ट श्लेष्मा-आदि मलों के हट जाने पर) जब शिशु आँख खोलता है और श्वास-प्रश्वास लेने में समर्थ हो जाता है तब प्रारम्भ होती हैं। जैसे कहा भी है—

"मातुकुच्छिगतकाले विय हि बहिनिक्खन्तकाले पि न ताव इन्द्रियानि सकिच्चकानि होन्ति; अनुक्कमेन पन विसदभावं पत्तकाले एव सकिच्चकानि[4]।"

अर्थात् मातृकुक्षिगत काल की तरह बाहर निकलने के काल में भी इन्द्रियाँ स्वकृत्य करने में समर्थ नहीं हो पातीं; अनुक्रम से विशद (स्वच्छ) भाव को प्राप्त हो जाने के काल में ही वे स्वकृत्य करने में समर्थ होती हैं।

---

१. यह अभिधर्मविषय का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाला बर्मी भाषा में लिखा हुआ अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है।

२. द्र०—अट्ठ०, पृ० २२७।

३. दी० नि० अ०—(सुत्तमहावग्ग-अट्ठकथा), पृ० २९।

४. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२।

१८. वीथिचित्तानि सत्तेव चित्तुप्पादा चतुद्दस।
चतुपञ्ञास वित्थारा पञ्चद्वारे यथारहं॥
अयमेत्थ पञ्चद्वारे वीथिचित्तप्पवत्तिनयो।

पञ्चद्वार में यथायोग्य (द्वार एवं आलम्बन के अनुसार) ७ वीथिचित्त ही होते हैं तथा १४ चित्तोत्पाद ही, विस्तार से (गणना करने पर) ५४ हो जाते हैं।

इस वीथिसङ्ग्रह में यह पञ्चद्वार में, वीथिचित्तों की प्रवृत्ति का नय है।

---

१८. **यथारहं** – रूपालम्बन जब चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत होता है तब पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान-आदि वीथिचित्त उत्पन्न होते है; तथा शब्दालम्बन जब श्रोत्रद्वार में प्रादुर्भूत होता है तब पञ्चद्वारावर्जन, श्रोत्रविज्ञान-आदि वीथिचित्त उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वीथिचित्त यथायोग्य द्वार एवं आलम्बन के अनुसार प्रवृत्त होते हैं।

वीथिचित्तानि सत्तेव – प्रत्येक वीथि में सात प्रकार के चित्त उत्पन्न होते हैं; यथा – पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एवं तदालम्बन[1]।

चतुद्दस – एक वीथि में उत्पन्न चित्तों के 'वार' की गणना करने पर उनकी सङ्ख्या १४ होती है; यथा – पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन ७ एवं तदालम्बन २=१४।

चतुपञ्ञास... – पञ्चद्वार में होनेवाले चित्तों को विस्तार से देखने पर उनकी सङ्ख्या ५४ होती है। वे सभी ५४ कामावचर चित्त ही हैं; यथा – पञ्चद्वारावर्जन १, द्विपञ्चविज्ञान १०, सम्पटिच्छन २, सन्तीरण ३, वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १, कामजवन २९, तदालम्बन ८ (यद्यपि तदालम्बनचित्त ११ होते हैं; किन्तु उनमें से तीन चित्तों का सन्तीरण के नाम से पृथग् ग्रहण हो चुका है, अतः यहाँ ८ महाविपाकचित्त ही तदालम्बन के नाम से गृहीत होते हैं।) इस प्रकार पञ्चद्वार में होनेवाले सभी ५४ चित्त कामचित्त ही हैं।

पञ्चद्वारवीथि समाप्त।

---

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० २१९–२२०।

तु० – "भवङ्गावज्जनञ्चेव, दस्सनं सम्पटिच्छनं।
सन्तीरणं वोट्ठब्बनं, जवनं भवति सत्तमं॥

तत्थ भवङ्गं उपपत्तिभवस्स अङ्गकिच्चं साधयमानं पवत्तति, तं आवट्टेत्वा किरियमनोधातु आवज्जनकिच्चं साधयमाना, तंनिरोधा चक्खुविञ्ञाणं दस्सनकिच्चं साधयमानं, तंनिरोधा विपाकमनोधातु सम्पटिच्छनकिच्चं साधयमाना, तंनिरोधा विपाकमनोविञ्ञाणधातु सन्तीरणकिच्चं साधयमाना, तंनिरोधा किरियमनोविञ्ञाणधातु वोट्ठब्बनकिच्चं साधयमाना, तंनिरोधा सत्तक्खत्तुं जवनं जवति।" – दी० नि० अ०, पृ० १७४; विभ० अ०, पृ०३५९–३६०।

मनोद्वारवीथि

विभूतारमणवीथि

१९. मनोद्वारे पन यदि विभूतमारमणं आपातमागच्छति, ततो परं*, भवङ्गचलनमनोद्वारावज्जनजवनावसाने तदारमणपाकानि पवत्तन्ति, ततो परं भवङ्गपातो।

मनोद्वार में यदि विभूत-आलम्बन अभिनिपात (प्रादुर्भाव) को प्राप्त होता है तो उसके प्रादुर्भूत होने से भवङ्गचलन, मनोद्वारावर्जन एवं जवन (होने) के अन्त में तदालम्बन महाविपाकचित्त प्रवृत्त होते हैं और उस (तदालम्बन) के अनन्तर भवङ्गपात होता है।

अविभूतारमणवीथि

२०. अविभूते पनारमणे जवनावसाने भवङ्गपातो व होति, नत्थि तदारमणुप्पादो ति।

अविभूत-आलम्बन में तो जवन के अन्त में भवङ्गपात ही होता है। यहाँ तदालम्बन का उत्पाद नहीं है। (इस प्रकार विषयप्रवृत्ति छह प्रकार की होती है।)

कामजवनमनोद्वारवीथि

विभूतालम्बन-अविभूतालम्बनवीथि

१९-२० मनोद्वार—पहले कहा गया है कि 'रूपालम्बन चक्षुर्द्वार और मनोद्वार—दोनों द्वारों में एक साथ प्रादुर्भूत हो सकता है'[1]। वहाँ कथित मनोद्वार चक्षुर्द्वार के साथ प्रयुक्त होने से 'मिश्रक मनोद्वार' कहलाता है। इस मनोद्वारवीथि में प्रयुक्त मनोद्वार-उस प्रकार का मिश्रक मनोद्वार न होकर 'शुद्ध मनोद्वार' है[2]।

['ततो परं भवङ्गचलन०...' का 'आलम्बन के प्रादुर्भूत हो जाने के अनन्तर भवङ्गचलन होता है'—यह अर्थ होता है; किन्तु यह अर्थ समीचीन नहीं है; क्योंकि भवङ्गचलन आलम्बन के प्रादुर्भूत हो जाने के अनन्तर नहीं होता, अपितु आलम्बन

---

* रो० में नहीं।

१. द्र०—अभि० स० ४:११ की व्याख्या, पृ० ३०५-३०८।

२. "तत्थ मनोद्वारे ति सुद्धमनोद्वारे; चक्खादीसु हि घट्टनेन सहेव यत्थ आपातमागच्छति, तं 'मिस्सकद्वारं' ति वुच्चति। इध पन सुद्धमेवाधिप्पेतं ति।"—प० दी०, पृ० १३६।

के प्रादुर्भाव के साथ (समकाल) ही भवङ्ग चलित हो जाता है। अर्थात् आलम्बन का प्रादुर्भाव एवं भवङ्गचलन – दोनों साथ ही होते हैं, अतः 'ततो' के अनन्तर 'पर' यह पाठ नहीं होना चाहिये।]

विभूत, अविभूत – विषयप्रवृत्ति के नामकरण में पञ्चद्वार में जब 'अतिमहद्' (अतिमहन्त) – आदि नामों को रखा गया है, तब मनोद्वार में क्यों विभूत एवं अविभूत – इन नामों को रखा गया है?

समाधान – पञ्चद्वार में आलम्बन के प्रादुर्भूत होने में चित्त की शक्ति (बल) प्रधान नहीं है; अपितु आलम्बन की शक्ति प्रधान होती है। अतः आलम्बन-शक्ति की अपेक्षा से 'अतिमहद्' (अतिमहन्त) आदि नामकरण किया गया है। इसके विपरीत मनोद्वार में आलम्बन के प्रादुर्भूत होने में आलम्बन की कोई शक्ति नहीं होती; अपितु चित्त की शक्ति प्रधान होती है। अतः चित्तशक्ति की अपेक्षा करके 'विभूत' या 'अविभूत' नाम रखा गया है।

स्पष्टीकरण – पञ्चद्वार में रूपालम्बन, शब्दालम्बन-आदि का अभिनिपात होने पर देखने या सुनने की इच्छा न होने पर भी आलम्बन की शक्ति के कारण देखना या सुनना पड़ता है। प्रादुर्भाव होते समय भी आलम्बन की शक्ति के भले-बुरे, तीक्ष्णता-मन्दता-आदि के अनुसार आलम्बन में भेद हो जाता है। इसलिये आलम्बन के प्रादुर्भावकाल से गणना करने पर अधिक चित्तक्षणपर्यन्त स्थित होनेवाले आलम्बन को 'अतिमहद्' (अतिमहन्त) आलम्बन कहते हैं। इस प्रकार अपनी शक्ति की अपेक्षा से ही इन (आलम्बनों) के 'अतिमहद्', 'महद्' (महन्त) आदि नामकरण किये जाते हैं।

मनोद्वार में चित्त की शक्ति के अनुसार आलम्बनों के विभूत या अविभूत नामभेद होते हैं; जैसे – दर्पण देखते समय, दर्पण यदि स्वच्छ होता है तो प्रतिबिम्ब स्पष्ट तथा दर्पण यदि अस्वच्छ होता है तो प्रतिबिम्ब भी अस्पष्ट होता है; ठीक इसी प्रकार यदि चित्तधातु समाधि की प्रबलता से स्वच्छ होती है तो आलम्बन 'विभूत' होता है तथा समाधि दुर्बल होने से चित्तधातु यदि अस्वच्छ होती है तो प्राप्त आलम्बन भी 'अविभूत' होता है। इस प्रकार चित्तशक्ति की अपेक्षा से आलम्बनों का 'विभूत' या 'अविभूत' नाम होता है।

पञ्चद्वार में चित्तों की उत्पत्ति के चार वार होते हैं; यथा – तदालम्बनवार, जवनवार, वोट्ठपनवार एवं मोघवार। इन चार वारों के अनुसार विषयप्रवृत्ति के भी 'अतिमहद्-आदि चार भेद किये गये हैं। मनोद्वार में, चूंकि तदालम्बनवार एवं जवनवार – इस प्रकार दो ही वार होते हैं अतः, इन वारों के अनुसार विषय-प्रवृत्ति के भी विभूत एवं अविभूत – ये दो भेद ही किये गये हैं।

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार ने मनोद्वार में भी 'अतिविभूत-आलम्बन, विभूत-आलम्बन, अविभूत-आलम्बन एवं अति-अविभूत-आलम्बन' – इस प्रकार विषय-प्रवृत्ति के चार भेद करके तदनुसार चित्तवार के भी 'तदालम्बनवार, जवनवार, वोट्ठपनवार एवं मोघवार' – इस प्रकार पञ्चद्वार की भांति चार भेद किये हैं[1]।

'परमत्थदीपनी' में आलम्बन के जो उपर्युक्त 'अतिविभूत-आलम्बन'-आदि नाम किये गये हैं, ऐसे नाम अन्यत्र (अन्य ग्रन्थों में) अनुपलब्ध होने पर भी ये (नाम) ग्रन्थकार की विवक्षावश हो सकते हैं। ग्रन्थकार वोट्ठपनवार में मनोद्वारावर्जन को 'वोट्ठपन' कहकर उस मनोद्वारावर्जन में अन्त करनेवाली वीथि को 'वोट्ठपनवार' कहना चाहते हैं। इस वोट्ठपनवार का प्रस्तुत ग्रन्थ (अभिधम्मत्थसङ्गहो) में उल्लेख न होने पर भी, 'ञाणविभङ्गट्ठकथा' में इसका उल्लेख मिलता है[2]। अतएव 'वीथिसमुच्चय' नामक परिशिष्ट में भी इस वीथि को दिखाया जायेगा।

वीथिचित्तों का बिलकुल उत्पाद न होकर जिसमें केवल भवङ्गचलनमात्र होता है – ऐसे मोघवार एवं अति-अविभूत पर विद्वानों को विचार करना चाहिये। परमत्थदीपनीकार का कथन है कि 'सुषुप्ति-काल में भी कर्म, कर्मनिमित्त, एवं गतिनिमित्त – इन तीन आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन के अतिरिक्त अन्य आलम्बन भी सर्वदा प्रादुर्भूत होते रहते हैं'। इस प्रकार का मत रखने के कारण वे 'भवङ्गचलनमात्र से निरुद्ध होनेवाले अनेकविध आलम्बन होते हैं' – ऐसा विश्वास करते हैं[3]।

मनोद्वार में प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन चित्तशक्ति की अपेक्षा से प्रादुर्भूत होते हैं और उस चित्तशक्ति की अपेक्षा से प्रादुर्भूत वे आलम्बन आवर्जन तक भी न

१. "इति इमस्मिं मनोद्वारे पि तदारम्मण-जवन-वोट्ठब्बनमोघवारसङ्खातानं चतुन्नं वारानं यथाक्कमं आरम्मणभूता विसयप्पवत्ति चतुधा वेदितब्बा ति। तत्थ तदारम्मणवारस्स आरम्मणभूता 'अतिविभूता' नाम, जवनवारस्स 'विभूता' नाम, वोट्ठब्बनवारस्स 'अविभूता' नाम, मोघवारस्स आरम्मणभूता 'अति-अविभूता' नामा ति योजेतब्बा। एत्थ च आरम्मणस्स वा चित्तस्स वा अतिबलवताय अतिविभूतता वेदितब्बा। दुब्बले पि हि चित्ते पगुणपटुभावादिवसेन अतिबलवन्तं आरम्मणं अतिविभूतं नाम होति। अतिबलवन्ते च चित्ते अतिसुखुमं पि निब्बानं अतिविभूतं नाम होतीति। एवं सेसेसु पीति।" – प० दी०, पृ० १२८।

२. विभ० अ०, पृ० ४०८ – ४०९।

३. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १२७ – १२८।

पहुँच कर भवङ्गचलनमात्र होते ही निरुद्ध हो जाते हैं – ऐसा मानना अयुक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। तथा सुषुप्तिकाल में भवङ्गचित्तों द्वारा यथागृहीत कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त के अतिरिक्त अन्य आलम्बनों का भी प्रादुर्भाव होता है – ऐसा मानना भी युक्तियुक्त नहीं है। अतः परमत्थदीपनीकार द्वारा निरूपित मोघवार एवं अतिविभूत-आलम्बन विद्वानों द्वारा विचारणीय हैं[1]।

मनोद्वार में प्रादुर्भूत हो सकने योग्य आलम्बन—

मनोद्वार में अतीत नाम-रूप धर्म, अनागत नाम-रूप धर्म, प्रत्युत्पन्न नाम-रूप धर्म, अभाव-प्रज्ञप्ति तथा अतिसूक्ष्म एवं गम्भीर निर्वाण-धर्म प्रादुर्भूत हो सकते हैं। मनोद्वार में प्रादुर्भूत न हो सकनेवाला कोई भी आलम्बन नहीं है[2]। चित्त की शक्ति के अनुसार मनोद्वार में नानाविध आलम्बन विचित्ररूप से प्रादुर्भूत हो सकते हैं। उनके इस प्रकार प्रादुर्भूत होने के निम्न कारण हैं; यथा – दृष्ट, श्रुत, उभयसम्बद्ध (दृष्ट एवं श्रुत – दोनों से सम्बद्ध), श्रद्धा, रुचि, आकारपरिवितर्क (आकारपरिवितक्क), दृष्टिनिध्यानक्षान्ति (दिट्ठिनिज्झानक्खन्ति), ऋद्धिबल, धातुक्षोभ (धातुक्खोभ), अनुबोध-आदि[3]।

दृष्ट – अपने द्वारा पूर्वकाल में दृष्ट आलम्बन भी अपरकाल में आवर्जन करने पर चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत होने के सदृश उपस्थित होता है। इस प्रकार 'दृष्ट' होने के वश से रूपालम्बन अभिनिपात को प्राप्त होता है[4]। अथवा यहाँ 'दृष्ट' शब्द से पञ्चद्वारों द्वारा पूर्वगृहीत (दृष्ट, श्रुत, घ्रात, आस्वादित एवं स्पृष्ट) आलम्बनों का ग्रहण करना चाहिये। अपने द्वारा दृष्ट-आदि होने के वश से कालान्तर में आवर्जन करने पर ये (आलम्बन) पुनः 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार में प्रादुर्भूत होते हैं[5]।

श्रुत – पूर्वकाल में श्रुत शब्दालम्बन अपरकाल में आवर्जन करने पर जब श्रोत्र-द्वार में प्रादुर्भूत होने के सदृश उपस्थित होता है तो इसे श्रुत होने से प्रादुर्भूत आलम्बन कहा जाता है।[6] अथवा – 'श्रुत' शब्द से यहाँ प्रत्यक्षतः न देखकर दूसरों द्वारा

१. व० भा० टी०।

२. तु० – "इमेसं खो आवुसो! पञ्चन्नं इन्द्रियानं नानाविसयानं नानागोचरानं, न अञ्ञमञ्ञस्स गोचरविसयं पच्चनुभोन्तानं, मनोपटिसरणं मनो च नेसं गोचरविसयं पच्चनुभोतीति।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३६४; "एत्थ यस्मा एकं रूपं पि मनोविञ्ञाणधातुया अजानितब्बं नाम नत्थि, तस्मा 'सब्बं रूपं' ति वुत्तं।" – अट्ठ०, पृ० २७१।

३. तु० – अट्ठ०, पृ० ६०–६२; विभ० अ०, पृ० ४१०; ध० स० अनु०, पृ० ७६; प० दी०, पृ० १३८–१३६।

४. अट्ठ०, पृ० ६०।

५. "तत्थ दिट्ठं नाम पञ्चद्वारवसेन गहितपुब्बं।" – अट्ठ०, पृ० ६१।

६. अट्ठ०, पृ० ६०।

कथित शब्दों से गृहीत रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन, स्प्रष्टव्यालम्बन एवं धर्मालम्बन सभी का ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार दूसरों के कथन का श्रवण करने के अनन्तर विचार करने पर उस कथन में आये हुए विषयों का 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार में प्रादुर्भाव होता है[1]।

उभयसम्बद्ध – दृष्ट एवं श्रुत दोनों के वश से प्रादुर्भूत आलम्बन 'उभयसम्बद्ध' कहा जाता है। किसी आलम्बन-विशेष को देख लेने या दूसरों से सुन लेने पर कालान्तर में उस दृष्ट एवं श्रुत आलम्बन के सदृश अन्य अदृष्ट एवं अश्रुत आलम्बन भी मनोद्वार में प्रादुर्भूत होता है। न केवल सदृश ही, अपितु कल्पित होने के कारण असदृश आलम्बन भी प्रादुर्भूत हो सकता है[2]।

श्रद्धा – दूसरों के अतिशयोक्तिपूर्ण एवं आश्चर्यजनक कथन पर ऊहापोह न करके विश्वास कर लेने से उत्पन्न आलम्बन श्रद्धावश प्रादुर्भूत आलम्बन कहा जाता है। दूसरों के द्वारा कथित इस प्रकार के सभी आलम्बन, वे चाहे मिथ्या हों चाहे सत्य, कालान्तर में मनोद्वार में प्रादुर्भूत हो सकते हैं[3]। (यहाँ श्रद्धा एवं प्रतिरूपिका श्रद्धा – दोनों का ग्रहण होता है।)

रुचि – जब किसी आलम्बनविशेष के प्रति अत्यधिक रुचि होती है तो अपने द्वारा दृष्ट, श्रुत-आदि न होने पर भी वह आलम्बन रुचिवश स्वतः (अपने आप) मनोद्वार में प्रादुर्भूत हो सकता है[4]।

आकारपरिवितर्क – परमार्थ-धर्मों के स्वभाव (आकार) का गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्मतया विचार 'आकारपरिवितर्क' कहलाता है। उस आकारपरिवितर्क के वश से परमार्थ-धर्मों के नानाविध आकार 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार में प्रादुर्भूत होते हैं[5]। [यह प्रत्युपस्थान (पच्चुपट्ठान) ही है।]

---

१. "'सुतं' ति पच्चक्खतो अदिस्वा अनुस्सववसेन गहिता रूपादयो व।" – अट्ठ०, पृ० ६१।

२. "तेहि द्वीहि पि सम्बन्धं 'उभयसम्बन्धं' नाम। इति इमेसं पि दिट्ठादीनं वसेन एतानि मनोद्वारे आपाथमागच्छन्तीति वेदितब्बानि।" – अट्ठ०, पृ० ६१।
"अदिट्ठस्स असुतस्स अनागतबुद्धरूपादिनो पसादधातुकामता वत्थुस्स तंसदिसतासङ्खातेन दिट्ठसुतसम्बन्धेनेव। न केवलं तंसदिसता व उभयसम्बन्धो, किन्तु तब्बिपक्खता तदेकदेसतातंसम्पयुत्ततादिको च वेदितब्बो।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

३. "केनचि वुत्ते कस्मिञ्चि सुते अविचारेत्वा सद्दहनं सद्धा।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

४. "सयमेव तं विचारेत्वा रोचनं रुचि।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

५. "'एवं वा एवं वा भविस्सती' ति आकारविचारणं आकारपरिवितक्को।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

दृष्टिनिध्यानक्षान्ति – सभी विषयों में विचार करने से उत्पन्न सन्तोष या प्रीति को 'दृष्टिनिध्यानक्षान्ति' कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान द्वारा विचार करने से उत्पन्न सन्तोष या प्रीति वश निश्चित हुए आलम्बन भी 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार में प्रादुर्भूत होते हैं[1]।

ऋद्धिबल – मरणासन्नकाल की भांति कर्म के वेग से, अथवा तेजस्वी सिद्ध पुद्गलों की ऋद्धि के बल से होनेवाले निर्माण को 'ऋद्धिबल' कहते हैं। उस ऋद्धि-बल के वश से भी नानाविध आलम्बन मनोद्वार में प्रादुर्भूत हो सकते हैं[2]।

धातुक्षोभ – वात, पित्त, श्लेष्मा-आदि धातुओं के विकार को 'धातुक्षोभ' कहते हैं। इस धातुक्षोभ के कारण मनोविकार एवं नाना प्रकार के स्वप्न होने से अनेकविध आलम्बन मनोद्वार में प्रादुर्भत होते हैं[3]।

देवतोपसंहार – देवताओं द्वारा हित की दृष्टि से या अहित की दृष्टि से इष्ट एवं अनिष्ट नाना प्रकार के आलम्बन मनोद्वार में प्रादुर्भूत होते हैं। इस प्रकार देवता के आनुभाव से भी नानाविध आलम्बन दिखायी पड़ते हैं[4]।

अनुबोध – चार आर्यसत्यों के आकारमात्र का परिज्ञान 'अनुबोध' है। आर्यसत्यों का यथाभूत ज्ञान 'प्रतिवेध' है। इन अनुबोध एवं प्रतिवेध के कारण अदृष्टपूर्व एवं अश्रुतपूर्व चार आर्यसत्य मनोद्वार में प्रादुर्भूत होते हैं। 'धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त' में "पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि[5]" – आदि वचन के अनुसार भगवान् बुद्ध में चार आर्यसत्यों का अपूर्व प्रादुर्भाव भी यही प्रतिवेध है[6]।

इस प्रकार मनोद्वार में आलम्बनों के प्रादुर्भाव के अनेक कारण होते हैं।

---

१. "विचारेन्तस्स कत्थचि दिट्ठिया निज्झानक्खमनं दिट्ठिनिज्झानक्खन्ति।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

२. "'इद्धी' ति या तेसं धम्मानं इद्धि, समिद्धि....उपसम्पदा।" – विभ०, पृ० २६५; पटि० म०, पृ० ४७३–४७६; विसु०, पृ० २६१–२६६।

३. "पकतिया दिट्ठादिवसेन आपाथगमनञ्च भोजनपरिणाम-उतुभोजन-विसेस-उस्साहादीहि कल्यं, रोगिनो वातादीहि च उपद्दुतं वा कायं अनुवत्तन्तस्स जागरस्स भवङ्गस्स चलनपच्चयानं कायिकसुखदुक्ख-उतुभोजनादि-उपनिस्सयानं चित्तपणिदहनसदिसासदिससम्बन्ध-दस्सनादिपच्चयानं सुत्तस्स च सुपिन-दस्सने धातुक्खोभादिपच्चयानं वसेन वेदितब्बं।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।
"तत्थ पित्तादीनं खोभकरणपच्चययोगेन खुभितधातुको 'धातुक्खोभतो' सुपिनं पस्सति। पस्सन्तो च नानाविधं सुपिनं पस्सति – पब्बता पतन्तो विय, आकासेन गच्छन्तो विय, वाळमिगहत्थिचोरादीहि अनुबद्धो विय च होति।" – विभ० अ०, पृ० ४१०।

४. "देवतोपसंहारतो पस्सन्तस्स देवता अत्थकामताय वा अनत्थकामताय वा अत्थाय वा अनत्थाय वा नानाविधानि आरम्मणानि उपसंहरन्ति। सो तासं देवतानं आनुभावेन तानि आरम्मणानि पस्सति।" – विभ० अ०, पृ० ४१०।

५. सं० नि०, चतु० भा०, पृ० ३६१।

६. "अनुबोधो सम्बोधो पटिवेधो ति पि पञ्ञा। सा तं आकारं अनुबुज्झति सम्बुज्झति पटिविज्झति।" – विभ० अ०, पृ० १४२।
"अनुरूपतो धम्मे बुज्झतीति अनुबोधो।" – अट्ठ०, पृ० २०५।

अब यहाँ उत्पाद-स्थिति-भङ्गस्वभावात्मक प्रत्युत्पन्न रूप-धर्मों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

विज्ञप्तिरूप २ एवं लक्षणरूप ४ (=६)-ये रूपधर्मों की आयु के नियम के अनुसार सत्रह चित्तक्षण आयुवाले नहीं होते। 'आकाशधातु' नामक परिच्छेदक रूप भी उत्पाद-स्थिति-भङ्ग स्वभाववाला परमार्थ-धर्म नहीं है। लघुता, मृदुता एवं कर्मण्यता नामक धर्म भी, रूपधर्मों के विशेष आकारमात्र होते हैं। उपर्युक्त ये दस अनिष्पन्न रूप वस्तुतः परमार्थ-धर्म न होकर प्रज्ञप्तिमात्र ही होते हैं। अतः इन दस अनिष्पन्न रूप-धर्मों के प्रादुर्भूत होने में भी अतीत भवङ्गपात नहीं हो सकता। अर्थात् उत्पाद के अनन्तर 'कितने चित्तक्षण अतीत होने पर इन का प्रादुर्भाव होता है'–इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं किया जा सकता।

प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप-धर्मों के प्रादुर्भूत होने के विषय में इस प्रकार समझना चाहिये। कुछ रूप (जिनके प्रादुर्भूत होने में चित्तशक्ति की प्रबलता होती है) तो उत्पन्न होते (अपने उत्पादक्षण में) ही प्रादुर्भूत होंगे। इस प्रकार के रूप चित्तशक्ति की प्रबलता के कारण प्रादुर्भूत होने के लिये स्थितिक्षण तक रुकेंगे नहीं। कुछ रूप (जिनमें चित्तशक्ति मन्द होती है) अपने उत्पाद के अनन्तर यथायोग्य चित्तक्षण अतीत होने पर ही प्रादुर्भूत होंगे। इस प्रकार के रूपालम्बनों के लिये अतीत भवङ्गपात होनेवाली मनोद्वारवीथि भी होनी चाहिये। इसी से 'खन्धविभङ्गमूलटीका' में "मनोद्वारे पन उप्पादक्खणे पि आपातमागच्छति" में 'अपि' शब्द द्वारा 'स्थितिक्षण में भी प्रादुर्भाव होता है'–इस प्रकार का आशय व्यक्त किया गया है[1]।

प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करना–दूसरों के प्रत्युत्पन्न चित्तों का सम्यग् रूप से आलम्बन करने में समर्थ परचित्तवित् (परचित्तविदू) पुद्गल द्वारा उन (दूसरों के प्रत्युत्पन्न चित्तों) का आलम्बन करते समय यदि वे (चित्त) आलम्बन 'मनोद्वारावर्जन-जवन-जवन-जवन-जवन-जवन' होते हैं तो आलम्बनक (आरम्मणिक=आलम्बन करनेवाले) चित्त भी 'मनोद्वारावर्जन-परिकर्म-उपचार-अनुलोम-गोत्रभू-अभिज्ञा'–इस प्रकार ही होंगे, और ऐसा होने पर 'आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा आलम्बन-मनोद्वारावर्जन का आवर्जन किया जाकर परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू एवं अभिज्ञा चित्तों द्वारा भी उसी आलम्बनभूत मनोद्वारावर्जन चित्त का ही आलम्बन किया जाता है'–यदि इस प्रकार कहा जाये तो ऐसी स्थिति में 'आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा प्रत्युत्पन्न चित्त का और परिकर्म, उपचार-आदि द्वारा अतीत चित्त का आलम्बन किया जाता है'–ऐसा मानना होगा। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि एक ही वीथि के अन्तर्गत प्रत्युत्पन्न आलम्बन का आलम्बन करनेवाले चित्त और अतीत आलम्बन का आलम्बन करनेवाले चित्त–इस प्रकार काल-भेद नहीं हो सकता।

अथवा यदि–'आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा दूसरों के मनोद्वारावर्जन का आवर्जन करके परिकर्म, उपचार, गोत्रभू-आदि द्वारा मनोद्वारावर्जन के परवर्ती स्वनम्मगस्य

1. विभ० मू० टी०, पृ० २२।

(दूसरों के) जवनचित्तों का आलम्बन किया जाता है' – इस प्रकार कहा जाये तो ऐसी स्थिति में आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा आवर्जित आलम्बन एक तथा परिकर्म-आदि चित्तों के आलम्बन अन्य – इस प्रकार एक ही वीथि में नाना आलम्बन मानने होंगे। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि यदि मार्गवीथि या फलवीथि नहीं होती है तो एक ही वीथि के अन्तर्गत इस प्रकार आलम्बन-भेद नहीं हो सकता। इस प्रकार की परिस्थिति में 'दूसरों के प्रत्युत्पन्न चित्तों का आलम्बन करने में वह आलम्बन किस प्रकार किया जा सकता है?' – यह एक विचारणीय विषय है।

अट्ठकथावाद – इस विषय के सम्बन्ध में 'अट्ठसालिनी' नामक अट्ठकथा में कहा गया है कि मनोद्वारावर्जन द्वारा आवर्जित चित्त का ही परिकर्म, उपचार-आदि पश्चिम पश्चिम चित्तों द्वारा भी पुनः आलम्बन किया जाता है। इस प्रकार आलम्बन किया जाने पर भी 'मनोद्वारावर्जन द्वारा प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन कर के परिकर्म-आदि चित्तों द्वारा अतीत चित्त का आलम्बन किया जाता है' – ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मनोद्वारावर्जन चित्त द्वारा आवर्जित चित्त यद्यपि परिकर्म-आदि के क्षण में निरुद्ध हो चुका रहता है, तथापि सन्तति-प्रत्युत्पन्न एवं अध्व-प्रत्युत्पन्न के रूप में वह (निरुद्ध-आलम्बन) प्रत्युत्पन्न भी कहा जा सकता है। अर्थात् प्रत्युत्पन्न धर्म क्षण-प्रत्युत्पन्न, सन्तति-प्रत्युत्पन्न एवं अध्व-प्रत्युत्पन्न – इस तरह तीन प्रकार से प्रत्युत्पन्न होता हैं'[1]। इनमें से उत्पाद-स्थिति-भङ्गरूप क्षणत्रयात्मक काल 'क्षण-प्रत्युत्पन्न' है। किसी एक आलम्बन का आलम्बन करके प्रवर्तमान जवनवीथिसन्तति 'सन्तति-प्रत्युत्पन्न' है; यथा – रूपालम्बन का आलम्बन करके प्रवर्तमान चक्षुर्द्वारवीथि, तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि-आदि द्वारा जबतक उस रूपालम्बन का सम्यग् ज्ञान नहीं हो जाता तबतक (सम्यग् ज्ञान के उत्पादपर्यन्त) होनेवाली चित्तसन्तति से परिच्छिन्न काल 'सन्तति-प्रत्युत्पन्न' कहा जाता है। तथा प्रत्युत्पन्नभव, अतीतभव-आदि सम्पूर्ण भव से परिच्छिन्न काल को 'अध्व-प्रत्युत्पन्न' कहते हैं। इस प्रकार त्रिविध प्रत्युत्पन्न होने के कारण आवर्जन द्वारा आवर्जित चित्त का परिकर्म-आदि द्वारा पुनः आलम्बन करने में, 'आवर्जित चित्त' परिकर्म-आदि के क्षण में निरुद्ध रहने पर भी यद्यपि वह क्षण-प्रत्युत्पन्न के रूप में प्रत्युत्पन्न नहीं कहा जा सकता, तथापि 'सन्तति-प्रत्युत्पन्न' एवं 'अध्व-प्रत्युत्पन्न' के रूप में प्रत्युत्पन्न कहा ही जा सकता है। अतः आवर्जन द्वारा आवर्जित चित्त का परिकर्म, उपचार-आदि द्वारा पुनः आलम्बन करने में 'एक वीथि के अन्तर्गत ही कालभेद होता हैं' – ऐसा नहीं समझना चाहिये[2]।

मूलटीकावाद – मूलटीकाकार का कथन है कि "अतीता धम्मा, अनागता धम्मा,

---

१. "पच्चुप्पन्नं च नामेतं तिविधं – खणपच्चुप्पन्नं, सन्ततिपच्चुप्पन्नं, अद्धापच्चुप्पन्नं च। तत्थ उप्पादट्ठितिभङ्गप्पत्तं 'खणपच्चुप्पन्नं'। एकद्विसन्ततिवारपरियापन्नं 'सन्ततिपच्चुप्पन्नं'।...एकभवपरिच्छिन्नं पन 'अद्धापच्चुप्पन्नं' नाम।" – अट्ठ०, पृ० ३३०; विसु०, पृ० ३००-३०१।

२. द्र० – अट्ठ०, पृ० ३३०-३३१; विसु०, पृ० ३०१-३०२।

पच्चुप्पन्ना धम्मा'[1]" – आदि द्वारा अभिधर्मपिटक में केवल 'क्षणप्रत्युत्पन्न' का ही ग्रहण होता है, सन्तति-प्रत्युत्पन्न एवं अध्व-प्रत्युत्पन्न का नहीं। सन्तति-प्रत्युत्पन्न एवं अध्व-प्रत्युत्पन्न का प्रयोग तो केवल सूत्रपिटक में ही होता है – इस प्रकार का मत ग्रहण करने से अट्ठकथावाद को पसन्द न करने के कारण उन्होंने अट्ठकथा द्वारा प्रतिषिद्ध 'केचिवाद' का भी समर्थन करते हुए उसकी इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की है; यथा – दूसरों के चित्तों को जानने का अभिलाषी ऋद्धिबलसम्पन्न पुद्गल दूसरों की सन्तान में होनेवाले प्रत्युत्पन्न चित्त को आवर्जन द्वारा आवर्जित करता है। तदनन्तर परिकर्म-आदि जवनों द्वारा भी (उस प्रत्युत्पन्न चित्त के परवर्ती) स्वसम्मुखस्थ (अन्य) प्रत्युत्पन्न-चित्तों का ही पृथक् पृथक् आलम्बन करता है। इस प्रकार आलम्बन करने पर भी न तो आलम्बन-भेद होता है और न ही काल-भेद; क्योंकि आवर्जन द्वारा चित्त का आवर्जन करके तदनन्तर पश्चिम पश्चिम जवनों द्वारा यदि रूप-धर्मों का आलम्बन किया जाता है, तभी आलम्बन-भेद कहा जा सकता है; किन्तु यहाँ आलम्बन होनेवाले धर्म सर्वदा चित्त ही होते हैं, अतः आलम्बन के स्वभाव में भेद न होने से आलम्बन-भेद नहीं होता। पुनश्च – यहाँ कालभेद भी नहीं होता; क्योंकि आवर्जन द्वारा प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करके पश्चिम पश्चिम जवनों द्वारा भी यदि उसी निरुद्ध (अतीत) चित्त का आलम्बन किया जाये तभी काल के स्वभाव में भेद होने से कालभेद कहा जा सकता है; किन्तु यहाँ सर्वदा परवर्ती (भिन्न भिन्न) स्वसम्मुखस्थ प्रत्युत्पन्न चित्त ही आलम्बन होते हैं, अतः कालभेद भी नहीं कहा जा सकता।

मूलटीकाकार के उपर्युक्त कथन के सुस्पष्ट ज्ञान के लिये निम्न उपमा दी जाती है; जैसे – अनुक्रम से चली जा रही पिपीलिकापङ्क्ति (चींटियों की रेखा) देखते समय पूर्वचित्त द्वारा अपने उत्पादक्षण में स्वसम्मुखस्थ एक चींटी देखी जाकर पश्चिम पश्चिम चित्तों द्वारा भी अपने उत्पादक्षण में स्वसम्मुखस्थ दूसरी दूसरी चींटियाँ देखी जाती हैं। इस उदाहरण में (पूर्व एवं पर) दोनों प्रकार के चित्तों द्वारा अपने अपने उत्पादक्षण में चींटी ही देखी जाने के कारण आलम्बन का भेद नहीं होता तथा स्वसम्मुखस्थ चींटी भिन्न भिन्न होने के कारण काल का भेद भी नहीं होता[2]।

विभूत-आलम्बनवीथि

किसी विभूत आलम्बन के मनोद्वार में प्रादुर्भूत होने पर 'भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, ७ वार जवन एवं २ वार तदालम्बन' होने के अनन्तर यथासम्भव भवङ्ग होते हैं; यथा –

'न द म ज ज ज ज ज ज ज त त'
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

अविभूत-आलम्बनवीथि

किसी अविभूत आलम्बन के मनोद्वार में प्रादुर्भूत होने पर 'भवङ्गचलन, भवङ्गो-

१. ध० स०, पृ० ५।

२. द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १६४-१६७।

२१. वीथिचित्तानि तीणेव चित्तुप्पादा दसेरिता।
वित्थारेन पनेत्थेकचत्तालीस विभावये॥

अयमेत्थ परित्तजवनवारो।

इस कामजवन मनोद्वार में वीथिचित्त ३ ही तथा चित्तोत्पाद १० कहे गये हैं। विस्तार से (गणना करने पर वे ही १० चित्तोत्पाद) ४१ हो जाते हैं – ऐसा जानना चाहिये।

इस वीथिसङ्ग्रह में यह कामजवनवार है।

अप्पनाजवनमनोद्वारवीथि

२२. अप्पनाजवनवारे * पन विभूताविभूतभेदो नत्थि, तथा तदारमणुप्पादो च†।

अर्पणा जवनवार में विभूत एवं अविभूत आलम्बन का भेद नहीं है। और तदालम्बन का उत्पाद भी नहीं है।

पच्छेद, मनोद्वारावर्जन एवं ७ वार जवन होने के अनन्तर यथासम्भव भवङ्ग होते हैं; यथा –

'न द म ज ज ज ज ज ज ज'

२१. इस मनोद्वार वीथि में वीथिचित्त ३ ही होते हैं; यथा—मनोद्वारावर्जन, जवन एवं तदालम्बन। चित्तोत्पाद वार १० होते हैं; यथा – मनोद्वारावर्जन १, जवन ७, एवं तदालम्बन २ = १० होते हैं। विस्तारपूर्वक गणना करने पर मनोद्वारिक वीथिचित्तों की सङ्ख्या ४१ होती है; यथा – द्विपञ्चविज्ञानधातु १० एवं मनोधातु ३ = १३ चित्तों को वर्जित कर अवशिष्ट कामचित्त ४१।

कामजवन-
मनोद्वारवीथि समाप्त।

अर्पणाजवनमनोद्वारवीथि

२२. "तक्को वितक्को सङ्कप्पो अप्पना व्यप्पना[1]..." – इस 'धम्मसङ्गणि' पालि के अनुसार 'अर्पणा' यह वितर्क का नाम है। "एकग्गं चित्तं आरम्मणे अप्पेति (अभिनिरोपेती) ति अप्पना[2]" अर्थात् सम्प्रयुक्त चित्त को आलम्बन में अभिनिरोपित करनेवाला

---

*. अप्पणा० – सी० (सर्वत्र)।

†. स्या० में नहीं।

१. ध० स०, पृ० २१।

२. अट्ठ०, पृ० ११६।

वितर्क ही 'अर्पणा' है। अट्ठकथा में, वितर्क का 'आलम्बन के प्रति अभिनिरोपण' यह विशेष कृत्य होने के कारण, सम्बद्ध आलम्बन में दृढता (स्थिरता) को प्राप्त लौकिक एवं लोकोत्तर प्रथमध्यान नामक चित्त-चैतसिक धर्म भी, 'अर्पणा' नामक चैतसिक से सम्प्रयुक्त होने के कारण सहचरणनय से 'अर्पणा' कहे जाते हैं। प्रत्यनीक नीवरण-धर्मो से दूर (रहित) होकर सम्बद्ध आलम्बन में दृढतापूर्वक स्थित होने के कारण, तथा 'अर्पणा' नामक प्रथमध्यान के सदृश होने के कारण, सदृशोपचार से वितर्करहित द्वितीय-ध्यान-आदि ध्यानों को भी 'अर्पणा' कहा जाता है। सभी ध्यानों का 'अर्पणा' नाम रखना 'अट्ठकथावाद' है।

"वितक्कस्स किच्चविसेसेन थिरभावप्पत्ते पठमज्झानसमाधिम्हि, पच्चनीकदूरीभावगतेन थिरभावेन तंसदिसेसु वितक्करहितेसु दुतियज्झानादिसमाधिसु च अप्पना' ति अट्ठकथावोहारो ति वितक्कस्स अप्पनायोगो वुत्तो। अञ्ञथा वितक्को व अप्पना ति तस्स तंसम्पयोगो न सिया ति[१]।"

विभूताविभूतभेदो नत्थि – कामजवनवार की भाँति इस अर्पणाजवनवार में विभूत-आलम्बन एवं अविभूत-आलम्बन – इस प्रकार आलम्बन के दो भेद नहीं होते; अपितु इस (वार) में केवल विभूत आलम्बन ही होते हैं। ध्यान की प्राप्ति के लिये पृथ्वी-कसिण-आदि का आलम्बन करके जब भावना की जाती है तब उस आलम्बन का सामान्य रूप से अवभास होने से ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती; अपितु आलम्बन के अत्यन्त विस्पष्ट प्रतिभासित होने पर ही 'ध्यान' नामक अर्पणा-जवन उत्पन्न होते हैं। 'मार्ग' एवं 'फल' नामक अर्पणाजवन का आलम्बन तो अतिविभूत (अत्यन्त विस्पष्ट) निर्वाण-धर्म है। इसीलिये यहाँ (इस वार में) विभूत-अविभूत भेद नहीं होता; क्योंकि आलम्बन के विभूत (सुप्रकट) होने पर ही अर्पणा का उत्पाद सम्भव है[२]।

"कामे जवनसत्तालम्बनानं नियमे सति[३]" के अनुसार कामजवन के अनन्तर ही तदालम्बन का पात होने से इस अर्पणाजवनवीथि में तदालम्बन की उत्पत्ति नहीं होती।

---

१. ध० स० मू० टी०, पृ० १०१।

२. "विभूताविभूतभेदो नत्थि, आरम्मणस्स विभूतकाले येव अप्पनासम्भवतो।" –विभा०, पृ० ११२।

"विभूताविभूतभेदो नत्थि, एकं विभूतमेव लब्भतीति अधिप्पायो। न हि अविभूते आरम्मणे अप्पना नाम सम्भवतीति।" – प० दी०, पृ० १४०।

३. द्र० – अभि० स० ४ : ३५, पृ० ३७३।

२३. तत्थ हि ञाणसम्पयुत्तकामावचरजवनानमट्ठन्नं अञ्ञतरस्मिं परिकम्मोपचारानुलोमगोत्रभुनामेन* चतुक्खत्तुं तिक्खत्तुमेव वा यथाक्कमं उप्पज्जित्वा निरुद्धानन्तरमेव† यथारहं चतुत्थं‡ पञ्चमं वा छब्बीसतिमहग्गत-लोकुत्तरजवनेसु यथाभिनीहारवसेन यं किञ्चि जवनं अप्पनावीथिमोतरति। ततो परं अप्पनावसाने भवङ्गपातो व होति।

इस अर्पणाजवनवार में आठ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर जवनों में से कोई एक (अन्यतम) जवन, परिकर्म उपचार अनुलोम एवं गोत्रभू नामों से चार बार या तीन बार ही यथाक्रम उत्पन्न होकर निरुद्ध होने के अनन्तर ही यथायोग्य (तीक्ष्ण अथवा मन्द पुद्गल के अनुसार) चतुर्थ या पञ्चम (जवन के रूप में) २६ महग्गत या लोकोत्तर जवनों में से यथा-भिनीहारवश कोई एक जवन, अर्पणावीथि में अवतरित होता है। उसके अवतरित होने के अनन्तर अर्पणाजवन के अन्त में भवङ्गपात ही होता है।

---

२३. ञाणसम्पयुत्त... चतुक्खत्तुं तिक्खत्तुमेव वा – उस अर्पणाजवनवार में आलम्बन रूपी धर्म नहीं होता। निर्वाण, कसिणपञ्ञत्ति-आदि आलम्बन होने से इस (वीथि) में अतीत भवङ्गपात आवश्यक नहीं है। वीथिनियम के अनुसार भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद एवं मनोद्वारावर्जन के अनन्तर कामावचरजवन वेग से जवन करते हैं। इस प्रकार वेग से जवन करने में ध्यान, मार्ग एवं फल से पूर्वगामी होने के कारण ८ ज्ञानसम्प्रयुक्त जवनचित्तों (पृथग्जन एवं शैक्ष्य की सन्तान में महाकुशल ४, तथा अर्हत् की सन्तान में महाक्रिया ४) में से किसी एक का ही परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू नाम से ४ बार या ३ बार वेग से गमन (जवन) होता है। ध्यानलाभी या मार्गलाभी पुद्गल यदि मन्दप्रज्ञ होता है तो मन्दप्रज्ञ होने से उसे 'धन्धाभिज्ञ' (दन्धा-भिञ्ञा) पुद्गल कहते हैं[1]। इस पुद्गल की सन्तान में पूर्वोक्त जवनों के चार बार प्रवृत्त होने पर ही उनका कृत्य सम्पन्न हो पाता है। अर्थात् ध्यान, मार्ग या फल की प्राप्ति होती है। यदि पुद्गल तीक्ष्णप्रज्ञ होता है तो उसे 'क्षिप्राभिज्ञ' (खिप्पाभिञ्ञा) पुद्गल कहते हैं। इस पुद्गल की सन्तान में पूर्वोक्त जवनों के तीन बार प्रवृत्त होने

---

*. ० गोत्रभूनामेन – सी०, स्या०, ना०।

†. निरुद्धे तदनन्तरमेव – स्या०।

‡. चतुत्थं वा – स्या०।

१. "दन्धा अभिञ्ञा यस्सा ति दन्धाभिञ्ञं।... खिप्पाभिञ्ञं ति आदीसु पि एसेव नयो।... उपचारतो पन पट्ठाय याव अप्पना ताव पवत्ता पञ्ञा 'अभिञ्ञा' ति वुच्चति।... अभिञ्ञापि एकच्चस्स दन्धा होति, मन्दा असीघप्पवत्तिनी; एकच्चस्स खिप्पा, अमन्दा, सीघप्पवत्तिनी।" – अट्ठ०, पृ० १४६।

से ही उनका कृत्य सम्पन्न हो जाता है। तीन वार जवन होनेवाले 'वार' में 'परिकर्म' का परिवर्जन करना चाहिये[1]। इन कामजवनों को, अर्पणा के उपचार (समीपप्रदेश) में होने के कारण तथा इनमें समाधि (चित्तैकाग्रता) प्रबल होने के कारण 'उपचारसमाधि-जवन' कहा जाता है[2]।

यथारहं...यं किञ्चि – उपर्युक्त उपचारसमाधिजवन यदि तीन वार जवित होता है तो अर्पणासमाधिजवन चौथे वार जवित होगा। यदि उपचारसमाधिजवन चार वार जवित होता है तो अर्पणासमाधिजवन पाँचवें वार जवित होगा। इस प्रकार जवन 'यथायोग्य' होते हैं[3]। २६ अर्पणाजवनों में से यथाभिनीहारवश किसी एक का जवन होता है। ध्यान की प्राप्ति के लिये आरब्धवीर्य पुद्गल अपने शमथभावनाचित्त का ध्यान के प्रति अभिनीहरण करता है। यथा – प्रथमध्यान की प्राप्ति के लिये अपने शमथ-भावनाचित्त का प्रथमध्यान के प्रति अभिनीहरण करता है। तथा द्वितीयध्यान-आदि प्राप्त करने के लिये द्वितीयध्यान-आदि के प्रति अभिनीहरण करता है। इसी प्रकार मार्ग अथवा फल की प्राप्ति के लिये आरब्धवीर्य पुद्गल अपने विपश्यनाभावनाचित्त का मार्ग अथवा फल के प्रति अभिनीहरण करता है[4]। (मार्ग एवं फल में से भी जिस मार्ग अथवा फल की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, उसी मार्ग अथवा फल के प्रति अपने विपश्यना-चित्त का अभिनीहरण करता है।)

[अभिनीहरणं अभिनीहारो, यो यो अभिनीहारो यथाभिनीहारं; अथवा अभि-नीहारस्स अनुरूपं यथाभिनीहारं, यथाभिनीहारं वसो यथाभिनीहारवसो।]

---

१. "तिक्खत्तुं पवत्तियं पन उपचारानुलोमगोत्रभुनामेनेव लभन्ति।" – विभा०, पृ० ११२।

२. "एवं निमित्ताभिमुखं मानसं पटिपादयतो पनस्स, इदानि अप्पना इज्झिस्सतीति भवङ्गं उपच्छिन्दित्वा, 'पथवी, पथवी' ति अनुयोगवसेन उपट्ठितं तदेव पथवीकसिणं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उप्पज्जति, ततो तस्मि येवारम्मणे चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति।... अगहितगहणेन पनेत्थ पठमं परिकम्मं, दुतियं उपचारं, ततियं अनुलोमं, चतुत्थं गोत्रभू। पठमं वा उपचारं, दुतियं अनुलोमं, ततियं गोत्रभू। चतुत्थं पञ्चमं वा अप्पना-चित्तं। चतुत्थमेव हि पञ्चमं वा अप्पेति। तं च खो खिप्पाभिञ्ञा-दन्धाभिञ्ञावसेन।" – विसु०, पृ० ९२-९३।

३. द्र० – विभा०, पृ० ११२-११३; विसु०, पृ० ९३। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १४०-१४४।

४. "'यथाभिनीहारवसेना' ति रूपारूपलोकुत्तरमग्गफलानुरूप-समथविपस्सनाभावना-चित्ताभिनीहरणानुरूपतो।" – विभा०, पृ० ११३।

"'यथाभिनीहारवसेना' ति तस्मिं तस्मिं परिकम्मभावनाचित्तस्स कसिणनिमित्ता-दीसु वा अनिच्चलक्खणादीसु वा अभिनीहरणानुरूपं।" – प० दी०, पृ० १४४।

श्रावक या प्रेत को देखते समय ही मुस्करा रहे हैं' – ऐसा प्रतीत होता है। 'इधा-नन्द !...सो सचे आकङ्खति – पटिकूले अप्पटिकूलसञ्ञी विहरेय्यं ति'...आदि सूत्रान्त पालि के अनुसार प्रतिकूल (कुत्सित) अनिष्ट आलम्बनभूत सत्त्व को अप्रतिकूल (अकुत्सित) अति-इष्ट आलम्बन के रूप में परिकल्पित करके आवर्जन करने में नाना प्रकार की वीथियाँ होती हैं। यथा – प्रतिकूल आलम्बन को देखते समय प्रारम्भ में अनिष्ट आलम्बन के अनुसार उपेक्षा क्रियाजवनवीथियाँ होती हैं। इसके पश्चात् उस अनिष्ट आलम्बनभूत सत्त्व को 'मेत्ताकम्मट्ठान' (मैत्रीकर्मस्थान) द्वारा प्रिय, मनाप सत्त्व रूप में परिकल्पित करके देखने पर वह सत्त्व इष्टाकार या अति-इष्टाकार रूप में अवभासित होगा। इस समय यदि अति-इष्टाकार रूप में अवभासित होता है तो सत्त्व के उस अति-इष्टाकार का आलम्बन करके सौमनस्य क्रियाजवन हो सकते हैं। एक ही आलम्बन में आलम्बनकर्ता पुद्गल के चित्त की विचित्रता के अनुसार इष्ट, अति-इष्ट या अनिष्ट विचित्र आकार प्राप्त हो सकते हैं। अत्यन्त लावण्यमयी, सुन्दर अति-इष्ट युवती को भी 'असुभ कम्मट्ठान' (अशुभ कर्मस्थान) द्वारा आवर्जन करके देखने पर अशुभ आकार एवं अनिष्ट आलम्बन का उत्पाद होता है। कुरूप अनिष्ट आलम्बन स्वपुत्र को भी मातृस्नेह से देखने पर शुभ आकार एवं इष्ट आलम्बन का उत्पाद हो जाता है। इस प्रकार पृथग्जनों की सन्तान में भी चित्त की विचित्रता के अनुसार अभिसंस्कार (आकारपरिवर्तन) किया जा सकता है तो अपने चित्त पर आधिपत्य रखनेवाले अर्हत् के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है! अर्हत् पुद्गल सभी आलम्बनों में अपने चित्त का अभिसंस्कार करके आवर्जन करने में समर्थ होता है, अतः अपनी इच्छा के अनुसार (यथेच्छ) परिवर्तन कर के इष्ट, अनिष्ट एवं अति-इष्ट आलम्बन के अनुसार उपेक्षा एवं सौमनस्य से सम्प्रयुक्त क्रियाजवनों का उत्पाद कर सकता है; जैसे – चतुर नाविक अनायास पतवार घुमाकर यथेष्ट स्थान पर जाने में समर्थ होता है[1]।

मूलटीकावाद – '*सोमनस्ससहगतक्रियाजवनावसाने सोमनस्ससहगतानेव तदा-रमणानि*' – आदि के अनुसार क्रियाजवनों के अनन्तर तदालम्बनपात के सम्बन्ध में, सभी अट्ठकथाओं के एकमत होने पर भी मूलटीकाचार्य को क्रियाजवन के अनन्तर तदालम्बन-पात अभीष्ट नहीं है। उनके मतानुसार जिस प्रकार प्रतिस्रोतोगामी वेगवान् पोत के पीछे पीछे कुछ दूर तक स्रोतोगत जल अनुगमन करता है, उसी प्रकार तदालम्बन विपाकचित्त भी पोत के ही सदृश प्रकम्पित होनेवाले अस्थिरस्वभाव एवं वेगवान् कुशल या अकुशल जवनों के पीछे ही अनुगमन कर सकते हैं। और जिस प्रकार अनुस्रोतो-गामी निश्चल पर्णपुटक (दोना) के पीछे स्रोतोवाही जल अनुगमन नहीं करता, उसी प्रकार अत्यन्त उपशमस्वभाव क्रियाजवनों के अनन्तर तदालम्बन का अनुगमन नहीं हो सकता। 'पट्ठानपालि' में भी कुशल एवं अकुशल जवनों के अनन्तर ही तदालम्बन-

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – परमत्थसरूपभेदनी (वर्मी टीका); तु० – प० दी०, पृ० १४७ – १४९।

पात कहा गया है, क्रियाजवनों के अनन्तर तदालम्बनपात का उल्लेख नहीं किया गया है[1]।

अनुटीका, महाटीका एवं परमत्थसरूपभेदनी का वाद –

'अनुटीका' के 'केचिवाद' एवं 'महाटीका' में कहा गया है कि 'क्रियाजवन कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति का उत्पाद करने में समर्थ होने के कारण अनुस्रोतोगामी निश्चल पर्णपुटक (दोने) के समान नहीं है; अपितु वह भी कम्पित स्वभाववाला कहा जा सकता है। 'पट्ठानपालि' में उसका उपदेश न किया जाना (अवचन) भगवान् बुद्ध के अध्याशयविशेष से ही होना चाहिये।' 'परमत्थसरूपभेदनी' में कहा गया है कि 'कुसलं वुट्ठानस्स, अकुसलं वुट्ठानस्स' की भाँति 'अब्याकतं वुट्ठानस्स' का उपदेश भी अनन्तर-प्रत्यय में किया गया है। 'वुट्ठान' शब्द द्वारा कुशल, अकुशल एवं क्रिया-जवनों से उत्थित तदालम्बन, भवङ्ग एवं च्युति सबका ग्रहण होता है। इस प्रकार क्रियाजवनों के अनन्तर तदालम्बन को भी सम्मिलित करके उपदेश करनेवाले स्थल अनेक होने से 'क्रियाजवन के अनन्तर तदालम्बन का उपदेश नहीं किया गया है' – इस प्रकार के वाद का परित्याग करना चाहिये[2]।

---

१. "पट्ठाने पन 'कुसलाकुसले निरुद्धे विपाको तदारम्मणता उप्पज्जती' ति (पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ३४०) विपाकधम्मधम्मानमेव अनन्तरा तदारम्मणं वुत्तं। कुसलतिके च 'सेक्खा वा पुथुज्जना वा कुसलं अनिच्चतो' ति (पट्ठान, प्र० भा०, पृ० १२३) आदिना कुसलाकुसलजवनमेव वत्वा तदनन्तरं तदारम्मणं वुत्तं, न अब्याकतानन्तरं। न च कत्थचि किरियानन्तरं तदारम्मणस्स वुत्तट्ठानं दिस्सति। विज्जमाने च तस्मिं अवचने कारणं नत्थि, तस्मा उपपरिक्खितब्बो एसो थेरवादो। विप्फारिकं हि जवनं, नावं विय नदीसोतो, भवङ्गं अनुबन्धतीति युत्तं; न पन छळङ्गुपेक्खवतो सन्तवुत्ति किरियजवनं, पण्णपुटं विय नदीसोतो ति।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १३४।

२. "एत्थ केचि 'छळङ्गुपेक्खावतो पि किरियमयचित्तताय किरियजवनस्स विप्फारिकभावो न सक्का निसेधेतुं ति निदस्सनभावेन पण्णपुटमुपनीतं असमानं। किरियजवनानन्तरं तदारम्मणाभावस्स पालियं अवचनं पि अकारणं लब्भमानस्स पि कत्थचि केनचि अधिप्पायेन अवचनतो। तथा हि धम्मसङ्गहे अकुसलनिद्देसे लब्भमानो पि अधिपति न वुत्तो, तस्मा किरियजवनानन्तरं तदारम्मणाभावो वीमंसितब्बो' ति वदन्ति। सति पि किरियमयत्ते सब्बत्थ तादिभावपत्तानं खीणासवानं जवनचित्तं न इतरेसं विय विप्फारिकं सन्तसभावताय पन सन्निसिन्नरसं सिया ति तस्स पण्णपुटं दस्सितं। धम्मसङ्गहे अकुसलनिद्देसे अधिपतिनो विय पट्ठाने किरियजवनानन्तरं तदारम्मणस्स लब्भमानस्स अवचने न किञ्चि कारणं दिस्सति। तथा हि वुत्तं तत्थ अट्ठकथायं – 'हेट्ठा दस्सितनयत्ता' ति। न चेत्थ दस्सितनयत्ता ति सक्का वत्तुं, विपाकधम्मधम्मेहि

तदालम्बनपात नहीं होनेवाले वार

१. सोमनस्स से प्रतिसन्धि लेनेवाले मिथ्यादृष्टि पुद्गल की सन्तान में बुद्ध-आदि अति-इष्ट, अतिमहद् (अतिमहन्त) आलम्बन या विभूत-आलम्बन का आलम्बन करके यदि द्वेषजवन होते हैं, अथवा – अति-इष्ट देवकन्या-आदि अतिमहद्-आलम्बन या विभूतआलम्बन का आलम्बन करके सहसा (अभिभवतः') हो जाने से द्वेषजवन होते हैं तो उनके अनन्तर तदालम्बन का पात नहीं हो सकता; क्योंकि यदि तदालम्बन होगा तो अति-इष्ट आलम्बन होने से सोमनस्स तदालम्बन ही होगा और वह (सोमनस्य तदालम्बन) द्वेषजवन के अनन्तर नहीं हो सकता। उपेक्षातदालम्बन होने के लिये भी यहाँ अवकाश नहीं है, क्योंकि 'अति-इट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव',' के अनुसार अति-इष्ट आलम्बन उपेक्षातदालम्बन के अनुकूल नहीं पड़ता। अतः इस वार में तदालम्बन का पात कदापि नहीं होता।

२. सोमनस्स से प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल की सन्तान में यदि महद्-आलम्बन (महन्तालम्बन) या अविभूत-आलम्बन (यहाँ आलम्बन में अति-इष्ट-आदि विशेषण नहीं दिये जा सकते; अतः सभी महद् या अविभूत कामालम्बन) का आलम्बन करके द्वेषजवन होते हैं तो उन द्वेषजवनों के अनन्तर भी तदालम्बन नहीं होता। क्योंकि 'विभूतेतिमहन्ते च तदारम्मणमीरितं'' के अनुसार विभूत या अतिमहद् आलम्बन के अनन्तर ही तदालम्बनपात सम्भव है।

३. सोमनस्य से प्रतिसन्धि लेकर ध्यानप्राप्त पुद्गल के उस ध्यान से पतित होने पर उस गिरे हुए (पतित) महग्गतध्यान का आलम्बन करके 'मेरा प्रणीत धर्म नष्ट हो गया' – इस प्रकार विप्रतिसारवश जब उस पुद्गल में द्वेषजवन होते हैं तो उन द्वेषजवनों के अनन्तर भी तदालम्बन का पात नहीं हो सकता; क्योंकि 'कामे जवनसत्तालम्बनानं नियमे सति'' के अनुसार कामालम्बन होने पर ही तदालम्बन का पात सम्भव है। और यहाँ गिरा हुआ ध्यान महग्गत आलम्बन है, अतः इस वार में भी तदालम्बनपात नहीं होता।

दोमनस्सं उप्पज्जति, तदा किं उप्पज्जति? 'सोमनस्सानन्तरं हि दोमनस्सं, दोमनस्सानन्तरं च सोमनस्सं' पट्ठाने पटिसिद्धं। महग्गतधम्मे आरब्भ जविते जवने तदारम्मणं पि तत्थेव पटिसिद्धं ति? कुसलविपाका वा अकुसलविपाका उपेक्खासहगताहेतुकमनोविञ्ञाणधातु उप्पज्जति।" – अट्ठ०, पृ० २२४। "वदन्ति आचरिया; पालियं पन महाअट्ठकथायं च एतं विधानं नत्थीति अधिप्पायो।" – प० दी०, पृ० १५३।

१. "निच्छयवसेन आरम्मणे पवत्तितुं असमत्थताय 'थम्भितत्तं।" – अट्ठ०, पृ० २१०।

२. द्र० – अभि० स० ४ : ३० पृ० ३५५।

३. द्र० – अभि० स० ४ : ३५ पृ० ३७३।

४. द्र० – अभि० स० ४ : ३५ पृ० ३७३।

तदा यं किञ्चि...उप्पज्जति – उपर्युक्त कथन के अनुसार यदि तदालम्बन की उत्पत्ति नहीं होती है तो स्वभावतः द्वेषजवन के अनन्तर भवङ्गपात ही होगा। यदि भवङ्गपात होता है तो नियमतः एक भव में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति चित्त समान होने के कारण, यहाँ सौमनस्य द्वारा प्रतिसन्धि लिया हुआ पुद्गल होने से सौमनस्य-भवङ्ग का पात ही होना चाहिये। ऐसी स्थिति में उस सौमनस्य भवङ्ग का पात द्वेषजवन के अनन्तर कैसे अनुरूप होगा? – यह एक कठिनाई है। इस प्रकार की कठिनाई के समाधानार्थ द्वेषजवन एवं सौमनस्यभवङ्ग के बीच दोनों का समन्वय या आनुकूल्य साधने के लिये उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त की उत्पत्ति होती है। वह उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त आगन्तुकभवङ्ग कृत्य करते हुये प्रवृत्त (उत्पन्न) होता है। यह प्रतिसन्धि के सदृश आवासिक (मूल) भवङ्ग न होकर आगन्तुक भवङ्ग होता है। यह आगन्तुक भवङ्ग द्वेषजवनवाली वीथि के आलम्बन का आलम्बन नहीं कर सकता; अतः अपने पूर्वपरिचित किसी एक कामालम्बन का आलम्बन करके उत्पन्न होता है; जैसे – यदि वह (आगन्तुक भवङ्ग) रूपालम्बन के प्रति परिचित होता है तो रूपालम्बन का आलम्बन करेगा – इत्यादि। वह आलम्बन भी यदि, अनिष्ट आलम्बन होगा तो अकुशलविपाक सन्तीरण होगा और यदि वह आलम्बन इष्ट-मध्यस्थ या अति-इष्ट आलम्बन होगा तो कुशलविपाक सन्तीरण होगा[1]।

तमनन्तरित्वा भवङ्गपातो व होति – उस उपेक्षासहगत सन्तीरण के अनन्तर स्वभावतः बिना बाधा के सौमनस्यभवङ्ग हो सकता है[2]।

वदन्ति आचरिया – ग्रन्थकार जब किसी विषय-विशेषसम्बन्धी निर्णय देने में कोई युक्ति या प्रमाण प्रस्तुत कर पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं तो 'वदन्ति' या 'वदन्ति आचरिया' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार का वाद 'अट्ठसालिनी' अट्ठकथा में भी उपलब्ध होता है[3]।

---

१. तु० – अट्ठ०, पृ० २१८ – २१९।

२. " 'तमनन्तरित्वा' ति अत्तनो अनन्तरं अव्यवहितं कत्वा।" – विभा०, पृ० ११७।
" 'तमनन्तरित्वा' ति तं आगन्तुकभवङ्गं अत्तनो अनन्तरपच्चयं कत्वा।" – प० दी०, पृ० १५३।

३. "अथस्स यदा सोमनस्सपटिसन्धिकस्स पवत्ते झानं निब्बत्तेत्वा पमादेन परिहीनज्झानस्स 'पणीतधम्मो मे नट्ठो' ति पच्चवेक्खतो विप्पटिसारिवसेन

(कठिनाई उपस्थित होने पर) ही उत्पन्न होने के कारण 'आगन्तुक भवङ्ग' कहा जाता है।

उपर्युक्त नय के अनुसार कभी कभी (कठिनाई उपस्थित होने पर ही सही) मूल प्रतिसन्धिचित्त से विसदृश आगन्तुक भवङ्ग के भी उत्पन्न होने से वीथिमुत्तपरिच्छेद में आनेवाली –

"पटिसन्धिभवङ्गञ्च तथा चवनमानसं।
एकमेव तथेवेकविसयञ्चेकजातियं[1] ।।"

अर्थात् एक भव में प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के धर्म एवं आलम्बन समान ही होते हैं – यह गाथा प्रायिक (येभुय्येन) गाथा ही है – ऐसा समझना चाहिये[2]।

यं किञ्चि परिचितपुब्बं परित्तारमणं –

इस आगन्तुक भवङ्गपात में होनेवाली चित्तसन्तति के पूर्वकाल में कोई परिचित एक आलम्बन अवश्य होगा। 'आलम्बनसङ्ग्रह' के अनुसार कामविपाकधर्म चूंकि कामधर्मो का ही आलम्बन करते हैं[3], अतः वह परिचित आलम्बन अवश्य कामधर्मो में से ही कोई आलम्बन होगा। वह परिचित कामालम्बन यदि इष्ट आलम्बन होता है तो कुशलविपाक सन्तीरण और यदि अनिष्ट आलम्बन होता है तो अकुशलविपाक सन्तीरण चित्त प्रादुर्भूत होता है[4]।

[यदि आलम्बन अति-इष्ट होता है तो 'अतिइट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव' इस प्रकार का नियम होने पर भी सौमनस्य सन्तीरणचित्त न होने से (क्योंकि दो उपेक्षा-सन्तीरणचित्त ही भवङ्गकृत्य कर सकते हैं, सौमनस्यसन्तीरण नहीं[5]) कठिनाई उपस्थित

---

१. द्र० – अभि० स० ५ : ४० ।

२. "यं पन पटिसन्धिभवङ्गानं धम्मतो आरम्मणतो च समानतं वक्खति, तं येभुय्यतो ति दट्ठब्बं। न हि इदमेकं ठानं वज्जेत्वा पटिसन्धिभवङ्गानं विसदिसता अत्थि।" – विभा०, पृ० ११६; प० दी०, पृ० १५३।

३. द्र० – अभि० स० ३ : ५५, पृ० २५८।

४. "परिचितपुब्बं' ति पुब्बे परिचितं; तस्मिं भवे येभुय्येन गहितपुब्बं। उपेक्खा-सहगतसन्तीरणं उप्पज्जति निरावज्जनं पि। यथा तंनिरोधा वुट्ठहन्तस्स फलचित्तन्त्यधिप्पायो।" – विभा०, पृ० ११६।
"'यं किञ्ची' ति इट्ठानिट्ठभूतेसु रूपारम्मणादीसु यं किञ्चि। 'परिचित-पुब्बं' ति इमस्मिं भवे येव तङ्खणतो पुरिमखणेसु गहणबहुलतावसेन परिचित्तं, अभिन्नसेवितं ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १५१।
विस्तार के लिये द्र० – विभा०, पृ० ११५ – ११६; प० दी०, पृ० १५१ – १५३।

५. द्र० – अभि० स० ३ : २० की व्याख्या, पृ० २३२।

४. सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेकर किसी प्रज्ञप्ति धर्म का आलम्बन करके जब द्वेषजवन होते हैं तब भी उस प्रज्ञप्ति-धर्म का आलम्बन करके उपर्युक्त नियमों के अनुसार तदालम्बन का पात नहीं होता।

इस प्रकार तदालम्बन के अभाववाले उपर्युक्त चारों जवनवारों में द्वेषजवन होने से उनके अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश सौमनस्य मूलभवङ्ग का भी पात नहीं हो सकता। इस तदालम्बन एवं भवङ्ग – दोनों का पात नहीं होने से जब कठिनाई उपस्थित होती है तो दौर्मनस्यजवन एवं सौमनस्यभवङ्ग के बीच में समन्वय या आनुकूल्य साधने के लिये उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त आगन्तुक भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होता है[1]।

उपेक्षासहगत सन्तीरण का भवङ्गकृत्य करना –

दो उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्तों के प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन एवं सन्तीरण – इन पाँच कृत्यों में से यहाँ न प्रतिसन्धि का काल है, न च्युति का और न द्वेषजवनों के आलम्बन का ग्रहण कर के तदालम्बन होने का ही काल है। तथा सम्पटिच्छन के अनन्तर ही होने से यहाँ सन्तीरण का काल भी नहीं है। इस प्रकार प्रतिसन्धि, च्युति, तदालम्बन एवं सन्तीरण – ये चार कृत्य यहाँ नहीं हो सकते। अब यदि द्वेषजवन के अनन्तर यहाँ सन्तीरणचित्त नहीं प्रवृत्त होता है तो चित्त-सन्तति उच्छिन्न होकर भवसन्तति का ही उच्छेद प्राप्त हो जायेगा, अतः भव का अवसान न होने देने के लिये यह उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त भवङ्गकृत्य करता हुआ उत्पन्न होता है[2]।

आगन्तुक भवङ्ग – प्रतिसन्धि के उत्पादकाल से लेकर होनेवाले भवङ्गचित्त प्रतिसन्धिचित्त के सदृश ही होते हैं। अतः स्कन्धों के उत्पत्तिकाल से ही स्कन्धों में रहने के कारण ये 'आवसिक भवङ्ग' कहलाते हैं। यह उपेक्षा सन्तीरणचित्त कभी-कभी

---

१. "सोमनस्सपटिसन्धिकस्स तितिथियादिनो वुद्धादि-अतिइट्ठ-आरम्मणे पि पटिहतचित्तस्स दोमनस्सजवने जविते वुत्तनयेन सोमनस्सतदारम्मणस्स अति-इट्ठारम्मणे च उपेक्खासहगततदारम्मणस्स अनुप्पज्जनतो। केनचि वा असप्पा-येन परिहीनलोकियज्झानं आरब्भ 'पणीतधम्मो मे नट्ठो' ति विप्पटिसारं जनेन्तस्स दोमनस्सजवने सति अकामावचरारम्मणे तदारम्मणाभावतो 'यदि तदारम्मणस्स उप्पत्तिसम्भवो नत्थी' ति अधिप्पायो।" – विभा०, पृ० ११६; प० दी०, पृ० १५२; अट्ठ०, पृ० २२४।

२. "केन पन किच्चेन इदं चित्तं पवत्ततीति? तदारम्मणकिच्चेन ताव न पवत्तति, जवनारम्मणस्स अग्गहणतो। नापि सन्तीरणकिच्चेन, यथा सम्पटि-च्छितस्स सन्तीरणवसेन अप्पवत्तनतो। पटिसन्धिचुतीसु वत्तब्बमेव नत्थि। पारिसेसतो पन भवस्स अङ्गभावतो भवङ्गकिच्चेनाति युत्तं सिया।" – विभा०, पृ० ११६।

होने पर यहाँ कुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण ही होना चाहिये; क्योंकि तदालम्बननियम में कथित यह उपर्युक्त वाक्य वीथिचित्तों के विषय में ही लागू होगा, प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति जैसे वीथिमुक्त चित्तों के बारे में किसी प्रकार लागू नहीं हो सकता।]

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार का कहना है कि "जिनमें चार उपेक्षासहगत महाविपाकचित्त स्वभाव से प्रवृत्त होते हैं, उनमें वे (उपेक्षासहगत महाविपाकचित्त) आगन्तुक भवङ्गकृत्य नहीं कर सकते – ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अट्ठकथा में भी कहा गया है कि 'जिस प्रकार कुशल जवनों के अनन्तर बहुलतया सहेतुक तदालम्बन होते हैं, उस प्रकार कुशल जवनवीथि के बीच बीच में अकुशल जवन होने पर इन अकुशल जवनों के अनन्तर भी सहेतुक तदालम्बन ही होते हैं'[1]। इस तरह अट्ठकथा के अनुसार यदि अकुशलजवनों के अनन्तर भी सहेतुक तदालम्बन हो सकते हैं तो उन सहेतुक महाविपाकचित्तों को इस तदालम्बन का प्रतिनिधिभूत आगन्तुक भवङ्ग होकर भी प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार उपेक्षासहगत महाविपाक ४ एवं उपेक्षासहगत सन्तीरण २=६ चित्त भी आगन्तुक भवङ्गकृत्य करते हुए प्रवृत्त हो सकते हैं[2]।" 'परमत्थदीपनी' का यह वाद युक्तियुक्त होने से माननीय है।

आवर्जन के विना आलम्बन का ग्रहण –

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि आगन्तुक भवङ्ग, एक वीथि के प्रारम्भ में ही आवर्जन द्वारा आवर्जित आलम्बन का ग्रहण न करके किसी एक पूर्व-परिचित कामालम्बन का ग्रहण करके प्रवृत्त होता है तो ऐसी स्थिति में वह निरावर्जन ही प्रवृत्त होगा और आवर्जन-आदि के आलम्बन से धर्मतः एवं कालतः भिन्न आलम्बनवाला होगा। जब कि आवर्जन-आदि के साथ धर्म एवं काल से भिन्न आलम्बन नहीं होना चाहिये तो फिर निरावर्जन और भिन्नालम्बन आगन्तुक भवङ्ग कैसे प्रवृत्त होगा ?

---

१. "यदा हि कुसलजवनानं अन्तरन्तरा अकुसलं जवति, तदा कुसलावसाने आचिण्णसदिसमेव; अकुसलावसाने सहेतुकं तदारम्मणं वुत्तं।" – अट्ठ०, पृ० २३३।

२. "येसं पन पकतिया इतरानि चत्तारि उपेक्खासहगतविपाकानि बहुलं पवत्तन्ति, तेसं तानि पि आगन्तुकभवङ्गं न होन्तीति न वत्तब्बानि। अट्ठकथायं पन महाधम्मरक्खितत्थेरवादे येभुय्यनियमसोते पतितत्ता अकुसलजवनानुरूपं अहेतुकं उपेक्खासन्तीरणद्वयमेव वुत्तं। तेनेव हि परतो थेरवादानं विचारितट्ठाने अकुसलजवनानन्तरं अहेतुकतदारम्मणमेव दीपेन्तस्स तस्स थेरवादस्स अपरिपुण्णवादभावं दस्सेत्वा यदा कुसलजवनानं अन्तरन्तरा अकुसलं जवति, तदा कुसलावसाने आचिण्णसदिसमेव; अकुसलावसाने सहेतुकं तदारम्मणं युत्तं ति अट्ठकथायं वुत्तं। तदारम्मणे च युत्ते एतं पि युज्जति येव। तस्मा छ पि उपेक्खासहगतविपाकानि आगन्तुकभवङ्गं होन्ति येवा ति दट्ठब्बं।" – प० दी०, पृ० १५२। तु० – अट्ठ०, पृ० २३१–२३३।

उत्पन्न हो सकते हैं। ब्रह्माओं की सन्तान में उस प्रकार के कामप्रतिसन्धिबीज न होने से उनमें कामविपाक तदालम्बन उत्पन्न नहीं हो सकते[1]।

"बीजस्साभावतो नत्थि ब्रह्मानं पि इमस्स हि।
पटिसन्धिमनोबीजं कामावचरसञ्ञितं[2]॥"

बीज न होने पर भी कुछ विपाकों की उत्पत्ति – 'कामप्रतिसन्धि' नामक मूल-बीज के न होने से यदि ब्रह्माओं की सन्तान में प्रवृत्तिनिष्यन्दफल (कामविपाक) तदालम्बन उत्पन्न नहीं होते हैं तो चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, सम्पटिच्छन एवं सन्तीरण नामक विपाकधर्म भी उनकी सन्तान में नहीं होने चाहिये? प्रवृत्तिनिष्यन्दफल के सदृश होने पर भी क्यों चक्षुर्विज्ञान-आदि का उनमें उत्पाद होता है?

समाधान – चूंकि ब्रह्माओं की सन्तान में चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, अतः इन्द्रियोत्पत्ति के आनुभाव से उनमें चक्षुर्विज्ञान एवं श्रोत्रविज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। तथा द्वारवीथियों का भेद होने पर चित्तधर्मता (नियम) के वश से सम्पटिच्छन एवं सन्तीरण भी उन में उत्पन्न हो सकते हैं[3]।

स्पष्टीकरण – ब्रह्माओं की सन्तान में चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय नामक प्रसाद-रूप मुख्यरूप से होते हैं[4]। यदि चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय प्रसादरूप होते हैं तो सम्बद्ध आलम्बन के साथ घट्टन होने से उनमें चक्षुर्विज्ञान, एवं श्रोत्रविज्ञान भी उत्पन्न होंगे ही। इन चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान के लिये यदि चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि का भेद होता है तो चित्तधर्मता के अनुसार उन उन वीथियों से सम्बद्ध सम्पटिच्छन एवं सन्तीरण विपाक भी अवश्य उत्पन्न होंगे। इसीलिये विभावनी में "इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो द्वारवीथिभेदे चित्तनियमतो च[5]" – कहा गया है।

---

१. "तत्थ यानेतानि एकादस तदारम्मणचित्तानि वुत्तानि, तेसु एकं पि रूपारूपभवे तदारम्मणं हुत्वा नप्पवत्तति। कस्मा? बीजाभावा। तत्थ हि कामावचर-विपाकसङ्खातं पटिसन्धिबीजं नत्थि, यं रूपादीसु आरम्मणेसु पवत्तियं तस्स जनकं भवेय्य।" – विभ० अ०, पृ० १५६।

२. विभा०, पृ० ११७।

३. "ननु च कामावचरपटिसन्धिबीजाभावतो ति वुत्तं, तथा च चक्खुविञ्ञाणादीनं पि अभावो आपज्जतीति? नापज्जति; इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो द्वारवीथि-भेदे चित्तनियमतो च।" – विभा०, पृ० ११७।

४. "चक्खुसोतविञ्ञाणानि पन इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो सम्पटिच्छनसन्तीरणानि च द्वारवीथिभेदे चित्तनियमसिद्धितो रूपसत्तेसु पवत्तन्ति येवा ति।" – प० दी०, पृ० १५४।

५. विभा०, पृ० ११७। द्र० – "चक्खुविञ्ञाणादीनं पि रूपभवे अभावो आपज्जतीति चे, न; इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो द्वारवीथिभेदे चित्तनियमतो च।" – विभ० अ०, पृ० १५६।

३४. तथा कामावचरजवनावसाने कामावचरसत्तानं कामावचरधम्मेस्वेव आरम्मणभूतेसु तदारम्मणमिच्छन्तीति ।

तथा कामावचर जवनों के अन्त में ही, कामावचर सत्त्वों की सन्तान में ही एवं आलम्बनभूत कामधर्मों में ही तदालम्बन इष्ट है। इस प्रकार का यह तदालम्बननियम है।

अर्थात् आवर्जनरहित चित्त कैसे हो सकता है? (आवर्जनरहित चित्त नहीं हो सकता) यह आचार्य-सम्मत मत नहीं है। विना आवर्जन के ही निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामिफल एवं अर्हत्फलचित्तों के दिखायी पड़ने से, 'चित्त विना आवर्जन के नहीं हो सकता'—यह नियम नहीं है।

३४. कामजवन, कामसत्त्व तथा कामधर्म अर्थात् अतिमहद्-आलम्बन एवं विभूत-आलम्बन—इन तीनों कारणों के समुपस्थित होने पर ही तदालम्बनपात सम्भव है। जिस प्रकार छोटे बच्चे घर से बाहर जाते समय अपने उत्पादक माता-पिता या परिचित सम्बन्धियों का ही अनुगमन करते हैं; उसी प्रकार कामतृष्णामूलक कुशल या अकुशल कर्मों से उत्पन्न कामविपाक तदालम्बन भी अपने उत्पादक कामावचर कुशल या अकुशल जवनों में से किसी एक का अथवा तत्सदृश (जवनसदृश) अन्य कामकुशल, कामक्रिया या काम-अकुशल जवनों का अनुगमन करता है[1]।

"कामतण्हासन्निदानकम्मनिब्बत्तभावतो ।
जनकं तं समानं वा जवनं अनुबन्धति ।
न तु अञ्ञं तदालम्बं बालदारकलीळया[2] ॥"

कामसत्त्वों की ही सन्तान में तदालम्बन इष्ट है। ब्रह्मादि रूप, अरूप भव के सत्त्वों में यह अभीष्ट नहीं है; क्योंकि कामप्रतिसन्धि और तदालम्बन—ये दोनों एक ही तरह के (सदृश) कामविपाक धर्म हैं। मूल प्रतिसन्धिबीज के होने से ही कामपुद्गलों की सन्तान में प्रवृत्तिविपाक (प्रवृत्तिनिष्यन्दफल) अर्थात् कामविपाक तदालम्बन

---

१. "यथा नाम गेहा निक्खमित्वा बहि गन्तुकामो तरुणदारको अत्तनो जनकं पितरं वा अञ्ञं वा पितुसदिसं हितकामं ञातिं अङ्गुलियं गहेत्वा अनुबन्धति, न अञ्ञं राजपुरिसादिं; तथा एतं पि भवङ्गारम्मणतो बहि निक्खमितुकामं सभागताय अत्तनो जनकं पितरं वा पितुसदिसं वा कामावचरजवनमेव अनु-

एवं मनोद्वार में होनेवाले विभूत-आलम्बन को कहा गया है। 'विभूतेतिमहन्ते च' के द्वारा महद्-आलम्बन (महन्तालम्बन) एवं अविभूत-आलम्बन में तदालम्बनपात का निषेध किया गया है। इसलिये कामजवन, कामसत्त्व एवं अतिमहद्-आलम्बन या विभूत-आलम्बन नामक कामालम्बन – इन तीनों के सन्निपतित होने पर ही तदालम्बन का पात होता है। किन्तु इन तीनों के होने पर तदालम्बन का पात सर्वथा होता ही है – ऐसा नहीं समझना चाहिये। प्रत्युत्पन्न गतिनिमित्त का आलम्बन करनेवाली मनोद्वारिक मरणासन्नवीथि में कामजवन, कामसत्त्व एवं अतिमहद् नामक कामालम्बन होने पर भी तदालम्बन का पात नहीं होता, अपितु जवन के अनन्तर च्युति हो जाती है और उस प्रत्युत्पन्न आलम्बन का ही नवीन प्रतिसन्धि एवं ६ बार प्रवृत्त भवङ्ग द्वारा भी आलम्बन होता है[1]।

उपर्युक्त कथन के अनुसार ही यदि कामजवन नहीं होते हैं तो विभूत-आलम्बन होने पर भी तदालम्बनपात नहीं होता। तथा यदि कामसत्त्व नहीं होता है तो विभूत-आलम्बन या अतिमहद्-आलम्बन होने पर भी तदालम्बनपात नहीं होता – ऐसा जानना चाहिये। ब्रह्माओं की सन्तान में चित्तधातु (भवङ्ग) अत्यन्त स्वच्छ तथा चक्षुष् एवं श्रोत्र प्रसाद भी अत्यन्त निर्मल होते हैं, अतः कामसत्त्वों से भी प्रायः अधिक विभूत-आलम्बन या अतिमहद्-आलम्बन उनमें प्रादुर्भूत होते हैं; फिर भी चूंकि वे कामसत्त्व नहीं होते अतः उनकी सन्तान में तदालम्बनपात नहीं होनेवाली अतिमहद्-आलम्बन एवं विभूत-आलम्बन वीथियाँ ही होती हैं[2]।

जवन एवं तदालम्बन –

महाक्रिया उपेक्षाजवन ४ एवं द्वेषजवन २ = ६ जवनों के अनन्तर महाविपाक उपेक्षा ४ एवं सन्तीरण २ = ६ तदालम्बन होते हैं।

महाक्रिया सौमनस्यजवन ४ के अनन्तर महाविपाक सौमनस्य ४ एवं सौमनस्य सन्तीरण १ = ५ तदालम्बन होते हैं।

शेष अकुशलजवन १० एवं महाकुशल ८ के अनन्तर सभी अर्थात् ११ तदालम्बन हो सकते हैं।

तदालम्बननियम समाप्त।

---

१. द्र० – विभ० अ०, पृ० १६०; अ० स० मू० टी०, पृ० १६०; विसु०, पृ० ३८६ – ३८७।

२. द्र० – 'वीथिसमुच्चय'।

३५. काम जवनसत्तालम्बनानं* नियमे सति।
विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरितं ॥
अयमेत्थ तदारमणनियमो।

कामभूमि में जवन, सत्त्व एवं आलम्बन का नियम होने पर विभूत-आलम्वन एवं अतिमहद्-आलम्वन में ही तदालम्वन कहा गया है।

इस वीथिसङ्ग्रह में यह तदालम्वननियम है।

कामावचरधम्मेस्वेव...इच्छन्ति – कामधर्मों का आलम्वन करने पर ही तदालम्वन का उत्पाद अभीष्ट है; महग्गत लोकोत्तर एवं प्रज्ञप्ति धर्मों का आलम्वन करने पर इष्ट नहीं है[1]।

जिस प्रकार किसी स्वामी की दासी से उत्पन्न पुत्र को प्रत्येक कृत्य में अपनी माता (दासी) की नहीं; अपितु माता के स्वामी की इच्छा का अनुवर्तन करना पड़ता है; उसी प्रकार स्वामी के सदृश कामतृष्णा से कुशल-अकुशल कर्म नामक दासी में उत्पन्न कामविपाक तदालम्वन नामक पुत्र को भी, कामतृष्णा नामक स्वामी की इच्छा का अनुवर्तन करके कामालम्वनों का ही आलम्वन करना पड़ता है।

तदालम्वन द्वारा कामजवनों का अनुगमन किया जाने के प्रसङ्ग में ऊपर जो छोटे वच्चे की उपमा दी गयी है, वह छोटा वच्चा भी घर के आस पास जाने के समय ही अपने माता-पिता या परिचित सम्वन्धी का अनुगमन करता है; पर्वत, अरण्य या रण-क्षेत्र-आदि में जाने के समय नहीं, उसी प्रकार तदालम्वन विपाकधर्म भी यद्यपि काम-धर्मों का अनुगमन करता है तथापि कामजवनों द्वारा अपने (तदालम्वन के) परिचित कामालम्वनों का आलम्वन किया जाने पर ही उनका अनुगमन करता है। यदि कामजवनों द्वारा स्वपरिचित महग्गत, लोकोत्तर या प्रज्ञप्ति धर्मों का आलम्वन किया जाता है तो उस अवस्था में तदालम्वन उन (कामजवनों) का अनुगमन नहीं करता[2]।

कहा भी है –

"ठाने परिचिते येव तं इदं वालको विय।
अनुयाति न अञ्ञत्थ होति तण्हावसेन वा[3] ॥"

३५. यहाँ 'काम-आलम्वन' शब्द द्वारा पञ्चद्वार में होनेवाले अतिमहद्-आलम्वन

---

* ०रम्मणानं – ना०, ०लम्वणानं – म० (ख)।

१. "कामावचरधम्मेस्वेव आरम्मणभूतेसु तदारम्मणं इच्छन्ति, न महग्गतानुत्तर-पञ्ञत्तिधम्मेसु, एकन्तपरित्तारम्मणत्ता तदारम्मणानं।" – प० दी०, पृ० १५४।

२. "तम्हि यथा पितरं वा पितुसदिसं वा ञातिं अनुवन्धन्तो पि तरुणदारको घरद्वारअन्तरवीथिचतुक्कादिम्हि परिचिते येव देसे अनुवन्धति, न अरञ्ञं वा युद्धभूमिं वा गच्छन्तं; एवं कामावचरधम्मे अनुवन्धन्तं पि अमहग्गतादिम्हि परिचिते येव देसे पवत्तमाने धम्मे अनुवन्धति, न महग्गतलोकुत्तरधम्मे आरब्भ पवत्तमाने ति।" – विभ० अ०, पृ० १५७।

३. विभा०, पृ० ११७।

'आदि' शब्द द्वारा मूर्च्छाकाल, विसंज्ञीभूत काल एवं अतितरुणकाल-आदि का ग्रहण करना चाहिये[1]।

मूर्च्छाकाल – वृक्ष से गिरने, जल में डूबने एवं तीव्र पीड़ा से अभिभूत होने-आदि के कारण अत्यन्त मर्माहत हो जाने से शरीर के चेतनाहीन हो जाने के काल को 'मूर्च्छाकाल' कहते हैं।

विसंज्ञीभत काल – प्रीति के आधिक्य से, निद्राभिभूत होने से, यक्ष-आदि द्वारा गृहीत होने से या अत्यधिक मदय-पान से स्वाभाविक संज्ञा विनष्ट हो जाने पर उत्पन्न संज्ञाहीनता के काल को 'विसंज्ञीभूत काल' कहते हैं।

अतितरुणकाल – मातृकुक्षि में वास के काल को एवं मातृकुक्षि से निष्क्रमण के काल को 'अतितरुणकाल' कहते हैं।

पूर्वोक्त कालों में प्राकृत काल की भाँति चित्तधातु के तीक्ष्ण न होने से उन्हें 'मरणकालादीसु' शब्द द्वारा कहा गया है[2]।

उपर्युक्त प्रकार के कालों में आश्रयभूत हृदयवस्तु के अत्यन्त दुर्बल हो जाने से कामजवन पाँच वार ही जवित हो पाते हैं।

चित्त को स्वभाव से ही वलवान् या दुर्बल नहीं कहा जा सकता, अपितु आश्रयभूत हृदयवस्तु की अपेक्षा करके ही उसे वलवान् या दुर्बल कहा जा सकता है। प्राकृत (स्वाभाविक) काल में भी यदि गम्भीरता से विचार किया जाये तो यही ज्ञात होता है कि स्वस्थता एवं भोजन, निद्रा-आदि के सुचारु रूप से सम्पन्न होने पर ही चित्त वलवान् की तरह प्रतीत होता है। तथा रुग्णता एवं भोजन, निद्रा-आदि में व्यतिक्रम होने पर वह दुर्बल की तरह प्रतीत होता है। इस प्रकार की प्रतीति में भी हृदयवस्तु ही मूलभूत कारण होती है। मरणकाल-आदि में दुःख की तीव्र अनुभूति से पञ्चस्कन्ध सङ्घर्ष करते करते अत्यन्त दुर्वल हो जाते हैं और इन पञ्चस्कन्धों के साथ ही चित्त की आश्रयभूत हृदयवस्तु भी दुर्वल हो जाती है। जब हृदयवस्तु ही दुर्वल हो जाती है तो उस प्रकार की दुर्वल हृदयवस्तु का आश्रय करनेवाला चित्त कैसे वेगवान्

---

१. "'मरणकालादीसू' ति मरणासन्नकाले, मुच्छाकाले, विसञ्ञीभूतकाले, अतितरुणकाले च।" – प० दी०, पृ० १५५; विभा०, पृ० ११८। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १५५।

२. "'मन्दप्पवत्तियं' ति मरणासन्नकाले वत्थुदुब्बलताय मन्दीभूतवेगत्ता मन्दं हुत्वा पवत्तियं।" – विभा०, पृ० ११८।

"'मन्दप्पवत्तियं' ति मरणासन्नकाले बहुचित्तक्खणातीतस्स वत्थुस्स दुब्बलत्ता, इतरकालेसु च मुदुतरभावेन केनचि उपद्दुतभावेन अज्झोत्थटभावेन च वत्थुस्स दुबलत्ता, तन्निस्सितानं जवनानं मन्दीभूतवेगतावसेन पवत्तिकाले।" – प० दी०, पृ० १५५।

जवननियमो

३६. जवनेसु च परित्तजवनवीथियं कामावचरजवनानि सत्तक्खत्तुं छक्खत्तुमेव वा जवन्ति ।

जवनों में परित्त जवनवीथि में कामावचर जवन ७ वार ही या छ वार ही जवित होते हैं ।

३७. मन्दप्पवत्तियं पन मरणकालादीसु* पञ्चवारमेव ।

३८. भगवतो पन यमकपाटिहारियकालादीसु* लहुकप्पवत्तियं चत्तारि पञ्च वा पच्चवेक्खणचित्तानि भवन्तीति पि वदन्ति ।

मन्द प्रवृत्तिकाल में तथा मरणासन्न-आदि काल में जवन ५ वार ही जवित होते हैं ।

भगवान् के यमकप्रातिहार्य-आदि काल में तथा लघु (लहुक) प्रवृत्तिकाल में ४ या ५ प्रत्यवेक्षण जवनचित्त प्रवृत्त होते हैं—ऐसा भी अट्ठकथाचार्य कहते हैं ।

जवननियम

३६. जवनों के नियम को दिखलानेवाले इस नय को 'जवननियम' कहा जाता है ।

प्राकृत (स्वाभाविक) काल में जवन ७ वार या ६ वार होते हैं । 'एव' शब्द का 'सत्तक्खत्तुं' एवं 'छक्खत्तुं' दोनों से सम्बन्ध है । अतः 'सत्तक्खत्तुमेव' में 'एव' शब्द द्वारा 'स्वाभाविक काल मे कामजवन सात वार से अधिक प्रवृत्त नहीं हो सकते'—यह दिखाया गया है । तथा 'छक्खत्तुमेव' में 'एव' शब्द द्वारा यह दिखाया गया है कि काम-जवन छ वार से कम प्रवृत्त नहीं हो सकते । 'वा' शब्द द्वारा 'यदि कामजवन सात वार प्रवृत्त नहीं होते हैं तो उन्हें छह वार अवश्य प्रवृत्त होना चाहिये'—यह विकल्प दिखाया गया है । अतः प्राकृत काल में कामजवन सात वार या छह वार ही जवन कर सकते हैं—ऐसा जानना चाहिये' ।

३७–३८. मन्दप्पवत्तियं पन...पञ्चवारमेव—'मरणकालादीसु' में प्रयुक्त

अनुमान है कि भगवान् बुद्ध के लिये चार वार तथा अन्य श्रावकों के लिये पाँच वार जवन होना कहा गया है[1]।

अग्नि एवं जल की युग्म उत्पत्ति – भगवान् बुद्ध यमकप्रातिहार्य का प्रदर्शन करते समय अग्नि की उत्पत्ति के लिये 'तेजोकसिण' (तेजःकात्स्न्र्य) का आलम्बन करके चतुर्थध्यान का समावर्जन करते हैं। उस चतुर्थध्यानसमापत्ति से उठते समय उनमें उस ध्यान में आनेवाले उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक ध्यानाङ्गों का आवर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ उत्पन्न होती हैं। (उस प्रत्यवेक्षणवीथि के जवन अत्यावश्यक अपने कृत्य को चार वार में ही पूर्ण कर देते हैं।) इसके पश्चात् 'शरीर के ऊपरी भाग से अग्निस्कन्ध उत्पन्न हो' – इस प्रकार की अधिष्ठानवीथि (परिकर्मवीथि) उत्पन्न होती है। (इस वीथिक्षण में भी अग्निसमूह का उत्पाद नहीं होता)। तदनन्तर चतुर्थध्यान का पुनः समावर्जन किया जाता है। इस चतुर्थध्यान से उठते समय पुनः पूर्वोक्त नय के अनुसार ध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात् अभिज्ञावीथि का उत्पाद होता है। इस अभिज्ञावीथि के बल से शरीर के ऊर्ध्वभाग से अग्निस्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शरीर के अधोभाग से जल की उत्पत्ति के लिये भी उपर्युक्त नय के अनुसार ही 'आपोकसिण' (अप्कात्स्न्र्य) का आलम्बन करके पूर्वोक्त वीथियाँ उत्पन्न होती हैं। उन उन वीथियों के अन्तराल में भवङ्ग अधिक वार न होकर दो वार मात्र होते हैं। इस प्रकार अग्निराशि की उत्पत्ति के लिये एक प्रकार की वीथिसन्ततियाँ तथा जलराशि की उत्पत्ति के लिये दूसरे प्रकार की वीथिसन्ततियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु ये चित्तसन्ततियाँ इतनी शीघ्र प्रवृत्त होती हैं कि देखनेवालों को अग्नि एवं जल का प्रादुर्भाव युगपत् प्रतीत होता है। इस युगपत् प्रादुर्भाव को प्रतीत कराने के लिये ही अत्यन्त आवश्यक समय होने के कारण ध्यानाङ्ग का आवर्जन करनेवाले प्रत्यवेक्षणजवन भी चार वार में ही अपने कृत्य का सम्पादन कर देते हैं[2]।

[ये प्रत्यवेक्षणजवन कामजवन ही होते हैं। यदि लघुप्रवृत्ति (लहुकप्पवत्ति) काल न होगा तो ये सात वार भी जवित हो सकते हैं।]

---

१. "इध तथागतो यमकपाटिहीरं करोति असाधारणं सावकेहि। उपरिमकायतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, हेट्ठिमकायतो उदकधारा पवत्तति; हेट्ठिमकायतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, उपरिमकायतो उदकधारा पवत्तति...एकेकलोमतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, एकेकलोमतो उदकधारा पवत्तति; लोमकूपतो लोमकूपतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, लोमकूपतो लोमकूपतो उदकधारा पवत्तति।...इदं तथागतस्स यमकपाटिहीरे ञाणं।" – पटि० म०, पृ० १३८ – १४०। द्र० – मिलि० पृ० १०६; विसु०, पृ० १०३, २७२, २७६ – २७८।

२. विभा०, पृ० ११८; प० दी०, पृ० १५६।

हो सकता है ! जैसे – दुर्बल (कमजोर = शिथिल) पटरी पर रेलगाड़ी वेग से नहीं जा सकती, अतः दुर्बल (कमजोर) कही जाती है; उसी प्रकार जवनचित्त भी मरणासन्नकाल-आदि में हृदय वस्तु के दुर्बल हो जाने से स्वयं भी दुर्बल होकर पाँच वार से अधिक जवन नहीं कर पाते। इसी कारण, अर्थात् दुर्बल होने के कारण ही मूर्च्छाकालिक एवं मरणासन्नकालिक जवन प्रतिसन्धिफल देने में भी असमर्थ होते हैं।

['पञ्चवारमेव' में प्रयुक्त 'एव' कार द्वारा 'पाँच वार ही होने' का निर्धारण कर दिया जाने पर भी मूलटीकाचार्य ने 'चार वार होने' का उल्लेख किया है[1]।]

मतभेद – विभावनीकार ने 'येभुय्येन सत्तक्खत्तुं जवति[2]' – इस वाक्य की व्याख्या करते हुए "मुच्छामरणासन्नकालेसु च छ-पञ्चापि जवनानि पवत्तन्ति[3]" – इस प्रकार कहा है तथा "मरणकालादीसू ति आदिसद्देन मुच्छाकालं सङ्गण्हाति[4]" के द्वारा मूर्च्छा-काल में 'पाँच वार जवन' का उल्लेख किया है। इस प्रकार इस (विभावनी) टीका में पूर्वापर विरोध दृष्टिगोचर होता है। 'विभावनी' का समर्थन करनेवाले आचार्यों का कहना है कि मरणकाल के सदृश अतिमूर्च्छाकाल में पाँच जवन होते हैं तथा सामान्य मूर्च्छाकाल में छह जवन होते हैं। इस प्रकार वे मूर्च्छा के दो भेद करके सामञ्जस्य बैठाते हैं। वस्तुतः अट्ठकथा एवं प्रस्तुत (अभिधम्मत्थसङ्गहो) ग्रन्थ में मूर्च्छाकाल में जवन का छह वार होना कहीं भी नहीं कहा गया है। बल्कि प्रकृतिकाल में ही कभी-कभी छह वार होना कहा गया है[5]। इसीलिये "परित्तजवनवीथियं कामावचरजवनानि सत्तक्खत्तुं छक्खत्तुमेव जवन्ति[6]" के द्वारा 'प्रकृतिकाल में ही कामजवन सात वार या छ वार जवित होते हैं' – ऐसा प्रतिपादन किया है। 'मन्दप्पवत्तियं पन' से लेकर 'भगवतो पन यमकपाटिहारियकालादीसु' पर्यन्त विकृतिकाल में जवित होनेवाले कामजवनों को कहा गया है।

यमकप्रातिहार्य – यह एक विशेष प्रकार की ऋद्धि है, जिसमें अग्नि एवं जल युग्मरूप से एक साथ शरीर के भिन्न भिन्न भागों से निकलते हैं। 'पटिपक्खे हरतीति पाटिहारियं' अर्थात् प्रतिपक्षभूत तैर्थिकों का जो दमन करती है, उस ध्यानज अभिज्ञा-शक्ति को 'प्रातिहार्य' कहते हैं। 'यमकपाटिहारियकालादीसु' में 'आदि' शब्द द्वारा महामोग्गल्लान स्थविर द्वारा नन्दोपनन्द नागराज के दमन करने के काल-आदि का ग्रहण करना चाहिये। 'चत्तारि' 'पञ्च वा' के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गल में चार वार तथा मृद्विन्द्रिय पुद्गल में पाँच वार जवन होते हैं। आचार्यों का

---

१. द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १३० ।

२. द्र० – अभि० स० ४:१२, पृ० ३०६–३१० ।

३. विभा०, पृ० १०८ ।

४. विभा०, पृ० ११८ ।

५. द्र० – अट्ठ०, पृ० २१८; अभि० स० ४:१२ की व्याख्या, पृ० ३११ ।

६. अभि० स० ४:३६; पृ० ३७५ ।

४०. चत्तारो पन मग्गुप्पादा एकचित्तक्खणिका, ततो परं द्वे तीणि फलचित्तानि यथारहं उप्पज्जन्ति, ततो परं भवङ्गपातो।

चार मार्गोत्पाद (मार्गचित्त) एकचित्तक्षण आयुवाले होते हैं। उस एक मार्गचित्तक्षण के अनन्तर दो या तीन फलचित्त यथायोग्य उत्पन्न होते हैं और उन फलजवनों के अनन्तर भवङ्गपात होता है।

जानना है। उसमें अपने से सम्बद्ध कृत्य का एक वार की प्रवृत्ति से ही सम्पादन कर देने का सामर्थ्य होता है, अतः उसकी पुनः उत्पत्ति आवश्यक नहीं है[1]।

४०. जैसे इन्द्र का वज्र अपने एक प्रहार से ही सम्बद्ध कृत्य का सम्पादन कर देता है, उसी प्रकार मार्गचित्त भी अपने एक वार से ही सम्बद्ध क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण कर सकते हैं। अतः मार्गचित्त का एक वार ही उत्पाद होता है। मार्ग-जवन के एक वार जवित होने के अनन्तर फलजवन यथायोग्य २-३ वार जवित होते हैं। 'यथारहं' कहने का तात्पर्य यह है कि मन्दप्रज्ञ पुद्गल में फलजवन २ वार तथा तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल में ३ वार जवित होते हैं। जिस समय समापत्ति का समावर्जन नहीं होता उस समय अर्थात् सामान्यकाल (प्रकृतिकाल) में जवन अधिक से अधिक सात वार जवित होते हैं। उसी प्रकार मार्गवीथि में भी मन्दप्रज्ञ पुद्गल में – (अर्पणाजवनवीथि में कथित नियम के अनुसार) परिकर्म, उपचार, अनुलोम, एवं गोत्रभू – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ४ वार तदनन्तर मार्गजवन १ वार और इसके वाद फलजवन २ वार – इस प्रकार जवन के ७ वार सम्पन्न होते हैं। तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल में – उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ३ वार, इसके वाद मार्गजवन १ वार, तदनन्तर फलजवन ३ वार – इस तरह जवन ७ वार पूर्ण होते हैं। इसीलिये 'द्वे तीणि फलचित्तानि यथारहं उप्पज्जन्ति' – ऐसा कहा गया है[2]।

---

१. "अभिञ्ञाजवनानं पि पठमकप्पनाया ति अधिकारो सिया ति आह 'सब्बदापी' ति। पठमुप्पत्तिकाले चिण्णवसीकारे च पञ्चाभिञ्ञाजवनानि एकवारमेव जवन्तीत्यत्थो।" – विभा०, पृ० ११८।

"अभिञ्ञाजवनानि पन इद्धिविकुब्बनादिकिच्चसिद्धिया एव पयुत्तानीति किच्च-सिद्धितो परं कत्तब्बाभावतो आदिकम्मिककाले पि वसीभूतकाले पि एक-वारमेव जवन्तीति वुत्तं – 'अभिञ्ञाजवनानि च सब्बदापी' ति।" – प० दी०, पृ० १५६-१५७।

"सत्तचित्तपरमा च एका जवनवीथि। तस्मा यस्स द्वे अनुलोमानि (उपचारा-नुलोमानि) तस्स ततियं गोत्रभू, चतुत्थं मग्गचित्तं, तीणि फलचित्तानि होन्ति। यस्स तीणि अनुलोमानि (परिकम्मोपचारानुलोमानि) तस्स चतुत्थं गोत्रभू, पञ्चमं मग्गचित्तं, द्वे फलचित्तानि होन्ति। तेन वुत्तं – 'द्वे तीणि वा फल-

३९. आदिकम्मिकस्स पन पठमकप्पनायं* महग्गतजवनानि अभिञ्ञा-जवनानि च सब्बदापि एकवारमेव जवन्ति, ततो परं भवङ्गपातो।

आदिकर्मिक पुद्गल की प्रथम अर्पणा में महग्गत जवन एक वार ही जवन करते हैं; (इसी प्रकार) अभिज्ञाजवन भी सर्वदा एक वार ही जवन करते हैं और इसके अनन्तर भवङ्गपात हो जाता है।

---

३९. आदिकर्मिक पुद्गल – 'आदिकम्मे नियुत्तो' – इस विग्रह के अनुसार कम्मट्ठान-कर्म प्रारम्भ करनेवाले पुद्गल को अथवा अचिरध्यानप्राप्त योगी को 'आदिकर्मिक' कहते हैं। जैसे–प्रथमध्यान को आरब्ध करनेवाले योगी को जब सर्वप्रथम प्रथमध्यान की प्राप्ति होती है उस समय (प्रथमध्यान की प्राप्ति के क्षण में) वह आदिकर्मिक पुद्गल होता है। उसके वाद प्रथमध्यान का पुनः पुनः (अनेक वार) आवर्जन करते समय वह आदिकर्मिक नहीं कहा जाता। द्वितीयध्यान को आरब्ध करनेवाले योगी को जब सर्व-प्रथम द्वितीय ध्यान की प्राप्ति होती है उस क्षण वह द्वितीयध्यान की दृष्टि से आदि-कर्मिक पुद्गल होता है। इसी प्रकार ऊपर ऊपर के ध्यानों को सर्वप्रथम प्राप्त करते समय उन उन (ध्यानप्राप्ति के) क्षणों में वह आदिकर्मिक पुद्गल कहा जाता है। सर्वप्रथम प्रवृत्त होनेवाले अर्पणाजवन को ही 'पठमकप्पना' (प्रथमक-अर्पणा) कहा जाता है[1]। आदिकर्मिक पुद्गल के प्रथम अर्पणाजवन के जवित होते समय महग्गतजवन एक वार ही जवित होते हैं।

अभिज्ञाजवन भी एक वार ही – अभिज्ञाजवन, चाहे उसकी प्रथम प्राप्ति का काल हो अथवा पुनः पुनः भावना करने का काल हो, सर्वदा एक वार ही होता है। महग्गत-जवन अपनी प्रथम प्राप्ति के काल में अत्यन्त दुर्बल होने के कारण अपने अनन्तर पुनः अर्पणाजवन के उत्पाद के लिए 'आसेवनप्रत्यय' नामक शक्ति द्वारा उनका उपकार करने में असमर्थ होता है। अतएव कहा गया है कि प्रथम अर्पणाजवन एक वार ही होता है। अभिज्ञाजवन का कृत्य, अपने से सम्बद्ध नानाविध ऋद्धियों का उत्पाद करना एवं उन्हें

---

* पठमकप्पणायं – सी०।

१. "'आदिकम्मिकस्सा' ति आदितो कतयोगकम्मस्स। पठमं निब्बत्ता **अप्पना** 'पठमकप्पना'।" – विभा०, पृ० ११८।

"'आदिकम्मिकस्सा' ति योगकम्मसिद्धिया आदिम्हि नियुत्तस्स पठमं **उप्पन्ना** अप्पना पठमकप्पना, तस्सं पठमकप्पनायं आदिकम्मिकअप्पनावीथियं **ति अत्थो।** तदा हि सब्बानि पि महग्गतजवनानि पुन आसेवनाभावतो परिदुब्बलानि होन्तीति एकवारमेव जवन्तीति।" – प० दी०, पृ० १५६।

एवं चित्तज रूपों के क्षणमात्र निरुद्ध होने को 'निरोधसमापत्ति' कहते हैं। उस निरोध-समापत्ति को प्राप्त करने के अभिलाषी योगी को प्रायः निर्जन एवं एकान्त स्थान में प्रवेश करना पड़ता है। इस निरोधसमापत्ति में अधिष्ठित होना, ध्यानलाभी आर्य-पुद्गलों के लिये एक प्रकार का सुखभोग ही है। इस समापत्ति का लाभ केवल अना-गामी एवं अर्हत् पुद्गल ही कर सकते हैं; स्रोतापन्न या अनागामी पुद्गल नहीं। उनमें भी अनागामी पुद्गल में २ वार चतुर्थ आरूप्य कुशलजवन (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशल-चित्त) जवित होता है तथा अर्हत् पुद्गल में २ वार चतुर्थ आरूप्य क्रियाजवन जवित होता है। तदनन्तर निरोध की प्राप्ति हो जाती है। उस निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामी पुद्गल में १ वार अनागामिफलजवन तथा अर्हत् पुद्गल में १ वार अर्हत्फलजवन जवित होकर निरुद्ध हो जाता है और तदनन्तर भवङ्गपात होता है। 'निरोधसमापत्तिकाले' – इस वाक्य में 'काल' शब्द निरोधसमापत्ति के पूर्ववर्ती आसन्न-काल का द्योतक है, क्योंकि निरोधसमापत्ति के आसन्नपूर्वकाल में ही चतुर्थ आरूप्यजवन २ वार जवन करता है[1]।

[निरोधसमापत्ति से सम्बद्ध विशेष ज्ञान के लिये 'वीथिसमुच्चय' (चतु० परि०) देखें।]

---

१. "तत्थ का निरोधसमापत्तीति ? या अनुपुब्बनिरोधवसेन चित्तचेतसिकानं धम्मानं अप्पवत्ति।...अट्ठसमापत्तिलाभिनो पन अनागामिनो खीणासवा च समापज्जन्ति... न अञ्ञे।... सो एवं आकिञ्चञ्ञायतनं समापज्जित्वा वुट्ठाय इदं पुब्बकिच्चं कत्वा नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं समापज्जति। अथेकं वा द्वे वा चित्तवारे अतिक्कमित्वा अचित्तको होति, निरोधं फुसति। कस्मा पनस्स द्विन्नं चित्तानं उपरि चित्तानि न पवत्तन्तीति ? निरोधस्स पयोगत्ता। ... कथं वुट्ठानं ति ? अनागामिस्स अनागामिफलुप्पत्तिया, अरहतो अरहत्त-फलुप्पत्तिया ति एवं द्वेधा वुट्ठानं होति।" – विसु०, पृ० ४६९-५०३।

"'निरोधसमापत्तिकाले' ति निरोधस्स पुब्बभागे। 'चतुत्थारुप्पजवनं' ति कुसलक्रियानं अञ्ञतरं नेवसञ्ञानासञ्ञायतनजवनं। अनागामि-खीणासवा येव निरोधसमापत्तिं समापज्जन्ति, न सोतापन्नसकदागामिनो ति वुत्तं – 'अनागामिफलं वा अरहत्तफलं वा' ति।...'यथारहं' ति तंतंपुग्गलानुरूपं।" – विभा०, पृ० ११८।

"निरोधसमापत्तिकाले पन पुब्बभागे येव तादिसस्स पयोगाभिसङ्खारस्स कतत्ता द्विन्नं वारानं उपरि चित्तप्पवत्ति नत्थीति वुत्तं – 'निरोधसमापत्तिकाले... जवति'। ...'चतुत्थारुप्पजवनं' ति अनागामिनो कुसलभूतं अरहतो क्रियभूतं नेवसञ्ञाना-सञ्ञायतनजवनं।" – प० दी०, पृ० १५७।

पुग्गलभेदो

४४. दुहेतुकानमहेतुकानञ्च पनेत्थ क्रियाजवनानि चेव अप्पना-जवनानि च न लब्भन्ति।

उन (उपर्युक्त) वीथिचित्तों में से द्विहेतुक एवं अहेतुक पुद्गलों की सन्तान में क्रियाजवन एवं अर्पणाजवन प्राप्त नहीं होते।

---

२ बार, मार्गप्राप्ति काल में फलजवन २ बार या ३ बार तथा निरोधसमापत्ति से उठते समय जवन १ बार जवित होता है।

जवननियम समाप्त।

पुद्गलभेद

४४. किस पुद्गल की सन्तान में कौन वीथिचित्त उपलब्ध होते हैं – इस तरह १२ प्रकार के पुद्गलों द्वारा चित्तों का विभाजन करके दिखलानेवाला यह प्रकरण 'पुद्गलभेद' कहा जाता है[1]।

यहाँ नहीं प्राप्त होनेवाले चित्तों को पहले कहा गया है; क्योंकि उन (नहीं प्राप्त होनेवाले) चित्तों को जान लेने पर उनको घटा देने से प्राप्त होनेवाले चित्तों का ज्ञान आसानी से स्पष्टतया हो सकता है।

समस्त संसार में नानाविध असङ्ख्येय पुद्गलों के विद्यमान होने पर भी उनका परमार्थ दृष्टि से विभाजन करने पर वे सब निम्नलिखित १२ प्रकार के पुद्गलों में विभक्त हो जाते हैं। उनमें ४ पृथग्जन[2] एवं ८ आर्यपुद्गल[3] होते हैं। यथा –

---

१. द्र० – विभा०, पृ० ११९; प० दी०, पृ० १५८।

२. "पुथूनं जननादीहि, कारणेहि पुथुज्जनो।
पुथुज्जनन्तोगधत्ता, पुथुवायं जनो इति॥"

सो हि पुथूनं नानप्पकारानं किलेसादीनं जननादीहि पि कारणेहि पुथुज्जनो। यथाह – पुथु किलेसे जनेन्तीति पुथुज्जना। पुथु अविहतसक्कायदिट्ठिका ति पुथुज्जना। पुथु नानासत्थारानं मुखुल्लोकिका ति पुथुज्जना। पुथु सब्बगतीहि अवुट्ठिता ति पुथुज्जना। पुथु नानाभिसङ्खारे अभिसङ्खरोन्तीति पुथुज्जना। पुथु नाना ओघेहि वुय्हन्तीति पुथुज्जना। पुथु नानासन्तापेहि सन्तप्पन्तीति पुथुज्जना। पुथु नानापरिळाहेहि परिडय्हन्तीति पुथुज्जना। पुथु पञ्चसु कामगुणेसु रत्ता गिद्धा गथिता मुच्छिता अज्झोपन्ना लग्गा लगिता पलिबुद्धा ति पुथुज्जना। पुथु पञ्चहि नीवरणेहि आवुता निवुता ओवुता पिहिता पटिच्छन्ना पटिकुज्जिता ति पुथुज्जना। पुथूनं वा गणनपथमतीतानं अरियधम्मपरम्मुखानं नीचधम्मसमाचारानं जनानं अन्तोगधत्ता ति पि पुथुज्जना। पुथु वा अयं – विसुं येव सङ्खङ्गतो, विसंसट्ठो सीलसुतादिगुणयुत्तेहि अरियेहि – जनो ति पि पुथुज्जनो।" – अट्ठ०, पृ० २७९; दी० नि० अ०, (सीलक्खन्धट्ठकथा) पृ० ५९।

३. "अरिया ति आरकत्ता किलेसेहि, अनये न इरियनतो, अये इरियनतो, सदेवकेन लोकेन च अरणीयतो बुद्धा च पच्चेकबुद्धा च बुद्धसावका च वुच्चन्ति।" – अट्ठ०, पृ० २७९।

४२. सब्बत्थापि* समापत्तिवीथियं* भवङ्गसोतो† विय वीथिनियमो नत्थीति कत्वा बहूनि पि लब्भन्तीति‡ ।

सर्वत्र ही ध्यानसमापत्ति एवं फलसमापत्ति वीथि में भवङ्गस्रोत की भाँति वीथिनियम (जवनसन्तति का नियम) नहीं है, इस कारण बहुत जवन भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार का यह जवननियम है।

४३. सत्तक्खत्तुं परित्तानि मग्गाभिञ्ञा सकिं मता ।
अवसेसानि लब्भन्ति जवनानि बहूनि पि ॥

अयमेत्थ जवननियमो ।

कामजवन ७ वार, मार्ग एवं अभिज्ञा जवन १ वार तथा अवशिष्ट जवन अनेक वार भी उपलब्ध होते हैं – ऐसा जानना चाहिये।

इस वीथिसङ्गह में यह जवननियम है।

---

४२. सब्बत्थापि ... लब्भन्तीति – सम्यक्प्राप्त ध्यानजवनसन्तति को ही 'ध्यानसमापत्तिवीथि' तथा 'फलजवनसन्तति को 'फलसमापत्तिवीथि' कहते हैं। इन समापत्तिवीथियों में ध्यानजवन एवं फलजवन कितने वार प्रवृत्त होने चाहियें – इसका नियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि ध्यानजवन एवं फलजवन अनेक वार भी जवित हो सकते हैं। 'बहूनि पि' इस वाक्यांश में प्रयुक्त 'अपि' शब्द द्वारा 'थोड़े' (अल्प) अर्थ का भी समुच्चय होता है, इसलिये समावर्जनकर्म में जव पुद्गल अभ्यस्त नहीं होता है तब जवन दो, तीन वार भी जवित होते हैं; किन्तु जब वह अभ्यस्त हो जाता है तब वे ध्यानजवन एवं फलजवन दिन-रात्रिपर्यन्त अनेक वार निरन्तर प्रवृत्त हो सकते हैं[1]।

४३. कामजवनों का जो ७ वार होना कहा गया है वह उनकी अधिकतम सङ्ख्या का द्योतक है। वैसे जवन ६ वार, ५ वार या ४ वार भी हो सकते हैं। (यह पहले कहा जा चुका है।) मार्गजवन एवं अभिज्ञाजवन केवल एक वार मात्र ही जवन करते हैं। शेष ध्यानजवन एवं फलजवन कई वार भी हो सकते हैं, तथा 'अपि' शब्द द्वारा एक, दो, तीन वार भी जवित हो सकते हैं। यथा – ध्यानप्राप्ति के आदिकाल (प्रथम अर्पणाकाल) में १ वार, निरोधसमापत्ति के आसन्नकाल में चतुर्थ आरूप्यजवन

- समापत्तिवीथियं पन सब्बत्थापि – स्या० ।

† भवङ्गसोते – ना०; ०वेदितब्बं–स्या० ।

‡ लब्भन्ति – ना० ।

१. "'सब्बत्थापि समापत्तिवीथियं' ति सकलाय पि झानसमापत्तिवीथियं, फलसमापत्तिवीथियञ्च ।" – विभा०, पृ० ११६ ।

"'सब्बत्थापि समापत्तिवीत्तियं' ति झानसमापत्तिफलसमापत्तिवसेन सकलाय पि समापत्तिवीथियं । – प० दी०, पृ० १५७ ।

टिच्छन २ एवं सन्तीरण ३=२२ चित्त न होकर इनसे अवशिष्ट केवल ४२ चित्त ही उपलब्ध होते हैं।

[ये ४२ चित्त तृतीय परिच्छेद के 'वस्तुसङ्ग्रह' में कथित 'द्वेचत्तालीस जायरे' के अनुसार समझने चाहियें[1]।]

५६. यह सम्पूर्ण वीथिचित्तों का निगमन कहनेवाली पालि है। दो चित्त-वीथियों के बीच बीच में भवङ्ग होते हुए ये वीथिचित्त सम्पूर्ण आयु:पर्यन्त प्रवृत्त होते रहते हैं।

भूमिविभाग समाप्त।

पुद्गल, भूमि एवं चित्त

	ध्यान-अलाभी कामपुद्गल	ध्यानलाभी कामपुद्गल	रूपपुद्गल	अरूपपुद्गल
दुर्गति-अहेतुक	३७	×	×	×
सुगति-अहेतुक एवं द्विहेतुक	४१	×	×	×
त्रिहेतुक पृथग्जन	४५	५४	४३	२७
स्रोतापन्न एवं सकृदागामी	४१	५०	३६	२३
अनागामी	३६	४८		
अर्हत्	३५	४४	३५	१८

मार्गस्थ पुद्गल अपने एक एक मार्गचित्त को ही प्राप्त करते हैं, अतः उनका यहाँ सङ्ग्रह नहीं किया गया है। कामपुद्गलों में प्राप्त होनेवाले चित्त 'पुद्गलभेद' में कहे जा चुके हैं। ध्यान-अलाभी कामपुद्गलों में ६ महग्गतध्यानों को वर्जित करके गणना करनी चाहिये। ध्यानलाभी कामपुद्गलों में एक ध्यान को प्राप्त होनेवाले, दो ध्यान

१. द्र० – अभि० स० ३ : ७४, पृ० २८०; स्पष्ट ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स० ३ : ७१, पृ० २७६।

तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन
चक्षुर्द्वारवीथि

३. रूपालम्बन एवं चक्षु:प्रसाद – दोनों के युगपत् अभिनिपात (=प्रादुर्भाव) से लेकर १ वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु:प्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ७ वार जवन एवं २ वार तदालम्बन होने पर चक्षु:प्रसाद एवं रूपालम्बन दोनों की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु को पूर्ण करके द्वितीय तदालम्बनचित्त के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि' कहलाती है।

तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन

चक्षुर्द्वारवीथि

३. इस वीथि को निम्न प्रारूप द्वारा समझाया गया है –

भ 'ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज त त' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं कायद्वार में होनेवाली वीथियों को भी जानना चाहिये। इस प्रकार अतिमहद्-आलम्बनवीथियाँ कुल पाँच होती हैं।

उपर्युक्त वीथि में सबसे पहलेवाला भवङ्ग तथा तदालम्बन के बादवाला भवङ्ग – इस प्रकार ये दोनों भवङ्ग इस वीथि के अन्तर्गत नहीं आते; किन्तु ये इस वीथि से पूर्व अनेक भवङ्गों की उत्पत्ति तथा इस वीथि से पश्चात् भी अनेक भवङ्ग होकर पुन: वीथिचित्तों की उत्पत्ति को दिखलाते हैं। इस वीथि के अन्तर्गत विद्यमान अतीतभवङ्ग, भवङ्गचलन, एवं भवङ्गोपच्छेद भी वीथिचित्त नहीं हैं, अपितु वीथिमुक्त चित्त ही हैं; तथापि रूपालम्बन के प्रादुर्भाव से लेकर निरोधपर्यन्त रूप की आयु के काल में होनेवाले १७ चित्तक्षणों की गणना करते समय परिगणित किये जाते हैं, अत: इन भवङ्गों को वीथि में समाविष्ट कर लिया गया है। वस्तुत: पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त ही वीथिचित्त हैं।

इस चक्षुर्द्वारवीथि द्वारा 'मैंने अमुक वस्तु देखी, वह नील है या वह पीत है या अमुकविध है' – इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान नहीं होता; अपितु केवल रूपालम्बनमात्र का ही ज्ञान होता है। इस वीथि के अनन्तर यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके तदनुवर्तक मनोद्वारवीथियों के होने पर ही नील, पीत-आदि का ज्ञान हो पाता है[1]।

---

१. तु० – प० दी०, पृ० १३२-१३३।

एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों अपनी आयु (१७ चित्तक्षण) पूर्ण हो जाने से निरुद्ध हो जाते हैं। ३ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर आगन्तुकभवङ्ग-अपातवीथि एवं आगन्तुक-भवङ्गपातवीथि में सप्तम जवन के भङ्ग के साथ रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद निरुद्ध हो जाते हैं। इन वीथियों को प्रथम महद्-आलम्बनवीथि के सदृश ही जानना चाहिये। और इन के प्रारूप को भी अतिमहद्-आलम्बनवीथि के आधार पर जान लेना चाहिये। यहाँ आगन्तुकभवङ्ग-अपात प्रथम महद्-आलम्बनवीथि एवं आगन्तुक-भवङ्ग-अपात द्वितीय महद्-आलम्बनवीथि के प्रारूप दिखलाये जा रहे हैं।

आगन्तुकभवङ्ग-अपात प्रथम महद्-आलम्बनवीथि

भ 'ती ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज भ'
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

आगन्तुकभवङ्ग-अपात द्वितीय महद् आलम्बनवीथि

भ 'ती ती ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज'
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा-आदि द्वारों में भी दो दो वीथियाँ होती हैं। इस तरह महद्-आलम्बनवीथियाँ कुल १० होती हैं। यदि आगन्तुकभवङ्गपात-वीथि की भी गणना की जाये तो इनकी संख्या दुगुनी (२०) हो जायेगी।

आगन्तुकभवङ्गपात अतिमहद् एवं महद् आलम्बनवीथि में विशेष –

अतिमहद् आलम्बनवीथि में यदि आलम्बन अति-इष्ट होता है तो द्वेषजवन के अनन्तर सौमनस्यतदालम्बन का पात न हो सकने के कारण आगन्तुकभवङ्गपात होना पड़ता है। यदि आलम्बन इष्ट-मध्यस्थ आलम्बन होता है तो कुशलविपाक उपेक्षा-तदालम्बन का पात होगा। यदि आलम्बन अनिष्ट आलम्बन होता है तो अकुशलविपाक उपेक्षातदालम्बन का पात होगा। इसलिये इष्ट-मध्यस्थ एवं अनिष्ट आलम्बनों में आगन्तुकभवङ्ग का पात आवश्यक नहीं होता।

इस महद्-आलम्बनवीथि में यदि सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेनेवाला पुद्गल होता है तो द्वेषजवन के अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश सौमनस्यभवङ्ग का पात न हो सकने के कारण अति-इष्ट, इष्ट-मध्यस्थ एवं अनिष्ट – इन प्रकारों से आलम्बन को उपलक्षित करना आवश्यक नहीं होता; क्योंकि आलम्बन चाहे किसी भी प्रकार का हो, यदि द्वेषजवन जवित होते हैं तो उनके अनन्तर आगन्तुक भवङ्ग का पात अवश्य होगा, तदनन्तर मूल सौमनस्यभवङ्ग का पात हो सकता है।

इस प्रकार 'अतिमहद्-आलम्बन में अति-इष्ट होने पर ही द्वेषजवन के अनन्तर आगन्तुकभवङ्ग का पात होना एवं महद्-आलम्बन में कोई भी आलम्बन होने पर द्वेषजवन के अनन्तर आगन्तुकभवङ्ग का पात होना' – यही इन दोनों वीथियों में विशेष है।

विशेष—ब्रह्माओं की सन्तान में द्वेषजवन न होने के कारण उनमें आगन्तुक-भवङ्गपात वीथियाँ नहीं हो सकतीं। परीत्त एवं अतिपरीत्त आलम्बनवीथियों में जवन

महद्-आलम्बनवीथि

५. यह महद्-आलम्बनवीथि भी वार-भेद से 'जवनवार' नाम से केवल एक प्रकार की ही होती है। २ वार अतीतभवङ्ग होने वाली प्रथम महद्-आलम्बनवीथि एवं ३ वार अतीतभवङ्ग होनेवाली द्वितीय महद्-आलम्बनवीथि – इस प्रकार महद्-आलम्बनवीथि दो प्रकार की होती है। इनमें से प्रत्येक वीथि आगन्तुकभवङ्ग-अपातवार एवं आगन्तुकभवङ्गपातवार – इस प्रकार २ प्रकार की होती है। इनमें से प्रथम 'महद्-आलम्बनवीथि' की उत्पत्ति –

रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों के युगपत् अभिनिपात (प्रादुर्भाव) से लेकर २ वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ७ वार जवन होने के अनन्तर १ वार भवङ्गपात होने पर रूपालम्बन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण करके प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'आगन्तुकभवङ्ग-अपातवार महद्-आलम्बन चक्षुर्द्वार-वीथि' कहलाती है।

की सन्तान में ही होती है; किन्तु यह (जवनवार) वीथि कामभूमि एवं रूपभूमि – दोनों भूमियों में रहनेवाले सत्त्वों की सन्तान में हो सकती है। आचार्य अनुरुद्ध द्वारा अपने ग्रन्थ में अतिमहद्-आलम्बनवीथि को ही 'तदालम्बनवार' – कहा जाना उत्कृष्ट निर्देशवचन है।

अपिच – उपेक्षासहगतचित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले कामपुद्गल की सन्तान में भगवान् बुद्ध के रूप-आदि अति-इष्ट अतिमहद् रूपालम्बन का आलम्बन करके यदि द्वेषजवन प्रवृत्त होते हैं तो 'अतिइट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव'[1] के अनुसार यदि तदालम्बन का पात होता है तो अति-इष्ट आलम्बन के अनुसार सौमनस्य तदालम्बन का पात ही होगा; किन्तु द्वेषजवन एवं सौमनस्य तदालम्बन – इन दोनों का पूर्वापरभाव परस्पर विरुद्ध होने से तदालम्बन का पात न होकर इस जवनवार अतिमहद्-आलम्बनवीथि के अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश उपेक्षाभवङ्ग का पात ही होता है।

आगन्तुकभवङ्गपात अतिमहद्-आलम्बनवीथि

ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज आ भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००

महद्-आलम्बनवीथि

५. आगन्तुक भवङ्गपातवीथि में द्वेषजवन होते हैं। सप्तम जवन के अनन्तर आगन्तुक भवङ्गपात होता है और उस आगन्तुक भवङ्ग के भङ्ग के साथ रूपालम्बन

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३५, पृ० ३७३।

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

७. अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि 'मोघवार' नाम से केवल १ प्रकार की ही होती है। यह भी १० वार अतीतभवङ्ग होनेवाली 'प्रथम अतिपरीत्त-आलम्वनवीथि' ११ वार, १२ वार, १३ वार, १४ वार एवं १५ वार अतीतभवङ्ग होनेवाली अतिपरीत्त-आलम्वनवीथि – इस प्रकार अतिपरीत्त-आलम्वनवीथियाँ कुल ६ प्रकार की होती हैं। इनमें से प्रथम 'अतिपरीत्त-आलम्वनवीथि' की उत्पत्ति –

रूपालम्वन एवं चक्षुःप्रसाद –दोनों के युगपद् अभिनिपात (=प्रादुर्भाव) से लेकर १० वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षुःप्रसाद में रूपालम्वन का प्रादुर्भाव होने से दो वार भवङ्गचलन होने पर (तदनन्तर वीथिचित्तों का उत्पाद न होकर) पुनः ५ वार भवङ्ग होकर रूपालम्वन एवं चक्षुःप्रसाद – दोनों की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण करके भवङ्गचलन के अनन्तरवर्त्ती पञ्चम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'प्रथम अतिपरीत्त-आलम्वन-वीथि' कहलाती है।

चक्षुर्द्वारिक परीत्त-आलम्बनवीथि

प्र० ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ भ भ भ

द्वि० ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ भ भ

तृ० ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ भ

च० ती ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ

प० ती ती ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो

ष० ती ती ती ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो

इसीप्रकार श्रोत्रद्वारिक, घ्राणद्वारिक, जिह्वाद्वारिक एवं कायद्वारिक वीथियों के छह-छह प्रकारों को भी जानना चाहिये। इस प्रकार परीत्त-आलम्वन वीथियाँ ३० होती हैं।

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

७. शेष अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियाँ – ११ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होने वाली 'द्वितीय अतिपरीत्त-आलम्वन-वीथि', १२ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ नरुद्ध होनेवाली 'तृतीय अतिपरीत्त-आलम्वनवीथि'; १३ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने

परीत्त-आलम्बनवीथि

६. परीत्त-आलम्बनवीथि भी 'वोट्ठपनवार' इस नाम से केवल एक प्रकार की होती है। यह चार वार अतीतभवङ्ग होनेवाली प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि, पाँच वार, छह वार, सात वार, आठ वार एवं नौ वार अतीत-भवङ्ग होनेवाली परीत्त-आलम्बनवीथि – इस प्रकार परीत्त-आलम्बनवीथियाँ कुल छह प्रकार की होती है। इनमें से प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि की उत्पत्ति –

रूपालम्बन एवं चक्षु:प्रसाद – दोनों के युगपद् अभिनिपात (प्रादु-र्भाव) से लेकर चार वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु:प्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारा-वर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तीन वार वोट्ठपन होने के अनन्तर चार वार भवङ्ग होकर रूपालम्बन एवं चक्षु:प्रसाद – दोनों की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण करके चतुर्थभवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि' कहलाती है।

भी न होने के कारण उनके अनन्तर आगन्तुक भवङ्गपात नहीं हो सकता। आगन्तुक भवङ्गपात होने के कारणों को पहले (तदालम्बननियम में) कहा जा चुका है।

परीत्त-आलम्बनवीथि

६. **शेष परीत्त-आलम्बन वीथियाँ** – ५ वार अतीतभवङ्ग होकर क्रमश: तीन वार वोट्ठपन होने के अनन्तर तीन वार भवङ्ग होकर तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'द्वितीय परीत्त आलम्बनवीथि'; ६ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश: ३ वार वोट्ठपन होने के अनन्तर २ वार भवङ्ग होकर द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'तृतीय परीत्त-आलम्बन वीथि'; ७ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश: ३ वार वोट्ठपन होने के अनन्तर १ वार भवङ्ग होकर प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'चतुर्थ परीत्त-आलम्बन वीथि'; ८ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश: ३ वार वोट्ठपन होकर तृतीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'पञ्चम परीत्त-आलम्बन वीथि' एवं ९ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश: दो वार वोट्ठपन होकर द्वितीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथि' – इस प्रकार एक एक द्वार में ६ – ६ परीत्त-आलम्बनवीथियाँ होती हैं।

भवङ्ग से अवशिष्ट पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त वीथिचित्त यथायोग्य रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनों का आलम्बन करते हैं[1] । अर्थात् चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त १ वार या २ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत अनिरुद्ध प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करता है । तथा श्रोत्रद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का, घ्राणद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न गन्धालम्बन का, जिह्वाद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न रसालम्बन का एवं कायद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न स्प्रष्टव्यालम्बन का आलम्बन करता है ।

वस्तु – पञ्चवोकारभूमि में होनेवाले चित्त चक्षुष्-आदि ६ वस्तुरूपों में से किसी एक का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं । अर्थात् चक्षुर्विज्ञान-आदि चित्त स्वसम्बद्ध अपनी अपनी वस्तुओं का आश्रय करके उत्पन्न होते हैं[2] ।

पञ्चविज्ञानों से अवशिष्ट अतीतभवङ्ग-आदि चित्तसमूह अपने पूर्व-पूर्व चित्तों के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं[3] । अर्थात् अतीतभवङ्ग अपने पूर्ववर्ती भवङ्ग के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, भवङ्गचलन अपने पूर्ववर्ती अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, भवङ्गोपच्छेद अपने पूर्ववर्ती भवङ्गचलन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, पञ्चद्वारावर्जन अपने पूर्ववर्ती भवङ्गोपच्छेद के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, (चक्षुर्विज्ञान चक्षुर्वस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होता है, अतः उसे यहाँ छोड़ दिया गया है) सम्पटिच्छन अपने पूर्ववर्त्ती चक्षुर्विज्ञान के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होता है । (हृदयवस्तु कर्मजरूप होने से प्रतिसन्धिक्षण से लेकर प्रत्येक चित्त के उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग में सर्वदा अनुगत होती रहती है, अतः चक्षुर्विज्ञानचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का सम्पटिच्छन द्वारा आश्रय किया जा सकता है ।) सन्तीरण अपने पूर्ववर्ती सम्पटिच्छन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, वोट्ठपन अपने पूर्ववर्ती सन्तीरण के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, प्रथमजवन अपने पूर्ववर्ती वोट्ठपन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, द्वितीयजवन अपने पूर्ववर्ती प्रथमजवन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, इसी प्रकार द्वितीय तदालम्बन के अनन्तर होनेवाला भवङ्ग अपने पूर्ववर्ती द्वितीय तदालम्बन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है ।

भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग

भूमि – १६-१६ प्रकार की घ्राणद्वारिक जिह्वाद्वारिक एवं कायद्वारिक वीथियाँ, तदालम्बनपात चक्षुर्द्वारिक वीथि १, श्रोत्रद्वारिक वीथि १, द्वेषजवन होकर आगन्तुक भवङ्गपात

---

१. द्र० – अभि० स० ३:५०, पृ० २४६ ।

२. द्र० – अभि० स० ३ : ६८, पृ० २७७ ।
"यत्थ हि रूपारम्मणं घट्टेति, तं चक्खुवत्थुं निस्साय तत्थ घट्टितं रूपारम्मणं आरब्भ चक्खुविञ्ञाणं उप्पज्जति ।" – प० दी०, पृ० १३२ ।

३. द्र० – अभि० स० ३ : ६६, पृ० २७७ ।
"इतरानि पन आवज्जनादीनि मनोविञ्ञाणानि अत्तनो अत्तनो अतीतानन्तरचित्तेन सहुप्पन्नं हदयवत्थुं निस्साय तमेवारम्मणं आरब्भ उप्पज्जन्ति ।" – प० दी०, पृ० १३२ ।

के अनन्तर द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'चतुर्थ अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि'; १४ बार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'पञ्चम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' तथा १५ बार भवङ्ग अतीत होने के अनन्तर द्वितीय भवङ्गचलन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'षष्ठ अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' – इस प्रकार एक एक द्वार में ६ – ६ अतिपरीत- आलम्बनवीथियाँ होती हैं। इस तरह अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियाँ कुल ३० होती हैं।

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

प्र० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ भ भ

द्वि० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ भ

तृ० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ

च० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ

पं० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ

ष० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न

पञ्चद्वारवीथि की सङ्ख्या – परम्परा के अनुसार अतिमहद्-आलम्बनवीथि १, महद्-आलम्बनवीथि २, परीत्त-आलम्बनवीथि ६ एवं अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि ६ – इस प्रकार एक एक द्वार में १५ – १५ वीथियाँ होने से कुल पाचों द्वारों में होनेवाली पञ्च-द्वारिक वीथियाँ ७५ होती हैं; किन्तु यहाँ 'तदालम्बन-अपात अतिमहद्-आलम्बन जवन-वार' एवं आचार्य अनुरुद्ध के 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' में प्रतिपादित 'आगन्तुक भवङ्गपात वार' को मिलाकर अतिमहद्-आलम्बनवीथि ३ तथा महद्-आलम्बनवीथि ४ होने से एक एक द्वार में १९–१९ वीथियाँ हो जाती हैं, अतः पाचों द्वारों में कुल ९५ वीथियाँ होती हैं[1]।

चित्तस्वरूप, आलम्बन एवं वस्तु

चित्तस्वरूप – उपर्युक्त ९५ पञ्चद्वारवीथियों में होनेवाले चित्त "सब्बथापि पञ्च-द्वारे चतुपञ्ञास चित्तानि कामावचरानेव[2]" के अनुसार ५४ कामचित्त ही होते हैं। अर्थात् इन ५४ कामचित्तों में से ही प्रतिवीथि चित्त यथासम्भव प्रवृत्त होते हैं। ध्यान एवं मार्गवीथि न होने से यहाँ अर्पणाजवन नहीं होते।

आलम्बन – वीथिचित्तों के पूर्ववर्ती अतीतभवङ्ग, भवङ्गचलन एवं भवङ्गोपच्छेद, तथा वीथिचित्तों के परवर्ती भवङ्ग – ये चित्त अतीत कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीनों में से किसी एक का आलम्बन करते हैं[3]।

१. परमत्थसरूपभेदिनी (बर्मी टीका)।

२. द्र० – अभि० स० ३ : ३७; पृ० २४४।

३. द्र० – अभि० स० ३ : ५२, पृ० २५२।

से – १. चक्षुर्विज्ञान किस चक्षुःप्रसाद का आश्रय ग्रहण करता है ? २. 'चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन प्रादुर्भाव होता है' – इस प्रकार कहा गया होने से किस चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है ? ३. चक्षुर्द्वारवीथि कहने में कौन चक्षुःप्रसाद द्वारकृत्य सम्पन्न करता है ? – इस प्रकार के कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं।

४९ प्रकार के चक्षुःप्रसादों में से सर्वप्रथम अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षुःप्रसाद का चक्षुर्विज्ञान आश्रय करता है। उस प्रसाद में ही चक्षुर्द्वारवीथि का आलम्बनभूत रूपालम्बन प्रादुर्भूत होता है। वही चक्षुःप्रसाद इस चक्षुर्द्वारवीथि में द्वारकृत्य भी सम्पन्न करता है'—इस प्रकार आधुनिक आचार्य सङ्केत करते हैं। यहाँ पर हम उन्हीं आधुनिक आचार्यों के मतानुसार मन्दायुक-आदि की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं।

चक्षुर्विज्ञान-आदि पञ्चविज्ञानों की आश्रयभूत वस्तु को चुनते समय मन्दायुक-आदि की मीमांसा उपस्थित हो जाने के कारण जिस समय पञ्चविज्ञान उत्पन्न होते हैं उस समय स्थितिक्षण में विद्यमान वस्तुरूपों को ही चुनने के सम्बन्ध में मीमांसा की जायेगी। वे वस्तुरूप अतीतभवङ्ग के पूर्व तेरहवें भवङ्ग के भङ्गक्षण से लेकर पञ्चद्वारावर्जन के भङ्गक्षणपर्यन्त – इस बीच होनेवाले चित्त के प्रत्येक क्षण में उत्पन्न वस्तुरूप होते हैं। इसलिये तेरहवें भवङ्ग के भङ्ग से लेकर आवर्जन के भङ्गपर्यन्त एक एक क्षुद्रक्षण में 'एक एक प्रकार' ऐसी गणना करके उसका ४९ प्रकार का होना जाना जायेगा। जब पञ्चविज्ञान उत्पन्न होता है तब ४९ प्रकार निरुद्ध न होकर स्थितिक्षण में ही विद्यमान होते हैं।

जब पञ्चविज्ञान उत्पन्न होता है तब सहोत्पन्न वस्तुरूप, तेरहवें भवङ्ग के स्थितिक्षण में उत्पन्न होकर पञ्चविज्ञान के उत्पादकाल में निरुद्ध्यमान (निरुद्ध हो रहे) वस्तुरूप, निरुद्ध हुए पूर्व पूर्व वस्तुरूप, एवं अनुत्पन्न (अनागत) वस्तुरूप पञ्चविज्ञान के आश्रय होते हैं – इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह न होने के कारण इस विषय में मन्दायुक-आदि की मीमांसा आवश्यक नहीं होती। तथा सभी वस्तुरूप १७ चित्तक्षण के बराबर आयुवाले होने के कारण उनमें भी स्वभावतः मन्दायुक, मध्यमायुक एवं अमन्दायुक – इस प्रकार का भेद नहीं होता। इन मन्दायुक-आदि भेदों का विभाजन (वर्गीकरण) तो उन उन वीथियों के आलम्बनों की आयु की अपेक्षा करके ही किया जाता है।

---

१. द्र० – प० दी०, पृ० १३२।

(अतिमहद्-आलम्बन, महद्-आलम्बन) चक्षुर्द्वारिक वीथियाँ ३, श्रोत्रद्वारिक ३ – इस प्रकार कुल ६५ वीथियाँ कामभूमि में ही होती हैं। रूपभूमि में ये वीथियाँ नहीं हो सकतीं[1]। रूपधर्मों के अभाववाली अरूपभूमि में तो पञ्चद्वार- वीथियाँ कथमपि नहीं हो सकतीं।

१९ प्रकार की चक्षुर्द्वारिक वीथियों में से तदालम्बन एवं द्वेषजवन होनेवाली चार वीथियों से अवशिष्ट १५ चक्षुर्द्वारिक वीथियाँ तथा १५ श्रोत्रद्वारिक वीथियाँ – इस प्रकार ये ३० वीथियाँ कामभूमि एवं रूपभूमि नामक २५ पञ्चवोकारभूमियों में होती हैं। उपर्युक्त दोनों वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कामभूमि में ६५ पञ्चद्वारवीथियाँ होती हैं तथा रूपभूमि में तदालम्बन एवं द्वेषजवन नहीं होनेवाली चक्षुर्द्वारिक एवं श्रोत्रद्वारिक ३० वीथियाँ होती हैं – इस प्रकार जानना चाहिये।

पुद्गल – मार्गस्थ पुद्गल में मार्गचित्त एकक्षण मात्र होने से उनमें इन पञ्चद्वार-वीथियों का उत्पन्न होना असम्भव है। ४ पृथग्जन एवं ४ फलस्थ – इस प्रकार इन ८ पुद्गलों की सन्तान में ही ये पञ्चद्वारवीथियाँ हो सकती हैं। (अनागामी एवं अर्हत् पुद्गलों की सन्तान में द्वेष का प्रहाण कर दिया गया होने से उनमें आगन्तुक भवङ्ग-पातवीथियाँ भी नहीं हो सकतीं—यह विशेष ज्ञातव्य है।)

भवङ्ग – वीथिचित्तों के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती भवङ्गों की मीमांसा आवश्यक होने से उस पर यहाँ विचार करना चाहिये। यदि कामपुद्गल की वीथि होती है तो १० काम-भवङ्गों का, एवं रूपपुद्गल की वीथि होती है तो ५ रूपभवङ्गों का पात होता है। तथा १० कामभवङ्गों में से भी यदि दुर्गति-अहेतुक पुद्गल होता है तो अकुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण का, सुगति-अहेतुक पुद्गल होता है तो कुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण का, द्विहेतुक पुद्गल होता है तो ४ ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाक चित्तों में से किसी एक का तथा कामत्रिहेतुक पुद्गल अथवा आर्यपुद्गल होता है तो ४ ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाक-चित्तों में से किसी एक का भवङ्ग के रूप में पात होता है। रूपावचर प्रथमध्यानभूमि में रहनेवाला पुद्गल होता है तो रूपावचरविपाक प्रथमध्यान का – इस प्रकार भूमि एवं पुद्गलों के अनुसार मीमांसा करके पूर्व एवं पर भवङ्गों के पात को जानना चाहिये।

मन्दायुक-आदि का विचार

चक्षुःप्रसाद कर्मज रूप होने के कारण "खणे खणे समुट्ठापेति[2]" के अनुसार चित्त के प्रत्येक उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग क्षण में निरन्तर उत्पन्न होता रहता है। 'रूपधर्म स्थितिक्षण में अत्यन्त बलवान् होते हैं' – ऐसा कहा गया होने से जब चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है तब स्थितिक्षण में विद्यमान वह चक्षुःप्रसाद ४९ प्रकार का होता है। (रूप की आयु ५१ क्षुद्रक्षण होती है। इनमें से १ उत्पाद-क्षुद्रक्षण तथा एक भङ्ग-क्षुद्रक्षण को निकाल कर स्थितिक्षण में ४९ क्षुद्रक्षण होते हैं)। यहाँ, उन ४९ प्रकार के चक्षुःप्रसादों में

---

१. द्र० – अभि० स० ३ : ६६, पृ० २७६; एवं ४ : ५४, पृ० ३९३।

२. द्र० – अभि० स० ६ : ३१।

तदालम्बन के स्थितिक्षण में निरुद्ध हो जाते हैं, अतः रूपालम्बन के निरोध से पहले लगभग एकक्षणमात्र कम आयुवाले होते हैं; प्रथम भवङ्ग की स्थिति के साथ उत्पन्न वस्तुरूप-आदि लगभग दो क्षणमात्र कम आयुवाले होते हैं – इस प्रकार क्रम से जानना चाहिये। तेरहवें भवङ्ग के भङ्ग के साथ उत्पन्न वस्तुरूप चक्षुर्विज्ञान के स्थितिक्षण में निरुद्ध हो जाता है, अतः यह रूपालम्बन के निरोध से ३७ क्षण पूर्व निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस वीथि के सम्बन्ध में रूपालम्बन की अपेक्षा करके रूपालम्बन से कम आयुवाला होने के कारण तेरहवें भवङ्ग के भङ्ग से लेकर प्रथम भवङ्ग के भङ्गपर्यन्त – इस बीच उत्पन्न ३७ प्रसाद वस्तुरूपसमूह 'मन्दायुक चक्षुःप्रसाद' कहा जाता है।

अतीतभवङ्ग के स्थितिक्षण से लेकर पञ्चद्वारावर्जन के भङ्गक्षणपर्यन्त इस बीच प्रत्येक क्षण में उत्पन्न ११ प्रसाद वस्तुरूप रूपालम्बन के निरोध के बाद भी निरुद्ध होने से 'अमन्दायुक' कहलाते हैं। अर्थात् अतीतभवङ्ग के स्थितिक्षण में उत्पन्न वस्तुरूप द्वितीय तदालम्बन के अनन्तर प्रथम भवङ्ग के उत्पादक्षण में निरुद्ध होने से इस वीथि के रूपालम्बन से अधिक आयुवाला होता है – ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार वस्तुरूपों का विचार करना चाहिये।

अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न प्रसाद वस्तुरूप इस वीथि के रूपालम्बन के साथ निरुद्ध होता है, अतः उसकी आयु रूपालम्बन से न तो अधिक होती है और न कम होती है; अपितु बराबर होती है, अतः वह 'मध्यमायुक' कहलाता है। जैसे कहा भी गया है –

> "सत्ततिंस मन्दायुका एकं व मज्झिमं मतं।
> अमन्देकादसा चेति विञ्ञातब्बा विभाविना[1]॥"

इन ४९ प्रकार के प्रसादरूपों में से यह मध्यमायुक प्रसाद ही मध्यमा प्रतिपदा होने से चक्षुर्द्वारिकवीथि में चक्षुर्विज्ञान का एवं श्रोत्रद्वारिक-आदि वीथियों में श्रोत्रविज्ञान-आदि विज्ञानों का आश्रयभूत होने के लिए उपयुक्त होता है।

रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन इस मध्यमायुक चक्षुःप्रसाद में ही प्रादुर्भूत होते हैं और वीथिचित्तों की उत्पत्ति के लिये मूलभूत द्वारकृत्य को भी यही मध्यमायुक चक्षुःप्रसाद सिद्ध करता है—इस प्रकार कुछ आचार्यों का कथन है। (हम अपना विचार निःश्रय-प्रत्यय की व्याख्या में कहेंगे।)

इन मन्दायुक-आदि का एक बार अतीतभवङ्ग अतीत होनेवाली वीथियों से ही मुख्य रूप से सम्बन्ध है। २ बार, ३ बार एवं ४ बार-आदि अतीतभवङ्ग अतीत होनेवाली महद्-आलम्बन एवं परीत्त-आलम्बन वीथियों में यदि अतीतभवङ्ग एक बार अधिक अतीत होता है तो मन्दायुक में ३ क्षण कम हो जाते हैं तथा अमन्दायुक में ३ क्षण

१. तु० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३३५।

२ – ३ वार होना – कहा गया है, फिर भी मूलटीकाचार्य इस अव्याकृतवीथि को पसन्द नहीं करते[1]।

पूर्वकथित क्रम के अनुसार प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करनेवाली तदालम्बनवार विभूतालम्बनवीथि ५, अतीत-अनागत निष्पन्न रूप एवं त्रैकालिक चित्त-चैतसिकों का आलम्बन करनेवाली तदालम्बनवार विभूत-आलम्बनवीथि १, उसी तरह प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करनेवाली जवनवार विभूत-आलम्बनवीथि ७, अविभूत-आलम्बनवीथि ७ तथा अवशिष्ट आलम्बनों का आलम्बन करनेवाली विभूत-आलम्बन वीथि, अविभूत-आलम्बनवीथि एवं अव्याकृतवीथि – इस प्रकार शुद्ध मनोद्वारवीथि कुल २३ होती है।

चित्तस्वरूप आलम्बन एवं वस्तु

चित्तस्वरूप – कामजवनवार होने के नाते इन २३ मनोद्वारवीथियों में होनेवाले चित्त द्विपञ्चविज्ञान १० एवं मनोधातु ३=१३ चित्तवर्जित ४१ कामचित्त हैं। ये "वित्थारेन पनेत्थेकचत्तालीस विभावये[2]" के अनुसार होते हैं।

आलम्बन – तदालम्बनपात विभूत-आलम्बनवीथि में भवङ्ग से अवशिष्ट चित्त प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपों का आलम्बन करते हैं तथा प्रत्युत्पन्न-अतीत-अनागत (त्रैकालिक) काम चित्त-चैतसिक एवं अतीत-अनागत निष्पन्न रूपों का भी आलम्बन करते हैं।

शेष जवनवार विभूत-आलम्बनवीथिचित्त एवं अविभूत-आलम्बनवीथिचित्त कोई विशेष (भेद) न करके चित्त, चैतसिक, रूप एवं प्रज्ञप्ति – सभी का आलम्बन करते हैं। ये आलम्बन यदि विभूततया प्रादुर्भूत होते हैं तो विभूत-आलम्बनवीथि के, यदि अविभूततया प्रादुर्भूत होते हैं तो अविभूत-आलम्बनवीथि के आलम्बन होते हैं – इतना मात्र विशेष होता है तथा आलम्बन यदि प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप होते हैं तो अतीतभवङ्ग का पात होता है। शेष आलम्बनों में अतीत भवङ्गपात नहीं होता – यह भी जान लेना चाहिये। निर्वाण सर्वदा विभूतालम्बनवीथि का ही आलम्बन होता है।

वस्तु – इन वीथियों की आश्रयवस्तु पञ्चद्वारवीथि की आश्रयवस्तु की भांति ही होती हैं।

भूमि एवं पुद्गल

तदालम्बनपात विभूत-आलम्बनवीथियां कामभूमि में ही होती हैं। शेष जवनवार विभूत-आलम्बन वीथियां एवं अविभूत-आलम्बनवीथियां असंज्ञिभूमिवर्जित ३० भूमियों में यथायोग्य होती हैं।

पुद्गल के रूप में ४ पृथग्जन एवं ४ फलस्थ – इन ८ पुद्गलों की सन्तान में ही ये वीथियां होती हैं।

---

१. द्र० – विभा० मू० टी०, पृ० २०१।
२. अभि० स० ४:२१, पृ० ३४२।

चक्षुर्द्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली वीथि भी अतीतग्रहणवीथि, समूहग्रहण-वीथि, अर्थग्रहणवीथि एवं नामग्रहणवीथि – इस तरह चार प्रकार की होती है। इनमें से अतीतग्रहणवीथि की उत्पत्ति –

चक्षुर्द्वारवीथि के अनन्तर यथायोग्य भवङ्गपात होने के बाद उस चक्षु-र्द्वारवीथि का आलम्बनभूत अतीतरूपालम्बन ही जब मनोद्वार में प्रादुर्भूत होता है तो भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, एवं ७ बार जवन (यदि विभूत–आलम्बन होता है तो २ बार तदालम्बन और यदि अविभूत-आलम्बन होता है तो तदालम्बन का पात न होकर) तदनन्तर यथायोग्य भवङ्ग होते हैं।

तदनन्तर अनेक रूपालम्बनों का सामूहिकरूप से आलम्बन करने-वाली समूहग्रहणवीथि, रूपालम्बन के आश्रयभूत वस्तुद्रव्य का आलम्बन करने-वाली अर्थग्रहणवीथि एवं नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि यथायोग्य होती हैं। घ्राणद्वारिक, जिह्वाद्वारिक एवं कायद्वारिक वीथियों का अनुवर्तन करनेवाली तदनुवर्तकवीथियों को भी इसी क्रम से जानना चाहिये।

यथा – किसी एक व्यक्ति को देखते समय एक चक्षुर्द्वारिक एवं एक अतीतग्रहण – इस प्रकार इस वीथियुगल के होने मात्र से मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि उसके शरीर का एक भाग (शिरस्) पहले चक्षुर्द्वारवीथि द्वारा देखा जाता है तो शरीर के उस एकदेश में होनेवाले रूपालम्बन का आलम्बन करके, तद-नन्तर शरीर के अन्य भागों (ग्रीवा, उरस्, उदर-आदि) का क्रमशः पृथक् पृथक् आलम्बन करके चक्षुर्द्वारिकवीथि एवं अतीतग्रहणवीथि – इस प्रकार अनेक वीथियुगल होते हैं।

तदनन्तर देखेहुए सम्पूर्ण शिरोभाग के रूपालम्बनसमूह का आलम्बन करने-वाली 'समूहालम्बनवीथि' होती है। इस वीथि द्वारा समूहभूत अतीतरूपालम्बन कामधर्मों का आलम्बन किया जाने के कारण यदि इस (वीथि) का वह आलम्बन विभूत-आलम्बन होता है तो तदालम्बन का पात हो सकता है। 'रूपालम्बनसमूह' – इस प्रकार कहा जाने पर भी यह (रूपालम्बनसमूह) प्रज्ञप्ति नहीं है। चूंकि रूपालम्बन के अवयवों का वर्जन करके 'समूह' भी नहीं हो सकता, अतः 'रूपालम्बनसमूह' यह परमार्थ-धर्म ही है।

तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि

१३. तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि भी चक्षुर्द्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली वीथि, श्रोत्रद्वारवीथि का, घ्राणद्वारवीथि का, जिह्वाद्वारवीथि का एवं कायद्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली वीथि – इस प्रकार पाँच प्रकार की होती है।

[अव्याकृतवार स्वप्नवीथि मनुष्यभूमि में पृथग्जन, स्रोतापन्न एवं सकृदागामी में ही हो सकती हैं। अनागामी, अर्हत् एवं देवभूमियों के ब्रह्माओं में स्वप्न नहीं होते।]

समीक्षा – प्राचीन आचार्य 'यदि विभूतमारमणं आपातमागच्छति' – आदि वचनों को प्रमाण मानकर 'यदि विभूत-आलम्बन होता है तभी तदालम्बन का पात होना चाहिये' ऐसा ग्रहण करके महग्गत-लोकोत्तर चित्त-चैतसिक, निर्वाण एवं प्रज्ञप्ति आलम्बन होने पर इनके कामधर्म न होने से तदालम्बन का पात नहीं हो सकता है अतः (तदालम्बन का पात न होने से) ये आलम्बन अविभूत ही होंगे' – इस प्रकार स्वीकार करते हैं। यदि उन आचार्यों का मत समीचीन माना जाये तो ब्रह्माओं की सन्तान में तदालम्बन का पात न हो सकने के कारण विभूततर प्रादुर्भाव से उत्पन्न विभूत-आलम्बनवीथियों का होना असम्भव हो जायेगा। वस्तुतः स्वच्छ चित्तधातुवाले ब्रह्माओं की सन्तान में काम-पुद्गलों की अपेक्षा आलम्बनों का प्रादुर्भाव अतिविभूततया होता है।

तथा उन आचार्यों के अनुसार निर्वाण को अविभूत-आलम्बन में सङ्गृहीत करना भी अत्यन्त विचारणीय है; क्योंकि निर्वाण का आलम्बन करने में समर्थ कामजवनवीथिचित्त अत्यन्त तीक्ष्ण प्रत्यवेक्षणवीथिचित्त ही हैं। उन चित्तों द्वारा निर्वाण 'अविभूततया जाना जाता है' – ऐसा नहीं कहा जा सकता। मार्गचित्त एवं फलचित्त होने के अनन्तर आलम्बन को पुनः अतिविभूततया ही जाना जाता है और मार्गवीथि एवं फलवीथि होने के पहले निर्वाण का आलम्बन नहीं ही किया जा सकता, अतः निर्वाण सर्वदा विभूतालम्बन ही होता है।

महग्गत-लोकोत्तर चित्त-चैतसिक एवं प्रज्ञप्ति आलम्बन को केवल अविभूत-आलम्बन में ही सङ्गृहीत करना भी विचारणीय है। ध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर उन ध्यानाङ्गों का समावर्जन करते समय, मार्ग एवं फल वीथि होने के अनन्तर उन मार्ग एवं फलों का समावर्जन करते समय, पृथ्वीकात्स्न्यप्रज्ञप्ति (पठवीकसिणपञ्ञत्ति) का आलम्बन करके कम्मट्ठान सिद्ध होने के आसन्नकाल में कामजवनों के जवित होते समय – वे आलम्बन क्यों अविभूततया प्रादुर्भूत होंगे! वे तो अत्यन्त विभूत-आलम्बन ही होंगे। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि निर्वाण सर्वदा विभूत-आलम्बन ही है तथा अन्य चित्त-चैतसिक, रूप एवं प्रज्ञप्ति विभूत एवं अविभूत – दोनों होते हैं[1]।

तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि

१३. सबसे पहले प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली 'चक्षुर्द्वारिकवीथि' होने के अनन्तर यथासम्भव भवङ्गपात होकर निरुद्ध अतीतरूपालम्बन का आलम्बन करके 'अतीतग्रहण मनोद्वारवीथि' होती है। इस मनोद्वारवीथि के आलम्बन विभूत-आलम्बन एवं अविभूत-आलम्बन – दोनों हो सकते हैं।

---

१. व० भा० टी०।

श्रोत्रद्वारिक तदनुवर्तकवीथि

१४. श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली अतीतग्रहणवीथि एवं समूह-ग्रहणवीथि के अनन्तर पहले नामग्रहणवीथि होकर तदनन्तर अर्थग्रहणवीथि होती है।

श्रोत्रद्वारिक तदनुवर्तकवीथि

१४. किसी एक पुरुष द्वारा 'गो' इस शब्द का उच्चारण करने पर उस प्रत्युत्पन्न (उच्चारणकालिक) शब्दालम्बन का आलम्बन करके श्रोत्रद्वारिकवीथि होने के बाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके अतीत शब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली 'अतीत-ग्रहणवीथि नामक' मनोद्वारवीथि होती है। यह वीथियुगल पुनः पुनः (अनेक बार) प्रवृत्त होता है – यह ध्यान में रखना चाहिये। अक्षर यदि ह्रस्व होता है तो उसके उच्चारण में एक अच्छरामात्र काल लगता है, यदि दीर्घ होता है तो दो अच्छरामात्र काल होता है। एक अच्छरामात्र काल में भी "एकच्छरक्खणे कोटि-सतसहस्ससङ्ख्या (सङ्खारा) उप्पज्जन्ति[1]" के अनुसार लाखों करोड़ चित्त उत्पन्न हो सकते हैं। अतः 'गो' इस एक शब्दपिण्ड में पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बनों का आलम्बन करनेवाली अनेक श्रोत्रद्वारवीथि, तदनन्तर यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके अतीतशब्दा-लम्बन का आलम्बन करनेवाली अनेक अतीतग्रहणवीथियाँ पुनः पुनः होती हैं। एक अक्षर-वाले शब्द में शब्दालम्बनसमूह का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहणवीथि नहीं हो सकती। अतीतग्रहणवीथि होने के अनन्तर ही 'गो' नामक नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथियाँ होती हैं। श्रोत्रद्वारिकवीथि एवं अतीतग्रहणवीथि के क्षण में शब्दमात्र का श्रवण हो सकता है, 'गो' इस शब्द का सम्यग् (यथाभूत) ज्ञान नहीं होता। नामग्रहणवीथि के काल में ही 'गो' इस कथन का सम्यग्ज्ञान होता है। इस नामग्रहणवीथि के अनन्तर 'गो' इस शब्द के अर्थभूत 'गोद्रव्य' का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथि होती है। (इस शब्दालम्बन तदनुवर्तकवीथि में पहले नामग्रहणवीथि होने के बाद तदनन्तर अर्थग्रहण-वीथि का होना ध्यान में रखना चाहिये।)

"सद्दं पठमचित्तेन तीतं दुतियचेतसा।
नामं ततियचित्तेन अत्थं चतुत्थचेतसा[2]॥"

अर्थात् प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का प्रथम श्रोत्रद्वारिक वीथिचित्त द्वारा ज्ञान होता है। अतीत शब्दालम्बन का द्वितीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है। नामप्रज्ञप्ति का तृतीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है। तथा अर्थ (द्रव्य)-प्रज्ञप्ति का चतुर्थ मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है।

---

१. विभ० अ०, ३४।
२. व० भा० टी०।

उसके (अर्थग्रहणवीथियों के अनेक वार प्रवृत्त होने के) बाद उस वस्तुद्रव्य के लोकव्यवहारानुसार 'शिरस्' इस नाम को जाननेवाली 'नामग्रहणवीथि' भी अनेक वार प्रवृत्त होती है। 'शिरस्'–यह नाम नामप्रज्ञप्ति है, अतः इस नामप्रज्ञप्ति को आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि में भी आलम्बन चाहे विभूत हो या अविभूत, तदालम्बन का पात नहीं हो सकता।

इस प्रकार शरीर के एकदेश 'शिरोभाग' को जानने के लिये नामग्रहणवीथि-पर्यन्त अनेक वीथियों के होने पर 'शिरस्' के निचले प्रदेश ग्रीवा, स्कन्ध, उरस्, उदर-आदि शरीर के विभिन्न अङ्गों का परिच्छेद करके उन (अङ्गों) के दिखाई पड़ने योग्य पुरःस्थ भागों को अनेक वीथियों द्वारा जान लेने के वाद सम्पूर्ण शरीरपिण्ड को जानने के लिये चक्षुर्द्वारवीथि से लेकर नामग्रहणपर्यन्त प्रवृत्त अनेक वीथियों द्वारा ही इस 'मनुष्य-द्रव्य' नामक नामप्रज्ञप्ति का सम्यग् ज्ञान होता है। द्रव्य यदि सूक्ष्म (छोटा) होगा तो वीथियाँ कम तथा द्रव्य यदि स्थूल होगा तो वीथियाँ अधिक होंगी। इस प्रकार द्रव्यभेद से वीथियों के न्यूनाधिक्य को भी जानना चाहिये। अर्थग्रहणवीथि होने के अनन्तर यदि पहले से नाम का परिज्ञान होगा तभी नामग्रहणवीथि प्रवृत्त होगी; अन्यथा नहीं।

कुछ आचार्य अर्थग्रहण एवं नामग्रहणवीथियाँ चूंकि पञ्चद्वारिकवीथियों की भाँति आलम्बन का ग्रहण नहीं करतीं, अपितु उन रूपालम्बन-आदि की अर्थ-प्रज्ञप्ति एवं नाम-प्रज्ञप्ति का ग्रहण करती हैं, अतः उन्हें (अर्थग्रहण एवं नामग्रहण वीथियों को) तदनुवर्तकवीथि नहीं कहना चाहते; अपितु 'शुद्ध मनोद्वारवीथि' ही कहते हैं; किन्तु यहाँ आलम्बनभेद होने पर भी पञ्चद्वारवीथि से सम्बद्ध होनेवाली सभी मनोद्वार-वीथियों को उन्हें (आचार्यों को) 'तदनुवर्तक वीथि' कहना चाहिये; क्योंकि 'पञ्चद्वार-वीथि होने पर भी हमेशा अर्थग्रहण एवं नामग्रहण वीथियाँ होती ही हैं'—ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी कभी अतीतग्रहणवीथिमात्र से वीथिसन्तति विच्छिन्न होनेवाले विषय भी होंगे।

घ्राणद्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली तदनुवर्तकवीथियों द्वारा आलम्बन का ग्रहण करना इस प्रकार है–

गन्धालम्बन में समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमशः गृहीत गन्धसमूह का आलम्बन होता है। अर्थग्रहणवीथि द्वारा गन्ध के आश्रयभूत द्रव्य का आलम्बन होता है। नामग्रहण-वीथि द्वारा गन्ध के नाम (संज्ञा) का ग्रहण होता है।

रसालम्बन में समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमशः गृहीत रससमूह का, अर्थग्रहणवीवीथि द्वारा रस के आश्रयभूत भोज्यद्रव्य का, नामग्रहणवीथि द्वारा भोज्य रस के नाम का आलम्बन होता है।

स्प्रष्टव्यालम्बन में समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमशः स्पृष्ट स्प्रष्टव्यालम्बनसमूह का, अर्थग्रहणवीथि द्वारा स्प्रष्टव्यालम्बन के आश्रयभूत द्रव्य का, नामग्रहणवीथि द्वारा उस ष्टव्यालम्बन के नाम का ग्रहण होता है।

कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि

१५. इच्छा (छन्द) के साथ अङ्ग-प्रत्यङ्गों के चालन एवं कथन को देख एवं सुन कर चक्षुर्द्वारिक एवं श्रोत्रद्वारिक वीथियों का अनुवर्तन करनेवाली विज्ञप्तिग्रहण एवं अभिप्रायग्रहण मनोद्वारवीथियाँ होती हैं। यथा—

"रूपं पठमचित्तेन तीतं दुतियचेतसा।
ततियेन तु विञ्ञत्तिं भावं चतुत्थचेतसा[1]॥"

इस गाथा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा हाथ हिलाकर बुलाने पर सर्वप्रथम हिलनेवाले हाथ के रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली चक्षुर्द्वारिकवीथि, अतीत रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली अतीतग्रहणवीथि, आगमनेच्छाकार (आगमनसम्बन्धिनी उसकी इच्छा के आकार) को जाननेवाली कायविज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली विज्ञप्तिग्रहणवीथि तथा आगमन-अभिप्राय का आलम्बन करनेवाली अभिप्रायग्रहणवीथि होती है।

वीथि', 'यह शब्द मेरे द्वारा सङ्केतित गोद्रव्य का वाचक है'—इस प्रकार का निश्चय करनेवाली 'विनिश्चयवीथि'—इस प्रकार की ये वीथियाँ भी होती हैं। वे (आचार्य) रूपालम्बन तदनुवर्तकवीथि में भी अर्थग्रहण एवं नामग्रहणवीथियों के बीच में इन वीथियों का होना स्वीकार करना चाहते हैं। किन्तु इतने सूक्ष्मरूप से प्रत्येक व्यक्ति में इनका होना सम्भव नहीं है, कुछ ज्ञानी पुद्गलों में ही ये कभी कभी हो सकती हैं।

कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि

१५. प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का प्रथम चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त द्वारा ज्ञान होता है। अतीत रूपालम्बन का द्वितीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है। कायविज्ञप्ति का तृतीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है तथा अभिप्राय का चतुर्थ मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है।

उपर्युक्त गाथा में रूपालम्बनसमूह का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहणवीथि एवं अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथि नहीं आती; तथापि हाथ को ऊपर-नीचे हिलाते समय ऊपरवाले रूपालम्बन के दर्शनमात्र से विज्ञप्ति एवं अभिप्राय का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ऊपरवाले रूपालम्बन, उससे ईषद् (कुछ) निम्न रूपालम्बन एवं उससे भी ईषद् निम्न रूपालम्बन—इस प्रकार के रूपालम्बनों का चक्षुर्द्वारिक एवं अतीतग्रहणवीथियों द्वारा पुनः पुनः ग्रहण किया जाने के बाद समूहग्रहणवीथि द्वारा रूपालम्बन-समूह का भी ग्रहण हो सकेगा। इस समूहग्रहणवीथि के अनन्तर 'हाथ हिलना' क्रियानामक अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ भी होंगी। तदनन्तर विज्ञप्ति एवं अभिप्राय को जाननेवाली मनोद्वारवीथियाँ भी हो सकेंगी।

---

१. प० भा० टी०।

दो अक्षर, तीन अक्षर या इससे अधिक अक्षरोंवाले शब्दालम्बन का आलम्बन करने में 'समूहग्रहणवीथि' हो सकती है। जैसे किसी के द्वारा 'बुद्ध' शब्द का उच्चारण करते समय 'बुद्' इस अंश के उच्चारण-क्षण में प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली श्रोत्रद्वारिक वीथि, निरुद्ध अतीतशब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली अतीत-ग्रहणवीथि – इस प्रकार यह वीथियुगल अनेक बार होता है। इसके बाद 'ध' इस अंश के उच्चारणक्षण में भी उपर्युक्त वीथियुगल अनेक बार प्रवृत्त होते हैं। तदनन्तर निरुद्ध हुए 'बुद्' 'ध' – इन दोनों अंशों के संयुक्तरूप का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहण-वीथियाँ होती हैं। इसी प्रकार तीन अक्षरोंवाले 'सव्वञ्ञू' शब्द में भी एक एक अक्षर के ग्रहण के लिये श्रोत्रद्वारिक एवं अतीतग्रहण वीथियों के अनेक युगल प्रवृत्त होने के अनन्तर पुनः तीनों अक्षरों को मिलाकर संयुक्तरूप से आलम्बन करनेवाली समूह-ग्रहणवीथियाँ होती हैं। अनेक अक्षरोंवाले अन्य शब्दों के ग्रहण में भी इसी तरह विचार करना चाहिये। इन समूहग्रहणवीथियों के होने के अनन्तर 'बुद्ध' नामक नाम-प्रज्ञप्ति या 'सव्वञ्ञू' नामक नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथियाँ होती हैं। तदनन्तर 'बुद्ध' एवं 'सव्वञ्ञू' शब्दों की अर्थ (वाच्यद्रव्य)-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ होती हैं।

नामग्रहणवीथि होने के अनन्तर 'गो यह नाम इस गोद्रव्य का वाचक है' – इस प्रकार का पूर्वसङ्केत रहने पर ही गोद्रव्य को जाननेवाली अर्थग्रहणवीथि हो सकती है। क्योंकि अज्ञात भाषा के किसी शब्द का अनेक वार उच्चारण करने पर भी श्रोता को जब उसके अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता है तो ऐसी स्थिति में उसमें अर्थग्रहणवीथि कैसे हो सकती है! इसीलिये कहा गया है –

"सोतालम्बनमापन्नो सङ्केतेन ववत्थितो।
अत्थस्स ञापको सद्दो नासन्ते कारणद्वये[1]॥"

अर्थात् श्रोत्रद्वारवीथि के आलम्बनत्व को प्राप्त हो जाने पर भी शब्द 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' – इस प्रकार का पूर्वसङ्केत होने पर ही अर्थ का ज्ञापक होता है। उपर्युक्त कारणद्वय (शब्दश्रवण एवं सङ्केतग्रहण) न होने पर शब्द अर्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता। तथा किसी विदेशी भाषा के शब्द का श्रवण करने पर उस विदेशी शब्द का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि हो जाने पर भी अपनी मातृभाषा के नाम का आलम्बन करनेवाली एक अन्य प्रकार की नामग्रहणवीथि भी होती है। इस प्रकार विदेशी भाषा के शब्द का श्रवण करते समय एक अधिक नामग्रहणवीथि का होना जानना चाहिये।

आचार्यों का मत है कि नामग्रहण एवं अर्थग्रहण वीथियों के बीच में 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' – इस प्रकार पूर्वज्ञात सङ्केतप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली 'सङ्केतग्रहणवीथि', उस सङ्केत के साथ इस शब्द का सम्बन्ध जाननेवाली 'सम्बन्धग्रहण-

---

१. स० भे० चि०, का० ११, पृ० २।

अर्पणाजवनवार

मनोद्वारवीथि

ध्यानवीथि

१७. अर्पणाजवनवारवीथि भी ध्यानवीथि, मार्गवीथि, फलसमापत्तिवीथि, अभिज्ञावीथि एवं निरोधसमापत्तिवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। इनमें से ध्यानवीथि भी आदिकर्मिकवीथि एवं समापत्तिवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमें से आदिकर्मिकवीथि की उत्पत्ति –

पृथ्वीकसिण-आदि कम्मट्ठान की वार-वार भावना करने से ध्यान-प्राप्ति का आसन्नकाल होने पर पृथ्वीकसिण-प्रज्ञप्ति-आदि सम्वद्ध आलम्वनों में से किसी एक आलम्वन का मनोद्वार में प्रादुर्भाव होने पर भवङ्ग-चलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गलमें 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू' – इस प्रकार ४ वार उपचारसमाधिजवन, तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल में 'उपचार, अनुलोम, गोत्रभू' - इस प्रकार ३ वार उपचारसमाधिजवन, तदनन्तर अर्पणासमाधिजवन नामक ध्यान १ वार होता है। इसके वाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके वितर्क-आदि ध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ यथायोग्य होती हैं।

अर्पणाजवनवार

मनोद्वारवीथि

ध्यानवीथि

१७. इस अर्पणाजवनवीथि से सम्वद्ध जानने योग्य वातें नवम परिच्छेद में आनेवाली हैं, अतः यहाँ हम वीथिक्रम में अपेक्षित अभिप्रायमात्र को कहेंगे।

['समापज्जन' (समापादन=ध्यान प्राप्त करने की क्रिया) को 'समापत्ति' कहते हैं। आदिकर्मिक, समापज्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ एवं तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ के शब्दार्थ चतुर्थपरिच्छेद के अर्पणाजवनवार एवं जवननियम में कहे जा चुके हैं[1]।]

मन्दप्रज्ञ की आदिकर्मिकवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो झ' भ

... ...

तीक्ष्णप्रज्ञ की समापत्तिवीथि

भ 'न द म उ नु गो झ झ झ' भ

... ...

१. द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, पृ० ३५८, ३८१, ३८८।

वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि

१६. श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करते समय –

"सद्दं पठमचित्तेन तीतं दुतियचेतसा ।
ततियेन तु विञ्ञत्ति भावं चतुत्थचेतसा'।।"

इस गाथा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा 'आओ' इस प्रकार का शब्द करके पुकारने पर 'आओ' इस प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का, फिर अतीत शब्दालम्बन का आलम्बन करके श्रोत्रद्वारिकवीथि एवं अतीतग्रहणवीथि, आगमनाभिलाष-आकार को जाननेवाली वाग्विज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि तथा आगमन-अभिप्राय को जाननेवाली अभिप्राय-ग्रहणवीथियाँ होती हैं ।

वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि

१६. श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करने में भी यदि शब्द एक अक्षरवाला होता है तो समूहग्रहणवीथि आवश्यक नहीं होती । यदि अक्षर अनेक होते हैं तो अनेक समूह-ग्रहणवीथियाँ होती हैं । तदनन्तर 'आओ' इस नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नाम-ग्रहणवीथि, 'आना' क्रिया नामक अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ भी होंगी ही । इसके बाद विज्ञप्तिग्रहणवीथि एवं अभिप्रायग्रहणवीथियाँ भी होती हैं ।

आचार्यों का कथन है कि हाथ हिलाने पर पूर्वज्ञात सङ्केतप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली सङ्केतग्रहणवीथि, पूर्वसङ्केत का हिलाने के साथ सम्बन्ध करके जाननेवाली सम्बन्धग्रहणवीथि 'मुझे बुलाता है' – इस प्रकार का निश्चय करनेवाली निश्चयग्रहण-वीथियाँ भी समूहग्रहण, नामग्रहण, एवं अर्थग्रहण वीथियों के अनन्तर होती हैं । 'ये सभी वीथियों में, सभी पुद्गलों में हो सकती हैं कि नहीं' – इस पर विचार करना चाहिये ।

चित्तस्वरूप – ये कामजवन प्रकृतिकाल (स्वाभाविक काल) में आलम्बन यदि दुर्बल होते हैं तो ६ वार प्रवृत्त होते हैं । मज्झिमभाणकत्थेर के अनुसार १ वार तदालम्बन भी हो सकता है । इस प्रकार अनेक मत होने से इन वीथिचित्तों का स्वरूप पूर्णरूप से दिखलाया नहीं जा सकता । 'कौन कौन वीथिचित्त होते हैं ?' – ये विषय कुछ ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान के ही विषय हैं ।

कामजवनवार मनोद्वारवीथि समाप्त ।

---

१. ब० भा० टी० ।

में ३ – ३ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः तृतीयध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षण-वीथियाँ कुल ८×३=२४ होती हैं। चतुर्थध्यान की ८ वीथियों में प्रत्येक में २ – २ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः चतुर्थध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ८×२=१६ होती हैं। तथा पञ्चमध्यान की ४० वीथियों में प्रत्येक में २ ध्यानाङ्ग होते हैं; अतः पञ्चमध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ४०×२=८० होती हैं। इस प्रकार प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल १९२ हैं।

चित्तस्वरूप, आलम्बन एवं वस्तु

आदिकर्मिक प्रथमध्यानवीथि में सम्मिलित होनेवाले चित्त ये हैं; यथा – मनोद्वारावर्जन १, त्रिहेतुक कामावचर कुशल एवं क्रिया सौमनस्यजवन ४ (सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एवं महाक्रिया) प्रथमध्यान कुशल एवं क्रिया चित्त २=७ प्रकार के चित्त होते हैं। इन चित्तों में से ज्ञानसम्प्रयुक्त कुशल एवं क्रिया-चित्त परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू कृत्य करनेवाले चित्त हैं। इन परिकर्म-आदि जवनों के सौमनस्यसहगत होने से प्रथमध्यानचित्त भी सौमनस्यसहगत ही होते हैं। जैसे कहा गया है – 'सोमनस्ससहगतजवनानन्तरं अप्पना पि सोमनस्ससहगता व पाटिकङ्खि-तब्बा[1]।' पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों की सन्तान में कुशलप्रथमध्यान तथा अर्हत् की सन्तान में क्रियाप्रथमध्यान होता है। इस प्रकार कुशल एवं क्रिया द्वारा विभाजन करके जानना चाहिये।

भवङ्ग से अवशिष्ट मनोद्वारावर्जन से लेकर ध्यानपर्यन्त वीथिचित्त उपेक्षा-ब्रह्मविहार की आलम्बनभूत सत्त्वप्रज्ञप्ति का वर्जन करके शेष रूपावचरध्यान की आलम्बन-भूत २५ प्रज्ञप्तियों में से किसी एक का आलम्बन करते हैं। (उपेक्षाब्रह्मविहार के परिवर्जन एवं २५ प्रज्ञप्तियों के स्वरूप के ज्ञान के लिये नवम परिच्छेद देखें।)

इन वीथियों का आश्रय हृदयवस्तु ही होता है।

भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग

इन आदिकर्मिकवीथियों में भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद है। पूर्वाचार्यों के मतानुसार प्रथमध्यान आदिकर्मिकवीथि, ७ कामसुगतिभूमियों में ही होती है। पुद्गल के रूप में यह वीथि ४ फलस्थ पुद्गल एवं १ ध्यानलाभी त्रिहेतुक पुद्गल = ५ प्रकार के पुद्गलों में ही होती है। यह वीथि चूंकि कामसुगतिभूमियों में ही होती है, अतः पूर्व एवं अपर भवङ्ग ४ कामत्रिहेतुक भवङ्गों में से ही कोई एक होता है।

ऊपर ऊपर की आदिकर्मिकवीथियाँ – द्वितीयध्यान-आदि आदिकर्मिकवीथियों में प्रथमध्यान के भवङ्गों एवं भूमियों के अतिरिक्त कुछ और जोड़ना पड़ेगा। जैसे – द्वितीयध्यान आदिकर्मिकवीथि ७ काम-सुगतिभूमियों के अतिरिक्त प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि में भी होती है। तथा भवङ्गों में ४ कामत्रिहेतुक भवङ्गों के अतिरिक्त प्रथमध्यान विपाकचित्त भी होता है। तृतीयध्यान-वीथि में पूर्वोक्त भूमि एवं

---

१. प० – अभि० स० ४ : २४, पृ० ३५० ।

समापत्तिवीथि की उत्पत्ति –

अपने द्वारा प्राप्त किसी एक ध्यान की समापत्ति अभीष्ट होने पर पृथ्वीकसिण-प्रज्ञप्ति-आदि सम्बद्ध आलम्बनों में से किसी एक का मनोद्वार में प्रादुर्भाव होने पर भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, तदनन्तर ध्यान २-३ वार से लेकर यथायोग्य अनेक वार होते हैं। ध्यान से उठने के वाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं।

प्रत्यवेक्षणवीथि – पहले पहल ध्यान प्राप्त होने के वाद, अथवा समापत्ति होने के वाद उस ध्यान में आनेवाले ध्यानाङ्गसमूह का एक एक करके पुनः समावर्जन करनेवाली वीथि 'प्रत्यवेक्षणवीथि' कहलाती है। यह उपर्युक्त कामजवनवार शुद्ध मनोद्वारिकवीथि ही है। इस वीथि में कुछ लोग जवन का ५ वार होना कहते हैं। यमकप्रातिहार्यकाल-आदि में जवन ४ या ५ वार होते हैं, किन्तु प्रकृतिकाल में वे जवन ७ वार होते हैं[1]। यहाँ महग्गत ध्यानाङ्गों का आलम्बन किया जाने से तदालम्बनपात आवश्यक नहीं है।

ध्यानवीथि के प्रभेद – रूपावचरध्यान ५, अरूपावचरध्यान ४ – इस प्रकार ९ ध्यानों का कुशल एवं क्रिया से गुणन करने पर ९×२=१८ वीथियाँ होती हैं। इन १८ वीथियों का आदिकर्मिक एवं समापत्तिवीथि से गुणन करने पर १८×२=३६ वीथियाँ हो जाती हैं। इन ३६ वीथियों का तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल की वीथि एवं मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल की वीथि – इन २ वीथियों से गुणन करने पर कुल ३६× २=७२ वीथियाँ हो जाती हैं। यदि इनमें से केवल प्रथमध्यानवीथि की ही गणना की जाये तो प्रथमध्यान का कुशल एवं क्रिया से गुणन करने पर २ वीथियाँ होती हैं। इन २ वीथियों का आदिकर्मिक एवं समापत्तिवीथि से गुणन करने पर २×२=४ वीथि, इन ४ वीथियों का तीक्ष्णप्रज्ञ एवं मन्दप्रज्ञ की वीथि से गुणन करने पर कुल ४×२=८ वीथियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यानवीथियाँ भी ८ – ८ होती हैं। पञ्चमध्यानवीथि रूपावचर पञ्चमध्यानवीथि १ एवं अरूपावचर ध्यानवीथियाँ ४=५ प्रकार की होती हैं। इन पाँचों का क्रमशः कुशल, क्रिया-आदि से गुणन करने पर ये कुल ४० हो जाती हैं।

प्रत्यवेक्षणवीथियों के प्रभेद – एक एक ध्यानाङ्ग में एक एक प्रत्यवेक्षणवीथि होती है। प्रथमध्यान की उपर्युक्त ८ वीथियों में से एक एक वीथि में ५ – ५ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः ८ का ५ से गुणन करने पर प्रथमध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ४० होती हैं। द्वितीयध्यान की ८ वीथियों में प्रत्येक वीथि में ४ – ४ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः द्वितीयध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ८×४=३२ होती हैं। तृतीयध्यान की ८ वीथियों में प्रत्येक

---

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३६-३८ की व्याख्या, पृ० ३७५।

रूपावचरध्यानप्राप्त पुद्‌गल पृथग्जन होने पर भी सर्वदा ऊपर ही ऊपर चलता रहेगा, (कामभूमि के प्रति आसक्त निकन्तिका तृष्णा के कारण जबतक ध्यान से पतित नहीं होगा तबतक) आसानी से नीचे की भूमि में न आ सकेगा।

आधुनिक आचार्यों का मत – आधुनिक आचार्यों का मत है कि कामसुगतिभूमि में चाहे प्रथमध्यान हो चाहे द्वितीयध्यान, यदि प्राप्त होने के बाद च्युति हो जाती है तो वह प्राप्त कुशलध्यान अन्तर्हित हो जाता है। उस कुशलध्यान के बल से रूपावचर-भूमि में, सम्बद्ध ध्यानविपाकचित्त प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग कृत्य करते हुए उत्पन्न होता है। विपाकचित्त के भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होने से जिस समय ब्रह्मा किसी आलम्बन का आलम्बन नहीं करते रहते उस समय ध्यानविपाकचित्त के लिये वह ध्यान समावर्जन करने के काल की तरह होता है। इसलिये प्रथमध्यानभूमि में पहुँचने पर भी प्रथमध्यान की पुनः भावना करने से ही उस (प्रथमध्यान) की प्राप्ति हो सकती है। यदि पुनः भावना नहीं की जाती है तो प्रथमध्यान की समावर्जनवीथि भी नहीं हो सकेगी। यदि पुनः भावना करने से ही उस (ध्यान) की प्राप्ति होती है तो प्रथमध्यानभूमि में प्रथम-ध्यान-आदिकर्मिकवीथि भी अवश्य होगी। इसी प्रकार द्वितीयध्यान प्राप्त करके जब द्वितीयध्यानभूमि में पहुँचता है तब भी उसके सब कुशलध्यान अन्तर्हित हो जाते हैं। प्रथमध्यान से लेकर पुनः भावना करने से ही क्रमशः बढ़ते हुए उन ध्यानों की प्राप्ति होती है। उस भूमि में प्राप्त होनेवाले सभी ध्यान आदिकर्मिक ही होते हैं, इसलिये प्रथमध्यान आदिकर्मिकवीथि ७ कामसुगतिभूमि एवं १५ रूपभूमियों में हो सकती है। ऊपर ऊपर की रूपध्यान-आदिकर्मिकवीथियों में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। कहा भी गया है –

"अथ खो अञ्ञतरो सत्तो आयुक्खया वा पुञ्ञक्खया वा आभस्सरकाया चवित्वा सुञ्ञं ब्रह्मविमानं उप्पज्जति[1]।"

"अथ सत्तानं पकतिया वसितट्ठाने निकन्ति उप्पज्जति, ते पठमज्झानं भावेत्वा ततो ओतरन्ति[2]।"

उपर्युक्त पालि एवं अट्ठकथा में प्रलयकाल के बाद सृष्टि के आदिकाल में बिना ब्रह्माओंवाली प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि में नये ब्रह्माओं की उत्पत्ति कही गयी है। उपर्युक्त पालि में उल्लिखित 'पुञ्ञक्खय' शब्द द्वारा उसी आभास्वर द्वितीयध्यानभूमि में पुनः उत्पन्न होने के लिये आवश्यक द्वितीयध्यान की शक्ति का क्षीण हो जाना कहा गया है। इस प्रकार के कथन से उस द्वितीयध्यानभूमि में उस ब्रह्मा की सन्तान में द्वितीयध्यान का न होना (लोप) जाना जा सकता है। द्वितीयध्यानहीन वह ब्रह्मा प्रथमध्यानभूमि में उत्पन्न होने की अभिलाषा से पुनः प्रथमध्यान आरब्ध करता है। इसीलिये अट्ठकथा में 'पठमज्झानं भावेत्वा' – ऐसा कहा गया है। निष्कर्ष यह हुआ कि उस आभास्वरभूमि के ब्रह्माओं की सन्तान में भावना करने से पूर्व प्रथमध्यान भी नहीं

---

१. दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १७।

२. दी० नि० अ० (सीलक्खन्धट्ठकथा), पृ० १०२।

भवङ्गों में द्वितीयध्यानभूमि और द्वितीयध्यानविपाकचित्त को भी जोड़ना चाहिये। चतुर्थध्यान से तृतीयध्यान ब्रह्मभूमि में ही होने के कारण चतुर्थध्यानवीथि ७ कामसुगतिभूमि, प्रथमध्यानभूमि एवं द्वितीयध्यानभूमि में ही होने से कोई अधिक भूमि नहीं होती। यदि द्वितीयध्यानभूमि में तृतीयध्यानविपाक से प्रतिसन्धि लेनेवाला होता है तो पञ्चमध्यानवीथि में तृतीयध्यानभूमि एवं चतुर्थध्यानविपाक भवङ्ग-चित्त अधिक होंगे। आकाशानन्त्यायतनवीथि कामसुगतिभूमि एवं असंज्ञिवर्जित १५ रूपावचरभूमियों में होती है। विज्ञानानन्त्यायतनवीथि में उन (पूर्वोक्त) भूमियों के अतिरिक्त प्रथम अरूपभूमि भी होती है। आकिञ्चन्यायतनवीथि में द्वितीय-अरूपभूमि एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतनवीथि में तृतीय अरूपभूमि अधिक होती है। इसी प्रकार जितनी अधिक भूमियाँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार उतने ही अधिक भवङ्ग भी जानने चाहियें – यह पूर्वाचार्यों का अभिमत है।

स्पष्टीकरण – पूर्वाचार्यों का मत है कि चाहे मनुष्य हो या देवता, यदि उसने कामसुगतिभूमि में रहते समय ही ध्यान की भावना करके प्रथमध्यान की प्राप्ति कर ली है तो वह प्रथमध्यान-आदिकर्मिकवीथि कामसुगतिभूमि में ही होती है। उससे च्युत होकर जब वह प्रथमध्यानभूमि में पहुँचता है तो कामसुगतिभूमि में प्राप्त वह प्रथमध्यान-कुशल उस (ब्रह्मा) की सन्तान में विद्यमान ही रहता है। अतः उस प्रथमध्यानभूमि में प्रथमध्यान-आदिकर्मिकवीथि का होना फिर आवश्यक नहीं है। ध्यान का समावर्जन करते समय समापत्तिवीथि ही होती है। इसी प्रकार द्वितीयध्यान-आदिकर्मिकवीथि भी द्वितीयध्यानभूमि में नहीं होती; अपितु कामसुगतिभूमि एवं प्रथमध्यानभूमि में ही होती है। इसी प्रकार ऊपर ऊपर की भूमियों से सम्बद्ध आदिकर्मिक ध्यानवीथियाँ भी नीचे की भूमियों में ही होंगी – यही उनके विचारों का निष्कर्ष है।

समीक्षा – उपर्युक्त पूर्वाचार्यों के मतानुसार यदि 'प्राप्त ध्यान भवपरिवर्तन होने पर भी अन्तर्हित नहीं हो सकते' – ऐसा कहा जाता है तो फिर आसानी से ब्रह्मभूमि से कामभूमि में प्रत्यावर्तन नहीं हो सकेगा; अपितु ब्रह्मभूमियों में ही परिवर्तन होता रहेगा। तथा ऊपर ऊपर की ध्यानभूमियों में पहुँचा हुआ पृथग्जन आसानी से नीचे की ब्रह्मभूमियों में पुनः नहीं आ सकेगा। अर्थात् पूर्वाचार्यों के मतानुसार कामभूमि में प्रथमध्यान प्राप्त होने पर च्युति के अनन्तर प्रथमध्यानभूमि में पहुँचने पर भी उसे प्रथमध्यान की ही प्राप्ति होती रहेगी और इस तरह प्राप्त होते रहने से वह पुनः पुनः उसी का समावर्जन करता रहेगा। उस प्रथमध्यान की आयु पूर्ण हो जाने पर जब च्युति होगी तब भी समावर्जित प्रथमध्यान से प्रथमध्यानभूमि में ही पुनः होगा। उसका कामभूमि में फिर लौटना कदाचित् सम्भव नहीं हो सकेगा। यदि द्वितीयध्यान की प्राप्ति हो जाती हैं तो द्वितीयध्यानभूमि में पहुँच जायेगा। उस द्वितीयध्यानभूमि में भी द्वितीयध्यान के अन्तर्हित न होने से यदि ऊपर के ध्यान को विना प्राप्त किये ही च्युति हो जाती है तो च्युति के अनन्तर पुनः द्वितीयध्यानभूमि ही प्राप्त होगी। जब प्रथमध्यानभूमि में ही लौटना सम्भव न हो सकेगा तो ऐसी स्थिति में कामभूमि की तो बात ही दूर है! इस प्रकार

मन्दप्रज्ञ की फलसमापत्तिवीथि

भ 'न द म नु नु नु नु फ (अनेक वार)' भ

तीक्ष्णप्रज्ञ की वीथि में अनुलोम ३ वार होते हैं – इसे जानना चाहिये।

फल-समापत्तिवीथि के प्रभेद – फलसमापत्तिवीथि भी मार्गवीथि की तरह १२० होती हैं। ये सभी वीथियाँ कामसुगतिभूमि, रूप एवं अरूप भूमियों में होती हैं; किन्तु शुद्धावासभूमि में स्रोतापत्तिफल एवं सकृदागामिफल वीथियाँ नहीं हो सकतीं – यह ध्यान में रखना चाहिये। पूर्व एवं अपर भवङ्ग भी त्रिहेतुक १३ भवङ्गों में से ही कोई एक होता है। नीचे की तीन फलवीथियों में अनुलोमजवन ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एवं अर्हत्-फलवीथि में ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रिया होते हैं। तथा यदि-पञ्चमध्यान होता है तो उपेक्षासम्प्रयुक्त और यदि नीचे के ध्यान होते हैं तो सौमनस्यसम्प्रयुक्त होते हैं। अपने अपने फल का ही समावर्जन करने से स्रोतापत्तिफलसमापत्तिवीथि में स्रोतापत्तिफल तथा सकृदागामि-अनागामि-अर्हत्-फलसमापत्तिवीथियों में क्रमशः सकृदागामिफल, अनागामिफल, एवं अर्हत्-फल होते हैं।

अनुलोम नाम – फलजवनों के पूर्ववर्ती उपचारसमाधि-जवनों का 'अनुलोम' यह नामकरण किया गया है। "अरहतो अनुलोमं फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो; सेक्खानं अनुलोमं फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो"[1] – इस प्रकार 'पट्ठानपालि' में भी 'अनुलोम' यह नामकरण उपलब्ध होता है; किन्तु 'विसुद्धिमग्ग' में सबसे अन्तिम जवन का गोत्रभू यह नाम भी उपलब्ध होता है[2]।

अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नहीं करते – जिस प्रकार मार्ग का पूर्ववर्ती गोत्रभू निर्वाण का आलम्बन करता है, उस प्रकार फलजवनों के पूर्ववर्ती अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नहीं करते; अपितु संस्कार-धर्मों का ही आलम्बन करते हैं[1]। मार्ग-धर्म अपने निश्रयभूत सत्त्वों का 'वट्टदुक्ख" (संसार दुःख) नामक संस्कारक्षेत्र से निःसरणकृत्य करते हैं। अतः उनके पूर्वगामी गोत्रभू धर्म भी 'वट्टदुक्ख' नामक संस्कार धर्मों का आलम्बन न करके उनसे मुक्त निर्वाण का आलम्बन करते हैं; और इसीलिये वे (गोत्रभू) धर्म भी मार्गकृत्य के अनुकूल होते हैं। फल-धर्म 'वट्टदुक्ख' नामक संस्कारक्षेत्र से निःसरणकृत्य करनेवाले धर्म नहीं हैं; अपितु वे दृष्टधर्मसुखविहारमात्र होते हैं, अतः फल-धर्मों के पूर्वगामी अनुलोमधर्मों के लिये भी संस्कार-धर्मों से निःसरणकृत्य करना आवश्यक नहीं होता। इसलिये फलसमापत्तिवीथि में फल के पूर्वगामी ये अनुलोम धर्म,

फलसमापत्तिवीथि

१९. फलसमापत्तिवीथि में भी मार्गवीथि की ही तरह स्रोतापत्तिफलवीथि-आदि भेद होते हैं। इनमें से प्रथमध्यान स्रोतापत्तिफलवीथि की उत्पत्ति –

स्रोतापत्तिफलप्राप्त स्रोतापन्न पुद्गल निर्वाण का आलम्बन करके दृष्टधर्मसुखविहार करना चाहता है तो (इसी भव में फलसमापत्तिसुख से विहार करना चाहता है तो) त्रैभूमिक संस्कारों के अनित्य-आदि आकार (लक्षण) अत्यन्त विभूततया अवभासित होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल में अनुलोम ४ वार, तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल में अनुलोम ३ वार, तदनन्तर यथेष्ट फल होते हैं। फल-समापत्ति से उठते समय यथायोग्य भवङ्ग होते हैं।

क्रिया जवन होते हैं। इन प्रत्यवेक्षण जवनों का अतिशीघ्र जवित होना आवश्यक न होने के कारण ये ७ वार जवित होते हैं।

[अर्हत् की सन्तान में क्रियाजवन एवं शैक्ष्य की सन्तान में कुशलजवन जवित होते हैं। शेष ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान नवम परिच्छेद की 'मग्गं फलञ्च निब्बानं' इस गाथा की व्याख्या देखकर जानना चाहिये।]

आलम्बन की दृष्टि से – मार्ग का समावर्जन करनेवाली वीथि मार्ग का आलम्बन करती है। अवशिष्ट क्लेशों का समावर्जन करनेवाली वीथि अवशिष्ट क्लेशों का आल-म्बन करती है – ऐसा जानना चाहिये।

पुद्गल की दृष्टि से – फलजवन होने के बाद अर्थात् फलस्थ पुद्गल होकर समावर्जन करने के कारण ४ फलस्थ पुद्गलों में स्वसम्बद्ध प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं।

भूमि की दृष्टि से – स्वसम्बद्ध मार्गवीथि जिस भूमि में होती है, उसी भूमि में प्रत्यवेक्षणवीथि भी होती है – **ऐसा** जानना चाहिये।

मार्गवीथि समाप्त।

फलसमापत्तिवीथि

१९. ऐश्वर्यशाली राजा, देवराज एवं ब्रह्मा-आदि जिस प्रकार अपनी सुख-सम्पत्ति का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार निर्वाण नामक सुख-सम्पत्ति के स्वामी आर्यपुद्गल भी अपने निर्वाणसुख का प्रत्यक्ष भव में अनुभव करके उपभोग करते हैं। इस प्रकार विहार करने में निर्वाण का आलम्बन करनेवाले फलसमूहों को अनेक वार उत्पन्न करना 'फल-समापत्ति' कहलाती है।

---

१. द्र० – अभि० स० ९ : ६२।

पादकध्यानवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो ध्या ध्या ध्या' भ

'इस पादकध्यानवीथि में कितने ध्यान होने चाहिये' – इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। समापत्तिवीथियों के सदृश होने से यथेष्ट ध्यान हो सकते हैं। कुछ विशेष समय में अनेक बार ध्यान नहीं होंगे। तदनन्तर ध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ स्वभावतः होंगी ही।

पादकध्यान का लाभ – पादकध्यान का समावर्जन करने से क्या लाभ होता है ?

इस पादकध्यान का समावर्जन करके समाधिप्राप्त पुद्गल बाद में 'सतं होमि, सहस्सं होमि' आदि द्वारा जब परिकर्म करता है तब स्वसम्बद्ध आलम्बन में परिकर्मचित्त को अच्छी तरह नियन्त्रित कर सकता है; इसलिये पादकध्यान का समावर्जन करना, समाधि का प्रापक होने से परिकर्मचित्त के समाधान के लिये होता है।

अभिञ्ञावीथि

२०. अभिञ्ञावीथि भी इद्धिविध (ऋद्धिविध), दिब्बसोत, परचित्त-विजानन, पुब्बेनिवासानुस्सति, दिब्बचक्खु, यथाकम्मूपग एवं अनागतंस अभिञ्ञा-वीथि – इस तरह ७ प्रकार की होती है। इनमें से इद्धिविध अभिञ्ञा-वीथि भी अधिट्ठानिद्धि, विकुब्बनिद्धि एवं मनोमयिद्धि – इस प्रकार त्रिविध होती है। इनमें से अधिट्ठानिद्धि अभिञ्ञावीथि की उत्पत्ति –

प्रायः आठ समापत्तियों से सम्पन्न पुद्गल जब अनेक प्रकार की ऋद्धियों का निर्माण करना चाहता है तो उसमें किसी एक कसिण का आलम्बन करके रूपावचर-पञ्चमध्यान का समावर्जन करनेवाली समापत्तिवीथि होती है। यह अभिञ्ञा की पादकध्यानवीथि है।

मार्ग के पूर्वगामी गोत्रभू एवं वोदान (व्यवदान) की भांति निर्वाण का आलम्बन करनेवाले न होकर संस्कार-धर्मो का आलम्बन करते हैं[1]।

मार्गवीथियाँ – मार्गवीथि के फलजवन फलसमापत्ति नहीं हैं। मार्गवीथि में आने-वाले २-३ वार फलजवनों के लिये पृथक् परिकर्म नहीं किया जाता; अपितु मार्ग के वेग से ही वे अपने आप होनेवाले फलमात्र होते हैं, अतः उन्हें 'फलसमापत्ति' नहीं कहा जा सकता। मार्ग से असम्बद्ध पृथक् फलजवन होने के लिये, संस्कार-धर्मों की अनित्य-अनात्म-दुःख – इस प्रकार भावना के रूप में पृथक् परिकर्म किया जाता है, अतः मार्ग से असम्बद्ध फलजवनों को ही 'फलसमापत्ति' कहा जाता है।

फलसमापत्ति से उठना – फलसमापत्ति का समावर्जन करने से पूर्व 'मैं इतने कालपर्यन्त समावर्जन करूँगा' – इस प्रकार कालपरिच्छेदपूर्वक अधिष्ठान करके ही समावर्जन किया जाता है। इसलिये अपने अधिष्ठान का काल पूर्ण हो जाने पर फलजवनसन्तति रुककर भवङ्ग-चित्त उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भवङ्गचित्तों के उत्पाद को ही 'फलसमापत्ति से उठना' कहते हैं।

फलसमापत्तिवीथि समाप्त।

अभिञ्ञावीथि

२०. रूपावचर कुशल एवं क्रिया पञ्चमध्यान में सम्प्रयुक्त अभि अर्थात् विशेषरूप से जाननेवाले ज्ञान को 'अभिञ्ञा' कहते हैं। उस ज्ञान से सम्प्रयुक्त पञ्चमध्यान को भी 'अभिञ्ञा' कहते हैं।

इस अभिञ्ञा को प्राप्त करने के इच्छुक पुद्गल को प्रायः आठ समापत्तियों (चतुष्क नय के अनुसार चार रूपावचरध्यान एवं चार अरूपावचरध्यान को आठ समापत्ति

---

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० १८८ – १८९; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४८० ।

इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। परचित्तविजानन में 'एतस्स चित्तं जानामि' में इसके चित्त को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। पुब्बेनिवासानुस्सति में 'पुब्बे निवुत्तं जानामि' में पूर्वभव में निवास किये गये अपने एवं दूसरों के स्कन्ध, उन स्कन्धों से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति, परिनिर्वाणप्राप्त बुद्ध-आदि के निर्वाण को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार यथेच्छ परिकर्म करना चाहिये।

दिव्यचक्षुष् में जब पादकध्यान का समावर्जन किया जाता है तब सभी कसिण अनुरूप नहीं होते। केवल आलोक उत्पन्न होने के लिये तेजस्, अवदात, एवं आलोक – इन तीन कसिणों में से ही किसी एक का आलम्बन करके समावर्जन कर 'एतस्स रूपं पस्सामि' में इसका रूप देखना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। यथाकम्मूपग में 'अतीतं कम्मं जानामि' में अतीत कर्म को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। अनागतंस में 'अनागतं अंसं जानामि' में उनके अनागत अंश को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये।

पुब्बेनिवासानुस्सति में 'पुब्बे निवुतं खन्धं जानामि' – इस प्रकार पूर्वाचार्य परिकर्म करते हैं; किन्तु यहाँ केवल स्कन्ध ही नहीं, अपितु स्कन्ध से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण का भी यथाभिलपित परिकर्म किया जा सकने के कारण स्कन्ध शब्द आवश्यक नहीं है। इसी तरह अनागतंस में भी स्कन्ध शब्द आवश्यक नहीं है, अतः 'अनागतं अंसं जानामि' – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये।

ये ७ लौकिक अभिज्ञायें हैं। इनमें से अनागतंस एवं यथाकम्मूपग को दिव्यचक्षुष् की मूलभूत होने से अर्थात् दिव्यचक्षुष् की परिवारभूत होने से दिव्यचक्षुष् में ही सम्मिलित करके 'पञ्च अभिज्ञा' भी कहा जाता है। कहीं कहीं ६ अभिज्ञाओं का उल्लेख भी आता है। वहाँ उपर्युक्त ५ अभिज्ञाओं में १ आस्रवक्षय (अर्हत्-मार्ग) अभिज्ञा को जोड़कर जानना चाहिये।

अभिज्ञा के आलम्बन – भगवान् बुद्ध द्वारा 'धम्मसङ्गणि' पालि में परीत्तालम्बनतिक-आदि ४ आलम्बनतिकों का उपदेश किया जाने से उन अभिज्ञा के आलम्बनों को उन ४ आलम्बनतिकों में यथायोग्य सम्मिलित करना चाहिये।

"आरम्मणतिका वुत्ता ये चत्तारो महेसिना।
सत्तन्नमभिञ्ञाणानं पवत्ति तेसु दीपये[1]॥"

१. इद्धिविध – ब्रह्मभूमि में जाने की इच्छा होने पर यदि स्कन्ध (शरीर) को चित्त की तरह अत्यन्त शीघ्रगामी करना अभीष्ट होता है तो 'यह शरीर चित्त की तरह शीघ्रगामी हो' – ऐसा अधिष्ठान किया जाता है। वह अधिष्ठानचित्त (परीत्तालम्बनतिक के अनुसार) कामधर्म स्कन्ध (रूप) का आलम्बन करता है। वह स्कन्ध प्रत्युत्पन्न होने से (अतीतालम्बनतिक के अनुसार) प्रत्युत्पन्न धर्म का आलम्बन करता है। वह स्कन्ध आध्यात्मिक (अज्झत्तिक) धर्म होने से (अज्झत्तारम्मणतिक के अनुसार) आध्यात्मिक धर्म का आलम्बन करता है। पादकध्यान का आलम्बन करके 'यह चित्त काय के अनुसार

१. विसु०, पृ० २९९।

परिकर्मवीथि

भ 'न द म ज ज ज ज ज ज ज' भ

यहाँ परिकर्म करने में 'सतं होमि, सहस्सं होमि' – आदि, मन्त्रपाठ की तरह नहीं किये जाते; अपितु 'एक सौ होऊँ, एक हजार होऊँ, अमुक रूप से होऊँ' – इस प्रकार अपने अभीष्ट रूप का चित्त द्वारा आलम्बन करके अधिष्ठान करना मात्र होता है। इसलिये इस वीथि को 'अधिष्ठानवीथि' भी कहते हैं। यह कामजवन मनोद्वारवीथि ही है। यह एक वीथिमात्र नहीं है; अपितु अनेक वीथियाँ हो सकती हैं। उसके बाद अभिज्ञा के पादकरूप में पञ्चम ध्यान का पुनः समावर्जन होता है।

पुनः पादकध्यानवीथि का लाभ – इस पादकध्यान का पुनः समावर्जन करने से क्या लाभ होता है ?

पुनः समावर्जन करना अभिज्ञा को बल प्रदान करनेवाला होता है। अर्थात् बलवती अभिज्ञा होने के लिये पादकध्यान का पुनः समावर्जन किया जाता है।

स्वभाव से अभिज्ञा में वशीभाव को प्राप्त (अभ्यस्त) पुद्गल यदि पादकध्यान का पुनः समावर्जन न करे, फिर भी अभिज्ञा उत्पन्न हो सकती है – यह भी जानना चाहिये। अतः 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के साथ ही कुछ अट्ठकथाओं में पुनः पादकध्यानवीथि का उल्लेख नहीं है।

अभिज्ञावीथि

भ 'न द म रि उ नु गो भि' भ

इस अभिज्ञावीथि के उत्पाद से पहले पादकध्यानवीथि एवं परिकर्मवीथियाँ पुनः पुनः उत्पन्न होती हैं। अरूपभूमि में रूपावचर पञ्चमध्यान का समावर्जन न हो सकने के कारण वहाँ ये वीथियाँ नहीं हो सकतीं। अतः ७ कामसुगतिभूमि एवं १५ रूपभूमि में ही ये वीथियाँ होती हैं। इसलिये पूर्व-अपर भवङ्ग भी कामत्रिहेतुक भवङ्ग ४ एवं रूपावचर भवङ्ग ५ = ९ ही होते हैं। त्रिहेतुक पृथग्जन १ एवं फलस्थ पुद्गल ४ = ५ पुद्गलों में ही ये वीथियाँ होती हैं। अर्हत्-पुद्गल की सन्तान में क्रिया-अभिज्ञा तथा पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान में कुशल अभिज्ञा होती है। अभिज्ञा से पूर्ववर्ती जवन महाकुशल एवं क्रिया उपेक्षासम्प्रयुक्त ही होते हैं; क्योंकि यह ध्यान पञ्चमध्यान होता है। यदि तीक्ष्ण पुद्गल होता है तो परिकर्मजवन ३ बार ही होते हैं।

(इद्धिविध के प्रभेद तथा दिव्यश्रोत्र-आदि अभिज्ञाओं की उत्पत्ति का क्रम एवं स्वभाव-आदि नवम परिच्छेद के 'अभिज्ञा-प्रकरण' की व्याख्या में देखें।)

दिव्यश्रोत्र-आदि अभिज्ञाओं में परिकर्म के अतिरिक्त शेष क्रम दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा की तरह ही होता है। दिव्यश्रोत्र में 'एतस्स सद्दं सुणामि' में इसका शब्द सुनना चाहता हूँ –

किन्तु उन आचार्यों के मत के सदृश मत का 'विसुद्धिमग्ग' में खण्डन किया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' का कहना है कि इस भव के स्वसम्बद्ध अतीत हुए सभी आलम्बनों का सामान्य परिकर्मसमाधि से सम्प्रयुक्त ज्ञान द्वारा (परिकर्म करनेवाली मनोद्वारवीथि द्वारा) भी आलम्बन किया जा सकता है। 'अतीतांश ज्ञान द्वारा आलम्बन किया जाता है' – इस प्रकार कुछ लोगों द्वारा कहा जाने में 'अतीतांशज्ञान' यह शब्द यदि रूपावचर पुब्बेनिवास-अभिज्ञा की अपेक्षा से कहा जाता है तो उचित नहीं है; किन्तु यदि अतीत का आलम्बन करनेवाले सामान्य परिकर्म समाधि से सम्प्रयुक्त कामावचर ज्ञान की अपेक्षा करके कहा जाता है तो युक्तियुक्त होता है।

"तत्थ पच्छिमनिसज्जतो पभुति याव पटिसन्धितो आरम्मणं कत्वा पवत्तं ञाणं पुब्बेनिवासञाणं नाम न होति, तं पन परिकम्मसमाधिञाणं नाम होति। अतीतंसञाणं पि एके वदन्ति तं रूपावचरं सन्धाय न युज्जति[1]।"

'परमत्थदीपनी' में कहा गया है कि पुब्बेनिवास-अभिज्ञा इस भव में अतीत हुए दूसरों के चित्त-चैतसिकों एवं उनके साथ नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्तियों तथा निर्वाण का आलम्बन करती है। अट्ठकथाओं में न आने पर भी यह उचित प्रतीत होता है। अपने चित्त-चैतसिकों का आलम्बन करने के बारे में ही 'यह अभिज्ञा का आलम्बन नहीं है' – ऐसा 'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है। अतीत चित्त-चैतसिक-आदि का आलम्बन करने के बारे में नहीं कहा गया है[2]।

५. दिब्बचक्खु – दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा कामधर्मभूत अज्झत्त (प्राकृत चक्षुष् से देखने में अयोग्य स्कन्ध के भीतर) एवं बहिद्धा सन्तान में सभी प्रत्युत्पन्न रूपों का आलम्बन करती है।

६. यथाकम्मूपग – कर्म के अनुसार उन उन भवों में उपगत पुद्गलों की अतीत कर्मचेतना का आलम्बन करनेवाली अभिज्ञा को 'यथाकर्मोपग अभिज्ञा' कहते हैं। कर्म को प्रधान करके उस कर्म से सम्प्रयुक्त चित्त-चैतसिक ४ नामस्कन्धों का भी आलम्बन किया जाता है। इसलिये यह काम एवं महग्गत अतीत कुशल-अकुशल नामक धर्मालम्बन का आलम्बन करती है – ऐसा कहा गया है।

हों' – इस प्रकार अधिष्ठान करते समय आलम्बनभूत ध्यानचित्त महग्गत अतीतधर्म होता है। बाह्य (वहिद्धा) अश्व, हस्ती-आदि का निर्माण करते समय अश्व, हस्ती-आदि काम वहिद्धा प्रत्युत्पन्न आलम्वन होते हैं। महाकाश्यप की धातुओं की स्थापना करते समय धातुगर्भ में रखे हुए दीपक एवं पुष्प-आदि का 'अनागतकाल में मलिन एवं शुष्क न हों' – इस प्रकार अधिष्ठान करते समय कुछ चित्तों ने प्रत्युत्पन्न दीपक एवं पुष्पों का आलम्बन तथा कुछ अधिष्ठानचित्तों ने अनागत दीपक एवं पुष्पों का आलम्बन किया होगा। उपर्युक्त आलम्बनों में से कुछ रूपालम्वन, कुछ शब्द, गन्ध, रस या स्प्रष्टव्य आलम्बन तथा कुछ ध्यानचित्त एवं द्रव्य-आदि धर्मालम्बन हैं। इस प्रकार ६ आलम्बन होते हैं।

२. दिब्बसोत – दिव्यश्रोत्र-अभिज्ञा प्राकृत कर्ण से सुनने में अयोग्य अपने शरीर के अन्दर के (अज्झत्त) एवं दूरस्थ (वहिद्धा) शब्दालम्बन का आलम्बन करती है। इसलिये अज्झत्त एवं बहिद्धा कामधर्मभूत प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करती है।

३. परचित्तविजानन – परचित्तविजानन में 'परचित्त' कथित होने से अज्झत्त एवं बहिद्धा में वह बहिद्धा है, ६ आलम्बनों में वह धर्मालम्बन है। केवल चित्त ही नहीं, अपितु चैतसिक का भी आलम्बन करने से ४ नामस्कन्ध का आलम्बन किया जाता है – ऐसा जानना चाहिये। परीत्तालम्बनतिक के अनुसार काम, महग्गत, एवं लोकोत्तर सभी चित्तों का यथाशक्ति आलम्बन किया जा सकता है। पूर्व ७ दिन एवं अपर ७ दिन के बीच होनेवाले चित्तों का आलम्बन कर सकने के कारण अतीतालम्बनतिक के अनुसार ७ दिन के बीच होनेवाले अतीत चित्तों एवं अनागत चित्तों के साथ प्रत्युत्पन्न चित्त का भी आलम्बन किया जा सकता है। प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करने के बारे में अट्ठकथा-टीकाओं में मतभेद हैं। इस विषय में चतुर्थ परिच्छेद की मनोद्वारवीथि देखें[1]। इस परचित्तविजानन अभिज्ञा को 'चेतोपरिय-अभिञ्ञा' भी कहते हैं।

४. पुब्बेनिवास – यह पूर्वनिवास-अभिज्ञा पूर्व अतीत द्वितीय भव से लेकर पूर्व पूर्व भव में अपने या दूसरों द्वारा निवास किये गये 'नाम-रूप स्कन्ध नामक काम, महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त-चैतसिक अतीतधर्मसमूह, उन उन नाम-रूपों से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण धर्म – इन छह आलम्बनों का आलम्बन करती है।

वादान्तर – कुछ आचार्य "चेतोपरियञाणचतुत्थं अतीते सत्तदिवसब्भन्तरे अनागते सत्तदिवसब्भन्तरे परेसं चित्तं जानन्तस्स अतीतारम्मणं अनागतारम्मणं च होति, सत्तदिवसातिक्कमे पन तं जानितुं न सक्कोति। अतीतानागतंसञाणानं हि एस विसयो[2]" – इस 'अट्ठसालिनी' के 'सत्तदिवसातिक्कमे...एस विसयो' का प्रमाण करके 'अतीत हुए सात दिन के ऊपर से लेकर इस भव में उत्पन्न स्कन्ध-आदि का भी 'पुब्बेनिवासानुस्सति' अभिज्ञा द्वारा ही आलम्बन किया जाता है' – ऐसा कहते हैं। 'अट्ठसालिनी' में कथित अतीतांशज्ञान 'पुब्बेनिवासानुस्सति' ही है।

---

१. द्र० – अभि० स०, चतु० प० (मनोद्वारवीथि), पृ० ३३९-३४१।
२. अट्ठ०, पृ० ३२९।

निरोधसमापत्तिवीथि

२१. निरोधसमापत्तिवीथि की उत्पत्ति –

अष्ट-समापत्तिलाभी काम एवं रूपी अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल 'भारा हवे पञ्च खन्धा' के अनुसार भारयुक्त स्कन्ध को धारण करने से अत्यन्त उद्विग्न हो कर जब दृष्टधर्म निर्वाणसुख का उपभोग करना चाहते हैं तो लौकिक प्रथमध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान में होनेवाले चित्त-चैतसिक संस्कार-धर्मों की अनित्य, अनात्म एवं दुःख – इस प्रकार विपश्यना करते हैं। उसी तरह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, आकाशानन्त्यायतन एवं विज्ञाना-नन्त्यायतन ध्यानपर्यन्त समावर्जन करके जब जब ध्यान से उठते है तब तब उन ध्यानों में होनेवाले संस्कार-धर्मों की विपश्यना करते हैं, तदनन्तर आकि-ञ्चन्यायतन ध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान से उठते समय उनमें विपश्यना न होकर नानाबद्ध-अविकोपन, सङ्घपटिमानन, सत्थुपक्कोसन एवं अद्धान-परिच्छेद – इन पूर्वकृत्यों को करनेवाली ६ कामजवन मनोद्वारवीथियाँ होती हैं[१]। तदनन्तर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान का समावर्जन करते समय दो बार ध्यान होने के अन्त में चित्त-चैतसिक एवं चित्तज रूपों के निरोध नामक निरोधसमापत्ति की प्राप्ति होती है। निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामी पुद्गल में अनागामिफल एक बार, अर्हत् में अर्हत्फल एक बार होता है। तद-नन्तर यथायोग्य भवङ्ग होते हैं।

निरोधसमापत्तिवीथि

२१. यह निरोधसमापत्ति ध्यानसन्तति नामक शमथ एवं उन ध्यानों में होनेवाले संस्कार-धर्मों की अनित्य-आदि द्वारा भावना नामक विपश्यना – इस प्रकार शमथ-विपश्यनायुगलों के क्रमशः आरब्ध होने से प्राप्त होनेवाली समापत्ति है। अल्पभूमि में उसी तरह क्रम से प्राप्त होनेवाले रूपध्यान न होने के कारण काम एवं रूपी अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल ही इसका समावर्जन कर सकते हैं[१]।

नानाबद्ध-अविकोपन – नानाविध प्रदेशों में आबद्ध अपने परिष्कार-भण्डारों को नष्ट न होने देने के लिये अधिष्ठान करना 'नानाबद्ध-अविकोपन' है। अपने शरीर से सम्बद्ध चीवर-आदि तो समापत्ति के बल से ही नष्ट नहीं हो सकते; किन्तु दूरस्थ प्रदेश में जो

---

१. द्र०–विसु, पृ० ४६६–५०० ।

'विभावनी' में, परचित्तविजानन से सम्मिश्रण न होने देने के भय से 'आनेवाले ५८ दिन से लेकर चित्त-चैतसिकों का, आनेवाले द्वितीय दिन से लेकर शेष आलम्बनों का अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जाता है'–ऐसा विभाजन किया गया है[1]। किन्तु अनागतांश-अभिज्ञा यदि द्वितीय दिन से लेकर शेष आलम्बनों का आलम्बन करती है तो प्रथम दिन के आलम्बनों का कौन ज्ञान आलम्बन करेगा ? क्या यह अनागतांश-ज्ञान का क्षेत्र नहीं है ?

कुछ आचार्य आनेवाले सात दिन से ऊपर आठवें दिन से लेकर 'अनागत धर्म-समूह' का ग्रहण करते हैं। ये आचार्य 'सत्तदिवसातिक्कमे पन तं जानितुं न सक्कोति, अतीतानागतंसञाणानं हि एस विसयो'–इस 'अट्ठसालिनी' का ही प्रमाण करते हैं –ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु हमने 'विसुद्धिमग्ग' के आधार पर कहा है कि 'अट्ठसालिनी' में आनेवाला अनागतांश-ज्ञान रूपावचर-अभिज्ञा नहीं है।

उन आचार्यों के मतानुसार आनेवाले ७ दिन के अन्दर होनेवाले चित्त-चैतसिकों का परचित्तविजानन-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जाता है. अतः उनके सामने कोई समस्या नहीं है; किन्तु चित्त-चैतसिकों से अवशिष्ट रूप, नाम-गोत्र, वस्तु-द्रव्य-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण का किस ज्ञान द्वारा आलम्बन होगा ? अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जायेगा–उन्हें ऐसा मानना पड़ेगा कि नहीं ?

आधुनिक आचार्यों के मतानुसार आज से लेकर सात दिन के भीतर होनेवाले चित्त-चैतसिकों का परचित्तविजानन एवं अनागतांश-अभिज्ञा–दोनों के द्वारा आलम्बन किया जा सकता है। (एक आलम्बन में दो ज्ञान होने से कोई आपत्ति नहीं है। यथायोग्य ज्ञान आलम्बन करेगा ही।) सात दिन के भीतर चित्त-चैतसिकों से अतिरिक्त आलम्बन एवं सात दिन के अनन्तर चित्त-चैतसिकों के साथ सभी आलम्बनों का अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा ही आलम्बन किया जायेगा।

इन आचार्यों की आधारभूत पालि यह होगी –

"तत्थ किञ्चापि चेतोपरियञाणं पि अनागतारम्मणं होति, तं पन सत्तदिवसब्भन्तरे उप्पज्जनकचित्तमेव आरम्मणं करोति। इदं (अनागतंसञाणं) अनागते कप्पसतसहस्से उप्पज्जनकचित्तं पि खन्धे पि खन्धपटिबद्धं पि.....[2]।"

अभिज्ञावीथि समाप्त।

१. विभा०, पृ० २०२।

२. अट्ठ०, पृ० ३२२।

निरोधसमापत्तिवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो झ झ (निरोध) फ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

इस वीथि का ध्यान नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान ही है। यदि अनागामी होता है तो कुशलध्यान एवं अनागामिफल, यदि अर्हत्-होता है तो क्रियाध्यान एवं अर्हत्फल होते हैं। परिकर्म आदि इस उपेक्षाध्यान से पूर्वगामी होने के कारण महाकुशल एवं महाक्रिया उपेक्षासम्प्रयुक्त ही होते हैं। कामसुगतिभूमि एवं रूपभूमि होने से पूर्व एवं अपर भवङ्ग कामतिहेतुक भवङ्ग ४ एवं रूपभवङ्ग ५=९ ही होते हैं।

कारण एवं फल – निरोधसमापत्ति आर्यमार्गप्रज्ञा का फल है। फलसमापत्ति विपश्यना का फल है। अभिज्ञा लौकिकध्यानसमापत्ति का फल है। इस निरोध-समापत्ति का कामभूमि एवं रूपभूमि से गुणन करने पर ये २ होती हैं। इन २ का अनागामी एवं अर्हत् से गुणन करने पर ४ होती हैं। इन ४ का तीव्र एवं मन्द पुद्गलों से गुणन करने से निरोधसमापत्ति कुल ८ होती हैं।

ध्यान दो वार – यहाँ प्रश्न होता है कि निरोध-समापत्ति से पूर्व ध्यान दो वार ही क्यों होता है?

उत्तर – पूर्व आरब्ध सभी प्रयोग निरोधसमापत्ति के लिये ही होने के कारण ध्यान दो वार ही होते हैं। अर्थात् प्रथमध्यान से लेकर शमथविपश्यना-युगलों के ऊपर ऊपर आरोहण करते हुए आरब्ध प्रयोग नैवसंज्ञानासंज्ञायतनध्यान के समावर्जन के लिये नहीं, अपितु निरोधसमापत्ति के लिये ही होते हैं। इसलिये नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-ध्यान प्राप्त करते समय अपने इष्ट फल की पूर्ति न होने के कारण उसका ही चिरकाल तक समावर्जन न करके २ वार (कुछ लोग १ वार भी कहते हैं) होने के वाद ही निरोध प्राप्त करते हैं[1]।

अनागामी एवं अर्हत् – क्यों अनागामी एवं अर्हत् ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं?

उत्तर – स्रोतापन्न एवं सकृदागामी पुद्गल समाधि के प्रतिपक्ष कामच्छन्दनीवरण एवं अनुशयधातु का अशेष प्रहाण करने में असमर्थ होते हैं, अतः उन में समाधि प्रबल नहीं होती। अनागामी एवं अर्हत् में ही इस कामच्छन्दनीवरण का अशेष प्रहाण हो चुका होने से समाधि प्रबल होती है, अतः अनागामी एवं अर्हत् ही निरोध-समापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं[2]।

"समाधिपरिपन्थस्स कामरागस्स हायिनं।

हुए भण्डार जल, अग्नि एवं चोर-आदि शत्रु नष्ट न कर सकें – इस प्रकार अधिष्ठान करना 'नानावद्ध-अविकोपन' है[1]।

सङ्घपटिमानन – सङ्घ द्वारा 'पटिमानन' करना अर्थात् कोई एक सङ्घकृत्य करने के लिये सङ्घ द्वारा अपनी प्रतीक्षा किया जाना 'सङ्घपटिमानन' है। इस प्रकार की प्रतीक्षा की सम्भावना होने पर 'सङ्घ द्वारा बुलाने से पहले समापत्ति से उठूँगा' – ऐसा अधिष्ठान करना 'सङ्घपटिमानन' है। इस तरह अधिष्ठान करके समावर्जन करने से ही प्रतीक्षा-काल में समापत्ति से उठा जा सकता है। यदि अधिष्ठान न करके समावर्जन किया जाता है तो सङ्घ की आज्ञा से सुनाई पड़ने योग्य स्थान से 'सङ्घ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है' – इस प्रकार कहने पर तुरन्त समापत्ति से उठना पड़ता है[2]।

सत्थुपक्कोसन – भगवान् बुद्ध द्वारा बुलाया जाना 'सत्थुपक्कोसन' है। यदि भगवान् बुद्ध बुलानेवाले हैं तो 'भगवान् बुद्ध द्वारा बुलाये जाने से पूर्व समापत्ति से उठूँगा' – इस प्रकार अधिष्ठान करना 'सत्थुपक्कोसन' कहलाता है। इस प्रकार अधिष्ठान करके समावर्जन किया जाता है तो बुलाने से पहले उठा जा सकता है। यदि अधिष्ठान न करके समावर्जन किया जाता है तो भगवान् बुद्ध की आज्ञा से सुनायी पड़ने योग्य स्थान से बुलाने पर समापत्ति से उठना पड़ता है[3]। (भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर इस सत्थुपक्कोसन का विचार आवश्यक नहीं है।)

अद्धानपरिच्छेद – अपनी आयु के काल का परिच्छेद करना 'अद्धानपरिच्छेद' है। इस समापत्ति का समावर्जन करनेवाला पुद्गल यदि मनुष्यभूमि में होता है तो उसे 'मेरी आयु १ सप्ताह पर्यन्त रहेगी कि नहीं ?' – इस प्रकार परिच्छेद करना होता है। यदि विना विचार किये समावर्जन करना चाहे तो समावर्जन तो किया जा सकता है; किन्तु एक सप्ताह के भीतर यदि आयुःक्षय हो जाता है तो समापत्ति से उठना होगा। समापत्ति के समय च्युति नहीं होना चाहिये। यदि समापत्ति से उठते ही च्युति हो जाती है तो अनागामी के लिये अर्हत् होने का अवकाश न होने से उसकी हानि होती है तथा अर्हत् भी अपने अर्हत् होने के कारणों का सङ्घ को ज्ञान करा देने का अवकाश प्राप्त नहीं कर पाता, तथा उपदेश करने के लिये भी अवकाश प्राप्त नहीं कर पाता – इन कारणों की वजह से शासन की हानि होती है। अतः अद्धानपरिच्छेद का मुख्य रूप से परिच्छेद करना चाहिये, उपर्युक्त ३ कृत्यों का विचार न करने पर भी अधिक हानि नहीं होती। ब्रह्मभूमि में इन चारों पूर्वकृत्यों का विचार आवश्यक नहीं होता। यदि कोई करना चाहे तो केवल अद्धानपरिच्छेद का विचार किया जा सकता है[4]। (इस समापत्ति-काल में समाधिविप्फारिद्धि के बल से दूसरों द्वारा प्राणातिपात नहीं किया जा सकता।)

---

१. तु० – विसु०, पृ० ५०१।
२. तु० – विसु०, पृ० ५०२।
३. तु० – विसु०, पृ० ५०२।
४. तु० – विसु०, पृ० ५०२।

मरणासन्नवीथि

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि

२२. यह मरणासन्नवीथि भी पञ्चद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमें से पञ्चद्वारवीथि भी चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि एवं कायद्वारवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। इनमें से चक्षुर्द्वारवीथि भी जवन के अनन्तर च्युति, जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति, तदालम्बन के अनन्तर च्युति एवं तदालम्बनभवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह चार प्रकार की होती है। इनमें से जवन के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि की उत्पत्ति –

ज्ञाति-आदि द्वारा दिखलाये जाने पर या अपने आप रूपालम्बन के उत्पाद से लेकर एक वार अतीतभवङ्ग अतीत होने पर चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ५ वार मरणासन्न जवन, च्युति, प्रतिसन्धि, १५ वार या १६ वार भवङ्ग, मनोद्वारावर्जन, ७ वार भवनिकन्तिक लोभजवन तदनन्तर यथासम्भव भवङ्ग होते हैं।

परमार्थरूप से विद्यमान नहीं होता, अतः इसे संस्कृत-आदि नहीं कहा जा सकता; किन्तु समावर्जन करनेवाले पुद्गलों द्वारा आरब्ध की जाने से सम्पन्न होनेवाली समापत्ति होने के कारण इसे निष्पन्न कहा जा सकता है।

"सङ्खता ति पि, असङ्खता ति पि, लोकिया ति पि, लोकुत्तरा ति पि न वत्तब्बा। कस्मा? सभावतो नत्थिताय। यस्मा पन सा समापज्जन्तस्स [व]सेन समापन्ना नाम होति, तस्मा निप्फन्ना ति वत्तुं वट्टति, नो अनिप्फन्ना[1]।"

निरोधसमापत्तिवीथि समाप्त।

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि

२२. जिस वीथि के अन्त में कुछ भवङ्ग अन्तरित करने पर या अन्तरित न करने पर भी मुख्य च्युतिचित्त होता है उस वीथि को 'मरणासन्नवीथि' कहते हैं। पूर्वाचार्यों ने प्रतिसन्धिवीथि को पृथक् रूप से नहीं दिखलाया है। वे च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धि-वीथि को भी उसी सातत्य में दिखलाते हैं, अतः मरणासन्नवीथि कहने से प्रतिसन्धि-वीथि भी उसी के अन्तर्गत आ जाती है।

---

१. विभा०, पृ० ५०४; विशेष ज्ञान के लिये द्र० – पटि० म० अ०, पृ० २८३–२९०।

उद्देश्य – किसलिये अनागामी एवं अर्हत् इन समापत्तियों का समावर्जन करते हैं ?

उत्तर – संस्कार-धर्मों में संवेग-ज्ञान होने से संविग्न होकर उन संस्कारधर्मों से यथासम्भव विरत रहते हुए दृष्टधर्मसुखविहार का उपभोग करने के लिये अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल निरोधसमापत्ति का समावर्जन करते हैं।

"उदयब्बयसङ्खारे उक्कण्ठित्वान योनिसो।
सुखं विहरिस्सामा ति समापज्जन्ति ते इमं[1] ॥"

उदयव्ययशील (उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाले) संस्कार-धर्मों में योनिशः संवेग-ज्ञान से उद्विग्न होकर 'सुखपूर्वक विहार करेंगे' – इस प्रकार विचार करके वे अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल इस समापत्ति का समावर्जन करते हैं।

कामभूमि में ७ दिन – आहार का आश्रय करके जीवित रहनेवाले कामभूमि के सत्त्वों का एक वार खाया हुआ आहार अधिक से अधिक १ सप्ताहपर्यन्त जीवन-यापन करने में समर्थ होता है, अतः वे अधिक से अधिक १ सप्ताहपर्यन्त ही इस समापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं।

"आहारमुपजीविनं भुत्तस्स एकदिवसं।
सत्ताहं व यापनतो कामे सत्ताहमेव च[2] ॥"

आहार से जीवित रहनेवाले कामभूमि के सत्त्वों का एक दिन खाया हुआ आहार एक सप्ताह ही यापन कर सकता है, अतः कामभूमि में एक सप्ताह ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन किया जा सकता है।

एक सप्ताह के भीतर यथेष्ट समावर्जन किया जा सकता है। रूपभूमि में उसी तरह आहार की अपेक्षा आवश्यक न होने से यथेष्ट कालपर्यन्त समावर्जन किया जा सकता है। 'कामभूमि' यह शब्द केवल मनुष्य कामभूमि की अपेक्षा से ही प्रयुक्त हुआ है – ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि ऊपर की देवभूमियों में इन समापत्तियों का समावर्जन करने का अवसर मिलेगा ही नहीं। वहाँ लौकिक आलम्बनों से रहित एकान्त स्थान न होने से यदि अनागामी होता है तो वह ब्रह्मभूमियों में चला जायेगा। यदि अर्हत् होता है तो तत्काल परिनिर्वाण कर लेगा। नीचे के भूमिदेव अपनी आहार-शक्ति के अनुसार दिनों का परिच्छेद करके समावर्जन कर सकते हैं।

संस्कृत-आदि नहीं, किन्तु निष्पन्न – यह निरोधसमापत्ति संस्कृत एवं असंस्कृत लौकिक एवं लोकोत्तर नहीं है। ये संस्कृत-आदि नाम परमार्थरूप से विद्यमान होने पर ही प्रयुक्त होनेवाले नाम हैं। यह चित्त-चैतसिक एवं चित्तज रूपों का निरोध

---

१. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ५०१।

२. व० भा० टी०।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि

२३. मनोद्वारवीथि भी पृथग्जन एवं शैक्ष्यों की मरणासन्न वीथि, एवं अर्हत् की मरणासन्नवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमें से पृथग्जन एवं शैक्ष्यों की मरणासन्नवीथि भी कामभूमि में होनेवाले पुद्गल में जवन के अनन्तर च्युति, जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति, तदालम्बन के अनन्तर च्युति एवं तदालम्बन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह ४ प्रकार की होती है। कामभूमि से च्युत होकर अन्य भूमियों में प्रतिसन्धि लेनेवाले तथा अन्य भूमि से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में जवन के अनन्तर च्युति एवं जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह दो प्रकार की च्युति होती है।

नवप्रतिसन्धिचित्त इस भव में अपने से पूर्व हृदयवस्तु उत्पन्न न होने के कारण अपने साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है। इसलिये हृदयवस्तु एवं प्रतिसन्धि चित्त अन्योन्यनिःश्रयप्रत्यय होते हैं।

प्रतिसन्धि से अवशिष्ट भवङ्ग, मनोद्वारावर्जन एवं जवन अपने पूर्वचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं। प्रथम भवङ्गचित्त प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है – इस प्रकार विस्तार से जानना चाहिये।

भूमि एवं पुद्गल

कामभूमि से च्युत हो कर कामभूमि में ही प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल एवं रूपभूमि से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल में ही यह पञ्चद्वारवीथि होने के कारण विगत भव के लिये कामभूमि एवं रूपभूमि कही गयी हैं। (रूपभूमि से च्युत होने में घ्राणादित्रयवीथि नहीं होती तथा तदालम्बन का पात भी नहीं होता – ऐसा जानना चाहिये। रूपभूमि एवं अरूपभूमि में जानेवाले पुद्गलों में पृथ्वीकसिण-आदि कर्मनिमित्त का आलम्बन करने से तथा अरूपभूमि से इस कामभूमि में आनेवाले पुद्गलों में रूपालम्बन का आलम्बन न कर सकने से वहाँ ये पञ्चद्वारवीथियाँ नहीं हो सकतीं।)

अनागामी एवं अर्हत् कामभूमि में प्रतिसन्धि नहीं लेते, अतः यह पञ्चद्वारवीथि ४ पृथग्जन तथा स्रोतापन्न एवं सकृदागामी पुद्गलों में ही होती है।

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि समाप्त।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि

२३. कामभूमि से च्युत होकर कामभूमि में ही प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में कामजवन, कामसत्त्व एवं विभूत काम-आलम्बन – इन तीनों के सम्पन्न होने से तदालम्बनपात होनेवाली

नये भव के प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग चित्त भी इन पञ्चालम्बन कर्मनिमित्तों का ही आलम्बन करते हैं। प्रत्युत्पन्नकर्मनिमित्त एवं अतीतकर्मनिमित्त – इस प्रकार यथायोग्य चित्त होंगे। अतीतभवङ्ग से लेकर च्युतिपर्यन्त गणना करने पर रूपालम्बन की आयु सत्रह चित्तक्षण पूर्ण न होने पर प्रतिसन्धिचित्त के साथ कुछ भवङ्ग प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। पीछे पीछे के भवङ्ग अतीत रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। च्युतिचित्त तक पहुँचते समय यदि सत्रह चित्तक्षण पूर्ण हो जाते हैं तो प्रतिसन्धिचित्त से लेकर सभी भवङ्ग अतीत कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। जवन के अनन्तर च्युति होनेवाली प्रथम वीथि को देखिये – वहाँ अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपालम्बन के च्युतिचित्त होते समय चौदह चित्तक्षण ही अतीत होते हैं; अभी ३ चित्तक्षण आयु अवशिष्ट होती है, इसलिये प्रतिसन्धिचित्त के साथ दो वार भवङ्ग प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं तथा तृतीय भवङ्ग से लेकर आगे आनेवाले सम्पूर्ण भव के भवङ्ग उस अतीत कर्मनिमित्त रूपालम्बन का ही आलम्बन करते हैं। यदि तदालम्बन भवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि होती है तो अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपालम्बन की, जब च्युतिचित्त होता है तब, सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाती है; अतः नवप्रतिसन्धि से लेकर सभी भवङ्ग अतीतरूपालम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। इस प्रकार नये भव के चित्तों के आलम्बनों का विभाजन करके उन्हें जानना चाहिये।

मनोद्वारावर्जन के साथ ७ वार भवनिकन्तिक लोभजवन 'प्रतिसन्धि' नामक नामविपाकस्कन्ध एवं कटत्तारूप (कर्मजरूप) का आलम्बन करते हैं। (प्रतिसन्धिकृत्य करनेवाले विपाक चित्त-चैतसिकों के साथ होनेवाले कर्मजरूपों को 'प्रतिसन्धि' कहते हैं। जैसे – महाविपाक प्रथमचित्त, ३३ चैतसिक एवं ३ कर्मजकलापों को 'त्रिहेतुक प्रतिसन्धि' कहते हैं। इस प्रतिसन्धि को ही 'भव' कहते हैं। इस भव का ही आलम्बन करके उसमें आसक्त होनेवाले लोभजवनों को 'भवनिकन्तिक लोभजवन' कहते हैं। सभी सत्त्व चाहे किसी भी अवस्था में हों, अपने भव के प्रति आसक्त होते हैं। इस आसक्ति को ही 'भवनिकन्तिका' कहते हैं।)

च्युतिचित्त से ऊपर (पूर्ववर्ती चित्तों की) गणना करने पर सत्रहवें चित्त के ठीक स्थितिकाल से लेकर नये कर्मजरूपों के उत्पन्न न होने से द्विपञ्चविज्ञान १०, प्रवृत्ति-पञ्चद्वारवीथि में होने की तरह न होकर च्युतिचित्त से ऊपर सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न पञ्चवस्तु का आश्रय करते हैं। (किन्तु पञ्चविज्ञान उत्पन्न होते समय विद्यमान पञ्च वस्तुओं में से सभी वस्तुओं का आश्रय कर सकते हैं – इस प्रकार आधुनिक आचार्य विचार करते हैं। विशेष ज्ञान के लिये 'निःश्रयप्रत्यय' देखें।)

द्विपञ्चविज्ञान से अवशिष्ट पूर्वभव के वीथिचित्त उसी तरह च्युतिचित्त से ऊपर गणना करने पर सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं। (प्रवृत्तिकाल की तरह पूर्व पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का नहीं।)

आश्रयवस्तु पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि की तरह ही है। अरूपभूमि में आश्रय-वस्तु न होने से उसका विचार करना आवश्यक नहीं है।

भूमि-भेद से – असंज्ञिवर्जित ३० भूमियों में यह वीथि होती है। (असंज्ञिभूमि में रूपवर्म द्वारा ही च्युति होती है)।

पुद्गलभेद से – पृथग्जन ४, एवं अर्हत्-वर्जित ३ फलस्थ पुद्गलों में ही यह वीथि यथायोग्य होती है।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि समाप्त।

भवङ्गमीमांसा

'अमुक भूमि से अमुक च्युति के अनन्तर अमुक प्रतिसन्धि होती है' – इस प्रकार कहने पर 'विगत भव में अमुक भवङ्ग होकर नये भव में अमुक भवङ्ग होते हैं' – इस प्रकार जाना जा सकने के कारण मरणासन्नवीथियों में भवङ्गपात के नय का यहाँ पूर्वच्युति एवं अपरप्रतिसन्धि द्वारा सङ्क्षेपतः प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार भवङ्गमीमांसा करने पर न केवल भवङ्ग का ज्ञान ही; अपितु भूमिपरिवर्तन का ज्ञान भी सुकर हो जायेगा।

अहेतुक च्युति २, द्विहेतुक च्युति ४=६ के अनन्तर १० कामप्रतिसन्धि होती हैं। यदि अहेतुक एवं द्विहेतुक पुद्गल च्युत होता है तो ध्यान प्राप्त न होने से कामभूमि में ही अहेतुक प्रतिसन्धि २ एवं महाविपाक प्रतिसन्धि ८ में से किसी एक के द्वारा प्रतिसन्धि लेगा, इसलिये सम्बद्ध मरणासन्नवीथि में विगत भव में अहेतुक एवं द्विहेतुक भवङ्गों में से कोई एक तथा नये भव में १० कामभवङ्गों में से कोई एक भवङ्ग होता है।

वीथियाँ भी होती हैं। अविभूत-आलम्बन या विभूत-आलम्बन होने पर भी च्युति का काल अत्यन्त आसन्न होने पर तदालम्बन का पात न होनेवाली वीथियाँ भी होती हैं। इसलिये ४ वीथियाँ हो सकती हैं। कामभूमि से च्युत होकर अन्य भूमियों में जानेवाले पुद्गलों में कामजवन एवं कामसत्त्व होने पर भी रूप एवं अरूप प्रतिसन्धि-चित्तों द्वारा प्रज्ञप्ति एवं महग्गत का ही यथायोग्य आलम्बन किया जाने से[1] उन भूमियों में जानेवाले कामपुद्गलों का मरणासन्न जवन भी प्रज्ञप्ति एवं महग्गत का ही आलम्बन करेगा, अतः इनमें तदालम्बन-पात नहीं हो सकता। अन्य भूमियों से कामभूमि में आनेवाले पुद्गलों में कामसत्त्व न होने के कारण तदालम्बन का पात नहीं हो सकता। इसीलिये जवन के अनन्तर च्युति एवं जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस प्रकार २ वीथियाँ ही होती हैं।

इन वीथियों के आलम्बन अतीत, प्रत्युत्पन्न, काम, महग्गत एवं प्रज्ञप्ति – इस प्रकार नानाविध होते हैं। उन आलम्बनों में से प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त का आलम्बन करते समय यदि जवन के अनन्तर च्युति होती है तो अतीतभवङ्ग से लेकर गणना करने पर च्युति से पूर्व १० चित्तक्षण ही अतीत होते हैं। प्रतिसन्धि एवं छह भवङ्ग प्रत्युत्पन्न आलम्बन का ही पुनः आलम्बन कर सकते हैं। इन वीथियों के भवङ्गों से अधिक प्रत्युत्पन्न का आलम्बन करनेवाले भवङ्ग अन्य नहीं हैं।

अर्हत् की परिनिर्वाणवीथि से अवशिष्ट मरणासन्न मनोद्वारवीथि में होनेवाले चित्त पञ्चद्वारवीथि में ही होनेवाले द्विपञ्चविज्ञान १०, मनोधातु ३ एवं अर्हत् की सन्तान में ही होनेवाले क्रियाजवन ९ = २२ चित्तों को वर्जित करके कामचित्त ३२ ही होते हैं।

[आलम्बन अनेकविध होते हैं; अतः उन्हें पृथक् नहीं दिखलाया गया है। जिज्ञासु पाठक आलम्बनसङ्ग्रह के 'द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धिभवङ्गचुतिसङ्खातानं' आदि की व्याख्या एवं 'मरणुप्पत्तिप्रकरण' (पञ्चम परिच्छेद) देखें।]

संक्षेपतः रूपभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गल की वीथि में "रूपावचरपटिसन्धिया पञ्ञत्तिभूतं कम्मनिमित्तमारमणं होति[2]" के अनुसार मरणासन्न जवन, प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग कसिणप्रज्ञप्ति-आदि कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। अरूपभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गल 'तया आरुप्पपटिसन्धिया च महग्गतभूतं पञ्ञत्तिभूतञ्च[3]' के अनुसार महग्गत एवं प्रज्ञप्ति – इनमें से किसी एक कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। कामभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गल की वीथि में कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीनों में से कोई एक अर्थात् कामधर्म नामक ६ आलम्बनों में से कोई एक यथायोग्य आलम्बन होता है।

---

१. द्र० – अभि०, स० पृ० २५६।

२. द्र० – अभि० स०, ५ : ८७।

३. द्र० – अभि० स० ५ : ८८।

वीथि, प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि, अभिज्ञासमनन्तरवीथि एवं जीवितसमसीसी-वीथि – इस प्रकार चतुर्विध होती है। इनमें से ध्यान का समावर्जन करने के अन्त में च्युति होनेवाली वीथि 'ध्यानसमनन्तरवीथि' कहलाती है, ध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि होने के वाद च्युति होनेवाली वीथि 'प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि' कहलाती है, अभिज्ञा का समावर्जन करने के वाद च्युति होनेवाली वीथि 'अभिज्ञासमनन्तरवीथि' कहलाती है. एवं जीवितेन्द्रिय निरुद्ध होने के आसन्नकाल में अर्हत्-फल की प्राप्ति होने से अर्हत्-मार्गवीथि होने के अनन्तर भवङ्ग अन्तरित करके मार्ग एवं फल-आदि का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि के अन्त में परिनिर्वाण करनेवाले पुद्गल की वीथि 'जीवितसमसीसीवीथि' कहलाती है।

में होती है। इस वीथि का प्रारूप उपर्युक्त मनोद्वारमरणासन्नवीथि की तरह ही है। केवल च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धि, भवङ्ग-आदि न होना ही विशेष है।

आलम्वन के रूप में मनोद्वारावर्जन, जवन एवं तदालम्वन नामक वीथिचित्त अन्य मरणासन्नवीथियों की तरह कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त का आलम्वन न करके सामान्य त्रैभूमिक नाम-रूप एवं प्रज्ञप्ति आलम्वनों में से किसी एक का आलम्वन करते हैं। अर्थात् पुनः फल देने के लिये कर्म आवश्यक न होने से यहाँ कर्म-आलम्वन एवं कर्मनिमित्त आलम्वन प्रादुर्भूत नहीं हो सकते। जाने की गति भी न होने से गतिनिमित्त आलम्वन भी नहीं हो सकते। सामान्य लौकिक नाम-रूप एवं प्रज्ञप्ति आलम्वनों में से ही कोई एक प्रादुर्भूत होगा और उसी आलम्वन का परिनिर्वाणचित्त द्वारा आलम्वन किया जायेगा।

परिनिर्वाण च्युतिचित्त 'पटिसन्धिभवङ्गञ्च तथा चवनमानसं। एकमेव तथेवेक-विसयञ्चेकजातियं[1] ।।" के अनुसार मूल-प्रतिसन्धिकाल के आलम्वन के सदृश कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीन में से किसी एक का आलम्वन करता है।

[केचिवाद के साथ कुछ ज्ञातव्य विषयों के वारे में 'मरणुप्पत्तिचतुक्क' (पञ्चम परि०) की व्याख्या देखें।]

ध्यानसमनन्तरवीथि – यह वीथि कामसुगति, रूप एवं अरूप भूमियों में होती है। ध्यान यथायोग्य अनेक वार होते हैं। अर्हत् की सन्तान होने से पूर्व-अपर जवन क्रिया-जवन ही होते हैं। आलम्वन उन उन ध्यानों के अनुसार कसिण-प्रज्ञप्ति ही हैं। पूर्व-भवङ्ग एवं च्युति चित्त स्वभावतः कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीन में से

---

१. द्र० – अभि० स० ५ : ४० ।

परिनिर्वाणवीथि

२४. परिनिर्वाणवीथि भी यदि कामजवन मनोद्वारवीथि होती है तो उपर्युक्त नय के अनुसार जवन के अनन्तर च्युति-आदि भेद से चतुर्विध होती है। यदि अर्पणाजवन होने के अनन्तर परिनिर्वाणवीथि होती है तो ध्यानसमनन्तर-

---

प्रतिसन्धि के साथ ऊपर ऊपर की ६ रूप-अरूप प्रतिसन्धियाँ होती हैं। (यदि पुद्गल आर्य होता है तो वह नीचे की भूमि में नहीं जाता।)

यदि वेहप्फलभूमि का आर्य च्युत होता है तो वह इन भूमियों में नहीं आता। श्रद्धा-आदि इन्द्रिय मृदु होने से यदि अर्हत्फल की प्राप्ति नहीं होती है तो उस वेहप्फल भूमि में ही पुनः प्रतिसन्धि होती है। वेहप्फल, अकनिट्ठ एवं नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमियों में उत्पन्न आर्य (वे भूमियाँ भवाग्र होने से) इन भूमियों में नहीं आते। (विस्तार के लिये चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में देखें।)

शुद्धावासभूमि से च्युत होनेवाले पुद्गल अनागामी एवं अर्हत् ही होते हैं। उनमें से अनागामी पुद्गल पूर्व उषित (वास की हुई) शुद्धावासभूमि में पुनः उत्पन्न नहीं होते, अपितु ऊपर की भूमि में चले जाते हैं। अतः शुद्धावासच्युति के अनन्तर एक शुद्धावास-पञ्चमध्यान-प्रतिसन्धि ही होती है।

यदि अकनिष्ठभूमि से च्युति होती है तो वहाँ से प्रतिसन्धि लेनेवाला कोई पुद्गल नहीं होता; क्योंकि वहाँ अर्हत् होकर ही च्युति होती है।

यदि पृथग्जन अरूपभूमि से च्युत होता है तो वह अपनी भूमि में भी होता है, ऊपर ऊपर की अरूपभूमि में भी होता है तथा कामभूमि में त्रिहेतुक प्रतिसन्धि भी लेता है। अतः उस च्युति के अनन्तर कामत्रिहेतुक ४ एवं अरूप ४ = ८ प्रतिसन्धियाँ होती हैं। यदि आर्य उस अरूपभूमि से च्युत होता है तो उसके अपनी भूमि में एवं ऊपर ऊपर की भूमियों में ही होने के कारण उस च्युति के अनन्तर ४ अरूपप्रतिसन्धियाँ ही होती हैं।

इस च्युति एवं प्रतिसन्धि क्रम को देखकर भूमि के अनुसार मनोद्वार मरणासन्न-वीथियों को जानना चाहिये।

भवङ्गमीमांसा समाप्त।

मरणासन्नवीथि समाप्त।

परिनिर्वाणवीथि

२४. यह परिनिर्वाणवीथि ध्यान-अलाभी शुष्कविपश्यक पुद्गल होने पर या ध्यान-लाभी होने पर भी ध्यान का समावर्जन न करने पर मनोद्वार कामजवनवीथि के अन्त

तदालम्बन के स्थितिक्षण में निरुद्ध हो जाते हैं, अतः रूपालम्बन के निरोध से पहले लगभग एकक्षणमात्र कम आयुवाले होते हैं; प्रथम भवङ्ग की स्थिति के साथ उत्पन्न वस्तुरूप-आदि लगभग दो क्षणमात्र कम आयुवाले होते हैं – इस प्रकार क्रम से जानना चाहिये। तेरहवें भवङ्ग के भङ्ग के साथ उत्पन्न वस्तुरूप चक्षुर्विज्ञान के स्थितिक्षण में निरुद्ध हो जाता है, अतः यह रूपालम्बन के निरोध से ३७ क्षण पूर्व निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस वीथि के सम्बन्ध में रूपालम्बन की अपेक्षा करके रूपालम्बन से कम आयुवाला होने के कारण तेरहवें भवङ्ग के भङ्ग से लेकर प्रथम भवङ्ग के भङ्गपर्यन्त – इस बीच उत्पन्न ३७ प्रसाद वस्तुरूपसमूह 'मन्दायुक चक्षुःप्रसाद' कहा जाता है।

अतीतभवङ्ग के स्थितिक्षण से लेकर पञ्चद्वारावर्जन के भङ्गक्षणपर्यन्त इस बीच प्रत्येक क्षण में उत्पन्न ११ प्रसाद वस्तुरूप रूपालम्बन के निरोध के बाद भी निरुद्ध होने से 'अमन्दायुक' कहलाते हैं। अर्थात् अतीतभवङ्ग के स्थितिक्षण में उत्पन्न वस्तुरूप द्वितीय तदालम्बन के अनन्तर प्रथम भवङ्ग के उत्पादक्षण में निरुद्ध होने से इस वीथि के रूपालम्बन से अधिक आयुवाला होता है – ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार वस्तुरूपों का विचार करना चाहिये।

अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न प्रसाद वस्तुरूप इस वीथि के रूपालम्बन के साथ निरुद्ध होता है, अतः उसकी आयु रूपालम्बन से न तो अधिक होती है और न कम होती है; अपितु बराबर होती है, अतः वह 'मध्यमायुक' कहलाता है। जैसे कहा भी गया है –

"सत्ततिंस मन्दायुका एकं व मज्झिमं मतं।
अमन्देकादसा चेति विञ्ञातब्बा विभाविना[1]॥"

इन ४९ प्रकार के प्रसादरूपों में से यह मध्यमायुक प्रसाद ही मध्यमा प्रतिपदा होने से चक्षुर्द्वारिकवीथि में चक्षुर्विज्ञान का एवं श्रोत्रद्वारिक-आदि वीथियों में श्रोत्रविज्ञान-आदि विज्ञानों का आश्रयभूत होने के लिए उपयुक्त होता है।

रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन इस मध्यमायुक चक्षुःप्रसाद में ही प्रादुर्भूत होते हैं और वीथिचित्तों की उत्पत्ति के लिये मूलभूत द्वारकृत्य को भी यही मध्यमायुक चक्षुःप्रसाद सिद्ध करता है—इस प्रकार कुछ आचार्यों का कथन है। (हम अपना विचार निःश्रय-प्रत्यय की व्याख्या में कहेंगे।)

इन मन्दायुक-आदि का एक वार अतीतभवङ्ग अतीत होनेवाली वीथियों से ही मुख्य रूप से सम्बन्ध है। २ वार, ३ वार एवं ४ वार-आदि अतीतभवङ्ग अतीत होनेवाली महद्-आलम्बन एवं परीत्त-आलम्बन वीथियों में यदि अतीतभवङ्ग एक वार अधिक अतीत होता है तो मन्दायुक में ३ क्षण कम हो जाते हैं तथा अमन्दायुक में ३ क्षण

१. तु० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३३५।

अमन्दायुक चक्षुःप्रसाद ११

← मध्यमायुक चक्षुःप्रसाद १

मन्दायुक चक्षुःप्रसाद ३७

अतीतभवङ्ग से पूर्वक्षणों की गणना करने पर तेरहवें भवङ्ग के भङ्गक्षण से लेकर प्रथमभवङ्ग के भङ्गक्षणपर्यन्त प्रत्येक क्षण में उत्पन्न वस्तुरूप इस चक्षुर्द्वारिक वीथि के आलम्बनभूत रूपालम्बन के निरोध के पहले ही निरुद्ध हो जाने के कारण 'मन्दं आयु येसं ति मन्दायुकानि' के अनुसार 'मन्दायुक' कहलाते हैं।

अतीतभवङ्ग के पूर्ववर्ती प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ उत्पन्न वस्तुरूप द्वितीय-

२–३ वार होना – कहा गया है, फिर भी मूलटीकाचार्य इस अव्याकृतवीथि को पसन्द नहीं करते[1]।

पूर्वकथित क्रम के अनुसार प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करनेवाली तदालम्बनवार विभूतालम्बनवीथि ५, अतीत-अनागत निष्पन्न रूप एवं त्रैकालिक चित्त-चैतसिकों का आलम्बन करनेवाली तदालम्बनवार विभूत-आलम्बनवीथि १, उसी तरह प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करनेवाली जवनवार विभूत-आलम्बनवीथि ७, अविभूत-आलम्बनवीथि ७ तथा अवशिष्ट आलम्बनों का आलम्बन करनेवाली विभूत-आलम्बन वीथि, अविभूत-आलम्बनवीथि एवं अव्याकृतवीथि – इस प्रकार शुद्ध मनोद्वारवीथि कुल २३ होती है।

चित्तस्वरूप आलम्बन एवं वस्तु

चित्तस्वरूप – कामजवनवार होने के नाते इन २३ मनोद्वारवीथियों में होनेवाले चित्त द्विपञ्चविज्ञान १० एवं मनोधातु ३=१३ चित्तवर्जित ४१ कामचित्त हैं। ये "वित्थारेन पनेत्थेकचत्तालीस विभावये[2]" के अनुसार होते हैं।

आलम्बन – तदालम्बनपात विभूत-आलम्बनवीथि में भवङ्ग से अवशिष्ट चित्त प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपों का आलम्बन करते हैं तथा प्रत्युत्पन्न-अतीत-अनागत (त्रैकालिक) काम चित्त-चैतसिक एवं अतीत-अनागत निष्पन्न रूपों का भी आलम्बन करते हैं।

शेष जवनवार विभूत-आलम्बनवीथिचित्त एवं अविभूत-आलम्बनवीथिचित्त कोई विशेष (भेद) न करके चित्त, चैतसिक, रूप एवं प्रज्ञप्ति – सभी का आलम्बन करते हैं। ये आलम्बन यदि विभूततया प्रादुर्भूत होते हैं तो विभूत-आलम्बनवीथि के, यदि अविभूततया प्रादुर्भूत होते हैं तो अविभूत-आलम्बनवीथि के आलम्बन होते हैं – इतना मात्र विशेष होता है तथा आलम्बन यदि प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप होते हैं तो अतीतभवङ्ग का पात होता है। शेष आलम्बनों में अतीत भवङ्गपात नहीं होता – यह भी जान लेना चाहिये। निर्वाण सर्वदा विभूतालम्बनवीथि का ही आलम्बन होता है।

वस्तु – इन वीथियों की आश्रयवस्तु पञ्चद्वारवीथि की आश्रयवस्तु की भाँति ही होती हैं।

भूमि एवं पुद्गल

तदालम्बनपात विभूत-आलम्बनवीथियाँ कामभूमि में ही होती हैं। शेष जवनवार विभूत-आलम्बन वीथियाँ एवं अविभूत-आलम्बनवीथियाँ असंज्ञिभूमिवर्जित ३० भूमियों में यथायोग्य होती हैं।

पुद्गल के रूप में ४ पृथग्जन एवं ४ फलस्थ – इन ८ पुद्गलों की सन्तान में ही ये वीथियाँ होती हैं।

उसके (अर्थग्रहणवीथियों के अनेक वार प्रवृत्त होने के) बाद उस वस्तुद्रव्य के लोकव्यवहारानुसार 'शिरस्' इस नाम को जाननेवाली 'नामग्रहणवीथि' भी अनेक वार प्रवृत्त होती है। 'शिरस्'–यह नाम नामप्रज्ञप्ति है, अतः इस नामप्रज्ञप्ति को आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि में भी आलम्बन चाहे विभूत हो या अविभूत, तदालम्बन का पात नहीं हो सकता।

इस प्रकार शरीर के एकदेश 'शिरोभाग' को जानने के लिये नामग्रहणवीथि-पर्यन्त अनेक वीथियों के होने पर 'शिरस्' के निचले प्रदेश ग्रीवा, स्कन्ध, उरस्, उदर-आदि शरीर के विभिन्न अङ्गों का परिच्छेद करके उन (अङ्गों) के दिखाई पड़ने योग्य पुरःस्थ भागों को अनेक वीथियों द्वारा जान लेने के बाद सम्पूर्ण शरीरपिण्ड को जानने के लिये चक्षुर्द्वारवीथि से लेकर नामग्रहणपर्यन्त प्रवृत्त अनेक वीथियों द्वारा ही इस 'मनुष्य-द्रव्य' नामक नामप्रज्ञप्ति का सम्यग् ज्ञान होता है। द्रव्य यदि सूक्ष्म (छोटा) होगा तो वीथियाँ कम तथा द्रव्य यदि स्थूल होगा तो वीथियाँ अधिक होंगी। इस प्रकार द्रव्यभेद से वीथियों के न्यूनाधिक्य को भी जानना चाहिये। अर्थग्रहणवीथि होने के अनन्तर यदि पहले से नाम का परिज्ञान होगा तभी नामग्रहणवीथि प्रवृत्त होगी; अन्यथा नहीं।

कुछ आचार्य अर्थग्रहण एवं नामग्रहणवीथियाँ चूंकि पञ्चद्वारिकवीथियों की भाँति आलम्बन का ग्रहण नहीं करतीं, अपितु उन रूपालम्बन-आदि की अर्थ-प्रज्ञप्ति एवं नाम-प्रज्ञप्ति का ग्रहण करती हैं, अतः उन्हें (अर्थग्रहण एवं नामग्रहण वीथियों को) तदनुवर्तकवीथि नहीं कहना चाहते; अपितु 'शुद्ध मनोद्वारवीथि' ही कहते हैं; किन्तु यहाँ आलम्बनभेद होने पर भी पञ्चद्वारवीथि से सम्बद्ध होनेवाली सभी मनोद्वार-वीथियों को उन्हें (आचार्यों को) 'तदनुवर्तक वीथि' कहना चाहिये; क्योंकि 'पञ्चद्वार-वीथि होने पर भी हमेशा अर्थग्रहण एवं नामग्रहण वीथियाँ होती ही हैं'—ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी कभी अतीतग्रहणवीथिमात्र से वीथिसन्तति विच्छिन्न होनेवाले विषय भी होंगे।

घ्राणद्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली तदनुवर्तकवीथियों द्वारा आलम्बन का ग्रहण करना इस प्रकार है–

गन्धालम्बन में समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमशः गृहीत गन्धसमूह का आलम्बन होता है। अर्थग्रहणवीथि द्वारा गन्ध के आश्रयभूत द्रव्य का आलम्बन होता है। नामग्रहण-वीथि द्वारा गन्ध के नाम (संज्ञा) का ग्रहण होता है।

रसालम्बन में समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमशः गृहीत रससमूह का, अर्थग्रहणवीवीथि द्वारा रस के आश्रयभूत भोज्यद्रव्य का, नामग्रहणवीथि द्वारा भोज्य रस के नाम का आलम्बन होता है।

स्प्रष्टव्यालम्बन में समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमशः स्पृष्ट स्प्रष्टव्यालम्बनसमूह का, अर्थग्रहणवीथि द्वारा स्प्रष्टव्यालम्बन के आश्रयभूत द्रव्य का, नामग्रहणवीथि द्वारा उस स्प्रष्टव्यालम्बन के नाम का ग्रहण होता है।

कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि

१५. इच्छा (छन्द) के साथ अङ्ग-प्रत्यङ्गों के चालन एवं कथन को देख एवं सुन कर चक्षुर्द्वारिक एवं श्रोत्रद्वारिक वीथियों का अनुवर्तन करनेवाली विज्ञप्तिग्रहण एवं अभिप्रायग्रहण मनोद्वारवीथियाँ होती हैं। यथा –

"रूपं पठमचित्तेन तीतं दुतियचेतसा।
ततियेन तु विञ्ञत्तिं भावं चतुत्थचेतसा'[1]॥"

इस गाथा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा हाथ हिलाकर बुलाने पर सर्वप्रथम हिलनेवाले हाथ के रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली चक्षुर्द्वारिकवीथि, अतीत रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली अतीतग्रहणवीथि, आगमनेच्छाकार (आगमनसम्बन्धिनी उसकी इच्छा के आकार) को जाननेवाली कायविज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली विज्ञप्तिग्रहणवीथि तथा आगमन-अभिप्राय का आलम्बन करनेवाली अभिप्रायग्रहणवीथि होती है।

वीथि', 'यह शब्द मेरे द्वारा सङ्केतित गोद्रव्य का वाचक है' – इस प्रकार का निश्चय करनेवाली 'विनिश्चयवीथि' – इस प्रकार की ये वीथियाँ भी होती हैं। वे (आचार्य) रूपालम्बन तदनुवर्तकवीथि में भी अर्थग्रहण एवं नामग्रहणवीथियों के बीच में इन वीथियों का होना स्वीकार करना चाहते हैं। किन्तु इतने सूक्ष्मरूप से प्रत्येक व्यक्ति में इनका होना सम्भव नहीं है, कुछ ज्ञानी पुद्गलों में ही ये कभी कभी हो सकती हैं।

कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि

१५. प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का प्रथम चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त द्वारा ज्ञान होता है। अतीत रूपालम्बन का द्वितीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है। कायविज्ञप्ति का तृतीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है तथा अभिप्राय का चतुर्थ मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है।

उपर्युक्त गाथा में रूपालम्बनसमूह का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहणवीथि एवं अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथि नहीं आती; तथापि हाथ को ऊपर-नीचे हिलाते समय ऊपरवाले रूपालम्बन के दर्शनमात्र से विज्ञप्ति एवं अभिप्राय का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः ऊपरवाले रूपालम्बन, उससे ईषद् (कुछ) निम्न रूपालम्बन एवं उससे भी ईषद् निम्न रूपालम्बन – इस प्रकार के रूपालम्बनों का चक्षुर्द्वारिक एवं अतीतग्रहणवीथियों द्वारा पुनः पुनः ग्रहण किया जाने के बाद समूहग्रहणवीथि द्वारा रूपालम्बन-समूह का भी ग्रहण हो सकेगा। इस समूहग्रहणवीथि के अनन्तर 'हाथ हिलना' क्रिया-नामक अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ भी होंगी। तदनन्तर विज्ञप्ति एवं अभिप्राय को जाननेवाली मनोद्वारवीथियाँ भी हो सकेंगी।

---

१. प० भा० टी०।

दो अक्षर, तीन अक्षर या इससे अधिक अक्षरोंवाले शब्दालम्बन का आलम्बन करने में 'समूहग्रहणवीथि' हो सकती है। जैसे किसी के द्वारा 'बुद्ध' शब्द का उच्चारण करते समय 'बुद्' इस अंश के उच्चारण-क्षण में प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली श्रोत्रद्वारिक वीथि, निरुद्ध अतीतशब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली अतीत-ग्रहणवीथि – इस प्रकार यह वीथियुगल अनेक वार होता है। इसके वाद 'ध' इस अंश के उच्चारणक्षण में भी उपर्युक्त वीथियुगल अनेक वार प्रवृत्त होते हैं। तदनन्तर निरुद्ध हुए 'बुद्' 'ध' – इन दोनों अंशों के संयुक्तरूप का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहण-वीथियाँ होती हैं। इसी प्रकार तीन अक्षरोंवाले 'सब्बञ्ञू' शब्द में भी एक एक अक्षर के ग्रहण के लिये श्रोत्रद्वारिक एवं अतीतग्रहण वीथियों के अनेक युगल प्रवृत्त होने के अनन्तर पुनः तीनों अक्षरों को मिलाकर संयुक्तरूप से आलम्बन करनेवाली समूह-ग्रहणवीथियाँ होती हैं। अनेक अक्षरोंवाले अन्य शब्दों के ग्रहण में भी इसी तरह विचार करना चाहिये। इन समूहग्रहणवीथियों के होने के अनन्तर 'बुद्ध' नामक नाम-प्रज्ञप्ति या 'सब्बञ्ञू' नामक नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथियाँ होती हैं। तदनन्तर 'बुद्ध' एवं 'सब्बञ्ञू' शब्दों की अर्थ (वाच्यद्रव्य)-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ होती हैं।

नामग्रहणवीथि होने के अनन्तर 'गो यह नाम इस गोद्रव्य का वाचक है' – इस प्रकार का पूर्वसङ्केत रहने पर ही गोद्रव्य को जाननेवाली अर्थग्रहणवीथि हो सकती है। क्योंकि अज्ञात भाषा के किसी शब्द का अनेक वार उच्चारण करने पर भी श्रोता को जव उसके अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता है तो ऐसी स्थिति में उसमें अर्थग्रहणवीथि कैसे हो सकती है! इसीलिये कहा गया है –

"सोतालम्बनमापन्नो सङ्केतेन ववत्थितो।
अत्थस्स ञापको सद्दो नासन्ते कारणद्वये[1]॥"

अर्थात् श्रोत्रद्वारवीथि के आलम्बनत्व को प्राप्त हो जाने पर भी शब्द 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' – इस प्रकार का पूर्वसङ्केत होने पर ही अर्थ का ज्ञापक होता है। उपर्युक्त कारणद्वय (शब्दश्रवण एवं सङ्केतग्रहण) न होने पर शब्द अर्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता। तथा किसी विदेशी भाषा के शब्द का श्रवण करने पर उस विदेशी शब्द का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि हो जाने पर भी अपनी मातृभाषा के नाम का आलम्बन करनेवाली एक अन्य प्रकार की नामग्रहणवीथि भी होती है। इस प्रकार विदेशी भाषा के शब्द का श्रवण करते समय एक अधिक नामग्रहणवीथि का होना जानना चाहिये।

आचार्यों का मत है कि नामग्रहण एवं अर्थग्रहण वीथियों के वीच में 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' – इस प्रकार पूर्वज्ञात सङ्केतप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली 'सङ्केतग्रहणवीथि', उस सङ्केत के साथ इस शब्द का सम्वन्ध जाननेवाली 'सम्वन्धग्रहण-

---

१. स० भे० चि०, का० ११, पृ० २।

अर्पणाजवनवार

मनोद्वारवीथि

ध्यानवीथि

१७· अर्पणाजवनवारवीथि भी ध्यानवीथि, मार्गवीथि, फलसमापत्तिवीथि, अभिज्ञावीथि एवं निरोधसमापत्तिवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। इनमें से ध्यानवीथि भी आदिकर्मिकवीथि एवं समापत्तिवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमें से आदिकर्मिकवीथि की उत्पत्ति –

पृथ्वीकसिण-आदि कम्मट्ठान की वार-वार भावना करने से ध्यान-प्राप्ति का आसन्नकाल होने पर पृथ्वीकसिण-प्रज्ञप्ति-आदि सम्वद्ध आलम्वनों में से किसी एक आलम्वन का मनोद्वार में प्रादुर्भाव होने पर भवङ्ग-चलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गलमें 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू' – इस प्रकार ४ वार उपचारसमाधिजवन, तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल में 'उपचार, अनुलोम, गोत्रभू' - इस प्रकार ३ वार उपचारसमाधिजवन, तदनन्तर अर्पणासमाधिजवन नामक ध्यान १ वार होता है। इसके वाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके वितर्क-आदि ध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ यथायोग्य होती हैं।

अर्पणाजवनवार

मनोद्वारवीथि

ध्यानवीथि

१७. इस अर्पणाजवनवीथि से सम्वद्ध जानने योग्य वातें नवम परिच्छेद में आनेवाली हैं, अतः यहां हम वीथिक्रम में अपेक्षित अभिप्रायमात्र को कहेंगे।

['समापज्जन' (समापादन=ध्यान प्राप्त करने की क्रिया) को 'समापत्ति' कहते हैं। आदिकर्मिक, समापज्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ एवं तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ के शब्दार्थ चतुर्थपरिच्छेद के अर्पणाजवनवार एवं जवननियम में कहे जा चुके हैं[1]।]

मन्दप्रज्ञ की आदिकर्मिकवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो झ' भ

... ... ooo ooo ... ...

तीक्ष्णप्रज्ञ की समापत्तिवीथि

भ 'न द म उ नु गो झ झ झ' भ

... ... ooo ... ...

---

१. द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, पृ० ३३८, ३८१, ३८८ ।

वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि

१६. श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करते समय –

"सद्दं पठमचित्तेन तीतं दुतियचेतसा ।
ततियेन तु विञ्ञत्ति भावं चतुत्थचेतसा' ।।"

इस गाथा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा 'आओ' इस प्रकार का शब्द करके पुकारने पर 'आओ' इस प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का, फिर अतीत शब्दालम्बन का आलम्बन करके श्रोत्रद्वारिकवीथि एवं अतीतग्रहणवीथि, आगमनाभिलाष-आकार को जाननेवाली वाग्विज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि तथा आगमन-अभिप्राय को जाननेवाली अभिप्राय-ग्रहणवीथियाँ होती हैं ।

वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि

१६. श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करने में भी यदि शब्द एक अक्षरवाला होता है तो समूहग्रहणवीथि आवश्यक नहीं होती । यदि अक्षर अनेक होते हैं तो अनेक समूह-ग्रहणवीथियाँ होती हैं । तदनन्तर 'आओ' इस नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नाम-ग्रहणवीथि, 'आना' क्रिया नामक अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ भी होंगी ही । इसके बाद विज्ञप्तिग्रहणवीथि एवं अभिप्रायग्रहणवीथियाँ भी होती हैं ।

आचार्यों का कथन है कि हाथ हिलाने पर पूर्वज्ञात सङ्केतप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली सङ्केतग्रहणवीथि, पूर्वसङ्केत का हिलाने के साथ सम्बन्ध करके जाननेवाली सम्बन्धग्रहणवीथि 'मुझे बुलाता है' – इस प्रकार का निश्चय करनेवाली निश्चयग्रहण-वीथियाँ भी समूहग्रहण, नामग्रहण, एवं अर्थग्रहण वीथियों के अनन्तर होती हैं । 'ये सभी वीथियों में, सभी पुद्गलों में हो सकती हैं कि नहीं' – इस पर विचार करना चाहिये ।

चित्तस्वरूप – ये कामजवन प्रकृतिकाल (स्वाभाविक काल) में आलम्बन यदि दुर्बल होते हैं तो ६ वार प्रवृत्त होते हैं । मज्झिमभाणकत्थेर के अनुसार १ वार तदालम्बन भी हो सकता है । इस प्रकार अनेक मत होने से इन वीथिचित्तों का स्वरूप पूर्णरूप से दिखलाया नहीं जा सकता । 'कौन कौन वीथिचित्त होते हैं ?' – ये विषय कुछ ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान के ही विषय हैं ।

कामजवनवार मनोद्वारवीथि समाप्त ।

में ३ – ३ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः तृतीयध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षण-वीथियाँ कुल ८×३=२४ होती हैं। चतुर्थध्यान की ८ वीथियों में प्रत्येक में २ – २ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः चतुर्थध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ८×२=१६ होती हैं। तथा पञ्चमध्यान की ४० वीथियों में प्रत्येक में २ ध्यानाङ्ग होते हैं; अतः पञ्चमध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ४०×२=८० होती हैं। इस प्रकार प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल १९२ हैं।

चित्तस्वरूप, आलम्बन एवं वस्तु

आदिकर्मिक प्रथमध्यानवीथि में सम्मिलित होनेवाले चित्त ये हैं; यथा – मनोद्वारावर्जन १, त्रिहेतुक कामावचर कुशल एवं क्रिया सौमनस्यजवन ४ (सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एवं महाक्रिया) प्रथमध्यान कुशल एवं क्रिया चित्त २= ७ प्रकार के चित्त होते हैं। इन चित्तों में से ज्ञानसम्प्रयुक्त कुशल एवं क्रिया-चित्त परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू कृत्य करनेवाले चित्त हैं। इन परिकर्म-आदि जवनों के सौमनस्यसहगत होने से प्रथमध्यानचित्त भी सौमनस्यसहगत ही होते हैं। जैसे कहा गया है – 'सोमनस्ससहगतजवनानन्तरं अप्पना पि सोमनस्ससहगता व पाटिकङ्खितब्बा[1]।' पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गलों की सन्तान में कुशलप्रथमध्यान तथा अर्हत् की सन्तान में क्रियाप्रथमध्यान होता है। इस प्रकार कुशल एवं क्रिया द्वारा विभाजन करके जानना चाहिये।

भवङ्ग से अवशिष्ट मनोद्वारावर्जन से लेकर ध्यानपर्यन्त वीथिचित्त उपेक्षा-ब्रह्मविहार की आलम्बनभूत सत्त्वप्रज्ञप्ति का वर्जन करके शेष रूपावचरध्यान की आलम्बन-भूत २५ प्रज्ञप्तियों में से किसी एक का आलम्बन करते हैं। (उपेक्षाब्रह्मविहार के परिवर्जन एवं २५ प्रज्ञप्तियों के स्वरूप के ज्ञान के लिये नवम परिच्छेद देखें।)

इन वीथियों का आश्रय हृदयवस्तु ही होता है।

भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग

इन आदिकर्मिकवीथियों में भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद है। पूर्वाचार्यों के मतानुसार प्रथमध्यान आदिकर्मिकवीथि, ७ कामसुगतिभूमियों में ही होती है। पुद्गल के रूप में यह वीथि ४ फलस्थ पुद्गल एवं १ ध्यानलाभी त्रिहेतुक पुद्गल = ५ प्रकार के पुद्गलों में ही होती है। यह वीथि चूंकि कामसुगतिभूमियों में ही होती है, अतः पूर्व एवं अपर भवङ्ग ४ कामत्रिहेतुक भवङ्गों में से ही कोई एक होता है।

ऊपर ऊपर की आदिकर्मिकवीथियाँ – द्वितीयध्यान-आदि आदिकर्मिकवीथियों में प्रथमध्यान के भवङ्गों एवं भूमियों के अतिरिक्त कुछ और जोड़ना पड़ेगा। जैसे – द्वितीयध्यान आदिकर्मिकवीथि ७ काम-सुगतिभूमियों के अतिरिक्त प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि में भी होती है। तथा भवङ्गों में ४ कामत्रिहेतुक भवङ्गों के अतिरिक्त प्रथमध्यान विपाकचित्त भी होता है। तृतीयध्यान-वीथि में पूर्वोक्त भूमि एवं

---

1. प्र० – अभि० स० ४ : २८, पृ० ३५० ।

अभि० स० : ५५

समापत्तिवीथि की उत्पत्ति –

अपने द्वारा प्राप्त किसी एक ध्यान की समापत्ति अभीष्ट होने पर पृथ्वीकसिण-प्रज्ञप्ति-आदि सम्बद्ध आलम्बनों में से किसी एक का मनोद्वार में प्रादुर्भाव होने पर भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, तदनन्तर ध्यान २-३ वार से लेकर यथायोग्य अनेक वार होते हैं। ध्यान से उठने के वाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं।

प्रत्यवेक्षणवीथि – पहले पहल ध्यान प्राप्त होने के वाद, अथवा समापत्ति होने के वाद उस ध्यान में आनेवाले ध्यानाङ्गसमूह का एक एक करके पुनः समावर्जन करनेवाली वीथि 'प्रत्यवेक्षणवीथि' कहलाती है। यह उपर्युक्त कामजवनवार शुद्ध मनोद्वारिकवीथि ही है। इस वीथि में कुछ लोग जवन का ५ वार होना कहते हैं। यमकप्रातिहार्यकाल-आदि में जवन ४ या ५ वार होते हैं, किन्तु प्रकृतिकाल में वे जवन ७ वार होते हैं[1]। यहाँ महग्गत ध्यानाङ्गों का आलम्बन किया जाने से तदालम्बनपात आवश्यक नहीं है।

ध्यानवीथि के प्रभेद – रूपावचरध्यान ५, अरूपावचरध्यान ४ – इस प्रकार ९ ध्यानों का कुशल एवं क्रिया से गुणन करने पर ९×२=१८ वीथियाँ होती हैं। इन १८ वीथियों का आदिकर्मिक एवं समापत्तिवीथि से गुणन करने पर १८×२=३६ वीथियाँ हो जाती हैं। इन ३६ वीथियों का तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल की वीथि एवं मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल की वीथि – इन २ वीथियों से गुणन करने पर कुल ३६× २=७२ वीथियाँ हो जाती हैं। यदि इनमें से केवल प्रथमध्यानवीथि की ही गणना की जाये तो प्रथमध्यान का कुशल एवं क्रिया से गुणन करने पर २ वीथियाँ होती हैं। इन २ वीथियों का आदिकर्मिक एवं समापत्तिवीथि से गुणन करने पर २×२=४ वीथि, इन ४ वीथियों का तीक्ष्णप्रज्ञ एवं मन्दप्रज्ञ की वीथि से गुणन करने पर कुल ४×२=८ वीथियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यानवीथियाँ भी ८-८ होती हैं। पञ्चमध्यानवीथि रूपावचर पञ्चमध्यानवीथि १ एवं अरूपावचर ध्यानवीथियाँ ४=५ प्रकार की होती हैं। इन पाँचों का क्रमशः कुशल, क्रिया-आदि से गुणन करने पर ये कुल ४० हो जाती हैं।

प्रत्यवेक्षणवीथियों के प्रभेद – एक एक ध्यानाङ्ग में एक एक प्रत्यवेक्षणवीथि होती है। प्रथमध्यान की उपर्युक्त ८ वीथियों में से एक एक वीथि में ५-५ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः ८ का ५ से गुणन करने पर प्रथमध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ४० होती हैं। द्वितीयध्यान की ८ वीथियों में प्रत्येक वीथि में ४-४ ध्यानाङ्ग होते हैं, अतः द्वितीयध्यानाङ्गों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ८×४=३२ होती हैं। तृतीयध्यान की ८ वीथियों में प्रत्येक

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३६-३८ की व्याख्या, पृ० ३७५।

रूपावचरध्यानप्राप्त पुद्‌गल पृथग्जन होने पर भी सर्वदा ऊपर ही ऊपर चलता रहेगा, (कामभूमि के प्रति आसक्त निकन्तिका तृष्णा के कारण जबतक ध्यान से पतित नहीं होगा तबतक) आसानी से नीचे की भूमि में न आ सकेगा।

आधुनिक आचार्यों का मत – आधुनिक आचार्यों का मत है कि कामसुगतिभूमि में चाहे प्रथमध्यान हो चाहे द्वितीयध्यान, यदि प्राप्त होने के बाद च्युति हो जाती है तो वह प्राप्त कुशलध्यान अन्तर्हित हो जाता है। उस कुशलध्यान के बल से रूपावचर-भूमि में, सम्बद्ध ध्यानविपाकचित्त प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग कृत्य करते हुए उत्पन्न होता है। विपाकचित्त के भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होने से जिस समय ब्रह्मा किसी आलम्बन का आलम्बन नहीं करते रहते उस समय ध्यानविपाकचित्त के लिये वह ध्यान समावर्जन करने के काल की तरह होता है। इसलिये प्रथमध्यानभूमि में पहुँचने पर भी प्रथमध्यान की पुनः भावना करने से ही उस (प्रथमध्यान) की प्राप्ति हो सकती है। यदि पुनः भावना नहीं की जाती है तो प्रथमध्यान की समावर्जनवीथि भी नहीं हो सकेगी। यदि पुनः भावना करने से ही उस (ध्यान) की प्राप्ति होती है तो प्रथमध्यानभूमि में प्रथम-ध्यान-आदिकर्मिकवीथि भी अवश्य होगी। इसी प्रकार द्वितीयध्यान प्राप्त करके जब द्वितीयध्यानभूमि में पहुँचता है तब भी उसके सब कुशलध्यान अन्तर्हित हो जाते हैं। प्रथमध्यान से लेकर पुनः भावना करने से ही क्रमशः बढ़ते हुए उन ध्यानों की प्राप्ति होती है। उस भूमि में प्राप्त होनेवाले सभी ध्यान आदिकर्मिक ही होते हैं, इसलिये प्रथमध्यान आदिकर्मिकवीथि ७ कामसुगतिभूमि एवं १५ रूपभूमियों में हो सकती है। ऊपर ऊपर की रूपध्यान-आदिकर्मिकवीथियों में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। कहा भी गया है –

"अथ खो अञ्ञतरो सत्तो आयुक्खया वा पुञ्ञक्खया वा आभस्सरकाया चवित्वा सुञ्ञं ब्रह्मविमानं उप्पज्जति[1]।"

"अथ सत्तानं पकतिया वसितट्ठाने निकन्ति उप्पज्जति, ते पठमज्झानं भावेत्वा ततो ओतरन्ति[2]।"

उपर्युक्त पालि एवं अट्ठकथा में प्रलयकाल के बाद सृष्टि के आदिकाल में बिना ब्रह्माओंवाली प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि में नये ब्रह्माओं की उत्पत्ति कही गयी है। उपर्युक्त पालि में उल्लिखित 'पुञ्ञक्खय' शब्द द्वारा उसी आभास्वर द्वितीयध्यानभूमि में पुनः उत्पन्न होने के लिये आवश्यक द्वितीयध्यान की शक्ति का क्षीण हो जाना कहा गया है। इस प्रकार के कथन से उस द्वितीयध्यानभूमि में उस ब्रह्मा की सन्तान में द्वितीयध्यान का न होना (लोप) जाना जा सकता है। द्वितीयध्यानहीन वह ब्रह्मा प्रथमध्यानभूमि में उत्पन्न होने की अभिलाषा से पुनः प्रथमध्यान आरब्ध करता है। इसीलिये अट्ठकथा में 'पठमज्झानं भावेत्वा' – ऐसा कहा गया है। निष्कर्ष यह हुआ कि उस आभास्वरभूमि के ब्रह्माओं की सन्तान में भावना करने से पूर्व प्रथमध्यान भी नहीं

१. दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १७।
२. दी० नि० अ० (सीलक्खन्धट्ठकथा), पृ० १०२।

भवङ्गों में द्वितीयध्यानभूमि और द्वितीयध्यानविपाकचित्त को भी जोड़ना चाहिये। चतुर्थध्यान से तृतीयध्यान ब्रह्मभूमि में ही होने के कारण चतुर्थध्यानवीथि ७ कामसुगतिभूमि, प्रथमध्यानभूमि एवं द्वितीयध्यानभूमि में ही होने से कोई अधिक भूमि नहीं होती। यदि द्वितीयध्यानभूमि में तृतीयध्यानविपाक से प्रतिसन्धि लेनेवाला होता है तो पञ्चमध्यानवीथि में तृतीयध्यानभूमि एवं चतुर्थध्यानविपाक भवङ्ग-चित्त अधिक होंगे। आकाशानन्त्यायतनवीथि कामसुगतिभूमि एवं असंज्ञिवर्जित १५ रूपावचरभूमियों में होती है। विज्ञानानन्त्यायतनवीथि में उन (पूर्वोक्त) भूमियों के अतिरिक्त प्रथम अरूपभूमि भी होती है। आकिञ्चन्यायतनवीथि में द्वितीय-अरूपभूमि एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतनवीथि में तृतीय अरूपभूमि अधिक होती है। इसी प्रकार जितनी अधिक भूमियाँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार उतने ही अधिक भवङ्ग भी जानने चाहियें–यह पूर्वाचार्यों का अभिमत है।

स्पष्टीकरण–पूर्वाचार्यों का मत है कि चाहे मनुष्य हो या देवता, यदि उसने कामसुगतिभूमि में रहते समय ही ध्यान की भावना करके प्रथमध्यान की प्राप्ति कर ली है तो वह प्रथमध्यान-आदिकर्मिकवीथि कामसुगतिभूमि में ही होती है। उससे च्युत होकर जब वह प्रथमध्यानभूमि में पहुँचता है तो कामसुगतिभूमि में प्राप्त वह प्रथमध्यान-कुशल उस (ब्रह्मा) की सन्तान में विद्यमान ही रहता है। अतः उस प्रथमध्यानभूमि में प्रथमध्यान-आदिकर्मिकवीथि का होना फिर आवश्यक नहीं है। ध्यान का समावर्जन करते समय समापत्तिवीथि ही होती है। इसी प्रकार द्वितीयध्यान-आदिकर्मिकवीथि भी द्वितीयध्यानभूमि में नहीं होती; अपितु कामसुगतिभूमि एवं प्रथमध्यानभूमि में ही होती है। इसी प्रकार ऊपर ऊपर की भूमियों से सम्बद्ध आदिकर्मिक ध्यानवीथियाँ भी नीचे की भूमियों में ही होंगी–यही उनके विचारों का निष्कर्ष है।

समीक्षा–उपर्युक्त पूर्वाचार्यों के मतानुसार यदि 'प्राप्त ध्यान भवपरिवर्तन होने पर भी अन्तर्हित नहीं हो सकते'–ऐसा कहा जाता है तो फिर आसानी से ब्रह्मभूमि से कामभूमि में प्रत्यावर्त्तन नहीं हो सकेगा; अपितु ब्रह्मभूमियों में ही परिवर्तन होता रहेगा। तथा ऊपर ऊपर की ध्यानभूमियों में पहुँचा हुआ पृथग्जन आसानी से नीचे की ब्रह्मभूमियों में पुनः नहीं आ सकेगा। अर्थात् पूर्वाचार्यों के मतानुसार कामभूमि में प्रथम-ध्यान प्राप्त होने पर च्युति के अनन्तर प्रथमध्यानभूमि में पहुँचने पर भी उसे प्रथम-ध्यान की ही प्राप्ति होती रहेगी और इस तरह प्राप्त होते रहने से वह पुनः पुनः उसी का समावर्जन करता रहेगा। उस प्रथमध्यान की आयु पूर्ण हो जाने पर जब च्युति होगी तब भी समावर्जित प्रथमध्यान से प्रथमध्यानभूमि में ही पुनः होगा। उसका कामभूमि में फिर लौटना कदाचित् सम्भव नहीं हो सकेगा। यदि द्वितीयध्यान की प्राप्ति हो जाती है तो द्वितीयध्यानभूमि में पहुँच जायेगा। उस द्वितीयध्यानभूमि में भी द्वितीयध्यान के अन्तर्हित न होने से यदि ऊपर के ध्यान को विना प्राप्त किये ही च्युति हो जाती है तो च्युति के अनन्तर पुनः द्वितीयध्यानभूमि ही प्राप्त होगी। जब प्रथमध्यानभूमि में ही लौटना सम्भव न हो सकेगा तो ऐसी स्थिति में कामभूमि की तो बात ही दूर है! इस प्रकार

मार्गवीथि

१८. मार्गवीथि भी स्रोतापत्तिमार्गवीथि, सकृदागामिमार्गवीथि, अनागामिमार्गवीथि एवं अर्हत्-मार्गवीथि – इस तरह चार प्रकार की होती है। उनमें से स्रोतापत्तिमार्गवीथि भी प्रथमध्यान, द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान, चतुर्थध्यान एवं पञ्चमध्यान मार्गवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। उनमें से प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि की उत्पत्ति –

त्रैभूमिक संस्कार-धर्मों में अनित्य-आदि आकारों के अत्यन्त विभूततर (स्पष्ट) होने से मार्गवीथि की प्राप्ति अत्यासन्न होने पर भवङ्गचलन भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल में 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू' – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ४ वार; तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल में 'उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू' – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ३ वार तदनन्तर मार्गजवन १ वार एवं फलजवन ३ वार होते हैं। तत्पश्चात् यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके मार्ग, फल, निर्वाण, प्रहीणक्लेश एवं शेष क्लेशों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ उत्पन्न होती हैं।

मार्गवीथि

१८. स्रोतापत्तिमार्गप्राप्त पुद्गलों में से कुछ पुद्गल प्रथम परिच्छेद में कथित नय के अनुसार वितर्क, विचार-आदि ५ ध्यानाङ्गों से सम्प्रयुक्त मार्ग प्राप्त करते हैं। कुछ पुद्गल ४, कुछ ३ एवं कुछ २ ध्यानाङ्गों से सम्प्रयुक्त मार्ग की प्राप्ति करते हैं। इस तरह ध्यानाङ्गों का सम्प्रयोग पाँच प्रकार का होने से स्रोतापत्तिवीथि भी प्रथमध्यान स्रोतापत्तिवीथि, द्वितीयध्यान स्रोतापत्तिवीथि-आदि भेद से पाँच प्रकार की होती है।

मन्दप्रज्ञ पुद्गल की प्रथमध्यान स्रोतापत्तिवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो मा फ फ' भ
... ...

द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान, चतुर्थध्यान एवं पञ्चमध्यान मार्गवीथियाँ तथा ऊपर की मार्गवीथियाँ भी प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि की तरह ही होती हैं। किन्तु ऊपर की मार्गवीथियों में गोत्रभू के स्थान पर 'वोदान' (व्यवदान) को विशेष जानना चाहिये।

मन्दप्रज्ञ पुद्गल की ऊपर की मार्गवीथि

भ 'न द म रि उ नु वो मा फ फ' भ
... ...

स्रोतापत्तिमार्ग का पूर्वगामी ज्ञान पृथग्जनगोत्र का अभिभव करके आर्यगोत्र का उत्पाद करने से मुख्यरूप से 'गोत्रभू' कहा जाता है। ऊपर के मार्गों के पूर्वगामी ज्ञान के लिये

होता। अतः आभास्वरभूमि के ब्रह्माओं की सन्तान में आरब्ध करने से पूर्व कोई कुशल-ध्यान नहीं होते – यह स्पष्ट होता है।

द्वितीयध्यान-आदि आदिकर्मिकवीथियों के आलम्बन नवम परिच्छेद के अनुसार १० कसिण-आदि ही हैं। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यानों के आलम्बन १० कसिण, नीचे के तीन ब्रह्मविहारों की आलम्बनभूत त्रिविध सत्त्वप्रज्ञप्ति एवं आनापानस्मृति की आलम्बनभूत आश्वास-प्रश्वास-प्रज्ञप्ति = १४ होते हैं। पञ्चमध्यान के आलम्बन १० कसिण, उपेक्षाब्रह्मविहार की आलम्बनभूत सत्त्वप्रज्ञप्ति एवं आश्वास-प्रश्वास-प्रज्ञप्ति = १२ होते हैं। ४ अरूपध्यानों के आलम्बन क्रमशः आकाशप्रज्ञप्ति, प्रथमारूप्यविज्ञान, नास्तिभावप्रज्ञप्ति (नत्थिभावपञ्ञत्ति) एवं तृतीयारूप्यविज्ञान हैं।

समापत्तिवीथि – कामभूमि में ९ ध्यानों को प्राप्त पुद्गल कामभूमि में ही उन ध्यानों का समावर्जन कर सकता है। प्रथमध्यानभूमि एवं शुद्धावास अकनिष्ठभूमि में भी इन ९ ध्यानों को प्राप्त किया जा सकता है। शुद्धावासभूमिस्थ ब्रह्मा अभिज्ञाप्राप्ति के लिये नीचे के रूपावचर एवं अरूपावचर ध्यानों का समावर्जन करते हैं। इसलिये सभी रूप एवं अरूप ध्यानों की समापत्तिवीथियाँ ७ कामसुगतिभूमि एवं १५ रूपभूमियों में हो सकती हैं।

ऊपर ऊपर की अरूपभूमियों में पहुँचनेवाले पुद्गल को नीचे नीचे के ध्यानों की प्राप्ति नहीं हो सकती। तथा पुनः आरब्ध न करने के कारण प्रथम अरूपभूमि में रूपध्यानसमापत्तिवीथियाँ भी नहीं होतीं; चार अरूपध्यान-समापत्तिवीथियाँ ही होती हैं। द्वितीय अरूपभूमि में प्रथम अरूपसमापत्तिवीथि नहीं होती, अवशिष्ट तीन अरूपसमापत्ति-वीथियाँ ही होती हैं। तृतीय अरूपभूमि में तृतीय एवं चतुर्थ दो अरूपसमापत्तिवीथियाँ ही होती है। तथा चतुर्थ अरूपभूमि में एक चतुर्थ अरूपसमापत्तिवीथि ही होती है। पूर्व एवं अपर भवङ्गों को भी यथायोग्य भूमि के अनुसार ही समझना चाहिये।

प्रत्यवेक्षणवीथि के चित्तस्वरूप-आदि

प्रत्यवेक्षणवीथियों में मनोद्वारावर्जन १ एवं कामजवन १६ (महाकुशल एवं महाक्रिया) = १७ चित्त ही होते हैं। त्रिहेतुक पृथग्जन एवं शैक्ष्य की सन्तान में महाकुशल जवन तथा अर्हत् की सन्तान में महाक्रियाजवन होते हैं।

भवङ्ग से अवशिष्ट वीथिचित्त ध्यानाङ्गों का आलम्बन करते हैं। जब प्रथम-ध्यानवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि होती है तब वह प्रथमध्यान में आनेवाले अतीत वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता – इन ५ ध्यानाङ्गों में से किसी एक का आलम्बन करती है। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनवीथि के अनन्तर अतीत उपेक्षा एवं एकाग्रता-इन दो अङ्गों में से किसी एक का आलम्बन करती है।

उन उन ध्यानवीथियों के अनुसार भूमि एवं पुद्गल भी होते हैं। जैसे – प्रथमध्यान-वीथि के उत्पत्तिस्थानभूत भूमि एवं पुद्गल ही उस प्रथमध्यानवीथि के अनन्तर होनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि के भी भूमि एवं पुद्गल होते हैं। अर्थात् जिस भूमि एवं पुद्गल में प्रथमध्यानवीथि होगी उसी भूमि एवं पुद्गल में प्रथमध्यानवीथि की प्रत्यवेक्षणवीथि भी होगी।

ध्यानवीथि समाप्त।

स्रोतापत्तिमार्गवीथि के चित्तस्वरूप-आदि

प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि में मनोद्वारावर्जन १, सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल २, स्रोतापत्तिमार्ग १ एवं स्रोतापत्तिफल १=५ चित्त होते हैं। भवङ्ग से अवशिष्ट चित्तों में से मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार एवं अनुलोम तक ये चित्त त्रैभूमिक संस्कार-धर्मों का आलम्बन करते हैं। अर्थात् मनोद्वारावर्जन से लेकर अनुलोम तक के चित्त काम, रूप एवं अरूप भूमियों में होनेवाले सभी नाम एवं रूप धर्मों का आलम्बन करते हैं। शेष गोत्रभू, मार्ग एवं फल चित्त निर्वाण का आलम्बन करते हैं।

भूमि एवं पुद्गल

यह प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि कामसुगतिभूमि ७, असंज्ञिसत्त्व एवं शुद्धावासभूमिवर्जित रूपावचरभूमि १०=१७ भूमियों में होती है। त्रिहेतुक पुद्गल, स्रोतापत्तिमार्गस्थ एवं स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल – इस प्रकार इन तीन पुद्गलों में होती है। अर्थात् मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, एवं गोत्रभू के क्षणों में यह वीथि त्रिहेतुक पुद्गल की सन्तान में होती है; स्रोतापत्तिमार्ग के क्षण में मार्गस्थ पुद्गल की सन्तान में होती है तथा फलजवनों की प्रवृत्ति के क्षण में फलस्थ पुद्गल की सन्तान में होती है। कामसुगतिभूमि एवं रूपावचरभूमियों में होने के कारण पूर्व एवं अपर भवङ्ग कामत्रिहेतुकविपाक ४ एवं रूपविपाक ५=९ होते हैं।

ऊपर की ध्यानमार्गवीथियाँ – प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्ग से ऊपर के ध्यानों में भी चित्तस्वरूप, आलम्बन, भूमि एवं भवङ्ग प्रथमध्यानमार्गवीथि की तरह ही होते हैं। केवल इतना विशेष जानना चाहिये—पञ्चमध्यानमार्गवीथि में मार्ग के पूर्ववर्ती परिकर्म-आदि के क्षणों में २ उपेक्षासम्प्रयुक्त महाकुशलचित्त होते हैं। ऊपर के मार्गों की ध्यानवीथियों के चित्तस्वरूप एवं आलम्बन स्रोतापत्तिमार्गवीथि के समान ही होते हैं; किन्तु उनमें स्रोतापत्ति मार्ग एवं फल चित्तों का परिवर्तन करके उनके स्थान पर उन उन वीथियों से सम्बद्ध मार्ग एवं फल चित्तों को रखना चाहिये।

भूमि की दृष्टि से – ये सकृदागामिमार्ग एवं अनागामिमार्ग वीथियाँ कामसुगतिभूमि ७, रूपावचर भूमि १० एवं अरूपावचरभूमि ४=२१ भूमियों में होती हैं। अर्हत्-मार्गवीथि में उपर्युक्त भूमियों के अलावा ५ शुद्धावासभूमियों को भी जानना चाहिये। भूमि के अनुसार ही भवङ्गों को भी जानना चाहिये। अर्थात् इनमें कामत्रिहेतुक भवङ्ग ४ एवं रूप-अरूप भवङ्ग ९=१३ भवङ्ग होते हैं। त्रिहेतुक पृथग्जन जिस प्रकार स्रोतापत्तिमार्ग को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल सकृदागामिमार्ग को प्राप्त होता है; अतः सकृदागामिमार्गवीथि स्रोतापत्तिफलस्थ, सकृदागामिमार्गस्थ एवं सकृदागामिफलस्थ=३ पुद्गलों में होती है। इसी प्रकार ऊपर की मार्गवीथियों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

प्रत्यवेक्षणवीथियों में से मार्ग, फल एवं निर्वाण का आलम्बन करनेवाली वीथियों में ८ ज्ञानसम्प्रयुक्त काम कुशल एवं क्रिया जवन होते हैं। प्रहीण क्लेश एवं अवशिष्ट क्लेशों का आलम्बन करने में विप्रयुक्त के भी हो सकने के कारण १६ काम कुशल एवं

उसी तरह पृथग्जनगोत्र का अभिभव करके आर्यगोत्र को उत्पन्न करने का अवकाश न होने से वह मुख्यरूप से गोत्रभू नहीं कहा जा सकता; किन्तु मार्गधर्मों का पूर्वगामी होने के रूप में समान होने से सदृशोपचार से उसे कोई 'गोत्रभू' कहना चाहे तो कह सकता है; किन्तु कुछ कुछ क्लेश-धर्मों से विशुद्ध होने के कारण तथा सर्वतोभावेन विशुद्ध निर्वाण का आलम्बन करने के कारण उसे 'वोदान' कहा जाता है[1]।

मार्गवीथि के प्रभेद – ४ मार्गों का ५ ध्यानों से गुणन करने से मार्ग ४×५=२० होते हैं। इनका तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ एवं मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ – इन द्विविध पुद्गलों से गुणन करने पर मार्गों की सङ्ख्या २०×२=४० हो जाती है। उन ४० का पादक ध्यान, सम्मर्शित ध्यान एवं पुद्गलाध्याशय – इन तीन से गुणन करने पर मार्गवीथि कुल ४०×३=१२० हो जाती हैं।

[यहाँ इन पादक, सम्मर्शित एवं पुद्गलाध्याशय से गुणन करने पर भी मार्गवीथि में कोई विशेष (भेद) नहीं होता। ये पादकध्यान-आदि गुणीकृत ४० के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। कोई शक्तिविशेष होने पर ही गुणन करना चाहिये। इसलिये इन पादक-आदि से गुणन करना उचित प्रतीत नहीं होता। फिर भी, क्योंकि पूर्वाचार्यों ने गुणन किया है, अतः यहाँ भी कर दिया गया है।]

प्रत्यवेक्षणवीथि के प्रभेद – स्रोतापत्तिमार्गवीथि के अनन्तर उस मार्ग का समावर्जन करनेवाली वीथि १, फल का समावर्जन करनेवाली वीथि १, निर्वाण का समावर्जन करनेवाली वीथि १, प्रहीणक्लेशों का समावर्जन करनेवाली वीथि १ एवं अवशिष्ट क्लेशों का समावर्जन करनेवाली वीथि १ – इस प्रकार स्रोतापत्तिमार्गवीथि के अनन्तर ५ प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं। इसी तरह सकृदागामिमार्गवीथि एवं अनागामिमार्गवीथि के अनन्तर भी ५ – ५ प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं। अर्हत्-मार्गवीथि में अवशिष्ट क्लेश न होने से उस (अर्हत्-मार्गवीथि) के अनन्तर केवल ४ प्रत्यवेक्षणवीथियाँ ही होती हैं। इस प्रकार प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल १९ होती हैं।

ऊपर विस्तार के साथ गुणन करने से सिद्ध १२० मार्गवीथियों में स्रोतापत्ति-मार्गवीथि ३० होती हैं। उन ३० में से एक एक मार्गवीथि के अनन्तर ५ – ५ प्रत्य-वेक्षणवीथियाँ होने से प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ३०×५=१५० होती हैं। इसी प्रकार सकृदागामिमार्गवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि १५०, अनागामिमार्गवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि १५० एवं ३० अर्हत्-मार्गवीथि का ४ प्रत्यवेक्षणवीथियों से गुणन करने पर अर्हत्-मार्गवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथियाँ १२०=५७० प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती है।

---

१. "पठममग्गपुरेचारिकं ञाणं हि पुथुज्जनगोत्ताभिभवनतो अरियगोत्तभवनतो च निप्परियायतो 'गोत्रभू' ति वुच्चति। इदं (वोदानं) पन तंसदिसताय परियायतो गोत्रभू। एकच्चसङ्किलेसविसुद्धिया पन अच्चन्तविसुद्धिया आलम्बनकरणतो च 'वोदानं' ति वुच्चति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४८७ – ४८८।

मन्दप्रज्ञ की फलसमापत्तिवीथि

भ 'न द म नु नु नु नु फ (अनेक वार)' भ

तीक्ष्णप्रज्ञ की वीथि में अनुलोम ३ वार होते हैं – इसे जानना चाहिये।

फल-समापत्तिवीथि के प्रभेद – फलसमापत्तिवीथि भी मार्गवीथि की तरह १२० होती हैं। ये सभी वीथियाँ कामसुगतिभूमि, रूप एवं अरूप भूमियों में होती हैं; किन्तु शुद्धावासभूमि में स्रोतापत्तिफल एवं सकृदागामिफल वीथियाँ नहीं हो सकतीं – यह ध्यान में रखना चाहिये। पूर्व एवं अपर भवङ्ग भी त्रिहेतुक १३ भवङ्गों में से ही कोई एक होता है। नीचे की तीन फलवीथियों में अनुलोमजवन ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एवं अर्हत्-फलवीथि में ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रिया होते हैं। तथा यदि-पञ्चमध्यान होता है तो उपेक्षासम्प्रयुक्त और यदि नीचे के ध्यान होते हैं तो सौमनस्यसम्प्रयुक्त होते हैं। अपने अपने फल का ही समावर्जन करने से स्रोतापत्तिफलसमापत्तिवीथि में स्रोतापत्तिफल तथा सकृदागामि-अनागामि-अर्हत्-फलसमापत्तिवीथियों में क्रमशः सकृदागामिफल, अनागामिफल, एवं अर्हत्-फल होते हैं।

अनुलोम नाम – फलजवनों के पूर्ववर्ती उपचारसमाधि-जवनों का 'अनुलोम' यह नामकरण किया गया है। "अरहतो अनुलोमं फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो; सेक्खानं अनुलोमं फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो"[1] – इस प्रकार 'पट्ठानपालि' में भी 'अनुलोम' यह नामकरण उपलब्ध होता है; किन्तु 'विसुद्धिमग्ग' में सबसे अन्तिम जवन का गोत्रभू यह नाम भी उपलब्ध होता है[2]।

अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नहीं करते – जिस प्रकार मार्ग का पूर्ववर्ती गोत्रभू निर्वाण का आलम्बन करता है, उस प्रकार फलजवनों के पूर्ववर्ती अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नहीं करते; अपितु संस्कार-धर्मों का ही आलम्बन करते हैं[3]। मार्ग-धर्म अपने निश्रयभूत सत्त्वों का 'वट्टदुक्ख'[4] (संसार दुःख) नामक संस्कारक्षेत्र से निःसरणकृत्य करते हैं। अतः उनके पूर्वगामी गोत्रभू धर्म भी 'वट्टदुक्ख' नामक संस्कार धर्मों का आलम्बन न करके उनसे मुक्त निर्वाण का आलम्बन करते हैं; और इसीलिये वे (गोत्रभू) धर्म भी मार्गकृत्य के अनुकूल होते हैं। फल-धर्म 'वट्टदुक्ख' नामक संस्कारक्षेत्र से निःसरणकृत्य करनेवाले धर्म नहीं हैं; अपितु वे दृष्टधर्मसुखविहारमात्र होते हैं, अतः फल-धर्मों के पूर्वगामी अनुलोमधर्मों के लिये भी संस्कार-धर्मों से निःसरणकृत्य करना आवश्यक नहीं होता। इसलिये फलसमापत्तिवीथि में फल के पूर्वगामी ये अनुलोम धर्म,

---

१. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० १२८-१२९।

२. द्र० – विभा०, पृ० ९३।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ९८५।

४. "वट्टं संसारो।" – विभ० अनु०, पृ० १७१।
अभि० स० : ५६

फलसमापत्तिवीथि

१९. फलसमापत्तिवीथि में भी मार्गवीथि की ही तरह स्रोतापत्तिफलवीथि-आदि भेद होते हैं। इनमें से प्रथमध्यान स्रोतापत्तिफलवीथि की उत्पत्ति –

स्रोतापत्तिफलप्राप्त स्रोतापन्न पुद्गल निर्वाण का आलम्बन करके दृष्टधर्मसुखविहार करना चाहता है तो (इसी भव में फलसमापत्तिसुख से विहार करना चाहता है तो) त्रैभूमिक संस्कारों के अनित्य-आदि आकार (लक्षण) अत्यन्त विभूततया अवभासित होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल में अनुलोम ४ बार, तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल में अनुलोम ३ बार, तदनन्तर यथेष्ट फल होते हैं। फलसमापत्ति से उठते समय यथायोग्य भवङ्ग होते हैं।

क्रिया जवन होते हैं। इन प्रत्यवेक्षण जवनों का अतिशीघ्र जवित होना आवश्यक न होने के कारण ये ७ बार जवित होते हैं।

[अर्हत् की सन्तान में क्रियाजवन एवं शैक्ष्य की सन्तान में कुशलजवन जवित होते हैं। शेष ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान नवम परिच्छेद की 'मग्गं फलञ्च निब्बानं" इस गाथा की व्याख्या देखकर जानना चाहिये।]

आलम्बन की दृष्टि से – मार्ग का समावर्जन करनेवाली वीथि मार्ग का आलम्बन करती है। अवशिष्ट क्लेशों का समावर्जन करनेवाली वीथि अवशिष्ट क्लेशों का आलम्बन करती है – ऐसा जानना चाहिये।

पुद्गल की दृष्टि से – फलजवन होने के बाद अर्थात् फलस्थ पुद्गल होकर समावर्जन करने के कारण ४ फलस्थ पुद्गलों में स्वसम्बद्ध प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं।

भूमि की दृष्टि से – स्वसम्बद्ध मार्गवीथि जिस भूमि में होती है, उसी भूमि में प्रत्यवेक्षणवीथि भी होती है – ऐसा जानना चाहिये।

मार्गवीथि समाप्त।

फलसमापत्तिवीथि

१९. ऐश्वर्यशाली राजा, देवराज एवं ब्रह्मा-आदि जिस प्रकार अपनी सुख-सम्पत्ति का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार निर्वाण नामक सुख-सम्पत्ति के स्वामी आर्यपुद्गल भी अपने निर्वाणसुख का प्रत्यक्ष भव में अनुभव करके उपभोग करते हैं। इस प्रकार विहार करने में निर्वाण का आलम्बन करनेवाले फलचित्तों को अनेक बार उत्पन्न करना 'फलसमापत्ति' कहलाती है।

अभिञ्ञावीथि

२०. अभिञ्ञावीथि भी इद्धिविध (ऋद्धिविध), दिब्बसोत, परचित्तविजानन, पुब्बेनिवासानुस्सति, दिब्बचक्खु, यथाकम्मूपग एवं अनागतंस अभिञ्ञावीथि – इस तरह ७ प्रकार की होती है। इनमें से इद्धिविध अभिञ्ञावीथि भी अधिट्ठानिद्धि, विकुब्बनिद्धि एवं मनोमयिद्धि – इस प्रकार त्रिविध होती है। इनमें से अधिट्ठानिद्धि अभिञ्ञावीथि की उत्पत्ति –

प्रायः आठ समापत्तियों से सम्पन्न पुद्गल जब अनेक प्रकार की ऋद्धियों का निर्माण करना चाहता है तो उसमें किसी एक कसिण का आलम्बन करके रूपावचर-पञ्चमध्यान का समावर्जन करनेवाली समापत्तिवीथि होती है। यह अभिञ्ञा की पादकध्यानवीथि है।

मार्ग के पूर्वगामी गोत्रभू एवं वोदान (व्यवदान) की भांति निर्वाण का आलम्बन करनेवाले न होकर संस्कार-धर्मो का आलम्बन करते हैं[1]।

मार्गवीथियाँ – मार्गवीथि के फलजवन फलसमापत्ति नहीं हैं। मार्गवीथि में आनेवाले २ – ३ वार फलजवनों के लिये पृथक् परिकर्म नहीं किया जाता; अपितु मार्ग के वेग से ही वे अपने आप होनेवाले फलमात्र होते हैं, अतः उन्हें 'फलसमापत्ति' नहीं कहा जा सकता। मार्ग से असम्बद्ध पृथक् फलजवन होने के लिये, संस्कार-धर्मों की अनित्य-अनातम-दुःख – इस प्रकार भावना के रूप में पृथक् परिकर्म किया जाता है, अतः मार्ग से असम्बद्ध फलजवनों को ही 'फलसमापत्ति' कहा जाता है।

फलसमापत्ति से उठना – फलसमापत्ति का समावर्जन करने से पूर्व 'मैं इतने कालपर्यन्त समावर्जन करूँगा' – इस प्रकार कालपरिच्छेदपूर्वक अविष्ठान करके ही समावर्जन किया जाता है। इसलिये अपने अधिष्ठान का काल पूर्ण हो जाने पर फलजवनसन्तति रुककर भवङ्ग-चित्त उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भवङ्गचित्तों के उत्पाद को ही 'फलसमापत्ति से उठना' कहते हैं।

फलसमापत्तिवीथि समाप्त।

अभिञ्ञावीथि

२०. रूपावचर कुशल एवं क्रिया पञ्चमध्यान में सम्प्रयुक्त अभि अर्थात् विशेषरूप से जाननेवाले ज्ञान को 'अभिज्ञा' कहते हैं। उस ज्ञान से सम्प्रयुक्त पञ्चमध्यान को भी 'अभिज्ञा' कहते हैं।

इस अभिज्ञा को प्राप्त करने के इच्छुक पुद्गल को प्रायः आठ समापत्तियों (चतुष्क नय के अनुसार चार रूपावचरध्यान एवं चार अरूपावचरध्यान को आठ समापत्ति

---

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० १८८ – १८९; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४८० ।

इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। परचित्तविजानन में 'एतस्स चित्तं जानामि' में इसके चित्त को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। पुब्बेनिवासानुस्सति में 'पुब्बे निवुत्थं जानामि' में पूर्वभव में निवास किये गये अपने एवं दूसरों के स्कन्ध, उन स्कन्धों से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति, परिनिर्वाणप्राप्त बुद्ध-आदि के निर्वाण को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार यथेच्छ परिकर्म करना चाहिये।

दिव्यचक्षुष् में जब पादकध्यान का समावर्जन किया जाता है तब सभी कसिण अनुरूप नहीं होते। केवल आलोक उत्पन्न होने के लिये तेजस्, अवदात, एवं आलोक – इन तीन कसिणों में से ही किसी एक का आलम्बन करके समावर्जन कर 'एतस्स रूपं पस्सामि' में इसका रूप देखना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। यथाकम्मूपग में 'अतीतं कम्मं जानामि' में अतीत कर्म को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। अनागतंस में 'अनागतं अंसं जानामि' में उनके अनागत अंश को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये।

पुब्बेनिवासानुस्सति में 'पुब्बे निवुत्थं खन्धं जानामि' – इस प्रकार पूर्वाचार्य परिकर्म करते हैं; किन्तु यहाँ केवल स्कन्ध ही नहीं, अपितु स्कन्ध से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण का भी यथाभिलषित परिकर्म किया जा सकने के कारण स्कन्ध शब्द आवश्यक नहीं है। इसी तरह अनागतंस में भी स्कन्ध शब्द आवश्यक नहीं है, अतः 'अनागतं अंसं जानामि' – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये।

ये ७ लौकिक अभिज्ञायें हैं। इनमें से अनागतंस एवं यथाकम्मूपग को दिव्यचक्षुष् की मूलभूत होने से अर्थात् दिव्यचक्षुष् की परिवारभूत होने से दिव्यचक्षुष् में ही सम्मिलित करके 'पञ्च अभिज्ञा' भी कहा जाता है। कहीं कहीं ६ अभिज्ञाओं का उल्लेख भी आता है। वहाँ उपर्युक्त ५ अभिज्ञाओं में १ आस्रवक्षय (अर्हत्-मार्ग) अभिज्ञा को जोड़कर जानना चाहिये।

अभिज्ञा के आलम्बन – भगवान् बुद्ध द्वारा 'धम्मसङ्गणि' पालि में परीत्तालम्बनतिक-आदि ४ आलम्बनतिकों का उपदेश किया जाने से उन अभिज्ञा के आलम्बनों को उन ४ आलम्बनतिकों में यथायोग्य सम्मिलित करना चाहिये।

"आरम्मणतिका वुत्ता ये चत्तारो महेसिना।
सत्तन्नमभिञ्ञाणानं पवत्ति तेसु दीपये[1]॥"

१. इद्धिविध – ब्रह्मभूमि में जाने की इच्छा होने पर यदि स्कन्ध (शरीर) को चित्त की तरह अत्यन्त शीघ्रगामी करना अभीष्ट होता है तो 'यह शरीर चित्त की तरह शीघ्रगामी हो' – ऐसा अधिष्ठान किया जाता है। वह अधिष्ठानचित्त (परीत्तालम्बनतिक के अनुसार) कामधर्म स्कन्ध (रूप) का आलम्बन करता है। वह स्कन्ध प्रत्युत्पन्न होने से (अतीतालम्बनतिक के अनुसार) प्रत्युत्पन्न धर्म का आलम्बन करता है। वह स्कन्ध आध्यात्मिक (अज्झत्तिक) धर्म होने से (अज्झत्तारम्मणतिक के अनुसार) आध्यात्मिक धर्म का आलम्बन करता है। पादकध्यान का आलम्बन करके 'यह चित्त काय के अनुसार

१. विसु०, पृ० २६६।

परिकर्मवीथि

भ 'न द म ज ज ज ज ज ज ज' भ

यहाँ परिकर्म करने में 'सतं होमि, सहस्सं होमि' – आदि, मन्त्रपाठ की तरह नहीं किये जाते; अपितु 'एक सौ होऊँ, एक हजार होऊँ, अमुक रूप से होऊँ' – इस प्रकार अपने अभीष्ट रूप का चित्त द्वारा आलम्वन करके अधिष्ठान करना मात्र होता है। इसलिये इस वीथि को 'अधिष्ठानवीथि' भी कहते हैं। यह कामजवन मनोद्वारवीथि ही है। यह एक वीथिमात्र नहीं है; अपितु अनेक वीथियाँ हो सकती हैं। उसके बाद अभिज्ञा के पादकरूप में पञ्चम ध्यान का पुनः समावर्जन होता है।

पुनः पादकध्यानवीथि का लाभ – इस पादकध्यान का पुनः समावर्जन करने से क्या लाभ होता है?

पुनः समावर्जन करना अभिज्ञा को बल प्रदान करनेवाला होता है। अर्थात् बलवती अभिज्ञा होने के लिये पादकध्यान का पुनः समावर्जन किया जाता है।

स्वभाव से अभिज्ञा में वशीभाव को प्राप्त (अभ्यस्त) पुद्गल यदि पादकध्यान का पुनः समावर्जन न करे, फिर भी अभिज्ञा उत्पन्न हो सकती है – यह भी जानना चाहिये। अतः 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के साथ ही कुछ अट्ठकथाओं में पुनः पादकध्यानवीथि का उल्लेख नहीं है।

अभिज्ञावीथि

भ 'न द म रि उ नु गो भि' भ

इस अभिज्ञावीथि के उत्पाद से पहले पादकध्यानवीथि एवं परिकर्मवीथियाँ पुनः पुनः उत्पन्न होती हैं। अरूपभूमि में रूपावचर पञ्चमध्यान का समावर्जन न हो सकने के कारण वहाँ ये वीथियाँ नहीं हो सकतीं। अतः ७ कामसुगतिभूमि एवं १५ रूपभूमि में ही ये वीथियाँ होती हैं। इसलिये पूर्व-अपर भवङ्ग भी कामत्रिहेतुक भवङ्ग ४ एवं रूपावचर भवङ्ग ५ = ९ ही होते हैं। त्रिहेतुक पृथग्जन १ एवं फलस्थ पुद्गल ४ = ५ पुद्गलों में ही ये वीथियाँ होती हैं। अर्हत्-पुद्गल की सन्तान में क्रिया-अभिज्ञा तथा पृथग्जन एवं शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान में कुशल अभिज्ञा होती है। अभिज्ञा से पूर्ववर्ती जवन महाकुशल एवं क्रिया उपेक्षासम्प्रयुक्त ही होते हैं; क्योंकि यह ध्यान पञ्चमध्यान होता है। यदि तीक्ष्ण पुद्गल होता है तो परिकर्मजवन ३ वार ही होते हैं।

(इद्धिविध के प्रभेद तथा दिव्यश्रोत्र-आदि अभिज्ञाओं की उत्पत्ति का क्रम एवं स्वभाव-आदि नवम परिच्छेद के 'अभिज्ञा-प्रकरण' की व्याख्या में देखें।)

दिव्यश्रोत्र-आदि अभिज्ञाओं में परिकर्म के अतिरिक्त शेष क्रम दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा की तरह ही होता है। दिव्यश्रोत्र में 'एतस्स सद्दं सुणामि' में इसका शब्द सुनना चाहता हूँ –

किन्तु उन आचार्यों के मत के सदृश मत का 'विसुद्धिमग्ग' में खण्डन किया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' का कहना है कि इस भव के स्वसम्बद्ध अतीत हुए सभी आलम्बनों का सामान्य परिकर्मसमाधि से सम्प्रयुक्त ज्ञान द्वारा (परिकर्म करनेवाली मनोद्वारवीथि द्वारा) भी आलम्बन किया जा सकता है। 'अतीतांश ज्ञान द्वारा आलम्बन किया जाता है' – इस प्रकार कुछ लोगों द्वारा कहा जाने में 'अतीतांशज्ञान' यह शब्द यदि रूपावचर पुब्बेनिवास-अभिज्ञा की अपेक्षा से कहा जाता है तो उचित नहीं है; किन्तु यदि अतीत का आलम्बन करनेवाले सामान्य परिकर्म समाधि से सम्प्रयुक्त कामावचर ज्ञान की अपेक्षा करके कहा जाता है तो युक्तियुक्त होता है।

"तत्थ पच्छिमनिसज्जतो पभुति याव पटिसन्धितो आरम्मणं कत्वा पवत्तं ञाणं पुब्बेनिवासञाणं नाम न होति, तं पन परिकम्मसमाधिञाणं नाम होति। अतीतंसञाणं पि एके वदन्ति तं रूपावचरं सन्धाय न युज्जति[1]।"

'परमत्थदीपनी' में कहा गया है कि पुब्बेनिवास-अभिज्ञा इस भव में अतीत हुए दूसरों के चित्त-चैतसिकों एवं उनके साथ नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्तियों तथा निर्वाण का आलम्बन करती है। अट्ठकथाओं में न आने पर भी यह उचित प्रतीत होता है। अपने चित्त-चैतसिकों का आलम्बन करने के बारे में ही 'यह अभिज्ञा का आलम्बन नहीं है' – ऐसा 'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है। अतीत चित्त-चैतसिक-आदि का आलम्बन करने के बारे में नहीं कहा गया है[2]।

५. दिब्बचक्खु – दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा कामधर्मभूत अज्झत्त (प्राकृत चक्षुष् से देखने में अयोग्य स्कन्ध के भीतर) एवं बहिद्धा सन्तान में सभी प्रत्युत्पन्न रूपों का आलम्बन करती है।

६. यथाकम्मूपग – कर्म के अनुसार उन उन भवों में उपगत पुद्गलों की अतीत कर्मचेतना का आलम्बन करनेवाली अभिज्ञा को 'यथाकर्मोपग अभिज्ञा' कहते हैं। कर्म को प्रधान करके उस कर्म से सम्प्रयुक्त चित्त-चैतसिक ४ नामस्कन्धों का भी आलम्बन किया जाता है। इसलिये यह काम एवं महग्गत अतीत कुशल-अकुशल नामक धर्मालम्बन का आलम्बन करती है – ऐसा कहा गया है।

७. अनागतंस – जैसे पुब्बेनिवास-अभिज्ञा अतीत धर्मसमूहों का आलम्बन करती है, वैसे ही अनागतांश-अभिज्ञा अनागत धर्मसमूह का आलम्बन करती है; किन्तु काल का परिच्छेद करते समय ये दोनों समान नहीं होतीं। पुब्बेनिवास द्वारा अतीत द्वितीय-भव से लेकर अतीत धर्मसमूह का आलम्बन किया जाता है। यह अनागतांश आज से लेकर अध्यात्म एवं बहिर्धा स्वसन्तान एवं परसन्तान में होनेवाले काम, महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त-चैतसिक तथा रूप नामक अनागत धर्मसमूह एवं नाम-गोत्र, वस्तु-द्रव्य, प्रज्ञप्ति तथा निर्वाण सभी का आलम्बन कर सकती है।

---

१. विसु०, पृ० २८७।

२. प० दी०, पृ० २७३।

हों' – इस प्रकार अधिष्ठान करते समय आलम्बनभूत ध्यानचित्त महग्गत अतीतधर्म होता है। बाह्य (वहिद्धा) अश्व, हस्ती-आदि का निर्माण करते समय अश्व, हस्ती-आदि काम वहिद्धा प्रत्युत्पन्न आलम्बन होते हैं। महाकाश्यप की धातुओं की स्थापना करते समय धातुगर्भ में रखे हुए दीपक एवं पुष्प-आदि का 'अनागतकाल में मलिन एवं शुष्क न हों' – इस प्रकार अधिष्ठान करते समय कुछ चित्तों ने प्रत्युत्पन्न दीपक एवं पुष्पों का आलम्बन तथा कुछ अधिष्ठानचित्तों ने अनागत दीपक एवं पुष्पों का आलम्बन किया होगा। उपर्युक्त आलम्बनों में से कुछ रूपालम्बन, कुछ शब्द, गन्ध, रस या स्प्रष्टव्य आलम्बन तथा कुछ ध्यानचित्त एवं द्रव्य-आदि धर्मालम्बन हैं। इस प्रकार ६ आलम्बन होते हैं।

२. दिब्बसोत – दिव्यश्रोत्र-अभिज्ञा प्राकृत कर्ण से सुनने में अयोग्य अपने शरीर के अन्दर के (अज्झत्त) एवं दूरस्थ (वहिद्धा) शब्दालम्बन का आलम्बन करती है। इसलिये अज्झत्त एवं बहिद्धा कामधर्मभूत प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करती है।

३. परचित्तविजानन – परचित्तविजानन में 'परचित्त' कथित होने से अज्झत्त एवं बहिद्धा में वह वहिद्धा है, ६ आलम्बनों में वह धर्मालम्बन है। केवल चित्त ही नहीं, अपितु चैतसिक का भी आलम्बन करने से ४ नामस्कन्ध का आलम्बन किया जाता है – ऐसा जानना चाहिये। परीत्तालम्बनतिक के अनुसार काम, महग्गत, एवं लोकोत्तर सभी चित्तों का यथाशक्ति आलम्बन किया जा सकता है। पूर्व ७ दिन एवं अपर ७ दिन के बीच होनेवाले चित्तों का आलम्बन कर सकने के कारण अतीतालम्बनतिक के अनुसार ७ दिन के बीच होनेवाले अतीत चित्तों एवं अनागत चित्तों के साथ प्रत्युत्पन्न चित्त का भी आलम्बन किया जा सकता है। प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करने के बारे में अट्ठकथा-टीकाओं में मतभेद हैं। इस विषय में चतुर्थ परिच्छेद को मनोद्वारवीथि देखें[1]। इस परचित्तविजानन अभिज्ञा को 'चेतोपरिय-अभिञ्ञा' भी कहते हैं।

४. पुब्बेनिवास – यह पूर्वनिवास-अभिज्ञा पूर्व अतीत द्वितीय भव से लेकर पूर्व पूर्व भव में अपने या दूसरों द्वारा निवास किये गये 'नाम-रूप स्कन्ध नामक काम, महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त-चैतसिक अतीतधर्मसमूह, उन उन नाम-रूपों से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण धर्म – इन छह आलम्बनों का आलम्बन करती है।

वादान्तर – कुछ आचार्य "चेतोपरियञाणचतुत्थं अतीते सत्तदिवसब्भन्तरे अनागते सत्तदिवसब्भन्तरे परेसं चित्तं जानन्तस्स अतीतारम्मणं अनागतारम्मणं च होति, सत्तदिवसातिक्कमे पन तं जानितुं न सक्कोति। अतीतानागतंसञाणानं हि एस विसयो[2]" – इस 'अट्ठसालिनी' के 'सत्तदिवसातिक्कमे...एस विसयो' का प्रमाण करके 'अतीत हुए सात दिन के ऊपर से लेकर इस भव में उत्पन्न स्कन्ध-आदि का भी 'पुब्बेनिवासानुस्सति' अभिज्ञा द्वारा ही आलम्बन किया जाता है' – ऐसा कहते हैं। 'अट्ठसालिनी' में कथित अतीतांशज्ञान 'पुब्बेनिवासानुस्सति' ही है।

---

१. द्र० – अभि० स०, चतु० प० (मनोद्वारवीथि), पृ० ३३९-३४१।
२. अट्ठ०, पृ० ३२९।

निरोधसमापत्तिवीथि

२१. निरोधसमापत्तिवीथि की उत्पत्ति –

अष्ट-समापत्तिलाभी काम एवं रूपी अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल 'भारा हवे पञ्च खन्धा' के अनुसार भारयुक्त स्कन्ध को धारण करने से अत्यन्त उद्विग्न हो कर जब दृष्टधर्म निर्वाणसुख का उपभोग करना चाहते हैं तो लौकिक प्रथमध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान में होनेवाले चित्त-चैतसिक संस्कार-धर्मों की अनित्य, अनात्म एवं दुःख – इस प्रकार विपश्यना करते हैं। उसी तरह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, आकाशानन्त्यायतन एवं विज्ञाना-नन्त्यायतन ध्यानपर्यन्त समावर्जन करके जब जब ध्यान से उठते है तब तब उन ध्यानों में होनेवाले संस्कार-धर्मों की विपश्यना करते हैं, तदनन्तर आकि-ञ्चन्यायतन ध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान से उठते समय उनमें विपश्यना न होकर, नानावद्ध-अविकोपन, सङ्घपटिमानन, सत्थुपक्कोसन एवं अद्धान-परिच्छेद – इन पूर्वकृत्यों को करनेवाली ९ कामजवन मनोद्वारवीथियाँ होती हैं[1]। तदनन्तर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान का समावर्जन करते समय दो वार ध्यान होने के अन्त में चित्त-चैतसिक एवं चित्तज रूपों के निरोध नामक निरोधसमापत्ति की प्राप्ति होती है। निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामी पुद्गल में अनागामिफल एक वार, अर्हत् में अर्हत्फल एक वार होता है। तद-नन्तर यथायोग्य भवङ्ग होते हैं।

निरोधसमापत्तिवीथि

२१. यह निरोधसमापत्ति ध्यानसन्तति नामक शमथ एवं उन ध्यानों में होनेवाले संस्कार-धर्मों की अनित्य-आदि द्वारा भावना नामक विपश्यना – इस प्रकार शमय-विपश्यनायुगलों के क्रमशः आरब्ध होने से प्राप्त होनेवाली समापत्ति है। अल्पभूमि में उसी तरह क्रम से प्राप्त होनेवाले रूपध्यान न होने के कारण काम एवं रूपी अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल ही इसका समावर्जन कर सकते हैं[1]।

नानावद्ध-अविकोपन – नानाविध प्रदेशों में आवद्ध अपने परिष्कार-भण्डारों को नष्ट न होने देने के लिये अधिष्ठान करना 'नानावद्ध-अविकोपन' है। अपने शरीर से सम्बद्ध चीवर-आदि तो समापत्ति के बल से ही नष्ट नहीं हो सकते; किन्तु दूसरे प्रदेश में जो

---

१. द्र०-विसु, पृ० ४९९-५०० ।
अभि० स० : ५७

'विभावनी' में, परचित्तविजानन से सम्मिश्रण न होने देने के भय से 'आनेवाले ५८ दिन से लेकर चित्त-चैतसिकों का, आनेवाले द्वितीय दिन से लेकर शेष आलम्बनों का अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जाता है'-ऐसा विभाजन किया गया है[1] । किन्तु अनागतांश-अभिज्ञा यदि द्वितीय दिन से लेकर शेष आलम्बनों का आलम्बन करती है तो प्रथम दिन के आलम्बनों का कौन ज्ञान आलम्बन करेगा ? क्या यह अनागतांश-ज्ञान का क्षेत्र नहीं है ?

कुछ आचार्य आनेवाले सात दिन से ऊपर आठवें दिन से लेकर 'अनागत धर्म-समूह' का ग्रहण करते हैं। ये आचार्य 'सत्तदिवसातिक्कमे पन तं जानितुं न सक्कोति, अतीतानागतंसञ्ञाणानं हि एस विसयो' - इस 'अट्ठसालिनी' का ही प्रमाण करते हैं -ऐसा प्रतीत होता है; किन्तु हमने 'विसुद्धिमग्ग' के आधार पर कहा है कि 'अट्ठसालिनी' में आनेवाला अनागतांश-ज्ञान रूपावचर-अभिज्ञा नहीं है।

उन आचार्यों के मतानुसार आनेवाले ७ दिन के अन्दर होनेवाले चित्त-चैतसिकों का परचित्तविजानन-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जाता है. अतः उनके सामने कोई समस्या नहीं है; किन्तु चित्त-चैतसिकों से अवशिष्ट रूप, नाम-गोत्र, वस्तु-द्रव्य-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण का किस ज्ञान द्वारा आलम्बन होगा ? अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जायेगा - उन्हें ऐसा मानना पड़ेगा कि नहीं ?

आधुनिक आचार्यों के मतानुसार आज से लेकर सात दिन के भीतर होनेवाले चित्त-चैतसिकों का परचित्तविजानन एवं अनागतांश-अभिज्ञा - दोनों के द्वारा आलम्बन किया जा सकता है। (एक आलम्बन में दो ज्ञान होने से कोई आपत्ति नहीं है । यथायोग्य ज्ञान आलम्बन करेगा ही।) सात दिन के भीतर चित्त-चैतसिकों से अतिरिक्त आलम्बन एवं सात दिन के अनन्तर चित्त-चैतसिकों के साथ सभी आलम्बनों का अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा ही आलम्बन किया जायेगा।

इन आचार्यों की आधारभूत पालि यह होगी -

"तत्थ किञ्चापि चेतोपरियञाणं पि अनागतारम्मणं होति, तं पन सत्तदिवसब्भन्तरे उप्पज्जनकचित्तमेव आरम्मणं करोति। इदं (अनागतंसञ्ञाणं) अनागते कप्पसतसहस्से उप्पज्जनकचित्तं पि खन्धे पि खन्धपटिबद्धं पि.....[2]।"

अभिज्ञावीथि समाप्त।

---

१. विभा०, पृ० २०२।

२. अट्ठ०, पृ० ३२२।

निरोधसमापत्तिवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो झ झ (निरोध) फ' भ

इस वीथि का ध्यान नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान ही है। यदि अनागामी होता है तो कुशलध्यान एवं अनागामिफल, यदि अर्हत्-होता है तो क्रियाध्यान एवं अर्हत्फल होते हैं। परिकर्म आदि इस उपेक्षाध्यान से पूर्वगामी होने के कारण महाकुशल एवं महाक्रिया उपेक्षासम्प्रयुक्त ही होते हैं। कामसुगतिभूमि एवं रूपभूमि होने से पूर्व एवं अपर भवङ्ग कामतिहेतुक भवङ्ग ४ एवं रूपभवङ्ग ५=९ ही होते हैं।

कारण एवं फल – निरोधसमापत्ति आर्यमार्गप्रज्ञा का फल है। फलसमापत्ति विपश्यना का फल है। अभिज्ञा लौकिकध्यानसमापत्ति का फल है। इस निरोध-समापत्ति का कामभूमि एवं रूपभूमि से गुणन करने पर ये २ होती हैं। इन २ का अनागामी एवं अर्हत् से गुणन करने पर ४ होती हैं। इन ४ का तीव्र एवं मन्द पुद्गलों से गुणन करने से निरोधसमापत्ति कुल ८ होती हैं।

ध्यान दो बार – यहाँ प्रश्न होता है कि निरोध-समापत्ति से पूर्व ध्यान दो बार ही क्यों होता है?

उत्तर – पूर्व आरब्ध सभी प्रयोग निरोधसमापत्ति के लिये ही होने के कारण ध्यान दो बार ही होते हैं। अर्थात् प्रथमध्यान से लेकर शमथविपश्यना-युगलों के ऊपर ऊपर आरोहण करते हुए आरब्ध प्रयोग नैवसंज्ञानासंज्ञायतनध्यान के समावर्जन के लिये नहीं, अपितु निरोधसमापत्ति के लिये ही होते हैं। इसलिये नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-ध्यान प्राप्त करते समय अपने इष्ट फल की पूर्ति न होने के कारण उसका ही चिरकाल तक समावर्जन न करके २ बार (कुछ लोग १ बार भी कहते हैं) होने के बाद ही निरोध प्राप्त करते हैं[1]।

अनागामी एवं अर्हत् – क्यों अनागामी एवं अर्हत् ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं?

उत्तर – स्रोतापन्न एवं सकृदागामी पुद्गल समाधि के प्रतिपक्ष कामच्छन्दनीवरण एवं अनुशयधातु का अशेष प्रहाण करने में असमर्थ होते हैं, अतः उन में समाधि प्रबल नहीं होती। अनागामी एवं अर्हत् में ही इस कामच्छन्दनीवरण का अशेष प्रहाण हो चुका होने से समाधि प्रबल होती है, अतः अनागामी एवं अर्हत् ही निरोध-समापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं[2]।

"समाधिपटिपक्खस्स कामरागस्स हायिनं।

हुए भण्डार जल, अग्नि एवं चोर-आदि शत्रु नष्ट न कर सकें – इस प्रकार अधिष्ठान करना 'नानावद्ध-अविकोपन' है[1]।

सङ्घपटिमानन – सङ्घ द्वारा 'पटिमानन' करना अर्थात् कोई एक सङ्घकृत्य करने के लिये सङ्घ द्वारा अपनी प्रतीक्षा किया जाना 'सङ्घपटिमानन' है। इस प्रकार की प्रतीक्षा की सम्भावना होने पर 'सङ्घ द्वारा बुलाने से पहले समापत्ति से उठूँगा' – ऐसा अधिष्ठान करना 'सङ्घपटिमानन' है। इस तरह अधिष्ठान करके समावर्जन करने से ही प्रतीक्षा-काल में समापत्ति से उठा जा सकता है। यदि अधिष्ठान न करके समावर्जन किया जाता है तो सङ्घ की आज्ञा से सुनाई पड़ने योग्य स्थान से 'सङ्घ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है' – इस प्रकार कहने पर तुरन्त समापत्ति से उठना पड़ता है[2]।

सत्थुपक्कोसन – भगवान् बुद्ध द्वारा बुलाया जाना 'सत्थुपक्कोसन' है। यदि भगवान् बुद्ध बुलानेवाले हैं तो 'भगवान् बुद्ध द्वारा बुलाये जाने से पूर्व समापत्ति से उठूँगा' – इस प्रकार अधिष्ठान करना 'सत्थुपक्कोसन' कहलाता है। इस प्रकार अधिष्ठान करके समावर्जन किया जाता है तो बुलाने से पहले उठा जा सकता है। यदि अधिष्ठान न करके समावर्जन किया जाता है तो भगवान् बुद्ध की आज्ञा से सुनायी पड़ने योग्य स्थान से बुलाने पर समापत्ति से उठना पड़ता है[3]। (भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर इस सत्थुपक्कोसन का विचार आवश्यक नहीं है।)

अद्धानपरिच्छेद – अपनी आयु के काल का परिच्छेद करना 'अद्धानपरिच्छेद' है। इस समापत्ति का समावर्जन करनेवाला पुद्गल यदि मनुष्यभूमि में होता है तो उसे 'मेरी आयु १ सप्ताह पर्यन्त रहेगी कि नहीं ?' – इस प्रकार परिच्छेद करना होता है। यदि विना विचार किये समावर्जन करना चाहे तो समावर्जन तो किया जा सकता है; किन्तु एक सप्ताह के भीतर यदि आयुःक्षय हो जाता है तो समापत्ति से उठना होगा। समापत्ति के समय च्युति नहीं होना चाहिये। यदि समापत्ति से उठते ही च्युति हो जाती है तो अनागामी के लिये अर्हत् होने का अवकाश न होने से उसकी हानि होती है तथा अर्हत् भी अपने अर्हत् होने के कारणों का सङ्घ को ज्ञान करा देने का अवकाश प्राप्त नहीं कर पाता, तथा उपदेश करने के लिये भी अवकाश प्राप्त नहीं कर पाता – इन कारणों की वजह से शासन की हानि होती है। अतः अद्धानपरिच्छेद का मुख्य रूप से परिच्छेद करना चाहिये, उपर्युक्त ३ कृत्यों का विचार न करने पर भी अधिक हानि नहीं होती। ब्रह्मभूमि में इन चारों पूर्वकृत्यों का विचार आवश्यक नहीं होता। यदि कोई करना चाहे तो केवल अद्धानपरिच्छेद का विचार किया जा सकता है[4]। (इस समापत्ति-काल में समाधिविप्फारिद्धि के वल से दूसरों द्वारा प्राणातिपात नहीं किया जा सकता।)

---

१. तु० – विसु०, पृ० ५०१।
२. तु० – विसु०, पृ० ५०२।
३. तु० – विसु०, पृ० ५०२।
४. तु० – विसु०, पृ० ५०२।

मरणासन्नवीथि

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि

२२. यह मरणासन्नवीथि भी पञ्चद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमें से पञ्चद्वारवीथि भी चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि एवं कायद्वारवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। इनमें से चक्षुर्द्वारवीथि भी जवन के अनन्तर च्युति, जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति, तदालम्बन के अनन्तर च्युति एवं तदालम्बनभवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह चार प्रकार की होती है। इनमें से जवन के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि की उत्पत्ति –

ज्ञाति-आदि द्वारा दिखलाये जाने पर या अपने आप रूपालम्बन के उत्पाद से लेकर एक वार अतीतभवङ्ग अतीत होने पर चक्षुःप्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ५ वार मरणासन्न जवन, च्युति, प्रतिसन्धि, १५ वार या १६ वार भवङ्ग, मनोद्वारावर्जन, ७ वार भवनिकन्तिक लोभजवन तदनन्तर यथासम्भव भवङ्ग होते हैं।

परमार्थरूप से विद्यमान नहीं होता, अतः इसे संस्कृत-आदि नहीं कहा जा सकता; किन्तु समावर्जन करनेवाले पुद्गलों द्वारा आरब्ध की जाने से सम्पन्न होनेवाली समापत्ति होने के कारण इसे निष्पन्न कहा जा सकता है।

"सङ्खता ति पि, असङ्खता ति पि, लोकिया ति पि, लोकुत्तरा ति पि न वत्तब्बा। कस्मा? सभावतो नत्थिताय। यस्मा पन सा समापज्जन्तस्स वसेन समापन्ना नाम होति, तस्मा निप्फन्ना ति वत्तुं वट्टति, नो अनिप्फन्ना[1]।"

निरोधसमापत्तिवीथि समाप्त।

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि

२२. जिस वीथि के अन्त में कुछ भवङ्ग अन्तरित करने पर या अन्तरित न करने पर भी मुख्य च्युतिचित्त होता है उस वीथि को 'मरणासन्नवीथि' कहते हैं। पूर्वाचार्यों ने प्रतिसन्धिवीथि को पृथक् रूप से नहीं दिखलाया है। वे च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धि-वीथि को भी उसी सातत्य में दिखलाते हैं, अतः मरणासन्नवीथि कहने से प्रतिसन्धि-वीथि भी उसी के अन्तर्गत आ जाती है।

---

१. विसु०, पृ० ५०४; विशेष ज्ञान के लिये द्र० – पटि० म० अ०, पृ० २८३–२९०।

उद्देश्य – किसलिये अनागामी एवं अर्हत् इन समापत्तियों का समावर्जन करते हैं ?

उत्तर – संस्कार-धर्मों में संवेग-ज्ञान होने से संविग्न होकर उन संस्कारधर्मों से यथासम्भव विरत रहते हुए दृष्टधर्मसुखविहार का उपभोग करने के लिये अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल निरोधसमापत्ति का समावर्जन करते हैं।

"उदयब्बयसङ्खारे उक्कण्ठित्वान योनिसो।
सुखं विहरिस्सामा ति समापज्जन्ति ते इमं[1] ॥"

उदयव्ययशील (उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाले) संस्कार-धर्मों में योनिशः संवेग-ज्ञान से उद्विग्न होकर 'सुखपूर्वक विहार करेंगे' – इस प्रकार विचार करके वे अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल इस समापत्ति का समावर्जन करते हैं।

कामभूमि में ७ दिन – आहार का आश्रय करके जीवित रहनेवाले कामभूमि के सत्त्वों का एक बार खाया हुआ आहार अधिक से अधिक १ सप्ताहपर्यन्त जीवन-यापन करने में समर्थ होता है, अतः वे अधिक से अधिक १ सप्ताहपर्यन्त ही इस समापत्ति का समावर्जन कर सकते हैं।

"आहारमुपजीविनं भुत्तस्स एकदिवसं।
सत्ताहं वं यापनतो कामे सत्ताहमेव च[2] ॥"

आहार से जीवित रहनेवाले कामभूमि के सत्त्वों का एक दिन खाया हुआ आहार एक सप्ताह ही यापन कर सकता है, अतः कामभूमि में एक सप्ताह ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन किया जा सकता है।

एक सप्ताह के भीतर यथेष्ट समावर्जन किया जा सकता है। रूपभूमि में उसी तरह आहार की अपेक्षा आवश्यक न होने से यथेष्ट कालपर्यन्त समावर्जन किया जा सकता है। 'कामभूमि' यह शब्द केवल मनुष्य कामभूमि की अपेक्षा से ही प्रयुक्त हुआ है – ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि ऊपर की देवभूमियों में इन समापत्तियों का समावर्जन करने का अवसर मिलेगा ही नहीं। वहाँ लौकिक आलम्बनों से रहित एकान्त स्थान न होने से यदि अनागामी होता है तो वह ब्रह्मभूमियों में चला जायेगा। यदि अर्हत् होता है तो तत्काल परिनिर्वाण कर लेगा। नीचे के भूमिदेव अपनी आहार-शक्ति के अनुसार दिनों का परिच्छेद करके समावर्जन कर सकते हैं।

संस्कृत-आदि नहीं, किन्तु निष्पन्न – यह निरोधसमापत्ति संस्कृत एवं असंस्कृत लौकिक एवं लोकोत्तर नहीं है। ये संस्कृत-आदि नाम परमार्थरूप से विद्यमान होने पर ही प्रयुक्त होनेवाले नाम हैं। यह चित्त-चैतसिक एवं चित्तज रूपों का निरोध

---

१. व० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ५०१।

२. व० भा० टी०।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि

२३. मनोद्वारवीथि भी पृथग्जन एवं शैक्ष्यों की मरणासन्न वीथि, एवं अर्हत् की मरणासन्नवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमें से पृथग्जन एवं शैक्ष्यों की मरणासन्नवीथि भी कामभूमि में होनेवाले पुद्गल में जवन के अनन्तर च्युति, जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति, तदालम्बन के अनन्तर च्युति एवं तदालम्बन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह ४ प्रकार की होती है। कामभूमि से च्युत होकर अन्य भूमियों में प्रतिसन्धि लेनेवाले तथा अन्य भूमि से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में जवन के अनन्तर च्युति एवं जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह दो प्रकार की च्युति होती है।

नवप्रतिसन्धिचित्त इस भव में अपने से पूर्व हृदयवस्तु उत्पन्न न होने के कारण अपने साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है। इसलिये हृदयवस्तु एवं प्रतिसन्धि चित्त अन्योन्यनिःश्रयप्रत्यय होते हैं।

प्रतिसन्धि से अवशिष्ट भवङ्ग, मनोद्वारावर्जन एवं जवन अपने पूर्वचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं। प्रथम भवङ्गचित्त प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है – इस प्रकार विस्तार से जानना चाहिये।

भूमि एवं पुद्गल

कामभूमि से च्युत हो कर कामभूमि में ही प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल एवं रूपभूमि से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल में ही यह पञ्चद्वारवीथि होने के कारण विगत भव के लिये कामभूमि एवं रूपभूमि कही गयी हैं। (रूपभूमि से च्युत होने में घ्राणादित्रयवीथि नहीं होती तथा तदालम्बन का पात भी नहीं होता – ऐसा जानना चाहिये। रूपभूमि एवं अरूपभूमि में जानेवाले पुद्गलों में पृथ्वीकसिण-आदि कर्मनिमित्त का आलम्बन करने से तथा अरूपभूमि से इस काम-भूमि में आनेवाले पुद्गलों में रूपालम्बन का आलम्बन न कर सकने से वहाँ ये पञ्च-द्वारवीथियाँ नहीं हो सकतीं।)

अनागामी एवं अर्हत् कामभूमि में प्रतिसन्धि नहीं लेते, अतः यह पञ्चद्वारवीथि ४ पृथग्जन तथा स्रोतापन्न एवं सकृदागामी पुद्गलों में ही होती है।

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि समाप्त।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि

२३. कामभूमि से च्युत होकर कामभूमि में ही प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलों में कामजवन, कामसत्त्व एवं विभूत काम-आलम्बन – इन तीनों के सम्पन्न होने से तदालम्बनपात होनेवाली

नये भव के प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग चित्त भी इन पञ्चालम्बन कर्मनिमित्तों का ही आलम्बन करते हैं। प्रत्युत्पन्नकर्मनिमित्त एवं अतीतकर्मनिमित्त – इस प्रकार यथायोग्य चित्त होंगे। अतीतभवङ्ग से लेकर च्युतिपर्यन्त गणना करने पर रूपालम्बन की आयु सत्रह चित्तक्षण पूर्ण न होने पर प्रतिसन्धिचित्त के साथ कुछ भवङ्ग प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। पीछे पीछे के भवङ्ग अतीत रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। च्युतिचित्त तक पहुँचते समय यदि सत्रह चित्तक्षण पूर्ण हो जाते हैं तो प्रतिसन्धिचित्त से लेकर सभी भवङ्ग अतीत कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। जवन के अनन्तर च्युति होनेवाली प्रथम वीथि को देखिये – वहाँ अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपालम्बन के च्युतिचित्त होते समय चौदह चित्तक्षण ही अतीत होते हैं; अभी ३ चित्तक्षण आयु अवशिष्ट होती है, इसलिये प्रतिसन्धिचित्त के साथ दो बार भवङ्ग प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं तथा तृतीय भवङ्ग से लेकर आगे आनेवाले सम्पूर्ण भव के भवङ्ग उस अतीत कर्मनिमित्त रूपालम्बन का ही आलम्बन करते हैं। यदि तदालम्बन भवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि होती है तो अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपालम्बन की, जब च्युतिचित्त होता है तब, सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाती है; अतः नवप्रतिसन्धि से लेकर सभी भवङ्ग अतीतरूपालम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। इस प्रकार नये भव के चित्तों के आलम्बनों का विभाजन करके उन्हें जानना चाहिये।

मनोद्वारावर्जन के साथ ७ बार भवनिकन्तिक लोभजवन 'प्रतिसन्धि' नामक नामविपाकस्कन्ध एवं कटत्तारूप (कर्मजरूप) का आलम्बन करते हैं। (प्रतिसन्धिकृत्य करनेवाले विपाक चित्त-चैतसिकों के साथ होनेवाले कर्मजरूपों को 'प्रतिसन्धि' कहते हैं। जैसे – महाविपाक प्रथमचित्त, ३३ चैतसिक एवं ३ कर्मजकलापों को 'त्रिहेतुक प्रतिसन्धि' कहते हैं। इस प्रतिसन्धि को ही 'भव' कहते हैं। इस भव का ही आलम्बन करके उसमें आसक्त होनेवाले लोभजवनों को 'भवनिकन्तिक लोभजवन' कहते हैं। सभी सत्त्व चाहे किसी भी अवस्था में हों, अपने भव के प्रति आसक्त होते हैं। इस आसक्ति को ही 'भवनिकन्तिका' कहते हैं।)

च्युतिचित्त से ऊपर (पूर्ववर्ती चित्तों की) गणना करने पर सत्रहवें चित्त के ठीक स्थितिकाल से लेकर नये कर्मजरूपों के उत्पन्न न होने से द्विपञ्चविज्ञान १०, प्रवृत्तिपञ्चद्वारवीथि में होने की तरह न होकर च्युतिचित्त से ऊपर सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न पञ्चवस्तु का आश्रय करते हैं। (किन्तु पञ्चविज्ञान उत्पन्न होते समय विद्यमान पञ्च वस्तुओं में से सभी वस्तुओं का आश्रय कर सकते हैं – इस प्रकार आधुनिक आचार्य विचार करते हैं। विशेष ज्ञान के लिये 'निःश्रयप्रत्यय' देखें।)

द्विपञ्चविज्ञान से अवशिष्ट पूर्वभव के वीथिचित्त उसी तरह च्युतिचित्त से ऊपर गणना करने पर सत्रहवें चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं। (प्रवृत्तिकाल की तरह पूर्व पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का नहीं।)

आश्रयवस्तु पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि की तरह ही है। अरूपभूमि में आश्रयवस्तु न होने से उसका विचार करना आवश्यक नहीं है।

भूमि-भेद से – असंज्ञिवर्जित ३० भूमियों में यह वीथि होती है। (असंज्ञिभूमि में रूपधर्म द्वारा ही च्युति होती है)।

पुद्गलभेद से – पृथग्जन ४, एवं अर्हत्-वर्जित ३ फलस्थ पुद्गलों में ही यह वीथि यथायोग्य होती है।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि समाप्त।

भवङ्गमीमांसा

'अमुक भूमि से अमुक च्युति के अनन्तर अमुक प्रतिसन्धि होती है' – इस प्रकार कहने पर 'विगत भव में अमुक भवङ्ग होकर नये भव में अमुक भवङ्ग होते हैं' – इस प्रकार जाना जा सकने के कारण मरणासन्नवीथियों में भवङ्गपात के नय का यहाँ पूर्वच्युति एवं अपरप्रतिसन्धि द्वारा सङ्क्षेपतः प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार भवङ्गमीमांसा करने पर न केवल भवङ्ग का ज्ञान ही; अपितु भूमिपरिवर्तन का ज्ञान भी सुकर हो जायेगा।

अहेतुक च्युति २, द्विहेतुक च्युति ४=६ के अनन्तर १० कामप्रतिसन्धि होती हैं। यदि अहेतुक एवं द्विहेतुक पुद्गल च्युत होता है तो ध्यान प्राप्त न होने से कामभूमि में ही अहेतुक प्रतिसन्धि २ एवं महाविपाक प्रतिसन्धि ८ में से किसी एक के द्वारा प्रतिसन्धि लेगा, इसलिये सम्बद्ध मरणासन्नवीथि में विगत भव में अहेतुक एवं द्विहेतुक भवङ्गों में से कोई एक तथा नये भव में १० कामभवङ्गों में से कोई एक भवङ्ग होता है।

वीथियाँ भी होती हैं। अविभूत-आलम्बन या विभूत-आलम्बन होने पर भी च्युति का काल अत्यन्त आसन्न होने पर तदालम्बन का पात न होनेवाली वीथियाँ भी होती हैं। इसलिये ४ वीथियाँ हो सकती हैं। कामभूमि से च्युत होकर अन्य भूमियों में जानेवाले पुद्गलों में कामजवन एवं कामसत्त्व होने पर भी रूप एवं अरूप प्रतिसन्धि-चित्तों द्वारा प्रज्ञप्ति एवं महग्गत का ही यथायोग्य आलम्बन किया जाने से[1] उन भूमियों में जानेवाले कामपुद्गलों का मरणासन्न जवन भी प्रज्ञप्ति एवं महग्गत का ही आलम्बन करेगा, अतः इनमें तदालम्बन-पात नहीं हो सकता। अन्य भूमियों से कामभूमि में आनेवाले पुद्गलों में कामसत्त्व न होने के कारण तदालम्बन का पात नहीं हो सकता। इसीलिये जवन के अनन्तर च्युति एवं जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस प्रकार २ वीथियाँ ही होती हैं।

इन वीथियों के आलम्बन अतीत, प्रत्युत्पन्न, काम, महग्गत एवं प्रज्ञप्ति – इस प्रकार नानाविध होते हैं। उन आलम्बनों में से प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त का आलम्बन करते समय यदि जवन के अनन्तर च्युति होती है तो अतीतभवङ्ग से लेकर गणना करने पर च्युति से पूर्व १० चित्तक्षण ही अतीत होते हैं। प्रतिसन्धि एवं छह भवङ्ग प्रत्युत्पन्न आलम्बन का ही पुनः आलम्बन कर सकते हैं। इन वीथियों के भवङ्गों से अधिक प्रत्युत्पन्न का आलम्बन करनेवाले भवङ्ग अन्य नहीं हैं।

अर्हत् की परिनिर्वाणवीथि से अवशिष्ट मरणासन्न मनोद्वारवीथि में होनेवाले चित्त पञ्चद्वारवीथि में ही होनेवाले द्विपञ्चविज्ञान १०, मनोधातु ३ एवं अर्हत् की सन्तान में ही होनेवाले क्रियाजवन ९ = २२ चित्तों को वर्जित करके कामचित्त ३२ ही होते हैं।

[आलम्बन अनेकविध होते हैं; अतः उन्हें पृथक् नहीं दिखलाया गया है। जिज्ञासु पाठक आलम्बनसङ्ग्रह के 'द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धिभवङ्गचुतिसङ्खातानं' आदि की व्याख्या एवं 'मरणुप्पत्तिप्रकरण' (पञ्चम परिच्छेद) देखें।]

संक्षेपतः रूपभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गल की वीथि में "रूपावचरपटिसन्धिया पञ्ञत्तिभूतं कम्मनिमित्तमारमणं होति[2]" के अनुसार मरणासन्न जवन, प्रतिसन्धि एवं भवङ्ग कसिणप्रज्ञप्ति-आदि कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। अरूपभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गल 'तथा आरुप्पपटिसन्धिया च महग्गतभूतं पञ्ञत्तिभूतञ्च[3]' के अनुसार महग्गत एवं प्रज्ञप्ति – इनमें से किसी एक कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। कामभूमि में पहुँचनेवाले पुद्गल की वीथि में कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीनों में से कोई एक अर्थात् कामधर्म नामक ६ आलम्बनों में से कोई एक यथायोग्य आलम्बन होता है।

---

१. द्र० – अभि०, स० पृ० २५६।

२. द्र० – अभि० स०, ५ : ८७।

३. द्र० – अभि० स० ५ : ८८।

वीथि, प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि, अभिज्ञासमनन्तरवीथि एवं जीवितसमसीसी-वीथि – इस प्रकार चतुर्विध होती है। इनमें से ध्यान का समावर्जन करने के अन्त में च्युति होनेवाली वीथि 'ध्यानसमनन्तरवीथि' कहलाती है, ध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि होने के बाद च्युति होनेवाली वीथि 'प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि' कहलाती है, अभिज्ञा का समावर्जन करने के बाद च्युति होनेवाली वीथि 'अभिज्ञासमनन्तरवीथि' कहलाती है. एवं जीवितेन्द्रिय निरुद्ध होने के आसन्नकाल में अर्हत्-फल की प्राप्ति होने से अर्हत्-मार्गवीथि होने के अनन्तर भवङ्ग अन्तरित करके मार्ग एवं फल-आदि का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि के अन्त में परिनिर्वाण करनेवाले पुद्गल की वीथि 'जीवितसमसीसीवीथि' कहलाती है।

में होती है। इस वीथि का प्रारूप उपर्युक्त मनोद्वारमरणासन्नवीथि की तरह ही है। केवल च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धि, भवङ्ग-आदि न होना ही विशेष है।

आलम्बन के रूप में मनोद्वारावर्जन, जवन एवं तदालम्बन नामक वीथिचित्त अन्य मरणासन्नवीथियों की तरह कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त का आलम्बन न करके सामान्य त्रैभूमिक नाम-रूप एवं प्रज्ञप्ति आलम्बनों में से किसी एक का आलम्बन करते हैं। अर्थात् पुनः फल देने के लिये कर्म आवश्यक न होने से यहाँ कर्म-आलम्बन एवं कर्मनिमित्त आलम्बन प्रादुर्भूत नहीं हो सकते। जाने की गति भी न होने से गतिनिमित्त आलम्बन भी नहीं हो सकते। सामान्य लौकिक नाम-रूप एवं प्रज्ञप्ति आलम्बनों में से ही कोई एक प्रादुर्भूत होगा और उसी आलम्बन का परिनिर्वाणचित्त द्वारा आलम्बन किया जायेगा।

परिनिर्वाण च्युतिचित्त 'पटिसन्धिभवङ्गञ्च तथा चवनमानसं। एकमेव तथेवेक-विसयञ्चेकजातियं[1] ॥" के अनुसार मूल-प्रतिसन्धिकाल के आलम्बन के सदृश कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीन में से किसी एक का आलम्बन करता है।

[केचिवाद के साथ कुछ ज्ञातव्य विषयों के बारे में 'मरणुप्पत्तिचतुक्क' (पञ्चम परि०) की व्याख्या देखें।]

ध्यानसमनन्तरवीथि – यह वीथि कामसुगति, रूप एवं अरूप भूमियों में होती है। ध्यान यथायोग्य अनेक बार होते हैं। अर्हत् की सन्तान होने से पूर्व-अपर जवन क्रिया-जवन ही होते हैं। आलम्बन उन उन ध्यानों के अनुसार कसिण-प्रज्ञप्ति ही हैं। पूर्व-भवङ्ग एवं च्युति चित्त स्वभावतः कर्म, कर्मनिमित्त एवं गतिनिमित्त – इन तीन में से

---

१. द्र० – अभि० स० ५:४०।

परिनिर्वाणवीथि

२४. परिनिर्वाणवीथि भी यदि कामजवन मनोद्वारवीथि होती है तो उपर्युक्त नय के अनुसार जवन के अनन्तर च्युति-आदि भेद से चतुर्विध होती है। यदि अर्पणाजवन होने के अनन्तर परिनिर्वाणवीथि होती है तो ध्यानसमनन्तर-

---

प्रतिसन्धि के साथ ऊपर ऊपर की ६ रूप-अरूप प्रतिसन्धियाँ होती हैं। (यदि पुद्गल आर्य होता है तो वह नीचे की भूमि में नहीं जाता।)

यदि वेहप्फलभूमि का आर्य च्युत होता है तो वह इन भूमियों में नहीं आता। श्रद्धा-आदि इन्द्रिय मृदु होने से यदि अर्हत्फल की प्राप्ति नहीं होती है तो उस वेहप्फल भूमि में ही पुनः प्रतिसन्धि होती है। वेहप्फल, अकनिट्ठ एवं नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमियों में उत्पन्न आर्य (वे भूमियाँ भवाग्र होने से) इन भूमियों में नहीं आते। (विस्तार के लिये चतुर्थ परिच्छेद के अन्त में देखें।)

शुद्धावासभूमि से च्युत होनेवाले पुद्गल अनागामी एवं अर्हत् ही होते हैं। उनमें से अनागामी पुद्गल पूर्व उषित (वास की हुई) शुद्धावासभूमि में पुनः उत्पन्न नहीं होते, अपितु ऊपर की भूमि में चले जाते हैं। अतः शुद्धावासच्युति के अनन्तर एक शुद्धावास-पञ्चमध्यान-प्रतिसन्धि ही होती है।

यदि अकनिष्ठभूमि से च्युति होती है तो वहाँ से प्रतिसन्धि लेनेवाला कोई पुद्गल नहीं होता; क्योंकि वहाँ अर्हत् होकर ही च्युति होती है।

यदि पृथग्जन अरूपभूमि से च्युत होता है तो वह अपनी भूमि में भी होता है, ऊपर ऊपर की अरूपभूमि में भी होता है तथा कामभूमि में त्रिहेतुक प्रतिसन्धि भी लेता है। अतः उस च्युति के अनन्तर कामत्रिहेतुक ४ एवं अरूप ४=८ प्रतिसन्धियाँ होती हैं। यदि आर्य उस अरूपभूमि से च्युत होता है तो उसके अपनी भूमि में एवं ऊपर ऊपर की भूमियों में ही होने के कारण उस च्युति के अनन्तर ४ अरूपप्रतिसन्धियाँ ही होती हैं।

इस च्युति एवं प्रतिसन्धि क्रम को देखकर भूमि के अनुसार मनोद्वार मरणासन्न-वीथियों को जानना चाहिये।

भवङ्गमीमांसा समाप्त।

मरणासन्नवीथि समाप्त।

परिनिर्वाणवीथि

२४. यह परिनिर्वाणवीथि ध्यान-अलाभी शुष्कविपश्यक पुद्गल होने पर या ध्यान-लाभी होने पर भी ध्यान का समावर्जन न करने पर मनोद्वार कामजवनवीथि के अन्त